

GL SANS 294.59212
DAY C.1



125083
LBSNAA

त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

अवाप्ति संख्या

Accession No. ~~125083~~ 125083

वर्ग संख्या

Class No. 294.59212

पुस्तक संख्या

Book No. DAY

॥ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ॥

श्रीमद्व्यानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मिता ।

॥ संस्कृतार्थभाषाभ्यां समन्विता ॥

अस्यैकांकस्य प्रतिमासं मूल्यम् भारतवर्षान्तर्गतदेशान्तरप्रापण-
मूल्येन सहितं ।=) एतत् द्वादशमासानां मिलित्वा
वार्षिकं ४॥) एतावद्व्यति ॥

इस ग्रंथ के प्रतिमास एक एक नंबर का मूल्य भारतखंड के भीतर
डाकमासूल सहित ।=) और वार्षिक मूल्य ४॥)

अस्य ग्रन्थस्य ग्रहणस्येच्छा यस्य भवेत्सकाश्यां लाजरसकंपन्यायस्य
वा दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः समीपं वार्षिकं मूल्यं
प्रेषयेत्स प्रतिमासमंकं प्राप्स्यति ॥

अंक (१)



॥ अयं ग्रंथः काश्यां लाजरसकंपन्यायस्य ग्रन्थालये मुद्रितः ॥

संवत् १९३४ ।

॥ अस्य ग्रन्थाधिकारो भाष्यकर्त्रा मया सर्वथा स्वाधीन एव रहितः ॥

॥ ओ३म् ॥

॥ अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ॥

ओ३म् सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्य्यंकरवावचै ॥ तेज-
स्विनावधीतमस्तु । माविद्विषावचै । ओ३म् शान्तिः शान्तिः
शान्तिः ॥ १ ॥ तैत्तिरीयआरण्यके । नवमप्रपाठके । प्रथमा-
नुवाके ॥

ब्रह्मानन्तमनादिविश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतं विद्या यस्य सना-
तनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी । वेदाख्या विमलाहिताहि जगते नृभ्यः
सुभाष्यप्रदा तन्नत्वा निगमार्थमाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ॥ १ ॥ का-
लरामाङ्गचन्द्रेष्ठे भाद्रमासे सिते दले । प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारंभः
कृतो मया ॥ २ ॥ दयाया आनन्दे । विलसति परः स्वात्मविदितः सरस्व-
त्यस्याग्रे निवसति हिताहीशशरणा । इयं ख्यातिर्यस्य प्रतप्त सुगुणा वेद
मननाऽस्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोद्धव्यमनघाः ॥ ३ ॥ मनुष्येभ्यो
हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः । ईश्वरानुग्रहेणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥ ४ ॥
संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम् । मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते
कामधुङ्गय ॥ ५ ॥ आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिः सनातनी ।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥ ६ ॥ येनाधुनिकभाष्यैर्ये
टीकाभिर्वेददूषकाः । दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः ॥ ७ ॥
सत्यार्थश्च प्रकाशयेत् वेदानां यः सनातनः । ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नायं
सुसिध्यताम् ॥ ८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(सहनाव०) हे सर्वशक्तिमन् हे ईश्वर आप की कृपा रत्ना और सहाय
से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रत्ना करें (सहनौभु०) और हम सब लोग
परम प्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य्य अर्थात् चक्रवर्त्ति राज्य आदि
सामग्री से आनन्द को आप के अनुग्रह से सदा भोगें (सहवी०) हे कृपानिधे
आप के सहाय से हमलोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते
रहें (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय हे सब विद्या के देने वाले परमेश्वर आप

के सामर्थ्य से ही हमलोगों का पढ़ा और पढ़ाया सब संसार में प्रकाश को प्राप्त होय और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहै (मात्रिद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक आप ऐसी कृपा कौजिये कि जिस्से हमनेग परस्पर विरोध कभी न करें किंतु एक दूसरे के मित्र होके सदा बँसैं (आं शान्तिः०) हे भगवन् आप की कृपा से हमलोगों के तीन ताप एक (आध्यात्मिक) जो कि ज्वरादि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है दूसरा (आधिभौतिक) जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा (आधिदैविक) जो कि मन और इंद्रियों के विकार अशुद्धि और चंचलता से क्लेश होता है इन तीनों तापों को आप शांत अर्थात् निवारण कर दीजिये जिस्से हमलोग सुख से इस वेदभाष्य को यथावत् बना के सब मनुष्यों का उपकार करें यही आप से चाहते हैं सो कृपा करके हमलोगों को सब दिनों के लिये सहाय कौजिये ॥ १ ॥

(ब्रह्मानन्त०) जो ब्रह्म अनंत आदि विशेषणों से युक्त है जिस को वेदविद्या सनातन है उस को अत्यंत प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरंभ करता हूँ ॥ १ ॥ (कालरा०) विक्रम के संवत् १८३३ भाद्रपाम के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा रविवार के दिन इस वेद भाष्य का आरंभ मैंने किया है ॥ २ ॥ (दयाया०) सब मज्जन लोगों को यह बात विदित होय कि जिन का नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है उन्होंने ने इस वेदभाष्य को रचा है ॥ ३ ॥ (मनुष्या०) ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिये इस वेदभाष्य का विधान मैं करता हूँ ॥ ४ ॥ (संस्कृत प्रा०) सो यह वेदभाष्य दो भाषाओं में किया जाता है एक संस्कृत और दूसरी प्राकृत इन दोनों भाषाओं में वेदमंत्रों के अर्थ का वर्णन मैं करता हूँ ॥ ५ ॥ (आय्यंणा०) इस वेदभाष्य में अप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है किंतु जो ब्रह्मा में ले के व्यास पर्यंत मुनि और ऋषि हुए हैं उन की जो व्याख्या रीति है उससे युक्त ही यह वेदभाष्य बनाया जायगा ॥ ६ ॥ (येनाधु०) यह भाष्य ऐसा होगा कि जिस्से वेदार्थ से विरुद्ध अब के बने भाष्य और टीकाओं से वेदों में भ्रम से जो मिथ्या दोषों के आरोप हुए हैं वे सब निवृत्त हो जायेंगे ॥ ७ ॥ (सत्यार्थश्च०) और इस भाष्य से वेदों का जो सत्य अर्थ है सो संसार में प्रसिद्ध होय कि वेदों के सनातन अर्थ को सब लोग यथावत् जान लें इसलिये यह प्रयत्न मैं करता हूँ सो परमेश्वर के सहाय से यह काम अच्छी प्रकार से सिद्ध होय यही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है ॥ ८ ॥

विश्वानिदेवसवितर्दुरितानिपरासुव ॥ यद्द्रुतं तन्न आसुव ॥ १ ॥
यजुर्वेदे । अध्याये ३० मंत्रः ३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

हे सद्भिदानन्दानन्तस्वरूप हे परमकारुणिक हे अनन्तविद्या हे विद्याविज्ञानप्रद (देव) हे सूर्यादि सर्वजगद्विद्याप्रकाशक हे सर्वानन्दप्रद (सवितः) हे सकलजगदुत्पादक (नः) अस्माकम् (विश्वानि) सर्वाणि (दुरितानि) दुःखानि सर्वान्दृष्टगुणांश्च (परासुव) दूरे गमय (यद्द्रुतं) यत्कल्याणं सर्वदुःखरहितं सत्यविद्या प्राप्याऽभ्युदय निःश्रेयस सुखकरं भद्रमस्ति (तन्नः) अस्मभ्यं (आसुव) आसमन्तादुत्पादय कृपया प्रापय । अस्मिन् वेदभाष्यकरणानुष्ठाने ये दृष्टा विद्यास्तान्प्रापेः पूर्वमेव परासुव दूरं गमय यच्च शरीरबुद्धिसहायकौशनससत्यविद्याप्रकाशादि भद्रमस्ति तत्स्वकृपाकटाक्षेण हे परब्रह्मन् नोऽस्मभ्यं प्रापय भवत्कृपाकटाक्षसु सहायप्राप्या सत्यविद्योज्ज्वलं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धं भवद्चितानां वेदानां यथार्थं भाष्यं वयं विदधामहि । तदिदं सर्वमनुष्योपकाराय भवत्कृपया भवेत् । अस्मिन् वेदभाष्ये सर्वेषां मनुष्याणां परमश्रद्धयात्यन्ता प्रीतिर्यथास्यात् तथैव भवता कार्यमित्योऽम् ॥

॥ भाष्यार्थः ॥

हे सत्यस्वरूप हे विज्ञानमय हे सदानन्दस्वरूप हे अनन्तसामर्थ्ययुक्त हे परमरूपालो हे अनन्तविद्यामय हे विज्ञानविद्याप्रद (देव) हे परमेश्वर आप सूर्यादि सब जगत् का और विद्या का प्रकाश करनेवाले हो तथा सब आनन्दों के देनेवाले हो (सवितः) हे सर्वजगदुत्पादक सर्वशक्तिमन् आप सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले हो (नः) हमारे (विश्वानि) सब जो (दुरितानि) दुःख हैं उन को और हमारे सब दृष्ट गुणों को कृपा से आप (परासुव) दूर कर दोजिये अर्थात् हम से उन को और हम को उन से सदा दूर रखिये (यद्द्रुतं) और जो सब दुःखों से रहित कल्याण है जो कि सब सुखों से युक्त भाग है उस को हमारे लिये सब दिनों में प्राप्त कीजिये सो सुख दो प्रकार का है एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति से अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्ति राज्य दृष्ट मित्र धन पुत्र स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना और दूसरा जो निःश्रेयस सुख है कि जिस को मोक्ष कहते हैं और जिस में ए दोनों सुख होते हैं उसी को भद्र कहते हैं (तन्नः) उस सुख को आप हमारे लिये सब प्रकार से प्राप्त करिये और

आप की कृपा के सहाय से सब विघ्न हम से दूर रहें कि जिस्से इस वेदभाष्य के करने का हमारा अनुष्ठान सुख से पूरा होय इस अनुष्ठान में हमारे शरीर में आरोग्य बुद्धि सज्जनों का सहाय चतुरता और सत्याविद्या का प्रकाश सदा बढ़ता रहै इस भद्रस्वरूप सुख को आप अपनी सामर्थ्य से ही हम को दीजिये जिस कृपा के सामर्थ्य से हम लोग सत्याविद्या से युक्त जे आप के बनाये वेद हैं उन के यथार्थ अर्थ से युक्त भाष्य को सुख से विधान करें सो यह वेदभाष्य आप की कृपा से संपूर्ण हो के सब मनुष्यों का सदा उपकार करने वाला होय और आप अन्तर्यामी की प्रेरणा से सब मनुष्यों का इस वेदभाष्य में श्रुता सहित अत्यन्त उत्साह होय जिस्से वेदभाष्य करने में जो हमलोगों का प्रयत्न है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त होय इसी प्रकार से आप हमारे और सब जगत् के ऊपर कृपादृष्टि करते रहें जिस्से इस बड़े सत्य काम को हमलोग सहज से सिद्ध करें ॥ ५ ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यथा धितिष्ठति ॥ स्वर्ग्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥ यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ॥ दिव्यं च क्रेन्द्रान्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ २ ॥ यस्य सूर्यश्च तृश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ॥ अग्निं यश्च क्रत्वा स्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३ ॥ यस्य वातः प्राणापानो च चतुरंगिरसो भवन् ॥ दिशो यश्च के प्रज्ञानी तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ४ ॥ अथ वेदसंहितायाम् । कांडे १० प्रपाठके २३ अनुवाके ४ ॥ मं० १ । ३२ । ३३ । ३४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(यो भूतं च०) यो भूतभविष्यद्वर्तमानान्कालान् (सर्वं यश्चाधि०) सर्वं जगन्नाधितिष्ठति सर्वाधिष्ठाता सन् कालादूर्ध्वं विराजमानोऽस्ति । (स्वर्ग्य०) यस्य च केवलं निर्विकारं स्वः सुखस्वरूपमस्ति यस्मिन्दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति यदा नन्दघनं ब्रह्मास्ति (तस्मै ज्ये०) तस्मै ज्येष्ठाय सर्वोत्कृष्टाय ब्रह्मणे महतेत्यन्तं नमोस्तु नः ॥ १ ॥ (यस्य भू०) यस्य भूमिः प्रमा यथार्थज्ञानसाधनं पादाविवास्ति (अन्तरिक्षमु०) अन्तरिक्षं यस्योत्तुल्यमस्ति यश्च सर्वस्मादूर्ध्वं सूर्यरश्मिप्रकाशमयमाकाशं दिवं पूर्द्धानं शिरोवच्चक्रे कृतवानस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (यस्य सूर०) यस्य सूर्यश्चन्द्रमा-

श्चपुनः पुनः सर्गादौ नवीने चक्षुषी इव भवतः । योग्निमास्यं मुखवज्रके कृतवानस्ति । तस्मै० ॥ ३ ॥ (यस्य वातः०) वातः समष्टिवैर्युस्य प्राणापाना विवास्ति (अंगिरसः) अंगिरा अंगारा अंकना अचना इति निरुक्ते अ० ३ ख० १७ प्रकाशिकाः किरणाश्चक्षुषी इव भवतः । योदिशः प्रज्ञानीः प्रज्ञापिनोर्व्यवहारसाधिकाश्चक्रे तस्मै ह्यनन्तविद्याय ब्रह्मणे महते सततं नमोस्तु ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(यो भूतं च०) जो परमेश्वर एक भूतकाल जो व्यतीत हो गया है (च) अनेक चकारों में दूसरा जो वर्तमान है (भव्यं च) और तीसरा भविष्यत् जो होनेवाला है इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है उन सब व्यवहारों को वह यथावत् जानता है (सर्वे यश्चाधितिष्ठति) तथा जो सब जगत् को अपने विज्ञान से ही ज्ञाता रचना पालन नय कर्ता और संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है (स्वर्ग्यस्य च केवलं) जिस का सुख ही केवल स्वरूप है जो कि मोक्ष और व्यवहार सुख का भी देनेवाला है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) ज्येष्ठ अर्थात् सब से बड़ा सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म जो परमात्मा है उस को अत्यंत प्रेम से हमारा नमस्कार होय जो कि सब कालों के ऊपर विराजमान है जिस को लेशमात्र भी दुःख नहीं होता उस आनन्द घन परमेश्वर को हमारा नमस्कार प्राप्त होय ॥ १ ॥ (यस्य भूमिः प्रमा०) जिस परमेश्वर के होने और ज्ञान में भूमि जो पृथिवी आदि पदार्थ हैं सो प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त है तथा जिस ने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है (अन्तरिक्षमुतोदरम्) अंतरिक्ष जो पृथिवी और सूर्य के बीच में आकाश है सो जिस ने उदरस्थानी किया है (दिवं यश्चक्रे मूर्ध्नि) और जिस ने अपनी सृष्टि में दिव अर्थात् प्रकाश करनेवाले पदार्थों को सब के ऊपर मस्तकस्थानी किया है अर्थात् जो पृथिवी से लेके सूर्य लोक पर्यंत सब जगत् को रच के उस में व्यापक होके जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सब को धारण कर रहा है (तस्मै०) उस परब्रह्म को हमारा अत्यंत नमस्कार होय ॥ २ ॥ (यस्य सूर्यश्चतुश्चन्द्र०) और जिसने नेत्रस्थानी सूर्य और चन्द्रमा को किया है जो कल्प कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को बारंबार नये नये रचता है (अग्निं यश्चक्र आस्यं) और जिसने मुखस्थानी अग्नि को उत्पन्न किया है (तस्मै०) उसी ब्रह्म को हम लोगों का नमस्कार होय ॥ ३ ॥ (यस्य वातः प्राणापानौ) जिस ने ब्रह्मांड के वायु को प्राण और अपान की नाई किया है (चक्षुरंगिरसोऽभवन्) तथा

जो प्रकाश करनेवाली किरण हैं वे चक्षु की नाई जिस ने की हैं अर्थात् उन से ही रूपग्रहण होता है (दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्त०) और जिस ने दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली बनाई हैं ऐसा जो अनन्त विद्यायुक्त परमात्मा सब मनुष्यों का इष्टदेव है उस ब्रह्म को निरंतर हमारा नमस्कार होय ॥ ४ ॥

य आत्मदाबलदायस्य विश्व उपासते प्रशिष्यस्य देवाः । यस्य च्छा-
यामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥ यजुः० अ० २५
मं० १३ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरायः शान्तिरो-
षधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व-
शान्तिः शान्तिं रेव शान्तिः सामा शान्तिरेधि ॥ ६ ॥ यतो यतः
सुमीहसे ततो नो अभयंकुरु । शन्नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ ७ ॥
यजुः० अ० ३६ मं० १७ । २२ ॥

यस्मिन् नृचः सामयजूः षियस्मिन् प्रतिष्ठितारथनाभा विवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ८ ॥ यजुः०
अ० ३४ मं० ५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(य आत्मदाः) य आत्मदा विद्या विज्ञानप्रदः (बलदाः)
यः शरीरेन्द्रियप्राणात्ममनसां पुष्ट्यत्साहपराक्रमदृढत्वप्रदः (यस्य०) यं वि-
श्वे देवाः सर्वे विद्वांस उपासते यस्यानुशासनं च मन्यन्ते । (यस्य च्छाया०)
यस्याश्रय एव मोक्षोऽस्ति यस्य च्छाया ऽकृपा ऽनाश्रयो मृत्युर्जन्ममरणकारको-
स्ति (कस्मै०) तस्मै कस्मै प्रजापतये प्रजापतिर्वैकस्तस्मै हविषा विधेम इति ।
शतपथब्राह्मणे । कांडे ० अ० ३ ॥ सुखस्वरूपाय ब्रह्मणे देवाय प्रेमभक्तिरूपेण
हविषा वयं विधेम सततं तस्यैवोपासनं कुर्वीमहि ॥ ५ ॥ (द्यौः शान्तिः०)
हे सर्वशक्तिमन्परमेश्वर त्वद्गुणतया त्वत्कृपया च द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी जलमो-
षधयो वनस्पतयो विश्वे देवाः सर्वे विद्वांसो ब्रह्मवेदः सर्वं जगन्नास्मदर्थं

शान्तं निरुपद्रवं सुखकारकं सर्वदास्तु । अनुकूलं भवतु नः । येन वयं वेद-
 भाष्यं सुखेन विदधामहि । हे भगवन्नेतया सर्वशान्त्या विद्याबुद्धि-
 ज्ञानारेण्य सर्वोत्तमसहायैर्भवान्मां सर्वथा वर्धयतु तथा सर्वे जगच्च ॥ ६ ॥
 (यतोय०) हे परमेश्वर यतो यतो देशान्त्वं समीहमे जगद्वचनपालनार्थां
 चेष्टां करोषि ततस्ततो देशान्ने ऽस्मानभयं कुरु । यतः सर्वथा सर्वेभ्यो
 देशेभ्यो भयरहिता भवत्कृपया वयं भवेम (शत्रुः कु०) तथा तच्चस्याभ्यः
 प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नो ऽस्मानभयं कुरु । एवं सर्वेभ्यो देशेभ्यस्तच्चस्याभ्यः
 प्रजाभ्यः पशुभ्यश्च नो ऽस्मान् शं कुरु धर्मार्थकाममोक्षादि सुखयुक्तान्व्या-
 नुग्रहेण सदाः संपादय ॥ ७ ॥ (यस्मिन्नृ०) हे भगवन् कृपानिधे यस्मि-
 न्मनसि ऋचः सामानि यजूंषि च प्रतिष्ठितानि भवन्ति यस्मिन् यथार्थमोक्ष-
 विद्या च प्रतिष्ठिता भवति । (यस्मिंश्चि०) यस्मिंश्च प्रजानां चित्तं स्म-
 रणात्मकं सर्वमोक्षमस्ति सूत्रे मणिगणवत्प्रोक्तमस्ति । कस्यांकइव रथ-
 नाभौ अराइव तन्मे मम मनो भवत्कृपया शिवमकल्पं कल्याणप्रियं सत्या-
 र्थप्रकाशं चास्तु येन वेदानां सत्यार्थः प्रकाशयेत हे सर्वविद्यामय सर्वा-
 र्थविन्मदुपरिकृपां विधेहि यया निर्विघ्नेन वेदार्थभाष्यं सत्यार्थं पूर्णं वयं
 कुर्वीमहि । भवद्यशो वेदानां सत्यार्थं विस्तारयेमहि । यं दृष्ट्वा वयं सर्वे
 सर्वोत्कृष्टगुणाभवेम । ईदृशीं कुरुणामस्माकमुपरि करोतु भवान् । य तदर्थं
 प्रार्थयते ऽनया प्रार्थनया ऽस्मान् शीघ्रमेवानुगृह्णातु । यत इदं सर्वोपकारकं
 कृत्यं सिद्धं भवेत् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(य आत्मदाः०) जो जगदीश्वर अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का
 विज्ञान देनेवाला है जो सब विद्या और सत्य सुखों की प्राप्ति करानेवाला
 है जिस की उपासना सब विद्वान् लोग करते आये हैं और जिस का अनुशासन
 जो वेदोक्त शिष्टा है उस को अत्यंत मान्य से सब शिष्ट लोग स्वीकार करते
 हैं जिस का आश्रय करना ही मोक्ष सुख का कारण है और जिस की अकृपाही
 जन्ममरणरूप दुःखों को देनेवाली है अर्थात् ईश्वर और उस का उपदेश जो
 सत्यविद्या सत्यधर्म और सत्यमोक्ष हैं उन को नहीं मानना और जो वेद
 से विरुद्ध हो के अपनी कपोल कल्पना अर्थात् दुष्ट इच्छा से बुरे कामों में
 वर्तता है उसपर ईश्वर की अकृपा होती है वही सब दुःखों का कारण है
 और जिस की आज्ञा पालन ही सब सुखों का मूल है (कस्मै०) जो सुखस्व-

रूप और सब प्रजा का पति है उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्यप्रेम भक्तिरूप सामग्री से हमलोग नित्य भजन करें जिसे हमलोगों को किसी प्रकार का दुःख कधी न होय ॥ ५ ॥ (द्यौः शा०) हे सर्वशक्तिमन् भगवन् आप की भक्ति और कृपा से ही द्यौः जो सूर्यादि लोकों का प्राकाश और विज्ञान है यह सब दिन हमको सुखदायक होय तथा जे आकाश में पृथिवी जल आवाधि वनस्पति वट आदि वृक्ष जे संसार के सब विद्वान् ब्रह्म जो वेद ए सब पदार्थ और इन से भिन्न भी जो जगत् है वे सब सुख देनेवाले हमको सब काल में होय कि सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें जिसे इस वेदभाष्य के काम को सुखपूर्वक हमलोग सिद्ध करें हे भगवन् इस सब शान्ति से हमको विद्याबुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय को कृपा से दीजिये तथा हमलोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ादिये ॥ ६ ॥ (यतोय०) हे परमेश्वर आप जिन २ देश से जगत् के रचन और पालन के अर्थ चेष्टा करते हैं उस २ देश से भय से रहित करिये अर्थात् किसी देश में हम को किंचित् भी भय न होय (शत्रुः कुह०) वैसेही सब दिशाओं में जे आप की प्रजा और पशु हैं उन से भी हम को भयरहित करें तथा हमसे उन को सुख होय और उन को भी हमसे भय न होय तथा आप की प्रजा में जे मनुष्य और पशु आदि हैं उन सब से जे धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थ हैं उन को आप के अनुग्रह से हमलोग शीघ्र प्राप्त होय जिसे मनुष्य जन्म के धर्मादि जे फल हैं वे सुख से सिद्ध होय ॥ ७ ॥ (यस्मिन्वृत्तः०) हे भगवन् कृपानिधे (ऋचः) ऋग्वेद (साम) सामवेद (यजूर्षि) यजुर्वेद और इन तीनों के अन्तर्गत होने से अथर्ववेद भी ए सब जिस में स्थिर होते हैं तथा जिस में मोक्षविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और सत्यासत्य का प्रकाश होता है (यस्मिंश्चि०) जिन में सब प्रजा का चित्त जो स्मरण करने की वृत्ति है सो सब गंठी भई है जैसे माला के मणिए सूत्र में गंठे भये होते हैं और जैसे रथ के पहिये के बीच के भाग में आरे लगे होते हैं कि उस काष्ठ में जैसे अन्य काष्ठ लगे रहते हैं ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से शुद्ध होय तथा कल्याण जो मोक्ष और सत्यधर्म का अनुष्ठान तथा असत्य के परित्याग करने का संकल्प जो इच्छा है इसे युक्त सदा होय जिस मन से हमलोगों को आप के किये वेदों के सत्य अर्थ का यथावत् प्रकाश होय हे सर्वविद्यामय सर्वार्थवित् जगदीश्वर हम पर आप कृपा धारण करें जिससे हमलोग विघ्नों से सदा अलग रहें और सत्य अर्थ सहित इस वेदभाष्य को संपूर्ण बना के आप के बनाये वेदों के सत्य अर्थ की विस्ताररूप जो कीर्ति है उस को जगत् में सदा के लिये बढ़ावें और इस भाष्य को देखके वेदों के अनुसार सत्यका अनुष्ठान करके हम सब

लोग श्रेष्ठ गुणों से युक्त सदा होय इसलिये हमलोग आप की प्रार्थना प्रेमसे सदा करते हैं इस को आप कृपा से शीघ्र सुनै जिस्से यह जो सब का उपकार करनेवाला वेदभाष्य का अनुष्ठान है सो यथावत् सिद्धि को प्राप्त होय ॥

॥ इतीश्वरप्रार्थनाविषयः ॥

॥ अथ वेदोत्पत्तिविषयः ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानिजज्ञिरे । कन्दाशसिजज्ञिरे
तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥ यजुः० अ० ३१ मं० ७ ।

यस्मादृचोऽप तत्तन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानियस्यलो-
मान्यथर्वांगिरसोमुखम् । स्कंभंतं ब्रह्मिकतमःस्विदेवसः ॥ २ ॥
अथर्व० कां० १० प्रपा० २३ अनु० ४ मं० २०

॥ भाष्यम् ॥

(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरु-
षात् सर्वहुतात्सर्वपूज्यात्सर्वोपास्यात्सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः)
ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (कन्दाशसि) अथर्व-
वेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेदम् । सर्वहुत
इति वेदानामपि विशेषणं भवितुमर्हति वेदाः सर्वहुतः । यतः सर्वमनु-
ष्महेतुमादातुं गृहीतुं योग्याः सन्त्यतः । जज्ञिरे अजायेतेति क्रियाद्वयं
वेदानामनेकविद्यावत्त्वद्योतनार्थम् । तथा तस्मादिति पदद्वयमीश्वरादेव
वेदा जाता इत्यवधारणार्थम् ॥ वेदानां गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितत्वात्पनश्च-
न्दासीतिपदं चतुर्थस्याथर्ववेदस्योत्पत्तिं ज्ञापयतीत्यवधेयम् । यज्ञो वै विष्णुः ।
श० कां० १ अ० १ ॥ इदं विष्णुर्विचक्रमेषेधानिदधेपदम् यजुर्वेदे । इति सर्व-
जगत्कर्तृत्वं विष्णो परमेश्वर एव घटते नान्यत्र । विवेष्टि व्याप्नोति चराचरं
जगत् स विष्णुः परमेश्वरः ॥ १ ॥ (यस्मादृचोऽप) (यस्मात्सर्वशक्तिमतः
ऋचः ऋग्वेदः (अपातक्षन्) अपातक्षत् उत्पन्नेस्ति यस्मात् परब्रह्मणः
(यजुः) यजुर्वेदः अपाकषन् प्रादुर्भूतोस्ति । तथैव यस्मात्सामानि सामवेदः

(आंगिरसः) अथर्ववेदश्चोत्पन्नोऽस्ति । एवमेव यस्येश्वरस्यांगिरसोऽथर्ववेदो मुखं मुखवन् मुख्योऽस्ति । सामानिलोमानीव सन्ति । यजुर्वेदस्य हृदयमृचः प्राणश्चेति रूपकालंकारः । यस्माच्चत्वारो वेदा उत्पन्नाः स कतमः स्वित्तेवोऽस्ति त्वं ब्रूहीति प्रश्नः । अस्योत्तरम् (स्कंभं तं०) तं स्कंभं सर्वजगद्धारकं परमेश्वरं त्वं जानीहीति तस्मात्स्कंभात्सर्वधारात्परमेश्वरात् पृथक् कश्चिदप्यन्यो देवो वेदकर्ता नैवास्तीति मन्तव्यम् ॥ २ ॥

एवं वा अरेस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इत्यादि । श० का० १४ अ० ५ ॥ अस्यायमभिप्रायः । याज्ञवल्क्योऽभिवादति हे मैत्रेय महत आकाशादपि बृहत् परमेश्वरस्यैव सकाशाद्वेदादिवेदचतुष्टयं (निःश्वसितं) निःश्वासवत्सहजतया निःसृतमस्तीति वेदम् । यथा शरीराच्छ्वासे निःसृत्य पुनस्तदेव प्रविशति तथैवेश्वराद्वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावो भवत इति निश्चयः ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्रथम ईश्वर को नमस्कार और प्रार्थना कर के पश्चात् वेदों की उत्पत्ति का विषय लिखा जाता है कि वेद किस ने उत्पन्न किये हैं (तस्माद्यज्ञात्स०) सत् जिस का कधी नाश नहीं होता चित् जो सदा ज्ञानस्वरूप है जिस को अज्ञान का लेश भी कधी नहीं होता आनन्द जो सदा सुखस्वरूप और सब को सुख देनेवाला है इत्यादि लक्षणों से युक्त पुरुष जो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है जो सब मनुष्यों को उपासना के योग्य इष्टदेव और सब सामर्थ्य से युक्त है उसी परब्रह्म से (अथः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद और (कुन्दांसि) इस शब्द से अथर्व भी ए चारों वेद उत्पन्न हुए हैं इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि वेदों को यहण करें और वेदोक्त रीति से ही चलें (जज्ञिरे) और (अजायत) इन दोनों क्रियाओं के अधिक होने से वेद अनेक विद्याओं से युक्त हैं ऐसा जाना जाता है वैसे ही (तस्मात्) इन दोनों पदों के अधिक होने से यह निश्चय जानना चाहिये कि ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए हैं किसी मनुष्यसे नहीं वेदों में सब मंत्र गायत्र्यादिच्छन्दों से युक्त हैं फिर (कुन्दांसि) इस पद के कहने से चौथा जो अथर्व वेद है उस की उत्पत्ति का प्रकाश होता है शतपथ आदि ब्राह्मण और वेदमंत्रों के प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ शब्द से विष्णु का और विष्णुशब्द से सर्व व्यापक जो परमेश्वर है उसी का यहण होता है क्योंकि सब जगत् की उत्पत्ति करनी परमेश्वर में ही घटती है अन्यत्र नहीं ॥ १ ॥ (यस्मादृषो अपा०) जो सर्व शक्तिमान् परमे-

इश्वर है उसी से (ऋचः) ऋग्वेद (यजुः) यजुर्वेद (सामानि) सामवेद (आंगिरसः) अथर्ववेद ए चारों उत्पन्न हुए हैं इसी प्रकार रूपकालंकार से वेदों की उत्पत्ति का प्रकाश ईश्वर कर्त्ता है कि अथर्ववेद मेरे मुख की सम तुल्य सामवेद नेमों के समान यजुर्वेद हृदय के समान और ऋग्वेद प्राण की नाई है (ब्रह्म कतमः स्वदेव मः) कि चारों वेद जिस्से उत्पन्न हुए हैं सो कौन सा देव है उस को तुम मुझ से कहो इस प्रश्न का यह उत्तर है कि (स्कंधं तं०) जो सब जगत् का धारण करना परमेश्वर है उस का नाम स्कंध है उसी को तुम वेदों का कर्त्ता जानो और यह भी जानो कि उस को छोड़ के मनुष्यों को उपासना करने के योग्य दूसरा कोई इष्टदेव नहीं है क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है जो वेदों के कर्त्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को छोड़ के दूसरे को परमेश्वर मान के उपासना करे ॥ २ ॥ (एवं वा अरेस्य०) याज्ञवल्क्य महाविद्वान् जो महर्षि हुए हैं वह अपनी पंडित मैत्रेयी स्त्री को उपदेश करते हैं कि हे मैत्रेयि जो आकाशादि से भी बड़ा सर्वव्यापक परमेश्वर है उस से ही ऋक् यजुः साम और अथर्व ए चारों वेद उत्पन्न हुए हैं जैसे मनुष्य के शरीर से श्वास बाहर को आके फिर भीतर को जाती है इसी प्रकार सृष्टि के आदि में ईश्वर वेदों को उत्पन्न करके संसार में प्रकाश करता है और प्रलय में संसार में वेद नहीं रहते परंतु उस के ज्ञान के भीतर वे सदा बने रहते हैं बीजांकुरवत् जैसे बीज में अंकुर प्रथम ही रहता है वही वृत्तरूप हो के फिर भी बीज के भीतर रहता है इसी प्रकार से वेद भी ईश्वर के ज्ञान में सब दिन बने रहते हैं उन का नाश कधी नहीं होता क्योंकि वह ईश्वर की विद्या है इसे इन को नित्यही जानना ॥

अथ केविदाहुः । निरवयवात्परमेश्वराच्छब्दमयोवेदः कथमुत्पद्येतेति । अथ ब्रूमः । न सर्वशक्तिमतीश्वरे शंकेयमुपपद्यते । कुतः । मुखप्राणादिसाधनमंतरापि तस्य कार्यं कर्तुं सामर्थ्यस्य सदैव विद्यमानत्वात् । अन्यच्च यथा मनसि विचारणावसरे प्रश्नोत्तरादिशब्दोच्चारणं भवति तथेश्वरेपि मन्यताम् । योस्ति खलु सर्वशक्तिमान् स नैव कस्यापि सहायं कार्यं कर्तुं गृह्णाति । यथास्मदादीनां सहायेन विनाकार्यं कर्तुं सामर्थ्यं नास्ति । नचैवमीश्वरे । यदा निरवयवेनेश्वरेण सकलं जगद्रचितं तदा वेदरचनेकाशंकास्ति । कुतः । वेदस्य सूक्ष्मरचनवज्जगत्यपि महदाश्चर्यभूतं रचनमीश्वरेण कृतमस्त्यतः ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस विषय में कितने ही पुरुष ऐसा प्रश्न करते हैं कि ईश्वर निराकार

है उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न होसके हैं इस का यह उत्तर है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है उस में ऐसी शंका करनी सर्वथा व्यर्थ है क्योंकि मुख और प्राणादि साधनों के बिना भी परमेश्वर में मुख और प्राणादि के काम करने का अनंत सामर्थ्य है कि मुख के बिना मुख का काम और प्राणादि के बिना प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से यथावत् कर सकता है यह दोष तो हम जीवलोगों में आसक्ता है कि मुखादि के बिना मुखादि का कार्य नहीं करसके हैं क्योंकि हमलोग अल्प सामर्थ्य वाले हैं और इस में यह दृष्टान्त भी है कि मनमें मुखादि अवयव नहीं हैं तथापि जैसे उस के भीतर प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारण मानस व्यापार में होता है वैसे ही परमेश्वर में भी जानना चाहिये और जो संपूर्ण सामर्थ्य वाला है सो किसी कार्य के करने में किसी का सहाय ग्रहण नहीं करता क्योंकि वह अपने सामर्थ्य से ही सब कार्यों को करसक्ता है जैसे हमलोग बिना सहाय से कोई काम नहीं करसके वैसे ईश्वर नहीं है जैसे देखा कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय निराकार ईश्वर ने संपूर्ण जगत् को बनाया सब वेदों के रचने में क्या शंका रही जैसे वेदों में अत्यंत सूक्ष्म विद्या का रचन ईश्वर ने किया है वैसेही जगत् में भी नेत्र आदि पदार्थों का अत्यंत आश्चर्यरूप रचन किया है तो क्या वेदों की रचना निराकार ईश्वर नहीं करसक्ता ॥

ननु जगद्रचने तु खल्वीश्वरमंतरेण न कस्यापि मामर्थ्यमस्ति वेदरचने त्वन्यस्यान्यग्रन्थरचनवत्सामर्थ्यं स्यादिति । अत्रोच्यते । ईश्वरेण रचितस्य वेदस्याध्ययनानन्तरमेव ग्रन्थरचनेकस्यापि सामर्थ्यं स्यान्न चान्यथा । नैष कश्चिदपि पठनश्रवणमन्तरा विद्वान् भवति । यथेदानीम् । किंचिदपि शास्त्रं पठित्वोपदेशं श्रुत्वा व्यवहारं च दृष्ट्वैव मनुष्याणां ज्ञानं भवति । तद्यथा । कस्यचित्संतानमेकान्ते रक्षयित्वा ऽन्नपानादिकं युक्त्यादद्यात्तेन सह भाषणादिव्यवहारं लेशमात्रमपि न कुर्यादावतस्य मरणं न स्यात् । यथा तस्य किंचिदपि यथार्थं ज्ञानं न भवति । यथा च महारण्यस्थानां मनुष्याणामुपदेशमन्तरा पशुवत्प्रवृत्तिर्भवति । तथैवादिसृष्टिमारभ्याद्यपर्यंतं वेदोपदेशमन्तरा सर्वमनुष्याणां प्रवृत्तिर्भवेत् । पुनर्यन्यरचनस्य तु का कथा ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्रश्न जगत् के रचने में तो ईश्वर के बिना किसी जीव का सामर्थ्य नहीं है परंतु जैसे व्याकरणादि शास्त्र रचने में मनुष्यों का सामर्थ्य होता है वैसे वेदों के रचने में भी जीव का सामर्थ्य हो सकता है उत्तर नहीं किन्तु जब ईश्वर ने प्रथम वेद रचे हैं उन को पढ़ने के पश्चात् अन्य रचने का सामर्थ्य किसी

वेदस्योपदेशेन स प्रयोजनतः ^{वैशक्तिमान् है} इससे ऐसी शंका उस में आप पितृवत् । यथा पिता स्वसन् ^{इस के उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों परमकृपया सर्वमनुष्यार्थं वेदों की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्याविना} परं ज्ञान के बीच में प्र० किन के ज्ञान में उ० नेश्वरेण प्रजासुखार्थं कंदमूलफलत् के प्र० वे तो जड़ पदार्थ हैं उ० ऐसा मत शिकां सर्वविद्यामयीं वेदविद्यामु ^{देहधारी हुए थे क्योंकि जड़ में ज्ञान के पदार्थप्राप्या यावत्सुखं भवति न} से ^{होता है वहां २ लक्षणा होती है जैसे शेनापि तुल्यं भवत्यतो वेदोपदेश ईश्वरे} से कहा कि खेतों में मंचान पुकारते है कि मंचान के ऊपर मनुष्य

॥ भाषार्थ ॥ कि विद्या के प्रकाश होने का

प्र० वेदों के उत्पन्न करने में ईश्वर को क्या प्रयोजन था उ० मैं तुममें पूछता हूँ कि वेदों के उत्पन्न नहीं करने में उस को क्या प्रयोजन था जो तुम यह कहो कि इस का उत्तर हम नहीं जान सकते तो ठीक है क्योंकि वेद तो ईश्वर की नित्यविद्या है उस का उत्पत्ति वा अनुत्पत्ति होना नहीं सकते परंतु हम जीव लोगों के लिये ईश्वर ने जो वेदों का प्रकाश किया है सो उस को हम पर परम कृपा है जो वेदोत्पत्ति का प्रयोजन है सो आप लोग मुनें प्र० ईश्वर में अनंत विद्या है वा नहीं उ० है प्र० सो उस की विद्या किस प्रयोजन के लिये है उ० अपनेही लिये जिस से सब पदार्थों का रचना और जानना होता है प्र० अच्छा तो मैं आप से पूछता हूँ कि ईश्वर परोपकार को करता है वा नहीं उ० ईश्वर परोपकारी है इससे क्या आया प्र० इससे यह बात आती है कि विद्या जो है सो स्वार्थ और परार्थ के लिये होती है क्योंकि विद्या का यही गुण है कि स्वार्थ और परार्थ इन दोनों को सिद्ध करना जो परमेश्वर अपनी विद्या को हमलोगों के लिये उपदेश न करे तो विद्या से जो परोपकार करना गुण है सो उस का नहीं रहै इससे परमेश्वर ने अपनी वेदविद्या का हमलोगों के लिये उपदेश करके सफलता सिद्ध करी है क्योंकि परमेश्वर हमलोगों का माता पिता के समान है हम सब लोग जो उस की प्रजा हैं उन पर नित्य कृपादृष्टि रखता है जैसे अपने सन्तानों के ऊपर पिता और माता सदैव कृपा का धारण करते हैं कि सब प्रकार से हमारे पुत्र सुख पावें वैसे ही ईश्वर भी सब मनुष्यादि सृष्टि पर कृपादृष्टि सदैव रखता है इसीही वेदों का उपदेश हमलोगों के लिये किया है । जो परमेश्वर अपनी वेदविद्या का उपदेश मनुष्यों के लिये न करता तो धर्म अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि किसी को यथावत् प्राप्त न होती उस के बिना परम आनन्द भी किसी को नहीं होता जैसे परम कृपालु ईश्वर ने प्रजा के सुख के लिये कंदमूल फल और घास आदि छोटे २ भी पदार्थ रचे हैं सोही ईश्वर

है उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न होसके

सर्वशक्तिमान् है उस में ऐसी शंका करनी चाहिए क्योंकि जितने ब्रह्माण्ड में उत्तम प्राणादि साधनों के बिना भी परमेश्वर का अनंत सामर्थ्य है कि मुख के बिना ही सो सुख विद्या प्राप्ति होने प्राणादि का काम वह अपने सामर्थ्य से ही होसके ऐसा सर्वोत्तम विद्या तो हम जीवलों में होसके है क्यों न करता इसे निश्चय करके नहीं करसके हैं क्योंकि हमलोग हैं ॥

प्रश्नोत्तर आदि शब्दों का उच्चारणनानि वेदपुस्तकलेखनाय कुतो ल-
में भी ज्ञानना चाहिये और, त्यों शंका भवता कृता बिना हस्तपादा-
करने में किसी का सहान्वित यथेश्वरेण जगद्रचितं तथा वेदा अपि
ही सब कार्यों को वेदरचनं प्रत्येवं माशंकि। किंतु पुस्तकस्यावेदा।

तनादौ नेत्यादिताः । किं तर्हि ज्ञानमध्ये प्रेरिताः । केषाम् । अग्नि-
वाय्वादित्यांगिरसाम् । ते तु ज्ञानरहिता जडाः सन्ति । मैवं वाच्यं सृष्ट्यादौ ।
मनुष्यदेहधारिणस्तेह्यासन् । कुतः । जडे ज्ञानकार्यासम्भवात् । यच्चाथा
संभवोस्ति तत्र लक्षणा भवति । तद्यथा । कश्चिदप्रः कंचित्प्रति वदति
मंचाः क्रोशन्तीति । अत्र मंचस्था मनुष्याः क्रोशन्तीति विज्ञायते । तथै-
वाचापि विज्ञायताम् । विद्याप्रकाशसंभवा मनुष्येष्वेव भवितुमर्हतीति ।
अत्र प्रमाणम् । तेभ्यस्तप्रेभ्यस्तयोवेदा अजायंताग्नेर्जुवेदो वायोर्यजुर्वेदः
सूर्यात्सामवेदः । श० का० ११ अ० ५ । एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्वारा वेदाः
प्रकाशिताः । सत्यमेवमेतत् । परमेश्वरेण तेभ्यो ज्ञानं दत्तं ज्ञानेन तैर्वे-
दानां रचनं कृतमिति विज्ञायते । मैवं विज्ञायि । ज्ञानं किं प्रकारकं
दत्तम् । वेदप्रकारकं । तदीश्वरस्य वा तेषाम् । ईश्वरस्येव । पुनस्तेनेव
प्रणीता वेदा आहोस्वितैश्च । यस्य ज्ञानं तेनेव प्रणीताः । पुनः
किमर्था शंका कृता तैरेव रचिता इति । निश्चयकरणार्था ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० वेदों के रचने और वेदपुस्तक लिखने के लिये ईश्वर ने लेखनी
स्याही और दवात आदि साधन कहा से लिये क्योंकि उस समय में कागज
आदि पदार्थ तो जनेही न थे उ० बाह बाह बाह जी आप ने बड़ी शंका करी
आप की बुद्धि को क्या स्तुति करें अच्छा आप से मैं पूछता हूँ कि हाथ पग
आदि अंगों से बिना तथा काष्ठ लोह आदि सामग्री साधनों से बिना
ईश्वर ने जगत् को क्यों कर रचा है जैसे हाथ आदि अंगों से बिना
उस ने सब जगत् को रचा है वैसे ही वेदों को भी सब साधनों के बिना

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इससे ऐसी शंका उस में चाप ही परंतु इस के उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों मनुष्य को हो मत के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे विद्वान् नहीं हो सक्त किये थे उ० ज्ञान के बीच में प्र० किन के ज्ञान में उ० उपदेश सुनके और मनु० अंगिरा के प्र० वे तो जड़ पदार्थ हैं उ० ऐसा मत होता है अन्यथा कधी न मनुष्य देहधारी हुए थे क्योंकि जड़ में ज्ञान के एकांत में रखके उस को अच २ असंभव होता है वहां २ लक्षणा होती है जैसे व्यवहार लेशमात्र भी कोई मनु० किसी से कहा कि खेतों में मंचान पुकारते तब तक उस को इसी प्रकार से र ० होता है कि मंचान के ऊपर मनुष्य मक्का तथा जैसे बड़े बन में मनुष्यों की जानना कि विद्या के प्रकाश होने का होता किंतु पशुओं की नाई उन की प्र ० नहीं इस में (तेभ्यः०) इत्यादि उपदेश के बिना भी सब मनुष्यों की प्रवृत्ति हो ॥ मनुष्यों के ज्ञान के बीच की तो कथा क्याही कहनी है इससे वेदों को ईश्वर ॥ मानने से कल्याण है अन्यथा नहीं ॥

मैवं वाच्यम् । ईश्वरेण मनुष्येभ्यः स्वाभाविकं ज्ञानं दत्तं तच्च सर्व-
ग्रन्थेभ्य उत्कृष्टमस्ति नैव तेन विना वेदानां शब्दार्थसंबन्धानामपि ज्ञानं
भवितुमर्हति तदुन्नत्या ग्रन्थरचनमपि करिष्यन्त्येव पुनः किमर्थं मन्यन्ते वेदो-
त्पादनमीश्वरेण कृतमिति । एवं प्राप्ते वदामहे । नैव पूर्वाक्ताया शिक्षितायैकांते
रक्षिताय बालकाय महारण्यस्थेभ्यो मनुष्येभ्यश्चेश्वरेण स्वाभाविकं ज्ञानं
दत्तं किम् । कथं नास्मदादयोऽप्यन्येभ्यः शिक्षाग्रहणमंतरेण वेदाध्ययनेन
च विना पण्डिता भवन्ति । तस्मात् किमागतं न शिक्षया विनाध्ययने न च
स्वाभाविकज्ञानमात्रेण कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति । यथास्मदादिभिरप्य-
न्येषां विदुषां विद्वत्कृतानां ग्रन्थानां च सकाशादनेकविधं ज्ञानं गृहीत्वैव
ग्रंथान्तरं रच्यते । तथेश्वरज्ञानस्य सर्वेषां मनुष्याणामपेक्षावश्यं भवति ।
किंचन सृष्टेरारंभसमये पठनपाठनक्रमो ग्रंथश्च कश्चिदप्यासीत्तदानीमी-
श्वरोपदेशमंतरा न च कस्यापि विद्यासंभवो बभूव पुनः कथं कश्चिज्जनो ग्रन्थं
रचयेत् । मनुष्याणां नैमित्तिकज्ञाने स्वातंत्र्याभावात् । स्वाभाविकज्ञानमा-
त्रेणैव विद्याप्राप्यनुपपत्तेश्च । यच्चेत्तं स्वकीयं ज्ञानमुत्कृष्टमित्यादि तदप्य-
समंजसम् । तस्य साधनकोटौ प्रविष्टत्वात् । चतुर्वत् । यथा चतुर्मेनः-
साहित्येनविना ह्यकिंचित्करमस्ति । तथान्येषां विदुषामीश्वरज्ञानस्य च
साहित्येनविना स्वाभाविकज्ञानमप्यकिंचित्करमेव भवतीति ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० ईश्वर ने मनुष्यों को स्वाभाविक ज्ञान दिया है सो सब ग्रंथों से उत्तम है क्योंकि उस के बिना वेदों के शब्द अर्थ और संबन्ध का ज्ञान कधी

ह उससे शब्दरूप वेद कैसे उत्पन्न होसकता ॥ तो तब मनुष्य लोग सर्वशक्तिमान् है उस में ऐसी शंका करे ईश्वर से क्यों माननी प्राणादि साधनों के बिना भी परमेश्वर का और दूसरा खनवा-का अनंत सामर्थ्य है कि मुख के बिना ज्ञान ईश्वरने नहीं दिया है प्राणादि का काम वह अपने साः इससे यह बात निश्चित है तो हम जीवजनों में आसक्ता कैसे बिना किसी मनुष्य को यथार्थ नहीं करसक्ते हैं क्योंकि हमारे पढ़ने विद्वानों की शिता और दृष्टान्त भी है कि मनमें मुहड़त नहीं होते वैसेही सृष्टि की प्रश्नात्तर आदि शब्दों का उद्देश नहीं करता तो आज पर्यंत किसी में भी जानना चाहे यथार्थ विद्या नहीं होती इससे क्या जाना

॥ है कि करने में किम्पिता और वेद पढ़ने के बिना केवल स्वाभाविक ज्ञान स किसी मनुष्य का निर्वाह नहीं होसकता जैसे हमलोग अन्य विद्वानों से वेदादि शास्त्रों का अनेक प्रकार के विज्ञान का ग्रहण करके ही पोंके यंत्रों को भी रच सक्ते हैं वैसेही ईश्वर के ज्ञान की भी अपेक्षा सब मनुष्यों को अवश्य है क्योंकि सृष्टि के आरंभ में पढ़ने और पढ़ाने की कुछ भी व्यवस्था नहीं थी तथा विद्या का कोई ग्रंथ भी नहीं था उस समय ईश्वर के क्रिये वेदोपदेश के बिना विद्या के नहीं होने से कोई मनुष्य ग्रंथ की रचना कैसे करसक्ता क्योंकि सब मनुष्यों को महायकारी ज्ञान में स्वतंत्रता नहीं है और स्वाभाविक ज्ञानमात्र से विद्या की प्राप्ति किसी को नहीं होसकती इसीलिये ईश्वर ने सब मनुष्यों के हितके लिये वेदों की उत्पत्ति की है और जो यह कहा था कि अपना ज्ञान सब वेदादि ग्रन्थों से श्रेष्ठ है सोभी अन्यथा है क्योंकि वह स्वाभाविक जो ज्ञान है सो साधनकोटि में है जैसे मनके संयोग के बिना आंख से कुछ भी नहीं देख पड़ता तथा आत्मा के संयोग के बिना मनसे भी कुछ नहीं होता वैसे ही जो स्वाभाविक ज्ञान है सो वेद और विद्वानों की शिता के ग्रहण करने में साधनमात्रही है तथा पशुओं के समान व्यवहार का भी साधन है परंतु वह स्वाभाविक ज्ञान धर्म अर्थ काम और मोक्षविद्या का साधन स्वतंत्रता से कधी नहीं होसकता ॥

वेदात्पादन ईश्वरस्य किं प्रयोजनमस्तीत्यत्र वक्तव्यम् । उच्यते वेदानामनुत्पादने खलु तस्य किं प्रयोजनमस्तीति अस्योत्तरं तु वयं न जानीमः । सत्यमेवमेतत् । तावद्वेदात्पादने यदस्ति प्रयोजनं तच्छृणुत । ईश्वरे ऽनन्ता विद्यास्ति नवा । अस्ति । सा किमर्थ्यास्ति । स्वार्था । ईश्वरः परोपकारं न करोति किम् । करोति तेन किम् । तेनेदमस्ति विद्या स्वार्था परार्था च भवति तस्यास्तादृषयत्वात् । यद्यस्मदर्थमीश्वरो विद्योपदेशं न कुर्यात्तदानीतरपक्षे सा निष्फला स्यात् । तस्मादीश्वरेण स्वविद्याभूत-

रचा है क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है इससे ऐसी शंका उस में आप को करना योग्य नहीं परंतु इस के उत्तर में इस बात को जानो कि वेदों को पुस्तकों में लिख के सृष्टि की आदि में ईश्वर ने प्रकाशित नहीं किये थे प्र० तो किस प्रकार से किये थे उ० ज्ञान के बीच में प्र० किन के ज्ञान में उ० अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा के प्र० थे तो जड़ पदार्थ हैं उ० ऐसा मत कहो वे सृष्टि की आदि में मनुष्य देहधारी हुए थे क्योंकि जड़ में ज्ञान के कार्य का असंभव है और जहां २ असंभव होता है वहां २ लक्षणा होती है जैसे किसी मत्स्यवादी विद्वान् पुरुष ने किसी से कहा कि खेतों में मंचान पुकारते हैं इस वाक्य में लक्षणा से यह अर्थ होता है कि मंचान के ऊपर मनुष्य पुकार रहे हैं इसी प्रकार से यहां भी जानना कि विद्या के प्रकाश होने का संभव मनुष्यों में ही होसकता है अन्यत्र नहीं इस में (तेभ्यः०) इत्यादि शतपथ ब्राह्मणों का प्रमाण लिखा है उन चार मनुष्यों के ज्ञान के बीच में वेदों का प्रकाश करके उन से ब्रह्मादि के बीच में वेदों का प्रकाश कराया था प्र० सत्य बात है कि ईश्वर ने उन को ज्ञान दिया होगा और उन ने अपने ज्ञान से वेदों का रचन किया होगा उ० ऐसा तुम को कहना उचित नहीं क्योंकि तुम यह भी जानते हो कि ईश्वर ने उन को ज्ञान किस प्रकार का दिया था उ० उन को वेदरूप ज्ञान दिया था प्र० अच्छा तो मैं आप से पूछता हूं कि वह ज्ञान ईश्वर का है वा उन का उ० वह ज्ञान ईश्वर का ही है प्र० फिर आप से मैं पूछता हूं कि वेद ईश्वर के बनाये हैं वा उन के उ० जिस का ज्ञान है उसी ने वेदों को बनाया प्र० फिर उन्हीं ने वेद रचे हैं यह शंका आप ने क्यों की थी उ० निश्चय करने और कराने के लिये ॥

ईश्वरो न्यायकार्येस्ति वा पक्षपाती । न्यायकारी । तर्हि चतुर्णामेव हृदयेषु वेदाः प्रकाशिताः कुतो न सर्वेषामिति । अत्राह । अत ईश्वरे पक्षपातस्य लेशोपि नैवागच्छति किन्त्वनेन तस्य न्यायकारिणः परमात्मनः सम्यगन्यायः प्रकाशितो भवति कुतः न्यायेत्यस्यैव नामास्ति यो यादृशं कर्म कुर्यात्तस्मै तादृशमेवफलं दद्यात् । अत्रैवं वेदितव्यं तेषामेव पूर्वपुण्यमासंदेहतः खल्वेतेषां हृदये वेदानां प्रकाशः कर्तुं योग्योस्ति । किं च ते तु सृष्टेः प्रागुत्पन्नास्तेषां पूर्वपुण्यं कुत आगतम् । अत्र ब्रूमः । सर्वेजीवाः स्वरूपतो ऽनादयस्तेषां कर्माणि सर्वं कार्यं जगच्च प्रवाहेणैवानादीनि सन्तीति । एतेषामनादित्वस्य प्रमाणपूर्वकं प्रतिपादनमग्रे करिष्यते ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० ईश्वर न्यायकारी है वा पक्षपाती उ० न्यायकारी प्र० जब

परमेश्वर न्यायकारी है तो सब के हृदयों में वेदों का प्रकाश क्यों नहीं किया क्योंकि चारों के हृदयों में प्रकाश करने से ईश्वर में पक्षपात आता है उ० इसे ईश्वर में पक्षपात का लेश कदापि नहीं आता किंतु उस न्यायकारी परमात्मा का साक्षात् न्यायही प्रकाशित होता है क्योंकि न्याय उस को कहते हैं कि जो जैसा कर्म करे उस को वैसा ही फल दिया जाय अब जानना चाहिये कि उन्हीं चार पुरुषों का ऐसा पूर्वपुण्य था कि उन के हृदय में वेदों का प्रकाश किया गया, प्र० वे चार पुरुष तो सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन का पूर्वपुण्य कहां से आया उ० जीव जीवों के कर्म और स्थूल कार्य जगत १ तीनों अनादि हैं जीव और कारण जगत स्वरूप में अनादि हैं कर्म और स्थूल कार्य जगत प्रवाह में अनादि हैं इस को व्याख्या प्रमाण पूर्वक आगे लिखी जायगी ॥

किं गायत्र्यादि कृन्दो रचनमपीश्वरेणैव कृतं । इयं कुतः शंकाभूत् । किमीश्वरस्य गायत्र्यादिच्छन्दो रचनज्ञानं नास्ति । अस्त्येव तस्य सर्वविद्यावत्त्वात् । अतो निर्मूला सा शंकास्ति । चतुर्मुखेन ब्रह्मणा वेदानि रमायतेत्येतिह्यम् । मैवं वाच्यम् । ऐतिह्यस्य शब्दप्रमाणान्तर्भावात् । आप्तोपदेशः शब्दः ॥ न्यायशास्त्रे अ० १ सू० ७ इति गौतमाचार्येणोक्तत्वात् । शब्द ऐतिह्यमित्यादि च । अस्यैवोपरि । आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथा दृष्टान्तरथस्य चिन्त्यापयिषया प्रयुक्तउपदेशा साक्षात्करणमर्थस्यापिस्तथा प्रवर्तते इत्याप्तः । इति न्यायभाष्ये वात्स्यायनेनोक्तेः । अतः सत्यस्यैवैतिह्यत्वेन ग्रहणं नानृतस्य । यत्सत्यप्रमाणमाप्तोपदिष्टमैतिह्यं तद् ग्राह्यं नातो विपरीतमिति अनृतस्य प्रमत्तगतत्वात् । श्वमेव व्यासेनर्षिभिश्च वेदा रचिता इत्याद्यापि मिथ्यैवास्तीति मन्यताम् । नवीनपुराणग्रन्थानां तत्रग्रन्थानां च वैयर्थ्यपत्तेश्चेति ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० क्या गायत्र्यादि कृन्दों का भी रचन ईश्वरने ही किया है उ० यह शंका आप को कहां से हुई प्र० मैं तुम से पूछता हूँ क्या गायत्र्यादि कृन्दों के रचने का ज्ञान ईश्वर को नहीं है उ० ईश्वर का सब ज्ञान है अच्छा तो ईश्वर के समस्त विद्यायुक्त होने से आप को यह शंका भी निर्मूल है प्र० चार मुख के ब्रह्माजी ने वेदों को रचा ऐसे इतिहास को हमलोग सुनते हैं उ० ऐसा मत कहे क्योंकि इतिहास को शब्दप्रमाण के भीतर गिना है (आप्तो) अर्थात् सत्यवादी विद्वानों का जो उपदेश है उस को शब्दप्रमाण में गिनते हैं ऐसा न्यायदर्शन में गौतमाचार्यने लिखा है तथा शब्दप्रमाण

से जो युक्त है वही इतिहास मानने के योग्य है अन्य नहीं इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने आप्र का लक्षण कहा है जो कि साक्षात् सब पदार्थ विद्याओं का जाननेवाला कपट आदि दोषों से रहित धर्मात्मा है कि जो सदा सत्यवादी सत्यमानी और सत्यकारी है जिस को पूर्णविद्या से आत्मा में जिस प्रकार का ज्ञान है उस के कहने की इच्छा की प्रेरणा से सब मनुष्यों पर कृपाद्रष्टि से सब सुख होने के लिये सत्य उपदेश का करनेवाला है और जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यंत सब पदार्थों को यथावत् साक्षात् करना और उसी के अनुसार वर्तना इसी का नाम आप्रि है इस आप्रि से जो युक्त होय उस को आप्रि कहते हैं उसी के उपदेश का प्रमाण होता है इसे विपरीत मनुष्य का नहीं क्योंकि सत्य वृत्तित का ही नाम इतिहास है अनृत का नहीं सत्य प्रमाण युक्त जो इतिहास है वही सब मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य है इसे विपरीत इतिहास का ग्रहण करना किसी के योग्य नहीं क्योंकि प्रमादी पुरुष के मिथ्या कहने का इतिहास में ग्रहण नहीं होता इसी प्रकार व्यासजी ने चारों वेदों की संहिताओं का संग्रह किया है इत्यादि इतिहासों को भी मिथ्याही जानना चाहिये जे आज काल के बने ब्रह्मवैवर्त आदि पुराण और ब्रह्मयामल आदि तंत्रग्रंथ हैं इनमें कहे इतिहासों का प्रमाण करना किसी मनुष्य के योग्य नहीं क्योंकि इनमें असंभव और अप्रमाण कपोलकल्पित मिथ्या इतिहास बहुत लिख रक्खे हैं और जे सत्यग्रंथ शतपथ ब्राह्मणादि हैं उन के इतिहासों का कभी त्याग नहीं करना चाहिये ॥

यो मंत्रसूक्तानामृषिलिखितस्तेनैव तद्वदितमिति कुतो न स्यात् । मैवं वादि । ब्रह्मादिभिरपि वेदानामध्ययनश्रवणयोः कृतत्वात् । यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै० । इति श्वेताश्वतरोपनिषदादिवचनस्य विद्यमानत्वात् । एवं यदर्षिणामुत्पत्तिरपि नासीतदा ब्रह्मादीनां समीपे वेदानां वर्तमानत्वात् । तद्यथा । अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम् । दुदोह यक्षसिद्धार्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥ १ ॥ अ० १ । अध्यापयादासपितृन् शिशुरागिरसः कविः अ० २ । इति मनुसाक्ष्यत्वात् । अग्न्यादीनां सकाशाद् ब्रह्मापि वेदानामध्ययनं चक्रे ऽन्येषां व्यासादीनां तु का कथा ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० जे सूक्त और मंत्रों के ऋषि लिखे जाते हैं उन्हीं ने ही वेद रचे होंय ऐसा क्यों नहीं माना जाय उ० ऐसा मत कहे क्योंकि ब्रह्मादिने भी वेदों को पढ़ा है सो श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में यह वचन है कि जिसने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और ब्रह्मादि को सृष्टि की आदि में अग्नि आदि

के द्वारा वेदों का भी उषदेश किया है उसी परमेश्वर के शरण को हमने प्राप्त होते हैं इसी प्रकार ऋषियों ने भी वेदों को पढ़ा है क्योंकि जब मरी-च्यादि ऋषि और व्यासादि मुनियों का जन्म भी नहीं हुआ था उस समय में भी ब्रह्मादि के समीप वेदों का वर्तमान था इस में मनु के श्लोकों की भी साक्षी है कि पूर्वाक्त अग्नि वायु रवि और अंगिरा से ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था जब ब्रह्माजी ने वेदों को पढ़ा था तो व्यासादि और हमलोगों की तो कथा ब्याही कहनी है ॥

कथं वेदः श्रुतिश्च द्वेनाम्नी ऋक्संहितादीनां जाते इति । अर्थवशात् (विद) ज्ञाने (विद) सत्तायाम् । (विदू) लाभे (विद) विचारणे । एतेभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणकारकयोर्धञ्प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । तथा (श्रु) श्रवणे । इत्यस्माद्धातोः करणकारके क्तिन्प्रत्यये कृते श्रुति-शब्दे व्युत्पद्यते । विदन्ति जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति विन्दन्ते लभन्ते विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्यायैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः । तथा ऽऽदिसृष्टिमारभ्यादपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्ते ऽनया सा श्रुतिः । न कस्य चिट्टेहधारिणः स-काशात्कदाचित्कोपि वेदानां रचनं दृष्टवान् । कुतः । निरवयवेश्वरात्तेषां प्रादुर्भावात् । अग्निवाय्वादित्यांगिरसस्तु निमित्ताभूता वेदप्रकाशार्थमीश्वरेण कृता इति विज्ञेयम् । तेषां ज्ञानेन वेदानामनुत्पत्तेः । वेदेषु शब्दार्थसं-बन्धाः परमेश्वरादेव प्रादुर्भूताः तस्य पूर्णविद्यावत्त्वात् । अतः किं सिद्धमग्निवायुरव्यंगिरा मनुष्यदेहधारिजीवद्वारेण परमेश्वरेण श्रुतिर्वेदः प्रकाशकृत इति बोध्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० वेद और श्रुति ए दो नाम ऋग्वेदादि संहिताओं के क्यों हुए हैं उ० अर्थभेद से क्योंकि एक (विद) धातु ज्ञानार्थ है दूसरा (विद) सत्तार्थ है तीसरे (विदू) का लाभ अर्थ है चौथे (विद) का अर्थ विचार है इन चार धातुओं से करण और अधिकरणकारक में धञ् प्रत्यय करने से वेदशब्द सिद्ध होता है तथा (श्रु) धातु श्रवण अर्थ में है इससे करण कारक में क्तिन् प्रत्यय के होने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है जिन के पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है जिन को पढ़ के विद्वान् होते हैं जिन से सब सुखों का लाभ होता है और जिन से ठीक २ सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है इससे ऋक् संहितादि का वेद नाम है वैसेही सृष्टि के आरंभ से आज पर्यन्त और ब्रह्मादि से लेके हमलोग पर्यन्त जिस से सब सत्यविद्याओं को

सुनते आते हैं इससे वेदों का श्रुति नाम पड़ा है क्योंकि किसी देहधारी ने वेदों के बनानेवाले को मात्ता कधी नहीं देखा इस कारण से जानागया कि वेद निराकार ईश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं और उन को सुनते सुनातेही आज पर्यंत सब लोग चले आते हैं तथा अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चारों मनुष्यों को जैसे वादित्र को कोई बजावै वा काठ की पूतली को चेष्टा करावै इसी प्रकार ईश्वर ने उन को निर्मितमात्र किया था क्योंकि उन के ज्ञान से वेदों की उत्पत्ति नहीं हुई किंतु इससे यह जाचा कि वेदों में जितने शब्द अर्थ और संबंध हैं वे सब ईश्वर ने अपनेही ज्ञान से उनके द्वारा प्रकट किये हैं ॥

वेदानामुत्पत्तौ कियन्ति वर्षाणि व्यतीतानि ॥ अत्रोच्यते एकोवृन्दः षण्णवतिः कोटयो ऽष्टौलक्षाणि द्विपञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्चेतावन्ति १६६०८५२६७६ वर्षाणि व्यतीतानि सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्ततइति वेदितव्यम् । एतावन्त्येव वर्षाणि वर्तमानकल्पसृष्टेश्चेति । कथं विज्ञायते ह्येतावन्त्येव वर्षाणि व्यतीतानीति । अत्राहास्यां वर्तमानायां सृष्टौ वैवस्वतस्य सप्तमस्यास्य मन्वन्तरस्येदानीं वर्तमानत्वादस्मात्पर्व षण्णां मन्वन्तराणां व्यतीतत्वाच्चेति । तद्यथा स्वायंभवः स्वरोचिष औत्तमिस्तामसोरैवतश्चाक्षुषो वैवस्वतश्चेति सप्तैते मनवस्तथा सावर्ण्यादय आगामिनः सप्तैते मिलित्वा १४ चतुर्दशैव भवन्ति । तत्रैकसप्ततिश्चातुर्युगानि ह्येकैकस्य मनोः परिमाणं भवति । ते चैकस्मिन्ब्राह्मदिने १४ चतुर्दशभुक्तभोगा भवन्ति । एकसहस्रं १००० चातुर्युगानि ब्राह्मदिनस्य परिमाणं भवति ब्राह्म्या रात्रेरपि तावदेव परिमाणं विज्ञेयम् । सृष्टेर्वर्तमानस्य दिनसंज्ञास्ति प्रलयस्य च रात्रिसंज्ञेति । अस्मिन्ब्राह्मदिने षट्मनवस्तुव्यतीताः सप्तमस्य वैवस्वतस्य वर्तमानस्य मनोरष्ट्राविंशतितमोयं कलिर्वर्तते । तत्रास्य वर्तमानस्य कलियुगस्येतावन्ति ४६७६ चत्वारिसहस्राणि नवशतानि षट्सप्ततिश्च वर्षाणि तु गतानि सप्तसप्ततितमोयं संवत्सरो वर्तते । यमार्था विक्रमस्येकोनविंशतिशतं त्रयस्त्रिंशत्तमोत्तरं संवत्सरं वदन्ति ॥

अत्र विषये प्रमाणम् ।

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः । एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ १ ॥ चत्वार्युगाहुः सहस्राणि वर्षाणां तु कृतं युगम् । तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथा विधः ॥ २ ॥ इतरेषु स संध्येषु स संध्यांशेषु च त्रिषु । एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ३ ॥

यदेतत् परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम् । एतद्वादशसाहस्रं देवानां युग-
मुच्यते ॥ ४ ॥ दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । ब्राह्ममेकमह-
र्क्ष्यं तावती रात्रिरेव च ॥ ५ ॥ तद्वैयुगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्षिर्विदुः ।
रात्रिं च तावतीमेवते ऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ६ ॥ यत्प्राग्वादशसाहस्रमुदितं
दैविकं युगम् । तदेकसप्ततिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७ ॥ मन्वन्तराय
संख्यानि सृष्टिः संहारश्च च । क्रीडन्निवैतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८ ॥
मनु० अध्याये १ ॥

कालस्य परिमाणार्थं ब्राह्माहोरात्रादयः सुगमबोधार्थाः संज्ञाः
क्रियन्ते । यतः सहजतया जगदुत्पत्तिप्रलययोर्वर्षाणां वेदोत्पत्तेश्च परिगणनं
भवेत् । मन्वन्तरपर्यावृत्तौ सृष्टेर्नैमित्तिकगुणानामपि पर्यावर्तनं किञ्चित् कि-
ञ्चिद्व्यवत्यतो मन्वन्तरसंज्ञा क्रियते । अत्रैवं संख्यातव्यम् । एकं दशशतं चैव
सहस्रमयुतं तथा । लघुं च नियुतं चैव कोटिर्युदमेव च ॥ १ ॥ घृन्तः खर्वो-
निखर्वश्च शंखः पट्टं च सागरः । अन्त्यं मध्यं पराद्धं च दगवृद्धा यथा
क्रमम् ॥ २ ॥ इति सूर्यासिद्धान्तादिषु संख्यायते । अनया रीत्या वर्षादिग-
णनाकार्येति ॥ सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि ॥ य० अ० १५ मं० ६५ ।
सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दातासि । श० का० ७ अ० ४ ॥ सर्वस्य जगतः सर्व-
मिति नामास्ति कालस्य चानेन सहस्रमहायुगसंख्यया परिमितस्य दिनस्य
नक्तस्य च ब्रह्मांडस्य प्रमा परिमाणस्य कर्ता परमेश्वरोऽस्ति मन्वस्यास्य सामा-
न्यार्थं वर्तमानत्वात्सर्वमभिवदतीति । एवमेवापि योजनीयम् । ज्योतिष-
शास्त्रे प्रतिदिनचर्याभिहिता ऽऽर्यैः लक्षणारम्य कल्पकल्पान्तस्य गणित-
विद्यया स्पष्टं परिगणनं कृतमद्यपर्यंतमपि क्रियते प्रतिदिनमुच्चार्यते ज्ञाय-
ते चातः कारणादियं व्यवस्थैव सर्वमनुष्यैः स्वीकर्तुं योग्यास्ति नान्येति
निश्चयः । कुतो ह्यार्यैर्नित्यमोतत् सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीयप्रहराद्धं वैवस्व-
ते मन्वन्तरे ऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे ऽमुकसंवत्सराय नर्तुं
मास पक्ष दिन नक्षत्र लग्न मुहुर्ते चैदं कृतं क्रियते चेत्यावालवृद्धैः प्रत्यहं
विदितत्वादिति ह्यस्यास्य सर्वचार्यावर्तदेशे वर्तमानत्वात्सार्वभौमस-
त्वादशक्येयं व्ययस्या केनापि विचालयितुमिति विज्ञायताम् । अन्यद्युग-
व्याख्यानमग्रे करिष्यते तत्र द्रष्टव्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० वेदों की उत्पत्ति में कितने वर्ष हो गये हैं उ० एक घृन्त कालके

करोड़ आठ लाख बावन हजार नव सौ छहत्तर अर्थात् (१९६०८५२९६) वर्ष
 वेदों की और जगत् की उत्पत्ति में हो गये हैं और यह संवत् ७७ मतहत्तर
 वा वर्त्त रहा है प्र० यह कैसे निश्चय होय कि इतने ही वर्ष वेद और जगत्
 की उत्पत्ति में बीत गये हैं उ० यह जो वर्त्तमान सृष्टि है इस में सातवे (७)
 वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है इससे पूर्व कृः मन्वन्तर हो चुके हैं स्वायम्भव १
 स्वरोचिष २ अक्षिम ३ तामस ४ रैवत ५ चानुष ६ एकः तो बीत गये हैं और
 ७ सातवां वैवस्वत वर्त्त रहा है और सार्वणि आदि ७ सात मन्वन्तर आगे
 भोगेंगे ए सब मिल के १४ चौदह मन्वन्तर होते हैं और एकहत्तर चतुर्युगियों
 का नाम मन्वन्तर धरा गया है सो उस की गणना इस प्रकार से है कि
 (१७२८०००) सत्रह लाख अष्टाईस हजार वर्षों का नाम सतयुग रक्खा है
 (१२९६०००) बारह लाख छानबे हजार वर्षों का नाम त्रेता (८६४०००) आठ
 लाख चौंसठ हजार वर्षों का नाम द्वापर और (४३२०००) चार लाख बत्तीस
 हजार वर्षों का नाम कलियुग रक्खा है तथा आर्य्यानि एक क्षण और निमेष से
 लेकर एक वर्ष पर्यंत भी काल की सूत्र और स्थूल संज्ञा बांधी है और इन
 चारों युगों के (४३२००००) तितालीस लाख बीस हजार वर्ष होते हैं जिन
 का चतुर्युगी नाम है एकहत्तर (८१) चतुर्युगियों के अर्थात् (३०६८२००००)
 तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार वर्षों की एक मन्वन्तर संज्ञा की है और
 ऐसे २ कृः मन्वन्तर मिलकर अर्थात् (१८४०३२००००) एक अर्ब चौरासी करोड़
 तीन लाख बीस हजार वर्ष हुए और सातवे मन्वन्तर के भोग में यह (२८)
 अष्टाईस वी चतुर्युगी है इस चतुर्युगी में कलियुग के (४९७६) चार हजार नव सौ
 छहत्तर वर्षों का तो भोग हो चुका है और बाकी (४२७०२४) चार लाख सत्ताईस
 हजार चौबीस वर्षों का भोग होनेवाला है जाना चाहिये कि (१२०५३२९७६) बारह
 करोड़ पांच लाख बत्तीस हजार नव सौ छहत्तर वर्ष तो वैवस्वतमनु के भोग
 हो चुके हैं और (१८६१८७०२४) अठारह करोड़ एकसठ लाख सत्तासी हजार
 चौबीस वर्ष भोगने के बाकी रहे हैं। इन में से यह वर्त्तमान वर्ष (७७) सतह-
 त्तरवा है जिस को आर्य्य लोग विक्रम का (१९३३) उन्नीस सौ तैतीसवा
 संवत् कहते हैं जो पूर्व चतुर्युगी लिख आये हैं उन एकहत्तर चतुर्युगियों
 की ब्राह्मदिन संज्ञा रक्खी है और उतनीही चतुर्युगियों की रात्रि संज्ञा
 जानना चाहिये सो सृष्टि की उत्पत्ति करके हजार चतुर्युगी पर्यंत ईश्वर इस
 को बना रखता है इसका नाम ब्राह्मदिन रक्खा है और हजार चतुर्युगी
 पर्यंत सृष्टि को मिटा के प्रलय अर्थात् कारण में लीन रखता है उस का
 नाम ब्राह्मरात्रि रक्खा है अर्थात् सृष्टि के वर्त्तमान होने का नाम दिन और
 प्रलय होने का नाम रात्रि है यह जो वर्त्तमान ब्राह्मदिन है इस के
 (१९६०८५२९७६) एक अर्ब छानबे करोड़ आठ लाख बावन हजार नव सौ
 छहत्तर वर्ष इस सृष्टि की तथा वेदों की उत्पत्ति में भी व्यतीत हुए हैं

और (२३३३२२७०२४) दो अर्ब तिस करोड़ बत्तीस लाख सत्ताईस हजार चौबीस वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं इनमें से अंत का यह चौबीसवा वर्ष भोग रहा है आगे आने वाले भोग के वर्षों में से एक २ घटाते जाना और गत वर्षों में क्रम से एक २ वर्ष मिलाते जाना चाहिये जैसे आज पर्यंत घटाते बढ़ाते आये हैं ब्राह्मदिन और ब्राह्मरात्रि अर्थात् ब्रह्म जो परमेश्वर उस ने संसार के वर्तमान और प्रलय की संज्ञा की है इसीलिये इस का नाम ब्राह्मदिन है इसी प्रकार में मनुस्मृति के श्लोक सत्ता की लिये लिख चुके हैं सो देख लेना इन श्लोकों में दैव वर्षों की गणना की है अर्थात् चारों युगों के बारह हजार (१२०००) वर्षों की दैवयुग संज्ञा की है इसी प्रकार असंख्यात मन्वन्तरों में कि जिन की संख्या नहीं हो सकती अनेक बार सृष्टि हो चुकी है और अनेक बार होयगी सो इस सृष्टि को सदा से सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर सहज स्वभाव से रचना पालन और प्रलय करता है और सदा ऐसेही करेगा क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति वर्तमान प्रलय और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों को मनुष्यलोग सुख से गिन लें इसी लिये यह ब्राह्मदिन आदि संज्ञा बांधी हैं और सृष्टि का स्वभाव नया पुराना प्रतिमन्वन्तर में बदलता जाता है इसी लिये मन्वन्तर संज्ञा बांधी है वर्तमान सृष्टि की कल्प संज्ञा और प्रलय की विकल्प संज्ञा की है और इन वर्षों की गणना इस प्रकार से करना चाहिये कि (एक दशशतं चैव०) एक (१) दश (१०) शत (१००) हजार (१०००) दशहजार (१००००) लाख (१०००००) नियुत (१००००००) करोड़ (१०००००००) अर्बुद (१००००००००) वृन्द (१०००००००००) खर्व (१००००००००००) निखर्व (१०००००००००००) शंख (१००००००००००००) पद्म (१०००००००००००००) सागर (१००००००००००००००) अन्त्य (१०००००००००००००००) मध्य (१००००००००००००००००) और परार्द्ध (१०००००००००००००००००००) और दश २ गुणा बढ़ा कर इसी गणित से सूर्य-सिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रंथों में गिनती की है * (सहस्रम्य प्र०) सत्र संसार की सहस्र संज्ञा है तथा पूर्वोक्त ब्राह्मदिन और रात्रि की भी सहस्र संज्ञा ली जाती है क्योंकि यह मंत्र सामान्य अर्थ में वर्तमान है सो हे परमेश्वर आप इस हजार चतुर्युगों का दिन और रात्रि को प्रमाण अर्थात् निर्माण करनेवाले हो इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में यथावत् वर्षों की संख्या आर्य्य लोगों ने गिनी है सो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके आज पर्यंत दिन २ गिनते और क्षण से लेके कल्पांत की गणित विद्या को प्रसिद्ध करते चले आते हैं अर्थात् परंपरासे सुनते सुनाते लिखते लिखाते और पढ़ते पढ़ाते आज पर्यंत हमलोग चले आते हैं यही व्यवस्था सृष्टि

* कहीं २ इसी संख्या को १६ उबीस अंक पर्यन्त गिनते हैं सो यहां भी जान लेना ।

और वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की ठीक है और सब मनुष्यों को इसी को
 ग्रहण करना योग्य है क्योंकि आर्य लोग नित्य प्रति श्रांतस्सत् परमेश्वर के
 इन तीन नामों का प्रथम उच्चारण करके कार्यों का आरंभ और परमेश्वर
 का ही नित्य धन्यवाद करते चले आते हैं कि आनन्द में आज पर्यन्त परमेश्वर
 की सृष्टि और हमलोग बने हुए हैं और बहीखाते की नाईं लिखते लिखाते
 पढ़ते पढ़ते चले आये हैं कि पूर्वोक्त ब्राह्मदिन के दूसरे प्रहर के ऊपर
 मध्याह्न के निकट दिन आया है और जितने वर्ष वैवस्वतमनु के भोग होने
 को बाकी हैं उतनेही मध्याह्न में बाकी रहे हैं इसी लिये यह लेख है
 (श्री ब्रह्मणो द्वितीये प्रहारादौ) यह वैवस्वतमनु का वर्त्तमान है इस
 के भोग में यह (२८) अट्टाईसवा कलियुग है कलियुग के प्रथम चरण
 का भोग हो रहा है तथा वर्ष चतुःशतम् अथवा चतुःशतम् दिन नक्षत्र मुहूर्त लग्न
 और पल आदि समय में हम ने फलाना काम किया था और करते हैं
 अर्थात् जैसे विक्रम के संवत् १८३३ फाल्गुण मास कृष्ण पक्ष पष्ठी शनिवार
 के दिन चतुर्थ प्रहर के आरंभ में यह बान हम ने लिखी है इसी प्रकार
 से सब व्यवहार आर्यलोग बालक से वृद्ध पर्यन्त करते और जानते
 चले आये हैं जैसे बही खाते में मिती डालते हैं वैसे ही महिना और वर्ष
 बढ़ाते घटाते चले जाते हैं इसी प्रकार आर्य लोग तिथिपत्र में भी वर्ष
 मास और दिन आदि लिखते चले आते हैं और यही इतिहास आज पर्यन्त
 सब आर्यावर्त्त देश में एकसा वर्त्तमान हो रहा है और सब पुस्तकों में भी इस
 विषय में एक ही प्रकार का लेख पाया जाता है किसी प्रकार का इस
 विषय में विरोध नहीं है इसी लिये इस को अन्यथा करने में किसी का
 सामर्थ्य नहीं हो सक्ता क्योंकि जो सृष्टि की उत्पत्ति से लेके बराबर मिती वार
 लिखते न आते तो इस गिनती का हिसाब ठीक २ आर्य लोगों का
 भी जानना कठिन होता अन्य मनुष्यों का तो क्या ही कहना है और
 इससे यह भी सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरंभ से लेके आज पर्यन्त आर्य
 लोग ही बड़े २ विद्वान् और सभ्य होते चले आये हैं जब जैन और मुसलमान
 आदि लोग इस देश के इतिहास और विद्या पुस्तकों का नाश करने लगे
 तब आर्य लोगो ने सृष्टि के गणित का इतिहास कंठस्थ कर लिया और जो
 पुस्तक ज्योतिष शास्त्र के बच गये हैं उन में और उन के अनुसार जो वार्षिक
 पंचांग पत्र बनते जाते हैं इन में भी मिती से मिती बराबर लिखी चली
 आती है इस को अन्यथा कोई नहीं कर सक्ता यह वृत्तांत इतिहास का
 इसलिये है कि पूर्वोक्त काल का प्रमाण यथावत् सब को सिद्धित रहै और
 सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय तथा वेदों की उत्पत्ति के वर्षों की गिनती में किसी
 प्रकार का भ्रम किसी को न हो सो यह बड़ा उत्तम काम है इस को सब
 लोग यथावत् जान लें परंतु इस उत्तम व्यवहार को लोगों ने टका कमाने

नित्यत्वं वयं मन्यामहे । किं च न पठनपाठनपुस्तकानित्यत्वे वेदा नित्यत्वं जायते । तेषामीश्वरज्ञानेन सह सदैव विद्यमानत्वात् । यथास्मिन्कल्पे वेदेषु शब्दोत्तरार्थसंबंधाः सन्ति तथैव पूर्वमासन्नये भविष्यन्ति च । कुतः । ईश्वरविद्याया नित्यत्वादव्यभिचारित्वाच्च । अतएवेदमुक्तमृगवेदे । सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयदिति । अस्यायमर्थः । सूर्यचन्द्रग्रहण-मुपलक्षणार्थं यथा पूर्वकल्पे सूर्यचन्द्रादिरचनं तस्य ज्ञानमध्ये ह्यासीतथैव तेनास्मिन्कल्पेपि रचनं कृतमस्तीति विज्ञायते । कुतः । ईश्वरज्ञानस्य वृद्धिद्यविपर्ययाभावात् । एवं वेदेष्वपि स्वीकार्यं वेदानां तेनैव स्वविद्यातः सृष्टत्वात् ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० जब सब जगत् के परमाणु अलग २ होके कारणरूप होजाते हैं तब जो कार्य रूप सब स्थूल जगत् है उस का अभाव हो जाता है उस समय वेदों के पुस्तकों का भी अभाव होजाता है फिर वेदों को नित्य क्यों मानते हो २० यह बात पुस्तक पत्र मसी और अक्षरों की बनावट आदि पत्र में घटती है तथा हमलोगों के क्रिया पत्र में भी बन सकती है वेद पत्र में नहीं घटती क्योंकि वेद तो शब्द अर्थ और संबन्ध स्वरूपहीं हैं मसी कागज पत्र पुस्तक और अक्षरों की बनावट रूप नहीं हैं यह जो मसी लेखनादि क्रिया है सो मनुष्यों की बनाई है इसे यह अनित्य है और ईश्वर के ज्ञान में सदा बने रहने से वेदों को हमलोग नित्य मानते हैं इसे क्या सिद्ध हुआ कि पढ़ना पढ़ाना और पुस्तक के अनित्य होने से वेद अनित्य नहीं हो सके क्योंकि वे बीजांकुरन्याय से ईश्वर के ज्ञान में नित्य वर्तमान रहते हैं सृष्टि की आदि में ईश्वर से वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय में जगत् के नहीं रहने से उन की अप्रसिद्धि होती है इस कारण से वेद नित्यस्वरूप ही बने रहते हैं जैसे इस कल्प की सृष्टि में शब्द अक्षर अर्थ और संबन्ध वेदों में हैं इसी प्रकार से पूर्व कल्प में थे और आगे भी होंगे क्योंकि जो ईश्वर की विद्या है सो नित्य एकही रस बनी रहती है उन के एक अक्षर का भी विपरीत भाव कभी नहीं होता सो अखेद से लेके चारों वेदों की संहिता अब जिस प्रकार की हैं कि इन में शब्द अर्थ संबन्ध पद और अक्षरों का जिस क्रम से वर्तमान है इसी प्रकार का क्रम सब दिन बना रहता है क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है उस की वृद्धि क्षय और विपरीतता कभी नहीं होती इस कारण से वेदों को नित्यस्वरूप ही मानना चाहिये ॥

अथ वेदानां नित्यत्वे व्याकरणशास्त्रादीनां साक्ष्यार्थं प्रमाणानि लिख्यन्ते । तथाह माहभाष्यकारः पतञ्जलिमुनिः ॥ नित्याः शब्दानित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति । इदं वचनं प्रथमान्हिकमारभ्य बहुषु स्थलेषु व्याकरणमहाभाष्येस्ति । तथा श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्गोष्ठ्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । इदम् । अ इउण् सूचभाष्ये चेत्कमिति । अस्यायमर्थः । वैदिकालौकिकाश्च सर्वे-शब्दानित्याः सन्ति । कुतः । शब्दानां मध्ये कूटस्था विनाशरहिता अचला अनपाया अनुपजना अविकारिणो वर्णाः सन्त्यतः । अपायो लोपो निवृ-त्तिरग्रहणम् । उपजन आगमः । विकारआदेशः एते न विद्यन्ते येषु शब्देषु तस्मान्नित्याः शब्दाः ॥

॥ भाषार्थ ॥

यह जो वेदों के नित्य होने का विषय है इस में व्याकरणादि शास्त्रों का प्रमाण साक्षी के लिये लिखते हैं इन में से जो व्याकरण शास्त्र है सो संस्कृत और भाषाओं के सब शब्द विद्या का मुख्य मूल प्रमाण है उस के बनाने वाले महामुनि पाणिनि और पतञ्जलि हैं उन का ऐसा मत है कि सब शब्द नित्य हैं क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाश रहित हैं और वे पूर्वापर विचलते भी नहीं उन का अभाव वा आगम कभी नहीं होता तथा कान से सुन के जिन का ग्रहण होता है बुद्धि से जे जाने जाते हैं जे वाक् इन्द्रिय से उच्चारण करने से प्रकाशित होते हैं और जिन का निवास का स्थान आकाश है उन को शब्द कहते हैं इससे वैदिक अर्थात् जे वेद के शब्द और वेदों से जे शब्द लोक में आये हैं वे लौकिक कहाते हैं वे भी सब नित्यही होते हैं क्योंकि उन शब्दों के मध्य में सब वर्ण अवि-नाशी और अचल हैं तथा इन में लोप अगम और विकार नहीं बनसक्ते इस कारण से पूर्वाक्त शब्द नित्य हैं ॥

ननु गणपाठाष्टाध्यायीमहाभाष्येष्वपायादयो विधीयन्ते पुनरेतत्कथं संगच्छते । इत्येवं प्राप्ते ब्रूते महाभाष्यकारः । सर्वे सर्वपदादेशादौषी-पुषस्य पाणिनेः ॥ एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते ॥ १ ॥ दाधाध्वदा-बित्यस्य सूचस्योपरि महाभाष्यवचनम् । अस्यायमर्थः सर्वे संघाताः सर्वेषां पदानां स्थानआदेशा भवन्ति । अर्थाच्छब्दसंघातान्तराणां स्थानेष्वन्ये श-ब्दसंघाताः प्रयुज्यन्ते । तद्यथा । वेदपार । गम् । ड । सुँ । भू । शप् । तिप् । इत्येतस्य वाक्यसमुदायस्य स्थाने वेदपारगो ऽभवदितिदं समुदाया-न्तरं प्रयुज्यते । अस्मिन्प्रयुक्तसमुदाये गम् ड सुँ शप् तिप् इत्येतेषाम् अम्

ङ् उँ श् ष् इ ष् इत्येते ऽप्यन्तीति केषांचिदुद्भिर्भवति सा भ्रममूलैवास्ति ।
 कुतः । शब्दानामेकदेशविकारे चेत्युपलक्षणात् । नैव शब्दस्यैकदेशापाय एक
 देशोपजन एकदेशविकारिणि सति दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेराचार्य्यस्य मते
 शब्दानां नित्यत्वमुपपन्नं भवत्यतः । तथैवाडागमो भू इत्यस्य स्थाने भो
 इति विकारे चैवं संगतिः कार्य्येति । (श्रोत्रोपलब्धिरिति) श्रोत्रेन्द्रियेण ज्ञानं
 यस्य बुद्ध्या नितरां ग्रहीतुं योग्य उच्चारणेनाभिप्रकाशितो यो यस्याकाशो
 देशो ऽधिकरणं वर्तते स शब्दो भवतीति बोध्यम् । अनेन शब्दलक्षणेनैव
 शब्दो नित्यश्चास्तीत्यवगम्यते । कथम् । उच्चारणश्रवणादिप्रयत्नक्रियायाः
 क्षणप्रध्वंसित्वात् । एकैकवर्णवर्तिनी वाक् इति महाभाष्यप्रामाण्यात् । 'प्रति-
 वर्णं वाक् क्रियापरिणमते अतस्तस्या एवानित्यत्वं गम्यते न च शब्दस्येति ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० गणपाठ अष्टाध्यायी और महाभाष्य में अक्षरों के लोप आगम और
 विकार आदि कहे हैं फिर शब्दों का नित्यत्व कैसे होसक्ता है इस प्रश्न
 का उत्तर महाभाष्यकार पतंजलि मुनि देते हैं कि शब्दों के समुदायों के
 स्थानों में अन्य शब्दों के समुदायों का प्रयोग मात्र होता है जैसे वेदपार-
 गम् इ सुँ भू शप् तिप् इस पदसमुदाय वाक्य के स्थान में वेदपारगो ऽभवत्
 इस समुदायांतर का प्रयोग किया जाता है इस में किसी पुरुष की ऐसी बुद्धि
 होती है कि अम् इ उँ श् ष् इ ष् इन की निवृत्ति होजाती है सो उस की
 बुद्धि में भ्रम मात्र है क्योंकि शब्दों के समुदाय के स्थानों में दूसरे शब्दों के
 समुदायों के प्रयोग किये जाते हैं सो यह मत दाक्षी के पुत्र पाणिनि मुनिजी
 का है जिनने अष्टाध्यायी आदि व्याकरण के ग्रंथ किये हैं सो मत इस प्रकार
 से है कि शब्द नित्य ही होते हैं क्योंकि जो उच्चारण और श्रवणादि हम
 लोगों की क्रिया है उस के क्षणभंग होने से अनित्य गिनी जाती है इससे
 शब्द अनित्य नहीं होते क्योंकि यह जो हमलोगों की वाणी है वही वर्ण २
 की प्रति अन्य २ होती जाती है परंतु शब्द तो सदा अखंड एक रसही बने
 रहते हैं ॥

ननु च भोः शब्दोऽप्युपरतागतो भवति । उच्चारित उपागच्छति ।
 अनुच्चारितो ऽनागतो भवति । वाक् क्रियावत् । पुनस्तस्य कथं नित्यत्वं
 भवेत् । श्रोत्रेन्द्रियेण । नाकाशवत् पूर्वस्थितस्य शब्दस्य साधनाभावादभिव्य-
 क्तिर्भवति । किन्तु तस्य प्राणवाक् क्रियाभिर्व्यक्तिश्च । तद्यथा । गौरित्यथ
 यावद्वागकारेस्ति न तावदोकारे यावदोकारे न तावद्विसर्जनीये । एवं
 वाक् क्रियोच्चारणस्यापायोपजने भवतः न च शब्दस्याखंडेकरसस्य तस्य

सर्वोपलब्धत्वात् । यच्च खलु वायुवाक् क्रियेन भवतस्तच्चावधारणप्रवणे
अपि न भवतः । अतः शब्दस्त्वाकाशवदेव सदा नित्योऽस्तीत्यादि व्या-
करणमतेन सर्वेषां शब्दानां नित्यत्वमस्ति किमुत वेदिकानामिति ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० शब्द भी उच्चारण क्रिये के पश्चात् नष्ट हो जाता है और उच्चा-
रण के पूर्व सुना नहीं जाता है जैसे उच्चारण क्रिया अनित्य है वैसे ही
शब्द भी अनित्य होसक्ता है फिर शब्दों का नित्य क्यों मानते हो उ०
शब्द तो आकाश की नाई सर्वत्र एक रस भर रहे हैं परंतु जब उच्चारण
क्रिया नहीं होती तब प्रसिद्ध सुनने में नहीं आते जब प्राण और वाणी
की क्रिया से उच्चारण किये जाते हैं तब शब्द प्रसिद्ध होते हैं जैसे गौः इस
के उच्चारण में जब पर्यंत उच्चारण क्रिया गकार में रहती है तब पर्यंत औकार
में नहीं जब औकार में है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं रहती इसी
प्रकार वाणी की क्रिया की उत्पत्ति और नाश होता है शब्दों का नहीं किंतु
आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखंड एकरस सर्वत्र भर रहे
हैं परंतु जब पर्यंत वायु और वाक् इंद्रिय की क्रिया नहीं होती तब पर्यंत
शब्दों का उच्चारण और श्रवण भी नहीं होता इसे यह सिद्ध हुआ कि शब्द
आकाश की नाई नित्य ही हैं जब व्याकरणशास्त्र के मत से सब शब्द नित्य
होते हैं तो वेदों के शब्दों की क्या तो क्या ही कहनी है क्योंकि वेदों के
शब्द तो सब प्रकार से नित्य ही बने रहते हैं ॥

एवं जैमिनिमुनिनापि शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिपादितम् ॥ नित्य-
स्तुस्यादृशेनस्य परार्थत्वात् । पूर्वमीमांसा । अ० १ पा० १ सू० १८ अस्या-
यमर्थः । (तु) शब्देनानित्यशंका निवार्यते । विनाशरहितत्वाच्छब्दे
नित्योऽस्ति कस्मादृशेनस्य परार्थत्वात् । दर्शनस्योच्चारणस्य परास्यार्थस्य
ज्ञापनार्थत्वात् । शब्दस्यानित्यत्वं नैव भवति । अन्यथा ऽयं गोशब्दार्थो
ऽस्तीत्यभिज्ञा ऽनित्येन शब्देन भवितुमयोग्यास्ति । नित्यत्वे सति ज्ञाप्य-
ज्ञापकयोर्विद्यमानत्वात् सर्वमेतत्संगतं स्यात् । अतश्चैकमेव गोशब्दं
युगपदनेकेषु स्थलेष्वनेकउच्चारका उपलभन्ते पुनः पुनस्तमेव चेति । एवं
जैमिनिना शब्दनित्यत्वे ऽनेके हेतवः प्रदर्शिताः ॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार जैमिनि मुनि ने भी शब्द को नित्य माना है शब्द में
जो अनित्य होने की शंका आती है उस का (तु) शब्द से निवारण किया
है शब्द नित्य ही हैं अर्थात् नाशरहित हैं क्योंकि उच्चारण क्रिया से

जो शब्द का अर्थ होता है सो अर्थ के जनने ही के लिये है इससे शब्द अनित्य नहीं होसक्ता जो शब्द का उच्चारण किया जाता है उस की ही प्रत्यभिज्ञा होती है कि श्रोत्रद्वारा ज्ञान के बीच में वही शब्द स्थिर रहता है फिर उसी शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है जो शब्द अनित्य होता तो अर्थ का ज्ञान कौन कराता क्योंकि वह शब्द ही नहीं रहा फिर अर्थ को कौन जनाने और जैसे अनेक देशों में अनेक पुरुष एक काल में ही एक गो शब्द का उच्चारण करते हैं इसी प्रकार उसी शब्द का उच्चारण बारंबार भी होता है इस कारण से भी शब्द नित्य हैं जो शब्द अनित्य होता तो यह व्यवस्था कभी नहीं बन सकती सो जैमिनि मुनि ने इस प्रकार के अनेक हेतुओं से पूर्वमीमांसा शास्त्र में शब्द को नित्य सिद्ध किया है ॥

अन्यच्च वैशेषिकसूत्रकारः कणादमुनिरप्यत्राह । तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । वैशेषिके । अ० १ सू० ३ अस्यायमर्थः तद्वचनान्तयोर्थमेश्वरयोर्वचनादुर्मस्येव कर्तव्यतया प्रतिपादनादीश्वरेणैवाक्तत्वाच्चााम्नायस्य वेदचतुष्टयस्य प्रामाण्यं सर्वैर्नित्यत्वेन स्वीकार्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र में कणाद मुनि ने भी कहा है (तद्वचना०) वेद ईश्वरोक्त हैं इन में सत्यविद्या और पक्षपात रहित धर्मका ही प्रतिपादन है इससे चारों वेद नित्य हैं ऐसीही सब मनुष्यों को मानना उचित है क्योंकि ईश्वर नित्य है इससे उम की विद्या भी नित्य है ॥

तथा स्वकीयन्यायशास्त्रे गोतममुनिरप्यत्राह ॥ मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्रामाण्यात् । अ० २ पादे १ सू० ६० अस्यायमर्थः । तेषां वेदानां नित्यानामीश्वरोक्तानां प्रामाण्यं सर्वैः स्वीकार्यम् । कुतः । आप्रामाण्यात् धर्मात्मभिः कपटकलादिदोषरहितैर्देयालुभिः सत्यापदेष्टृभिर्विद्यापारगैर्महायोगिभिः सर्वैर्ब्रह्मादिभिराप्रैर्वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमतः किंवत् । मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवत् । यथा सत्यपदार्थविद्याप्रकाशकानां मंत्राणां विचाराणां सत्यत्वेन प्रामाण्यं भवति । यथा चायुर्वेदोक्तस्यैकदेशोक्तोषधसेवनेन रोगनिवृत्त्या तद्विद्वत्स्यापि भागस्य तादृशस्य प्रामाण्यं भवति । तथा वेदोक्तार्थस्यैकदेशप्रत्यक्षेणैतरस्यादृष्टार्थविषयस्य वेदभासस्यापि प्रामाण्यमङ्गीकार्यम् । एतत्सूत्रस्योपरि भाष्यकारेण वात्स्यायनमुनिनाप्येवं प्रतिपादितम् ॥ द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानम् । य एवाग्रा वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च त एवायुर्वेदप्रभृतीनामित्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्देवप्रामाण्यमनुमातव्यमिति । नित्यत्वाद्देववाक्यानां प्रामाण्यत्वे तत्प्रामाण्यमाप्रामाण्यादित्युक्तम् ॥

अस्यायमभिप्रायः । यथा ऽऽप्रोपदेशस्य शब्दस्य प्रामाण्यं भवति । तथा सर्वथाप्रेनेश्वरेणोक्तानां वेदानां सर्वैरापैः प्रामाण्येनांगीकृतत्वाद्देदाः प्रामाण्यमिति बोध्यम् । अत ईश्वरविद्यामयत्वाद्देदानां नित्यत्वमेवापपन्नं भवतीति दिक् ॥

॥ भाषार्थ ॥

वैसेही न्यायशास्त्र में गोतम मुनि भी शब्द को नित्य कहते हैं (मंत्रायु०) वेदों को नित्य ही मानना चाहिये क्योंकि सृष्टि के आरंभ से लेके आज पर्यंत ब्रह्मादि जितने आप्त होते आये हैं वे सब वेदों को नित्यही मानते आये हैं उन आप्तों का अवश्यही प्रमाण करना चाहिये क्योंकि आप लोग वे होते हैं जो धर्मात्मा कपट छनादि दोषों से रहित सब विद्याओं में युक्त महा योगी और सब मनुष्यों के सुख होने के लिये सत्य का उपदेश करनेवाले हैं जिन में लेशमात्र भी पक्षपात वा मिथ्याचार नहीं होता उन्होंने वेदों का यथावत् नित्य गुणों से प्रमाण किया है जित्ना आयुर्वेद को बनाया है जैसे आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र के एकदेश में कहे आषध और पथ्य के सेवन करने से रोग की निवृत्ति से सुख प्राप्त होता है जैसे उस के एकदेश के कहे के सत्य होने से उस के दूसरे भाग का भी प्रमाण होता है इसी प्रकार वेदों का भी प्रमाण करना सब मनुष्यों को उचित है क्योंकि वेद के एकदेश में कहे अर्थ का सत्य पना विदित होने से उससे भिन्न जो वेदों के भाग हैं कि जिन का अर्थ प्रत्यक्ष न हुआ हो उन का भी नित्य प्रमाण अवश्य करना चाहिये क्योंकि आप्त पुरुष का उपदेश मिथ्या नहीं होसक्ता (मंत्रायु०) इस सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन मुनि ने वेदों का नित्य होना स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि जो आप लोग हैं वे वेदों के अर्थ को देखने दिखाने और जनाने वाले हैं जो २ उम २ मंत्र के अर्थ के द्रष्टा वक्ता होते हैं वे ही आयुर्वेद आदि के बनानेवाले हैं जैसे उन का कथन आयुर्वेद में सत्य है वैसे ही वेदों के नित्य मानने का उन का जो व्यवहार है सो भी सत्य ही है ऐसा मानना चाहिये क्योंकि जैसे आप्तों के उपदेश का प्रमाण अवश्य होता है वैसे ही सब आप्तों का भी जो परम आप्त सब का गुरु परमेश्वर है उस के किये वेदों का भी नित्य होने का प्रमाण अवश्य ही करना चाहिये ॥

अथ विषये योगशास्त्रे पतंजलिमुनिरप्याह ॥ स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ पातंजलयोगशास्त्रे । अ० १ पा० १ सू० २६ । यः पूर्वेषां सृष्ट्यादावुत्पन्नानामग्निवाय्वादित्यांगिरो ब्रह्मादीनां प्राचीना-नामस्मदादीनामिदानीं तनानामये भविष्यतां च सर्वेषामेष ईश्वर एव गुरुरस्ति । गृह्णाति वेदद्वारोपदिशति सत्यानर्थान्सगुरुः । स च सर्वदा

नित्योस्ति । तत्र कालगतेरप्रचारत्वात् । न स ईश्वरोऽप्यविद्यादिकेशैः
पापकर्मभिस्तद्वासनया च कदाचिद्युक्तो भवति । यस्मिन्निरतिशयं नित्यं
स्वाभाविकं ज्ञानमस्ति तदुक्तत्वाद्देवानामपि सत्यार्थवत्नित्यत्वे वेदे
इति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस विषय में योगशास्त्र के कर्ता पतंजलि मुनि भी वेदों को नित्य
मानते हैं (स एष०) जो कि प्राचीन अग्नि वायु आदित्य अंगिरा और ब्रह्मादि
पुरुष सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए थे उन से लेके हमलोग पर्यन्त और हम
से आगे जो होनेवाले हैं इन सब का गुरु परमेश्वरही है क्योंकि वेदद्वारा
सत्य अर्थों का उपदेश करने से परमेश्वर का नाम गुरु है सो ईश्वर नित्य
ही है क्योंकि ईश्वर में क्षणादि काल की गति का प्रचार ही नहीं है और
वह अविद्या आदि क्लेशों से और पापकर्म तथा उन की वामनाओं के भागों से
अलग है जिस में अनन्तविज्ञान सर्वदा एकरस बना रहता है उसी के रचे वेदों
का भी सत्यार्थपना और नित्यपना भी निश्चित है ऐसा ही सब मनुष्यों को
ज्ञानना चाहिये ॥

एवमेव स्वकीयसांख्यशास्त्रे पंचमाध्याये कपिलाचार्योप्याह ॥
निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥ सू० ५१ ॥ अस्यायमर्थः । वेदानां
निजशक्त्यभिव्यक्तेः पुरुषसहचारिप्रधानसामर्थ्यात् प्रकटत्वात्स्वतःप्रामाण्य-
नित्यत्वे स्वीकार्ये इति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार से सांख्यशास्त्र में कपिलाचार्य भी कहते हैं (निज०)
परमेश्वर की (निज) अर्थात् स्वाभाविक जो विद्याशक्ति है उससे प्रकट होने
से वेदों का नित्यत्व और स्वतःप्रमाण सब मनुष्यों को स्वीकार करना
चाहिये ॥

अस्मिन् विषये स्वकीयवेदान्तशास्त्रे कृष्णद्वैपायनो व्यासमुनिर-
प्याह । सू० शास्त्रयोनित्वात् । अ० १ पा० १ सू० ३ । अस्यायमर्थः ।
ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः
सर्वज्ञकल्पस्य योनिःकारणं ब्रह्म । नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्वेदादिलक्षणस्य
सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोस्ति । यद्यद्विस्तरार्थं शास्त्रं
यस्मात्पुरुषविशेषात्संभवति । यथा व्याकरणादि पाणिन्यादेर्ज्ञेयैकदेशार्थमपि
स ततोऽप्यधिकतरविज्ञानवति सिद्धं लोके किमुवक्तव्यमितीदं वचनं शंकरा-
चार्येणास्य सूत्रस्योपरि स्वकीयव्याख्याने गदितम् अतः किमागतं सर्वज्ञ-

स्येश्वरस्य शास्त्रमपि नित्यं सर्वार्थज्ञानयुक्तं च भवितुमर्हति । अन्यच्च । तस्मिन्नेवाध्याये । सू० अतएव च नित्यत्वम् । पा० ३ सू० २६ । अस्या-
यमर्थः अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद्वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सर्वविद्या-
वत्त्वं सर्वेषु कालेष्वव्यभिचारित्वान्नित्यत्वं च सर्वैर्मनुष्यैर्मन्तव्यमिति सि-
द्धम् । न वेदस्य प्रामाण्यसिद्धयर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते । किं त्वेतत्सा-
क्षिवद्विज्ञेयम् । वेदानां स्वतःप्रमाणत्वात् । सूर्यवत् । यथा सूर्यः स्वप्र-
काशः सन् संसारस्थान्महतो ऽल्पांश्च पर्वतादीन् चसरेणवन्तान्यदार्थान्प्र-
काशयति तथा वेदोपि स्वयं स्वप्रकाशः सन्सर्वाविद्याः प्रकाशयतीत्य-
वधेयम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार से वेदांतशास्त्र में वेदों के नित्य होने के विषय में व्यास जी ने भी लिखा है (शास्त्र०) इस सूत्र के अर्थ में शंकराचार्य ने भी वेदों को नित्य मान के व्याख्यान किया है कि ऋग्वेदादि जो चारों वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाश करनेवाले हैं उन का बनानेवाला सर्वज्ञादि गुणों से युक्त परब्रह्म है क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञ गुणयुक्त इन वेदों को बना सके ऐसा संभव कभी नहीं हो सक्ता किंतु वेदार्थ विस्तार के लिये किसी जीव विशेष पुरुष से अन्य शास्त्र बनाने का संभव होता है जैसे पाणिनि आदि मुनियों ने व्याकरणादि शास्त्रों को बनाया है उन में विद्या के एक र देश का प्रकाश किया है सो भी वेदों के आश्रय से बना सके हैं और जो सब विद्याओं से युक्त वेद हैं उन को सिवाय परमेश्वर के दूसरा कोई भी नहीं बना सक्ता क्योंकि परमेश्वर से भिन्न सब विद्याओं में पूर्ण कोई भी नहीं है किंच परमेश्वर के बनाये वेदों के पढ़ने विचारने और उन्हीं के अनुग्रह से मनुष्यों को यथाशक्ति विद्या का बोध होता है अन्यथा नहीं ऐसा शंकरा-
चार्य ने भी कहा है इसे क्या आया कि वेदों के नित्य होने में सब आर्य लोगों की साक्षी है और यह भी कारण है कि जो ईश्वर नित्य और सर्वज्ञ है उस के किये वेद भी नित्य और सर्वज्ञ होने के योग्य हैं अन्य का बनाया ऐसा ग्रंथ कभी नहीं हो सक्ता (अतएव०) इस सूत्र से भी यही आना है कि वेद नित्य हैं और सब सज्जन लोगों को भी ऐसा ही मानना उचित है तथा वेदों के प्रमाण और नित्य होने में अन्य शास्त्रों के प्रमाणों को साक्षी के समान जानना चाहिये क्योंकि वे अपने ही प्रमाण से नित्य सिद्ध हैं जैसे सूर्य के प्रकाश में सूर्य का ही प्रमाण है अन्य का नहीं और जैसे सूर्य प्रकाशस्वरूप है पर्वत से लेके जसरेणु पर्यंत पदार्थों का प्रकाश करता है वैसे वेद भी स्वयंप्रकाश हैं और सब सत्यविद्याओं का भी प्रकाश कर रहे हैं ॥

अतएव स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशितस्य वेदस्य स्वस्य च सिद्धि-
करं प्रमाणमाह । सपर्यगाच्छुक्रमंकायमंबुणमंस्त्राविरंशुद्धमपापविद्धम् ॥
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूरीथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥ १ ॥ य० अ० ४० मं० ८ ॥ अस्यायमभिप्रायः । यः पूर्वोक्तः
सर्वव्यापकादिविशेषणयुक्त ईश्वरोस्ति (सपर्यगात्) परितः सर्वतो
ऽगात् गतवान्प्राप्तवानस्ति । नैवैकः परमाणुरपि । तद्वाप्या विनास्ति
(शुक्रं) तद्ब्रह्म सर्वजगत्कर्तृवीर्य्यवदनन्तबलवदस्ति (अकायं)
तत्स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयसंबंधरहितम् (अव्रणं) नैवेतस्मिंश्छिद्रं कर्तुं
परमाणुरपि शक्नोति । अतएव छेदरहितत्वादन्नतम् (अस्त्राविरं) तन्नाडी-
संबंधरहितत्वाद्बन्धनावरणविमुक्तम् (शुद्धं) तदविद्यादिदोषेभ्यः सर्वदा
पृथग्वर्तमानम् (अपापविद्धम्) नैव तत्पापयुक्तं पापकारि च कदाचिद्व-
वति (कविः) सर्वज्ञः (मनीषी) यः सर्वेषां मनसा मोषी साक्षी ज्ञातास्ति
(परिभूः) सर्वेषामुपरि विराजमानः (स्वयंभूः) यो निमित्तोपादान साधा-
रणकारणत्रयरहितः । स एव सर्वेषां पिता नह्यस्य कश्चित् जनकः
स्वसामर्थ्येन सहैव सदा वर्तमानोस्ति । (शाश्वतीभ्यः) य एवंभूतः सच्चि-
दानन्दस्वरूपः परमात्मा (सः) सर्गादौ स्वकीयाभ्यः शाश्वतीभ्यो
निरंतराभ्यः समाभ्यः प्रजाभ्यो याथातथ्यतो यथार्थस्वरूपेण वेदोपदेशेन
(अर्थान् व्यदधात्) विधत्तवानर्थोदात्ता यदा सृष्टिं करोति तदा तदा
प्रजाभ्यो हितायादिसृष्टौ सर्वविद्यासमन्वितं वेदशास्त्रं स एव भगवानुप-
दिशति । अत एव नैव वेदानामनित्यत्वं केनापि मन्तव्यम् । तस्य
विद्यायाः सर्वदैकरसवर्तमानत्वात् ॥

॥ भाषार्थ ॥

ऐसे ही परमेश्वर ने अपने और अपने किये वेदों के नित्य और स्थतः
प्रमाण होने का उपदेश किया है सो आगे लिखते हैं (सपर्यगात्) यह मंत्र
ईश्वर और उस के किये वेदों का प्रकाश करता है कि जो ईश्वर सर्वव्यापक
आदि विशेषणयुक्त है सो सब जगत् में परिपूर्ण हो रहा है उस की व्याप्ति
से एक परमाणु भी रहित नहीं है सो ब्रह्म (शुक्रं) सब जगत् का करनेवाला
और अनंत विद्यादि बल से युक्त है (अकायं) जो स्थूल सूक्ष्म और कारण
इन तीनों शरीरों के संयोग से रहित है अर्थात् वह कभी जन्म नहीं लेता
(अव्रणं) जिस में एक परमाणु भी छिद्र नहीं कर सकता इसी से वह सर्वथा
छेदरहित है (अस्त्राविरं) वह नाड़ियों के बंधन से अलग है जैसा वायु और

रुधिर नाडियों में बंधा रहता है ऐसा बंधन परमेश्वर में नहीं होता (शुद्धं) जो अविद्या अज्ञानादि क्लेश और सब दोषों से पृथक् है (अपापविद्धम्) सो ईश्वर पापयुक्त वा पाप करनेवाला कभी नहीं होता क्योंकि वह स्वभाव से ही धर्मात्मा है (कविः) जो सब का जाननेवाला है (मनीषी) जो सब का अंतर्गामी है और भूत भविष्यत् तथा वर्तमान इन तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जानता है (परिभूः) जो सब के ऊपर विराजमान हो रहा है (स्वयंभूः) जो कभी उत्पन्न नहीं होता और उस का कारण भी कोई नहीं किंतु वही सब का कारण अनादि और अनंत है इससे वहां सब का माता पिता है और अपने ही सत्यसामर्थ्य से मदा वर्तमान रहता है इत्यादि लक्षणों से युक्त जो सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है (शाखतांभ्यः०) उस ने सृष्टि की आदि में अपनी प्रजा को जो कि उस के सामर्थ्य में सदा से वर्तमान है उस के सब सुखों के लिये (अर्थान् व्यदधात्) सत्य अर्थों का उपदेश किया है इसी प्रकार जब २ परमेश्वर सृष्टि को रचता है तब २ प्रजा के हित के लिये सृष्टी की आदि में सब विद्याओं से युक्त वेदों का भी उपदेश करता है और जब २ सृष्टि का प्रलय होता है तब २ वेद उस के ज्ञान में सदा बने रहते हैं इससे उन को सदैव नित्य मानना चाहिये ॥

यथा शास्त्रप्रमाणेन वेदानित्याः सन्तीति निश्चयोस्ति । तथ युक्त्यापि । तद्यथा । नासत आत्मलाभो न सत आत्महानम् । योस्ति स भविष्यति । इतिन्यायेन वेदानां नित्यत्वं स्वीकार्यम् । कुतः । यस्य मूलं नास्ति नैव तस्य शाखादयः संभवितुमर्हन्ति । वन्ध्यापुत्रविवाहदर्शनवत् पुत्रो भवेत्तेनदा वन्ध्यात्वं न सिध्येत् स नास्ति चेत्यनस्तस्य विवाहदर्शने कथं भवतः । एवमेवात्रापि विचारणीयम् । यदीश्वरं विद्यानन्ता न भवेत्कथमुपदिशेत् । स नोपदिशेत्तत्रैव कस्यापि मनुष्यस्य विद्यासंबन्धो दर्शनं च स्याताम् । निर्मूलस्य प्ररोहाभावात् । नह्यस्मिन् जगति निर्मूलमुत्पन्नं किं चिदृश्यते । यस्य सर्वेषां मनुष्याणां साक्षादनुभवो ऽस्ति सो ऽत्र प्रकाश्यते । यस्य प्रत्यक्षानुभवस्तस्यैव संस्कारो यस्य संस्कारस्तस्यैव स्मरणं ज्ञानं तेनैव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतो नान्यथेति । तद्यथा । येन संस्कृतभाषा पठ्यते तस्या ऽस्या एव संस्कारो भवति नाऽन्यस्याः । येन देशभाषाधीयते तस्या एव संस्कारो भवति नातो ऽन्यथा । एवं सृष्ट्यादावीश्वरोपदेशाऽध्यापनाभ्यां विना नैव कस्यापि विद्याया अनुभवः स्यात् । पुनः कथं संस्कारस्तेन विना कुतः स्मरणं न च स्मरणेन विना विद्याया लेशोपि कस्य चिद्वितुमर्हति ।

॥ भाषार्थ ॥

जैसे शास्त्रों के प्रमाणों से वेद नित्य हैं वैसे ही युक्ति से भी उन का नित्य-पन सिद्ध होता है क्योंकि असत् से सत् का होना अर्थात् अभाव से भाव का होना कभी नहीं हो सक्ता तथा सत् का अभाव भी नहीं हो सक्ता जो सत्य है उसी से आगे प्रवृत्ति भी हो सकती है और जो वस्तु ही नहीं है उसे दूसरी वस्तु किसी प्रकार से नहीं हो सकती इस न्याय से भी वेदों का नित्य ही मानना ठीक है क्योंकि जिस का मूल नहीं होता है उस की डाली पत्र पुष्प और फल आदि भी कभी नहीं हो सक्ते जैसे कोई कहे कि बंध्या के पुत्र का विवाह मैंने देखा यह उस की बात असंभव है क्योंकि जो उस के पुत्र होता तो वह बंध्या ही क्यों होती और जब पुत्र ही नहीं है तो उस का विवाह और दर्शन कैसे हो सक्ते हैं वैसे ही जब ईश्वर में अनंत विद्या है तभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश भी किया है और जो ईश्वर में अनंत विद्या न होती तो वह उपदेश कैसे कर सक्ता और वह जगत् को भी कैसे रच सक्ता जो मनुष्यों को ईश्वर अपनी विद्या का उपदेश न करता तो किसी मनुष्य को विद्या जो यथार्थ ज्ञान है सो कभी नहीं होता क्योंकि इस जगत् में निर्मूल का होना वा बढना सर्वथा असंभव है इसे यह जानना चाहिये कि परमेश्वर से वेदविद्या मूल को प्राप्त हो के मनुष्यों में विद्यारूप वृत्त विस्तृत हुआ है इस में और भी युक्ति है कि जिस का सब मनुष्यों को अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी का दृष्टान्त देते हैं देखो कि जिस का साक्षात् अनुभव होता है उसी का ज्ञान में संस्कार होता है संस्कार से स्मरण स्मरण से दृष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है अन्यथा नहीं जो संस्कृत भाषा को पढ़ना है उस के मन में उसी का संस्कार होता है अन्यभाषा का नहीं और जो किसी देशभाषा को पढ़ता है उस को देशभाषा का संस्कार होता है अन्य का नहीं इसी प्रकार जो वेदों का उपदेश ईश्वर न करता तो किसी मनुष्य को विद्या का संस्कार नहीं होता जब विद्या का संस्कार न होता तो उस का स्मरण भी नहीं होता स्मरण से बिना किसी मनुष्य को विद्या का लेश भी न हो सक्ता इस युक्ति से क्या जाना जाता है कि ईश्वर के उपदेश से वेदों को सुन के पढ़ के और विचार के ही मनुष्यों को विद्या का संस्कार आज पर्यंत होता चला आया है अन्यथा कभी नहीं होसक्ता ॥

किं च भोः । मनुष्याणां स्वाभाविकी या प्रवृत्तिर्भवति तच्च सुख-
दुःखानुभवश्च तयोत्तरोत्तरकाले क्रमानुक्रमाद्विद्यावृद्धिर्भवतिष्यत्येष पुनः
किमर्थमीश्वराद्वेदोत्पत्तेः स्वीकारइति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । एतद्वेदोत्पत्ति-करणे
परिहृतं तत्रैव निर्णयः । यद्यनेदानीमन्येभ्यः पठनेन विना कश्चिदपि

विद्वान् भवति तस्य ज्ञानोन्नतिश्च । तथा नैवेश्वरोपदेशगमेन विना कस्यापि विद्याज्ञानोन्नतिर्भवेत् । अशिक्षितबालकवनस्थवत् । यथोपदेशमन्तरा न बालकानां वनस्थानां च विद्या मनुष्यभाषाविज्ञाने अपि भवतः पुनर्विद्योत्पत्तेस्तु का कथा तस्मादीश्वरादेव या वेदविद्या ऽऽगता सा नित्यैवास्ति तस्य सत्यगुणवत्त्वात् । यन्नित्यं वस्तु वर्तते तस्य नामगुणकर्मण्यपि नित्यानि भवन्ति तदाधारस्य नित्यत्वात् । नैवाधिष्ठानमन्तरा नामगुणकर्मदयोगुणाः स्थितिं लभन्ते तेषां पराश्रितत्वात् । यन्नित्यं नास्ति न तस्यैतान्यपि नित्यानि भवन्ति । नित्यं चेत्पत्तिविनाशभ्यामितरद्भुतमहति । उत्पत्तिर्हि पृथग्भूतानां द्रव्याणां या संयोगविशेषाद्भवति । तेषामुत्पन्नानां कार्यद्रव्याणां सति वियोगे विनाशश्च संघाताभावात् । अदर्शनं च विनाशः । ईश्वरस्यैकरसत्वान्नैव तस्य संयोगवियोगाभ्यां संस्पर्शापि भवति । अत्र कणादमुनिकृतं सूत्रं प्रमाणमस्ति । सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥ वैशेषिके । अ० ४ सू० १ ॥ अस्यायमर्थः । यत्कार्यं कारणादुत्पद्य विद्यमानं भवति तदनित्यमुच्यते तस्य प्रागुत्पत्तेरभावात् । यत्तु कस्यापि कार्यं नैव भवति किं तु सदैव कारणरूपमेव तिष्ठति । तन्नित्यं कथ्यते । यद्यत्संयोगजन्यं तत्तत्कर्मफलं भवति कर्तापि संयोगजन्यश्चेत्तर्हि तस्याप्यन्योन्यः कर्तास्तीत्या गच्छेत् । एवं पुनः पुनः प्रसंगादनवस्थापतिः । यच्च संयोगेन प्रादुर्भूतं नैव तस्य प्रकृतिपरमाण्यादीनां संयोगकरणे सामर्थ्यं भवितुमर्हति तस्मान्तेषां सूक्ष्मत्वात् । यद्यस्मात्सूक्ष्मं तत्तस्यात्मा भवति स्थूले सूक्ष्मस्य प्रवेशार्हत्वात् । अयमेव नवत् । यथा सूक्ष्मत्वादग्निः कठिनं स्थूलमयः प्रविश्य तस्यावयवानां पृथग्भावं करोति । तथा जलमपि पृथिव्याः सूक्ष्मत्वान्त्कणान् प्रविश्य संयुक्तमेकं पिण्डं करोति क्षिनति च । तथा परमेश्वरः संयोगवियोगाभ्यां पृथग्भूतो विभुरस्त्यतो नियमेन रचनं विनाशं च कर्तुमर्हति । न चान्यथा । यथा संयोगवियोगान्तर्गतत्वान्नास्मदादीनां प्रकृतिपरमाण्यादीनां संयोगवियोगकरणे सामर्थ्यमस्ति । तथेश्वरेऽपि भवेत् । अन्यच्च । यतः संयोगवियोगारंभो भवति । स तस्मात्पृथग्भूतोऽस्ति तस्य संयोगवियोगारब्धस्यादिकारणत्वात् । आदिकारणस्याभावात्संयोगवियोगारंभस्यानुत्पत्तेश्च । एवं भूतस्य सदा निर्विकारस्वरूपस्याजस्यानादेर्नित्यस्य सत्यसामर्थ्यस्येश्वरस्य सकाशाद्वेदानां प्रादुर्भावात्तस्य ज्ञाने सदैव वर्तमानत्वात्सत्यार्थवत्त्वं नित्यत्वं चेतेशामस्तीति सिद्धम् ॥

इति वेदानां नित्यत्वविचारः ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० मनुष्यों की स्वभाव से जो चेष्टा है उसमें सुख और दुःख का अनुभव भी होता है उससे उत्तर २ काल में क्रमानुसार से विद्या की वृद्धि भी आवश्यक होगी तब वेदों को भी मनुष्य लोग रचलेंगे फिर ईश्वर ने वेद रचे ऐसा क्यों मानना उ० इस का समाधान वेदोत्पत्ति के प्रकरण में कर दिया है वहां यही निर्णय किया है कि जैसे इस समय में अन्य विद्वानों से पठे बिना कोई भी विद्यावान नहीं होता और इसी के बिना किसी पुरुष में ज्ञान की वृद्धि भी देखने में नहीं आती वैसेही सृष्टि के आरंभ में ईश्वरोपदेश की प्राप्ति के बिना किसी मनुष्य को विद्या और ज्ञान की बढ़ती कभी नहीं हो सकती इस में अशिक्षित बालक और वनवासियों का दृष्टान्त दिया था कि जैसे उस बालक और वन में रहने वाले मनुष्य को यथावत् विद्या का ज्ञान नहीं होता तथा अच्छी प्रकार उपदेश के बिना उन को लोकव्यवहार का भी ज्ञान नहीं होता फिर विद्या की प्राप्ति तो अत्यंत कठिन है इससे क्या जानना चाहिये कि परमेश्वर के उपदेश वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों को विद्या और ज्ञान की उन्नति करना भी सहज हुई है क्योंकि उस के सभी गुण सत्य हैं इससे उस की विद्या जो वेद है वह भी नित्यही है जो नित्य वस्तु है उस के नाम गुण और कर्म भी नित्य ही होते हैं क्योंकि उन का आधार नित्य है और बिना आधार से नाम गुण और कर्मादि स्थिर नहीं हो सके क्योंकि वे द्रव्यों के आश्रय सदा रहते हैं जो अनित्य वस्तु है उस के नाम गुण और कर्म भी अनित्य होते हैं सो नित्य किस को कहना जो उत्पत्ति और विनाश से पृथक् है तथा उत्पत्ति क्या कहाती है कि जो अनेक द्रव्यों के संयोग विशेष से स्थूल पदार्थ का उत्पन्न होना और जब वे पृथक् २ होके उन द्रव्यों के वियोग से जो कारण में उन की परमाणु रूप अवस्था होती है उस को विनाश कहते हैं और जो द्रव्य संयोग से स्थूल होते हैं वे वस्तु आदि इद्रियों से देखने में आते हैं फिर उन स्थूल द्रव्यों के परमाणुओं का जब वियोग हो जाता है तब सूक्ष्म के होने से वे द्रव्य देख नहीं पड़ते इस का नाम नाश है क्योंकि अदर्शन को ही नाश कहते हैं जो द्रव्य संयोग और वियोग से उत्पन्न और नष्ट होता है उसी को कार्य और अनित्य कहते हैं और जो संयोग वियोग से अलग है उस की न कभी उत्पत्ति और न कभी नाश होता है इस प्रकार का पदार्थ एक परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण है क्योंकि वह सदा अखंड एक रसही बना रहता है इसी से उस को नित्य कहते हैं इस में कणादमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है (सत्कार०) जो किसी का कार्य है कि कारण से उत्पन्न हो के विद्यमान होता है उस को अनित्य कहते हैं जैसे मट्टी से घड़ा हो के वह नष्ट भी हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के सामर्थ्य कारण से सब जगत् उत्पन्न हो के

विद्यमान होता है फिर प्रलय में स्थूलाकार नहीं रहता किंतु वह कारणरूप तो सदा ही बना रहता है इससे क्या आया कि जो विद्यमान हो और जिस का कारण कोई भी न हो अर्थात् स्वयं कारणरूप ही हो उस को नित्य कहते हैं क्योंकि जो २ संयोग से उत्पन्न होता है सो २ बनाने वाले को अपेक्षा अवश्य रखता है जैसे कर्म नियम और कार्य ये सब कर्त्ता नियन्ता और कारण का ही सदा जनाते हैं और जो कोई ऐसा कहै कि कर्त्ता को भी किसी ने बनाया होगा तो उससे पूछना चाहिये उस कर्त्ता के कर्त्ता को किस ने बनाया है इसी प्रकार यह अनवस्था प्रसंग अर्थात् मर्यादा रहित होता है जिस की मर्यादा नहीं है वह व्यवस्था के योग्य नहीं ठहर सक्ता और जो संयोग से उत्पन्न होता है वह प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग करने में समर्थ ही नहीं हो सक्ता इससे क्या आया कि जो जिसे सूक्ष्म होता है वही उस का आत्मा होता है अर्थात् स्थूल में सूक्ष्म व्यापक होता है जैसे लाहे में अग्नि प्रविष्ट हो के उस के सब अवयवों में व्याप्त होता है और जैसे जल पृथ्वी में प्रविष्ट हो के उस के कणों के संयोग से पिंडा करने में हेतु होता है तथा उस का केंद्रन भी करता है वैसेही परमेश्वर सब संयोग और वियोग से पृथक् सब में व्यापक प्रकृति और परमाणु आदि से भी अत्यंत सूक्ष्म और चेतन है इसी कारण से प्रकृति और परमाणु आदि द्रव्यों के संयोग करके जगत् को रच सक्ता है जो ईश्वर उन से स्थूल होता तो उन को ग्रहण और रचन कभी नहीं कर सक्ता क्योंकि जो स्थूल पदार्थ होते हैं वे सूक्ष्म पदार्थों के नियम करने में समर्थ नहीं होते जैसे हम लोग प्रकृति और परमाणु आदि के संयोग और वियोग करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि जो संयोग वियोग के भीतर है वह उस के संयोग वियोग करने में समर्थ नहीं हो सक्ता तथा जिस वस्तु से संयोग वियोग का आरंभ होता है वह वस्तु संयोग और वियोग से अलग ही होता है क्योंकि वह संयोग और वियोग के आरंभ के नियमों का करता और आदिकारण होता है तथा आदिकारण के अभाव से संयोग और वियोग का होना ही असंभव है इससे क्या जानना चाहिये कि जो सदा निर्विकार-स्वरूप अज अनादि नित्य सत्य सामर्थ्य से युक्त और अनंत विद्यावाला ईश्वर है उस की विद्या से वेदों के प्रगट होने और उस के ज्ञान में वेदों के सदैव वर्तमान रहने से वेदों को सत्यार्थ युक्त और नित्य सब मनुष्यों को मानना योग्य है यह संक्षेप से वेदों के नित्य होने का विचार किया ॥

॥ इति वेदानां नित्यत्वविचारः ॥

अथ वेदविषयविचारः ।

अथ चत्वारो वेदविषयाः सन्ति । विज्ञानकर्मापासना ज्ञानकाण्ड-भेदात् । तत्तादिमो विज्ञानविषयोहि सर्वभ्यो मुख्योऽस्ति । तस्य परमेश्व-

रादारभ्य तृणपर्यंतपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात् । तत्रापीश्वरानुभवे मुख्योक्तिः । कुतः । अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात् । अत्र प्रमाणानि । सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संगहेण ब्रवीम्येतिमित्येतत् ॥ कठोपनि० ब्रह्मी २ मं० १५ ॥ तस्य वाचकः प्रणवः योगशास्त्रे । अ० १ पा० १ सू० २७ । ओ३म् खं ब्रह्म । यजुः० । अ० ४० । ओमिति ब्रह्म । तैत्तिरीयारण्यके । प्र० ७ अनु० ८ ॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्ववेदः शिवाकल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दोज्योतिषमिति । अथ पराययातदन्तरमधिगम्यते ॥ १ ॥ यत्तददृश्यमग्राह्यमगोचमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं त्रिभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्वतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ २ ॥ मुण्डके १ खंडे १ मं० ५ । ६ ॥ एषामर्थः । (सर्ववेदाः०) यत्परमं पदमोक्षाख्यं परब्रह्मप्राप्तिपदं सर्वानन्दमयं सर्वदुःखेतरमस्ति तदेवैकार वाच्यमस्ति (तस्य०) तस्येश्वरस्य प्रणव ओंकारो वाचकोस्ति वाच्यश्चेश्वरः (ओम्०) ओमिति परमेश्वरस्य नामास्ति तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा आमनन्ति । आसमन्तादभ्यस्यन्ति मुख्यतया प्रतिपादयन्ति (तपांसि) सत्यधर्मानुष्ठानानितपस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्यग्रहणमुपलक्षणाद्यै ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि । तदेवामनन्ति । ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद्वहेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्नध्या समाना घटन्त्युपशन्ति च । हे नचिकेतः अहं यमे। यदीदृशं पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संगहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ॥ १ ॥ (तत्रापरा०) वेदेषु द्वे विद्ये वर्तन्ते अपरापरा चेति । तत्र यया पृथिवी तृणमारभ्य प्रकृतिपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते । यया चादृश्यादिविशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद्ब्रह्म विज्ञायते सा परा ऽर्थादपरायाः सकाशादत्युत्कृष्टास्तीति वेदम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब वेदों के नित्यत्वविचार के उपरान्त वेदों में कौन २ विषय किस २ प्रकार के हैं इस का विचार किया जाता है वेदों में अवयवरूप विषय तो अनेक हैं परंतु उन में से चार मुख्य हैं (१) एक विज्ञान अर्थात् सब पदार्थों को यथार्थ जानना (२) दूसरा कर्म (३) तीसरा उपासना और (४) चौथा ज्ञान है विज्ञान उस को कहते हैं कि जो कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों

से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृण पर्यंत पदार्थों का साक्षाद्बोध का होना उन से यथावत् उपयोग का करना इससे यह विषय इन चारों में भी प्रधान है क्योंकि इसी में वेदों का मुख्य तात्पर्य है सो भी दो प्रकार का है एक तो परमेश्वर का यथावत् ज्ञान और उस की आज्ञा का बराबर पालन करना और दूसरा यह है कि उस के रचे हुए सब पदार्थों के गुणों को यथावत् विचार के उन से कार्य सिद्ध करना अर्थात् ईश्वर ने कौन २ पदार्थ किस २ प्रयोजन के लिये रचे हैं और इन दोनों में से भी ईश्वर का जो प्रतिपादन है सोही प्रधान है इस में आगे कठवल्लो आदि के प्रमाण लिखते हैं (सर्वे वेदाः०) परम पद अर्थात् जिस का नाम मोक्ष है जिस में परब्रह्म को प्राप्त होके सदा सुख में ही रहना जो सब आनन्दों से युक्त सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है जिस के नाम (ओं) आदि हैं उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है इस में योग-सूत्र का भी प्रमाण है (तस्य०) परमेश्वर का ही ओंकार नाम है (ओं खं०) तथा (ओमिति०) ओं और खं ये दोनों ब्रह्म के नाम हैं और उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं उस की प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है क्योंकि जगत् का वर्णन दृष्टान्त और उपयोगादि का करना ये सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान जिन को तप कहते हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये हैं तथा ब्रह्मचर्य्य गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप के कर्म हैं वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिये हैं जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उमी का उपदेश भी करते हैं नचिकेता और यम इन दोनों का परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेतः जो अवश्य प्राप्ति करने के योग्य परब्रह्म है उसी का मैं तेरे लिये संक्षेप से उपदेश करता हूँ और यहां यह भी जानना उचित है कि अलंकार रूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिये (तत्रापरा०) वेदों में दो विद्या हैं एक अपरा दूसरी परा इन में से अपरा यह है कि जिसे पृथिवी और तृण से ले के प्रकृतिपर्यंत पदार्थों के गुणों के ज्ञान से ठीक २ कार्य सिद्ध करना होता है और दूसरी परा कि जिसे सर्व-शक्तिमान् ब्रह्म की यथावत् प्राप्ति होती है यह परा विद्या अपरा विद्या से अत्यंत उत्तम है क्योंकि अपरा का ही उत्तम फल परा विद्या है ॥

अन्यच्च । तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सुरयः ॥ द्विजैवच-
क्षुराततम् ॥ १ ॥ ऋग्वेदे । अष्टके १ अध्याये २ वर्गे ७ मंत्रः ५ ॥
अस्यायमर्थः । यत् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (परमं) प्रकृष्टा-
नन्दस्वरूपं (पदं) पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मुन्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति

तत् (सूरयः) विद्वांसः सदा सर्वेषु कालेषु पश्यन्ति कीदृशं तत् (आततम्) आसमन्तात्तत् विस्तृतं गृह्येशकालवस्तुपरिच्छेदरहितमस्ति । अतः सर्वैः सर्वत्र तदुपलभ्यते तस्य ब्रह्मस्वरूपस्य विभुत्वात् । कस्यां किमिष (दिवीवचक्षुराततम्) दिविमार्तण्डप्रकाशे नेचदृष्टेर्व्याप्रियथा भवति । तथैव तत्पदं ब्रह्मापि वर्तते मोक्षस्य च सर्वस्मादधिकोत्कृष्टत्वात् । तदेव द्रष्टुं प्राप्नुमिच्छन्ति । अतो वेदाविशेषेण तस्यैव प्रतिपादनं कुर्वन्ति एतद्विषयकं वेदान्तसूचं व्यासोप्याह । तत्तु समन्वयात् । अ० १ पा० १ सू० ४ अस्यायमर्थः । तदेव ब्रह्म सर्वत्र वेदवाक्येषु समन्वितं प्रतिपादितमस्ति । क्वचित्साक्षात्क्वचित्परंपरया च । अतः परमार्थो वेदानां ब्रह्मैवास्ति । तथा यजुर्वेदे प्रमाणम् । यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ॥ प्रजापतिः प्रजया स्रग्गणास्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ य० अ० ८ मं० ३६ एतस्यार्थः (यस्मात्) नैव परब्रह्मणः सकाशात् (परः) उत्तमः पदार्थः (जातः) प्रादुर्भूतः प्रकटः (अन्यः) भिन्नः कश्चिदप्यस्ति (प्रजापतिः) प्रजापतिरिति ब्रह्मणो नामास्ति प्रजापालकत्वात् (य आविवेश भु०) यः परमेश्वरः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वलोकान् (आविवेश) व्यापवानस्ति (स्रग्गणाः) सर्वाणिभ्योऽत्यंतं सुखं दत्तवान्सन् (त्रीणि ज्योतींषि) त्रीण्यग्निमूर्यविद्युदाख्यानि सर्वजगत्प्रकाशकानि (प्रजया) ज्योतिषोऽन्यथा सृष्ट्या सह तानि (सचते) समवेतानि करोति कृतवानस्ति (सः) अतः स एवेश्वरः (षोडशी) येन षोडशकला जगति रचितास्ता विद्यन्ते यस्मिन्यस्य वा तस्मात्स षोडशीत्युच्यते । अतोऽयमेव परमार्थो वेदितव्यः ॥ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥ इदं माण्डूक्योपनिषद्ब्रह्मचनमस्ति । अस्यायमर्थः । ओमित्येतदस्य नामास्ति तदक्षरम् । यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद्ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम् । अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगताद्योपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियते ऽतोऽयं प्रधानविषयोऽस्तीत्यवधार्यम् । किं च नैव प्रधानस्यायेऽप्रधानस्य ग्रहणं भवितुमर्हति । प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसंप्रत्ययइति व्याकरणमहाभाष्यवचनप्रामाण्यात् । एवमेव सर्वेषां वेदानामीश्वरे मुख्यार्थं मुख्यतात्पर्यमस्ति । तत्प्राप्तिप्रयोजनायैव सर्वउपदेशाः सन्ति । अतस्तदुपदेशपुरःसरैरेव चयाणां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां पारमार्थिकव्यावहारिकफलसिद्धये यथा योऽप्योपकाराय चानुष्ठानं सर्वैर्मनुष्यैर्यथावत्कर्तव्यमिति ॥

॥ भाषार्थ ॥

और भी इस विषय में ऋग्वेद का प्रमाण है कि (तद्वि०) (विष्णुः) अर्थात् व्यापक जो परमेश्वर है उस का (परम) अत्यन्त उत्तम आनन्द स्वरूप (पदं) जो प्राप्ति होने के योग्य अर्थात् जिस का नाम मोक्ष है उस को (सूरयः) विद्वान् लोग (सदा पश्यन्ति) सब काल में देखते हैं वह कैसा है कि सब में व्याप्त हो रहा है और उस में देश काल और वस्तु का भेद नहीं है अर्थात् उस देश में है और इस देश में नहीं तथा उस काल में था और इस काल में नहीं उस वस्तु में है और इस वस्तु में नहीं इसी कारण से वह पद सब जगह में सब को प्राप्त होता है क्योंकि वह ब्रह्म सब ठिकाने परिपूर्ण है इस में यह दृष्टान्त है कि (दिवीवचनुरानतम्) जैसे सूर्य का प्रकाश आवर्ण रहित आकाश में व्याप्त होता है और जैसे उस प्रकाश में नेत्र की दृष्टि व्याप्त होती है इसी प्रकार परब्रह्म पद भी स्वयंप्रकाश सर्वत्र व्याप्तवान् हो रहा है उस पद की प्राप्ति से कोई भी प्राप्ति उत्तम नहीं है इस लिये चारों वेद उसी की प्राप्ति कराने के लिये विशेष करके प्रतिपादन कर रहे हैं इस विषय में वेदांतशास्त्र में व्यासमुनि के सूत्र का भी प्रमाण है (तत्समन्वयात्) सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही विशेष करके प्रतिपादन है कहीं २ साक्षात् रूप और कहीं २ परंपरा से इसी कारण से वह परब्रह्म वेदों का परम अर्थ है तथा इस विषय में यजुर्वेद का भी प्रमाण है कि (यस्माच्चजा०) जिस परब्रह्म से (अन्यः) दूसरा कोई भी (परः) उत्तम पदार्थ (जातः) प्रगट (नास्ति) अर्थात् नहीं है (य आविवेश भु०) जो सब विश्व अर्थात् सब जगह में व्याप्त हो रहा है (प्रजापतिः प्र०) वही सब जगत् का पालन कर्त्ता और अध्यक्ष है जिस ने (त्रीणि ज्योतींषि) अग्नि सूर्य और बिजुली इन तीन ज्योतियों को प्रजा के प्रकाश होने के लिये (सचते) रच के संयुक्त किया है और जिस का नाम (षोडशी) है अर्थात् (१) ईक्षण जो यथार्थ विचार (२) प्राण जो कि सब विश्व का धारण करने वाला (३) श्रद्धा सत्य में विश्वास (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथिवी (९) इंद्रिय (१०) मन अर्थात् ज्ञान (११) अन्न (१२) वीर्य अर्थात् बल और पराक्रम (१३) तप अर्थात् धार्मानुष्ठान सत्याचार (१४) मंत्र अर्थात् वेद विद्या (१५) कर्म अर्थात् सब चेष्टा (१६) नाम अर्थात् दृश्य और अदृश्य पदार्थों की संज्ञा येही सोलह कला कहाती हैं ये सब ईश्वरही के बीच में हैं इससे उस को षोडशी कहते हैं इन षोडश कलाओं का प्रतिपादन प्रश्नोपनिषद् के ६ छठे प्रश्न में लिखा है इससे परमेश्वरही वेदों का मुख्य अर्थ है और उस से पृथक् जो यह जगत् है सो वेदों का गौण अर्थ है और इन दोनों में से प्रधान का ही ग्रहण होता है इससे क्या आया कि वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वरही के प्राप्ति कराने और प्रतिपादन करने में है उस परमे-

श्वर के उपदेशरूप वेदों से कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनों काण्डों का इस लोक और परलोक के व्यवहारों के फलों की सिद्धि और यथावत् उपकार करने के लिये सब मनुष्य इन चार विषयों के अनुष्ठानों में पुरुषार्थ करें यही मनुष्य देहधारण करने के फल हैं ॥

तच्च द्वितीयो विषयः कर्मकाण्डाख्यः स सर्वः क्रियामयोऽस्ति । नैतेन विना विद्याभ्यासज्ञाने अपि पूर्णं भवतः । कुतः । बाह्यमानसव्यवहारयोर्बाह्याभ्यन्तरे युक्तत्वात् । स चानेकविधोऽस्ति । परं तु तस्यापि खलु द्वौ भेदौ मुख्यौस्तः । एकः परमपुरुषार्थसिद्ध्यर्थो ऽर्थाद्य ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासनाज्ञापालनधर्मानुष्ठानज्ञानेन मोक्षमेव साधयितुं प्रवर्तते । अपरो लोकव्यवहारसिद्ध्ये यो धर्मणार्थकामौ निर्वर्तयितुं संयोज्यते । स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदा ऽयं श्रेष्ठफलापन्ने निष्काम-संज्ञां लभते । अस्य खल्वनन्तसुखेन योगात् । यदा चार्थकामफलसिद्ध्यवसानो लौकिकसुखाय योज्यते तदा सो ऽपरः सकामएव भवति । अस्य जन्ममरणफलभोगेन युक्तत्वात् । स चाग्निहोत्रमारभ्याश्वमेधपर्यन्तेषु यज्ञेषु सुगन्धिमिष्टपुष्टुरोगनाशकगुणैर्युक्तस्य सम्यक् संस्कारेण शोधितस्य द्रव्यस्य वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणार्थमग्ने होमः क्रियते स तद्वारा सर्वजगत्सुखकार्यैव भवति । यं च भोजनच्छादनयानकलाकौशलयन्त्रसामाजिक-नियमप्रयोजनसिद्ध्यर्थं विधत्ते सोऽधिकतया स्वसुखायैव भवति ॥

॥ भाषार्थ ॥

उन में से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रिया प्रधान ही होता है जिस के बिना विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सके क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है वह अनेक प्रकार का है परंतु उस के दो भेद मुख्य हैं एक परमार्थ दूसरा लोकव्यवहार अर्थात् पहिले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है प्रथम जो परम पुरुषार्थरूप कहा उस में परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उस के सर्वशक्तिमत्त्वादिवृत्तियों का कीर्तन उपदेश और श्रवण करना (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उस की सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना सो उपासना वेद और पातंजल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिये तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है न्यायाचरण उस को कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना इसी धर्म

का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है और दूसरा यह है कि जिसे पूर्वोक्त अर्थ काम और उन की सिद्धि करनेवाले साधनों की प्राप्ति होती है सो इस भेद को इस प्रकार से जानना कि जब मोक्ष अर्थात् सब दुःखों से कूट के केवल परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिये धर्म से युक्त सब कर्मों का यथावत् करना यही निष्काम मार्ग कहाता है क्योंकि इस में संसार के भोगों की कामना नहीं की जाती इसी कारण से इस का फल अक्षय्य है और जिस में संसार के भोगों की इच्छा से धर्मयुक्त काम किये जाते हैं उस को सकाम कहते हैं इस हेतु से इस का फल नाशमान् होता है क्योंकि सब कर्मों करके इंद्रिय भोगों को प्राप्त हो के जन्म मरण से नहीं कूट सक्ता सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यंत जो कर्मकाण्ड है उस में चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है एक सुगंध गुणयुक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं दूसरा मिष्टगुणयुक्त जो कि गुड़ और सहत आदि कहान हैं तीसरा पुष्टिकारक गुणयुक्त जो घृत दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोगनाशक गुणयुक्त जो कि सोम-लतादि ओषधि आदि हैं इन चारों का परस्पर शोधन संस्कार और यथा-योग्य मिला के अग्नि में युक्ति पूर्वक जो होम क्रिया जाना है वह वायु और वृष्टि जन की शुद्धि करनेवाला होता है इससे सब जगत् को सुख होता है और जिस को भोजन क्वादन विमानादि यान कला कुशलता यंत्र और सामाजिक नियम होने के लिये करते हैं वह अधिकांश से कर्त्ता को ही सुख देनेवाला होता है ॥

अथ पूर्वमीमांसायाः प्रमाणम् । द्रव्यसंस्कारः कर्मसु परार्थत्वा-
त्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ॥ अ० ४ पा० ३ सू० १ । द्रव्याणां तु क्रिया-
र्थानां संस्कारः क्रतुधर्मः स्यात् ॥ अ० ४ पा० ३ सू० ८ । अनयोरर्थः ।
द्रव्यं संस्कारः कर्मचेतत्त्वं यज्ञकर्त्ता कर्तव्यम् । द्रव्याणि पूर्वोक्तानि चतुः-
संख्याकानि सुगंधादिगुणयुक्तान्येव गृहीत्वा तेषां परस्परमुत्तमोत्तमगुण-
संपादनार्थं संस्कारः कर्तव्यः । यथा सूपदीनां संस्कारार्थं सुगंधयुक्तं घृतं
चमसे संस्थाप्यान्नौ प्रतप्य स धूमे जाते सति तं सूपपात्रे प्रवेश्य तन्मुखं
बद्ध्वा प्रचालयेच्च तदा यः पूर्वं धूमवद्वाष्पउत्थितः स सर्वः सुगंधो हि
जले भूत्वा प्रविष्टः सन्सर्वं सूपं सुगंधमेव करोति तेन पुष्टिरुचिकरश्च
भवति । तथैव यज्ञाद्योवाष्पो जायते स वायुं वृष्टिजलं च निर्दोषं कृत्वा
सर्वजगते सुखायेव भवति । अतश्चोक्तम् । यज्ञोपि तस्य जनतायै कल्पते
यथैवं विद्वान् होता भवति । ऐ० ब्रा० पं० १ अ० २ । जनानां समूहो
जनता तत्सुखायेव यज्ञो भवति यस्मिन्यज्ञे ऽमुना प्रकारेण विद्वान् संस्क-

तद्रव्याणामग्नौ होमं करोति । कुतः । तस्य परार्थत्वात् । यज्ञः परोप-
कारायैव भवति । अतएव फलस्य श्रुतिः श्रवणमर्थवादे । अनर्थवारणाय
भवति । तथैव होमक्रियार्थानां द्रव्याणां पुरुषाणां च यः संस्कारो भवति
स एव क्रतुधर्मो बोध्यः । एवं क्रतुना यज्ञेन धर्मो जायते नान्यथेति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस में पूर्वमीमांसा धर्मशास्त्र की भी संमति है (द्रव्य०) एक तो
द्रव्य दूसरा संस्कार और तीसरा उन का यथावत् उपयोग करना ये तीनों बात
यज्ञ के करना को अवश्य करनी चाहिये सो पूर्वोक्त सुगंधादि युक्त चार प्रकार
के द्रव्यों का अच्छी प्रकार संस्कार करके अग्नि में होम करने से जगत् का
अत्यंत उपकार होता है जैसे दाल और शाक आदि में सुगंध द्रव्य और घी
इन दोनों को चमचे में अग्नि पर तपा के उन में होंक देने से वे सुगंधित हो
जाते हैं क्योंकि उस सुगंध द्रव्य और घी के अग्न उन को सुगंधित करके दाल
आदि पदार्थों को पुष्ट और रुचि बढ़ाने वाले कर देते हैं वैसे ही यज्ञ से
जो भाप उठता है वह भी वायु और वृष्टि के जल को निर्दोष और सुगंधित
करके सब जगत् को सुख करता है इससे वह यज्ञ परोपकार के लिये ही
होता है इस में ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि (यज्ञोपित०) अर्थात् जनता
नाम जो मनुष्यों का समूह है उसी के सुख के लिये यज्ञ होता है और संस्कार
क्रिये द्रव्यों का होम करने वाला जो विद्वान् मनुष्य है वह भी आनंद को
प्राप्त होता है क्योंकि जो मनुष्य जगत् का जितना उपकार करेगा उस को
उतनाही ईश्वर की व्यवस्था से सुख प्राप्त होगा इसलिये यज्ञ का अर्थ वाद *
यह है कि अनर्थ दोषों को हटा के जगत् में आनंद को बढ़ाता है परंतु
होम के द्रव्यों का उत्तम संस्कार और होम के करने वाले मनुष्यों को होम
करने की श्रेष्ठ विद्या अवश्य होनी चाहिये सो इसी प्रकार के यज्ञ करने से
सब को उत्तम फल प्राप्त होता है विशेष करके यज्ञ करता को अन्यथा नहीं ॥

अत्र प्रमाणम् । अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्रादृष्टिरग्नेर्वै एता
जायन्ते तस्मादाहतपोजा इति । श० कां० ५ अ० ३ । अस्यायमभिप्रायः
अग्नेः सकाशाद्भ्रमबाष्पौ जायेते यदा यमग्निरवृक्षौषधिबनस्पतिजलादि-
पदार्थान्प्रविश्यतीन्संहतान् विभिद्य तेभ्यो रसं च पृथक् करोति । पुनस्ते
लघुत्वमापन्ना वाय्वाधारोपय्याकाशं गच्छन्ति । तच्च यावान् जलरसांश-
स्तावतो बाष्पसंज्ञास्ति । यश्च निःस्नेहोभागः स पृथिव्यंशोस्ति । अत एवो-
भयभागयुक्ता धूमइत्युपचर्यते । पुनर्धूमगमनानन्तरमाकाशे जलसंचयौ

* इस शब्द का अर्थ आगे केद संज्ञा प्रकरण में लिखा जायगा ।

भवति । तस्मादभ्रं घना जायन्ते । तेभ्यो वायुदलेभ्यो वृष्टिर्जायते । अतोऽग्नेरेवैतायवादय ओषधयो जायन्ते ताभ्यो ऽन्नमन्नाद्वीर्यं वीर्याच्छरीराणि भवन्तीति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस में शतपथ ब्राह्मण का भी प्रमाण है कि (अग्ने०) जो होम करने के द्रव्य अग्नि में डाले जाते हैं उन से धुंआ और भाप उत्पन्न होते हैं क्योंकि अग्नि का यही स्वभाव है कि पदार्थों में प्रवेश करके उन को भिन्न कर देता है फिर वे हलके हो के वायु के साथ ऊपर आकाश में चढ़ जाते हैं उन में जितना जलका अंश है वह भाप कहाता है और जो शुष्क है वह पृथ्वी का भाग है इन दोनों के योग का नाम धूम है जब वे परमाणु मेघमंडल में वायु के आधार से रहते हैं फिर वे परस्पर मिलके बादल होके उन से वृष्टि वृष्टि से ओषधि ओषधियों से अन्न अन्न से धातु धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बनता है ॥

अत्र त्रिषये तैत्तिरीयोपनिषदप्युक्तम् । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः ओषधिभ्यो ऽन्नं अन्नादेतः रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषो ऽन्नरसमयः । आनन्दवल्यां प्रथमेनुवाके ॥ स तपो तप्यततपस्तप्त्वा अन्नं ब्रह्मेति विजानात् । अन्नाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयंत्यभिसंविशन्तीति भृगुब्रह्मण्यां द्वितीयेनुवाके । अन्नं ब्रह्मेत्युच्यते जीवनस्य बृहद्देतुत्वात् शुद्धान्नजलवाय्वादिद्वारैव प्राणिनां सुखं भवति नातोऽन्यथेति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस विषय में तैत्तिरीय उपनिषद् का भी प्रमाण है कि (तस्माद्वा०) परमात्मा के अनंत सामर्थ्य से आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं और उन में ही पूर्वोक्त क्रम के अनुसार शरीर आदि उत्पत्ति जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं यहां ब्रह्म का नाम अन्न और अन्न का नाम ब्रह्म भी है क्योंकि जिस का जो कार्य है वह उसी में मिलता है वैसे ही ईश्वर के सामर्थ्य से जगत् की तीनों अवस्था होती हैं और सब जीवों के जीवन का मुख्य साधन है इससे अन्न को ब्रह्म कहते हैं जब होम से वायु जल और ओषधि आदि शुद्ध होते हैं तब सब जगत् को सुख और अशुद्ध होने से सब को दुःख होता है इससे इन की शुद्धि अवश्य करनी चाहिये ॥

तच्च द्विविधः प्रयत्नोऽस्तीश्वरकृतो जीवकृतश्च । ईश्वरेण खल्वग्नि-
मयः सूर्यो निर्मितः सुगंधपुष्पादिश्च स निरंतरं सर्वस्माज्जगतो रसाना-
कर्षति । तस्य सुगंधदुर्गंधाणुसंयोगत्वेन तज्जलवायुः पापीष्ठानिष्टगुणयोगा-
न्मध्यगुणो भवतस्तयोः सुगंधदुर्गंधमिश्रितत्वात् । तज्जलवृष्टावोषध्यज्ञ-
रेतः शरीराण्यपि मध्यमान्येव भवन्ति । तन्मध्यमत्वादुलब्धद्विवीर्य-
पराक्रमधैर्यशौर्यादयोपि गुणा मध्यमा एव जायन्ते । कुतः । यस्य या-
दृशं कारणमस्ति तस्य तादृशमेव कार्यं भवतीति दर्शनात् । अयं खल्वी-
श्वरसृष्टेर्दोषो नास्ति । कुतः । दुर्गंधादिविकारस्य मनुष्यसृष्ट्यन्तर्भावात् ।
यतो दुर्गंधादिविकारस्योत्पत्तिर्मनुष्यादिभ्य एव भवति तस्मादस्य निवार-
णमपि मनुष्यैरेव करणीयमिति । यथेश्वरेणाज्ञा दत्ता सत्यभाषणमेव कर्तव्यं
नानृतमिति यस्तामुल्लंघ्य प्रवर्तते स पापीयान्भूत्वा क्लेशं चेश्वरव्यवस्थया
प्राप्नोति । तथा यज्ञः कर्तव्यइतीयमप्याज्ञातेनैव दत्तास्ति तामपि य
उल्लंघयति सोऽपि पापीयान्सन् क्लेशवांश्च भवति ॥

॥ भाषार्थ ॥

सो उन की सृष्टि करने में दो प्रकार का प्रयत्न है एक तो ईश्वर का किया हुआ और दूसरा जीव का उन में से ईश्वर का किया यह है कि उस ने अग्नि रूप सूर्य और सुगंध रूप पुष्पादि पदार्थों को उत्पन्न किया है वह सूर्य निरंतर सब जगत् के रसों को पूर्वाक्त प्रकार से ऊपर खींचता है और जो पुष्पादि का सुगंध है वह भी दुर्गंध को निवारण करता रहता है परंतु वे परमाणु सुगंध और दुर्गंध युक्त होने से जल और वायु को भी मध्यम कर देते हैं उस जल की वृष्टि से आपाधि अन्न वीर्य और शरीर आदि भी मध्यम गुणवाने हो जाते हैं और उन के योग से बुद्धि बल पराक्रम धैर्य और शूर बीरतादि-गुण भी निष्कृष्ट ही होते हैं क्योंकि जिस का जैसा कारण होता है उस का वैसा ही कार्य होता है यह दुर्गंध से वायु और वृष्टि जल का दोषयुक्त होना सर्वत्र देखने में आता है सो यह दोष ईश्वर की सृष्टि से नहीं किंतु मनुष्यों ही की सृष्टि से होता है इस कारण से उस का निवारण करना भी मनुष्यों ही को उचित है जैसे ईश्वर ने सत्यभाषणादि धर्मव्यवहार करने की आज्ञा दी है मिथ्या भाषणादि की नहीं, जो इस आज्ञा से उलटा काम करता है वह अत्यंत पापी होता है और ईश्वर की न्याय व्यवस्था से उस को क्लेश भी होता है वैसे ही ईश्वर ने मनुष्यों को यज्ञ करने की आज्ञा दी है इस को जो नहीं करता वह भी पापी हो के दुःख का भागी होता है ॥

कुतः । सर्वापकाराकरणात् । यच्च खलु यावान्मनुष्यादिप्राणिसमुदायो भवति तच्च तावानेव दुर्गंधसमुदायो जायते न चैवायमीश्वरसृष्टिनिमित्तो भवितुमर्हति । कुतः । तस्य मनुष्यादिप्राणिसमुदायनिमित्तोत्पन्नत्वात् । यत् खलु मनुष्याः स्वसुखार्थं हस्त्यादिप्राणिनामेकचबाहुल्यं कुर्वन्ति । अतस्तज्जन्योप्यधिको दुर्गंधो मनुष्यसुखेच्छानिमित्तएव जायते । एवं वायुवृष्टिजलदूषकः सर्वा दुर्गन्धो मनुष्यनिमित्तादेवोत्पद्यते ऽतस्तस्य निवारणमपि मनुष्याएव कर्तुमर्हन्ति ॥

॥ भाषार्थ ॥

क्योंकि सब के उपकार करने वाले यज्ञ को नहीं करने से मनुष्यों को दोष लगता है जहां जितने मनुष्य आदि के समुदाय अधिक होते हैं वहां उतनाही दुर्गंध भी अधिक होता है वह ईश्वर की सृष्टि से नहीं किंतु मनुष्यादि प्राणियों के निमित्त से ही उत्पन्न होता है क्योंकि हस्ति आदि के समुदायों को मनुष्य अपने ही सुख के लिये इकट्ठा करते हैं इससे उन पशुओं से भी जो अधिक दुर्गंध उत्पन्न होता है सा मनुष्यों के ही सुख की इच्छा से होता है इससे क्या आया कि जब वायु और वृष्टि जल को बिगाड़नेवाला सब दुर्गंध मनुष्यों के ही निमित्त से उत्पन्न होता है तो उस का निवारण करना भी उन को ही योग्य है ॥

तेषां मथ्यान्मनुष्या एवोपकारानुपकारौ वेदितुमर्हाः सन्ति । मननं विचारस्तदोपादेव मनुष्यत्वं जायते । परमेश्वरेण हि सर्वदेहधारिप्राणिनां मध्ये मनस्विनो विज्ञानं कर्तुं योग्या मनुष्या एव सृष्टास्तद्देहेषु परमाणुसंयोगविशेषेण विज्ञानभवनानुकूलानामवयवानामुत्पादितत्वात् । अतस्त एव धर्माधर्मयोर्ज्ञानमनुष्ठानाननुष्ठाने च कर्तुमर्हन्ति न चान्ये । अस्मात्कारणात्सर्वापकाराय सर्वैर्मनुष्यैर्यज्ञः कर्तव्य एव ॥

॥ भाषार्थ ॥

क्योंकि जितने प्राणी देहधारी जगत् में हैं उन में से मनुष्य ही उत्तम हैं इससे वेही उपकार और अनुपकार को जानने को योग्य हैं मनन नाम विचार का है जिस के होने से ही मनुष्य नाम होता है अन्यथा नहीं क्योंकि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में परमाणु आदि के संयोग विशेष इस प्रकार के रचे हैं कि जिन से उन को ज्ञान की उन्नति होती है इसी कारण से धर्म का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग करने को भी वेही योग्य होते हैं अन्य नहीं इससे सब के उपकार के लिये यज्ञ का अनुष्ठान भी उन्हीं को करना उचित है ॥

किंच भोः कस्तूर्यादीनां सुरभियुक्तानां द्रव्याणामग्ने प्रक्षेपणेन विनाशात्कथमुपकाराय यज्ञो भवितुमर्हतीति । किं त्वीदृशैरुत्तमैः पदार्थैर्मनुष्यादिभ्यो भोजनादिदानेनोपकारे कृते होमादप्युत्तमं फलं जायते पुनः किमर्थं यज्ञकरणमिति । अत्रोच्यते । नात्यन्तो विनाशः कस्यापि संभवति । विनाशो हि यदृश्यं भूत्वा पुनर्न दृश्येतेति विज्ञायते । परंतु दर्शनं त्वया कतिविधं स्वीक्रियते । अष्टविधं चेति । किंच तत् । अबाहुर्गातमाचार्या न्यायशास्त्रे । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ १ ॥ अथ तत्पूर्वकं विविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च ॥ २ ॥ प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ३ ॥ अप्रोपदेशः शब्दः ॥ ४ ॥ अ० १ आह्निकम् । १ । सू० ४ । ५ । ६ । ७ । प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिर्संभवाभावसाधनभेदादष्टधाप्रमाणं मया मन्यतइति । तत्र यदिन्द्रियार्थसंबन्धात्सत्यमव्यभिचारिज्ञानमुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षम् । सन्निकटे दर्शनान्मनुष्योऽयं नान्य इत्याद्युदाहरणम् ॥ १ ॥ यत्र लिङ्गज्ञानेन लिङ्गिने ज्ञानं जायते तदनुमानम् । पुत्रं दृष्ट्वा ऽऽसीदस्य पितृत्याद्युदाहरणम् । २ । उपमानं सादृश्यज्ञानं यथा देवदत्तोऽस्ति तथैव यज्ञदत्तोऽप्यस्तीति साधर्म्यादुपदिशतीत्याद्युदाहरणम् । ३ । शब्दयुते प्रत्याप्यते दृष्टो ऽदृष्टश्चार्थो येन स शब्दः । ज्ञानेन मोक्षो भवतीत्याद्युदाहरणम् ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० सुगंधयुक्त जो कस्तूरी आदि पदार्थ हैं उन को अन्य द्रव्यों में मिलाके अग्नि में डालने से उन का नाश हो जाता है फिर यज्ञ से किसी प्रकार का उपकार नहीं हो सकता किंतु ऐसे उत्तम २ पदार्थ मनुष्यों को भोजनादि के लिये देने से होम से भी अधिक उपकार हो सकता है फिर यज्ञ करना किस लिये चाहिये उ० किसी पदार्थ का विनाश नहीं होता केवल वियोग मात्र होता है परंतु यह तो कहिये कि आप विनाश किस को कहते हैं उ० जो स्थूल हो के प्रथम देखने में आकर फिर न देख पड़े उस को हम विनाश कहते हैं प्र० आप कितने प्रकार का दर्शन मानते हैं उ० आठ प्रकार का प्र० कौन २ से उ० प्रत्यक्ष १ अनुमान २ उपमान ३ शब्द ४ ऐतिह्य ५ अर्थापत्ति ६ संभव ७ और अभाव ८ इस भेद से हम आठ प्रकार का दर्शन मानते हैं (इन्द्रियार्थ) इन में से प्रत्यक्ष उस को कहते हैं कि जो वस्तु आदि इन्द्रिय और रूप आदि विषयों के संबंध से सत्यज्ञान उत्पन्न हो जैसे दूर से देखने में संदेह हुआ कि वह मनुष्य है वा कुछ और फिर उस के समीप होने से निश्चय होता है कि यह मनुष्य ही है अन्य नहीं

इत्यादि प्रत्यक्त के उदाहरण हैं । १ । (अथतत्पू०) और जो किसी पदार्थ के चिन्ह देखने से उसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान हो वह अनुमान कहाता है जैसे किसी के पुत्र को देखने से ज्ञान होता है कि इस के माता पिता आदि हैं वा अवश्य ये इत्यादि उस के उदाहरण हैं । २ । (प्रसिद्ध०) तीसरा उपमान कि जिस्से किसी का तुल्य धर्म देख के समान धर्मवाले का ज्ञान हो जैसे किसी ने किसी से कहा कि जिस प्रकार का यह देवदत्त है उसी प्रकार का वह यज्ञदत्त भी है उस के पास जा के इस काम को कर ला इस प्रकार के तुल्य धर्म से जो ज्ञान होता है उस को उपमान कहते हैं ॥ ३ ॥ (आप्तोप०) चौथा शब्द प्रमाण है कि जो प्रत्यक्त और अप्रत्यक्त अर्थ का निश्चय कराने वाला है जैसे ज्ञान से मोत होता है यह आप्तो के उपदेश शब्द प्रमाण का उदाहरण है ॥ ४ ॥

न च तुष्टुमैतिह्यार्थापतिसंभवाभावप्रामाण्यात् ॥ ५ ॥ शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेर्थापतिसंभवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ ६ ॥ अ० २ आ० २ । सू० १ । २ । न च तुष्टुमिति सूत्रद्वयस्य सन्निप्रार्थः क्रियते । (ऐतिह्यं) शब्दोपगतमाप्रोपटिष्टं ग्राह्यम् । देवासुरासंयता आसन्नित्यादि, ॥ ५ ॥ (अर्थापत्तिः) अर्थादापद्यते सार्थापत्तिः केनचिदुक्तं सत्सु घनेषु वृष्टिर्भवतीति किमत्र प्रसज्यते असत्सु घनेषु न भवतीत्याद्युदाहरणम्, ॥ ६ ॥ (संभवः) संभवति येन यस्मिन्वासंभवः केन चिदुक्तं मातापितृभ्यां संतानं जायते संभवोस्तीति वाच्यम् । परंतु कश्चिद्ब्रूयात्कुंभकरणस्य क्रोशचतुष्टयपर्यन्तं श्मश्रुणः केशा ऊर्द्वं स्थिता आसन् षोडशक्रोशमूर्द्ध्वं नासिका चासंभवत्वान्मिथ्यैवास्तीति विज्ञायते । इत्याद्युदाहरणम् ॥ ७ ॥ (अभावः) कोपि ब्रूयाद् घटमानयेति स तत्र घटमपश्यन्नत्र घटो नास्तीत्यभावलक्षणेन यत्र घटो वर्तमानस्तस्मादानीयते ॥ ८ ॥ इति प्रत्यक्षादीनां संचेपतोर्थः । एवमष्टविधं दर्शनमर्थाज्ज्ञानं मया मन्यते सत्यमेवमेतत् । नैवमंगीकारेण विना समर्थो व्यवहारपरमार्थो कस्यापि सिध्येताम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(ऐतिह्यं) सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश का नाम इतिहास है जैसा देव और असुर युद्ध करने के लिये तत्पर हुए थे जो यह इतिहास ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि सत्य ग्रंथों में लिखा है उसी का ग्रहण होता है अन्य का नहीं यह पांचवा प्रमाण है । ५ । और कृता (अर्थापत्तिः) जो एक बात किसी ने कही हो उस से विरुद्ध दूसरी बात समझी जावे जैसे किसी ने कहा कि बादलों के होने से वृष्टि होती है दूसरे ने

इतने ही कहने से ज्ञान लिया कि बादलों के बिना वृष्टि कभी नहीं हो सकती इस प्रकार के प्रमाण से जो ज्ञान होता है उस को अर्थापत्ति कहते हैं ॥ ६ ॥ सातवा (संभवः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि माता पिता से संतानों की उत्पत्ति होती है तो दूसरा मान ले कि इस बात का तो संभव है परंतु जो कोई ऐसा कहै कि रावण के भाई कुंभकरण की मूँक चार कोश तक आकाश में ऊपर खड़ी रहती थी और उस की नाक (१६) सोलह कोश पर्यंत लंबी चौड़ी थी उस की यह बात मिथ्या समझी जायगी क्योंकि ऐसी बात का संभव कभी नहीं हो सकता ॥ ७ ॥ और आठवा (अभावः) जैसे किसी ने किसी से कहा कि तुम घड़ा ले आओ और जब उस ने वहां नहीं पाया तब वह जहां पर घड़ा था वहां से ले आया ॥ ८ ॥ इन आठ प्रकार के प्रमाणों को मैं मानता हूँ यहां इन आठों का अर्थ संक्षेप से किया है* उ० यह बात सत्य है कि इन के बिना माने संपूर्ण व्यवहार और परमार्थ किसी का सिद्ध नहीं हो सकता । इससे इन आठों को हम लोग भी मानते हैं ॥

यथा कश्चिदेकं मृत्पिण्डं विशेषतश्चूर्णीकृत्य वेगयुक्ते वायो बाहुवेगेनाकाशं प्रतिक्षिपेत्तस्य नाशो भवतीत्युपचर्यते । चक्षुषा दर्शनाभावात् (णश) अदर्शने अस्माद् घञ्प्रत्यये कृते नाश इति शब्दः सिध्यति । अतो नाशो बाह्येन्द्रियाऽदर्शनमेव भवितुमर्हति । किंच यदा परमाणवः पृथक् २ भवन्ति तदा ते चक्षुषा नैव दृश्यन्ते तेषामतीन्द्रियत्वात् । यदा चेते मिलित्वा स्थूलभावमापद्यन्ते तदैव तद्रूपं दृष्टिपथमागच्छति स्थूलस्येन्द्रियकत्वात् । यद्रूपं विभक्तं विभक्तमन्त विभागानहं भवति तस्य परमाणुसंज्ञा चेति व्यवहारः तेहि विभक्ता अतीन्द्रियाः सन्त आकाशे वर्तन्त एव ॥

॥ भाषार्थ ॥

नाश को समझने के लिये यह दृष्टांत है कि कोई मनुष्य मट्टी के ठेले को पीस के वायु के बीच में बलसे फेंक दे फिर जैसे वे छोटे २ कण आंख से नहीं देखते क्योंकि (णश) धातु का अदर्शन ही अर्थ है जब अणु अलग २ हो जाते हैं तब वे देखने में नहीं आते इसी का नाम नाश है और जब परमाणु के संयोग से स्थूल द्रव्य अर्थात् बड़ा होता है तब वह देखने में आता है और परमाणु इस को कहते हैं कि जिस का विभाग फिर कभी न हो सके परंतु यह बात केवल एकदेशी है क्योंकि उस का भी ज्ञान से विभाग हो सकता है जिस की परिधि और व्यास बन सकता है उस का

* कहीं २ शब्द में ऐतिया और अनुमान में अर्थापत्ति संभव और अभाव को मानने से (५) चार प्रमाण रहते हैं ॥

भी टुकड़ा हो सकता है यहां तक कि जब पर्यंत वह एक रस न हो जाय तब पर्यंत ज्ञान से बराबर कटता ही चला जायगा ॥

तथैवान्नो यद्रूपं प्रक्षिप्यते तद्विभागं प्राप्य देशान्तरे वर्तते एव न हितस्याभावः कदाचिद्वति । एवं यद्रुग्ंधादिदोषनिवारकं सुगंधादि द्रव्यमस्ति तच्चान्नो हुतं सद्रायोर्गृष्टिजलस्य शुद्धिकरं भवति ॥ तस्मिन्निर्दोषे सति सृष्टये महान्हुपकारो भवति सुखं चातःकारणाद्यज्ञः कर्तव्य एवेति । किंच भोः । वायुवृष्टिजलशुद्धिकरणमेव यज्ञस्य प्रयोजनमस्ति चेत्तर्हि गृहाणामध्ये सुगंधद्रव्यरक्षणेनैतत्सेत्स्यति पुनः किमर्थमेतावानाडम्बरः । नैवं शक्यम् । नैव तेनाशुद्धो वायुः सूक्ष्मो भूत्वा ऽऽकाशं गच्छति तस्य पृथक्कलघुत्वाभावात् । तत्र तस्य स्थितौ सत्यां नैव बाह्यो वायुरागन्तुं शक्नोत्यवकाशभावात् । तत्र पुनः सुगंधद्रुग्ंधयुक्तस्य वायो-वर्तमानत्वादारोग्यादिकं फलमपि भवितुमशक्यमेवास्ति ॥

॥ भाषार्थ ॥

वैसे ही जो सुगंध आदि युक्त द्रव्य अग्नि में डाला जाता है उस के अणु अलग २ होके आकाश में रहते ही हैं क्योंकि किसी द्रव्य का वस्तुता से अभाव नहीं होता इसे वह द्रव्य दुर्गंधादि दोषों का निवारण करने वाला अवश्य होता है फिर उससे वायु और वृष्टि जल की शुद्धि के होने से जगत् का बड़ा उपकार और सुख अवश्य होता है इस कारण से यज्ञ को करना ही चाहिये प्र० जो यज्ञ से वायु और वृष्टि जल की शुद्धि करना मात्र ही प्रयोजन है तो इस की सिद्धि अंतर और पुण्यादि के घरों में रखने से भी हो सकती है फिर इतना बड़ा परिश्रम यज्ञ में क्यों करना उ० यह कार्य अन्य किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अंतर और पुण्यादि का सुगंध तो उसी दुर्गंध वायु में मिल के रहता है उस को छेदन करके बाहर नहीं निकाल सकता और न वह ऊपर चढ़ सकता है क्योंकि उस में हलकापन नहीं होता उस के उसी अवकाश में रहने से बाहर का शुद्ध वायु उस ठिकाने में जा भी नहीं सकता क्योंकि खाली जगह के बिना दूसरे का प्रवेश नहीं हो सकता फिर सुगंध और दुर्गंधयुक्त वायु के वहीं रहने से रोग नाशादि फल भी नहीं होते ॥

यदा तु खलु तस्मिन् गृहेऽग्निमध्ये सुगंध्यादिद्रव्यस्य होमः क्रियते तदा ऽग्निना पूर्वा वायुर्भेदं प्राप्य लघुत्वमापन्न उपर्याकाशं गच्छति । तस्मिन् गते सति तत्रावकाशत्वाच्चतसृभ्यो दिग्भ्यः शुद्धो वायुराद्रवति तेन गृहाकाशस्य पूर्णत्वादारोग्यादिकं फलमपि जायते ॥

॥ भाषार्थ ॥

और जब अग्नि उस वायु को वहां से हलका करके निकाल देता है तब वहां शुद्ध वायु भी प्रवेश कर सकता है इसी कारण यह फल यज्ञ से ही हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं क्योंकि जो होम के परमाणु युक्त शुद्ध वायु है सो पूर्वस्थित दुर्गंधवायु को निकाल के उस देशस्थ वायु को शुद्ध करके रोगों का नाश करने वाला होता और मनुष्यादि सृष्टि को उत्तम सुख को प्राप्त करता है ॥

यो होमेन सुगंधयुक्तद्रव्यपरमाणुयुक्त उपरिगता वायुर्भवति स वृष्टिजलं शुद्धं कृत्वा वृष्ट्याधिक्यमपि करोति तद्वारौषध्यादीनां शुद्धेरुत्तरोत्तरं जगति महत्सुखं वर्धतइति निश्चीयते । एतत्खल्वग्निसंयोगरहितसुगंधेन वायुना भवितुमशक्यमस्ति तस्माद्धोमकरणमुत्तममेव भवतीति निश्चेतव्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

जो वायु सुगंधादि द्रव्य के परमाणुओं से युक्त होमद्वारा आकाश में चढ़ के वृष्टि जल को शुद्ध कर देता और उसे वृष्टि भी अधिक होती है क्योंकि होम करके नीचे गर्मी अधिक होने से जल भी ऊपर अधिक चढ़ता है शुद्ध जल और वायु के द्वारा अक्षादि ओषधि भी अत्यंत शुद्ध होती हैं ऐसे प्रतिदिन सुगंध के अधिक होने से जगत् में नित्यप्रति अधिकर सुख बढ़ता है यह फल अग्नि में होम करने के बिना दूसरे प्रकार से होना असंभव है इसे होम का करना अवश्य है ॥

अन्यच्च दूरस्थले केनचित्पुरुषेणानौ सुगंधद्रव्यस्य होमः क्रियते तद्युक्तो वायुर्दूरस्थमनुष्यस्य घ्राणेन्द्रियेण संयुक्तो भवति । सोऽपि सुगंधो वायुरस्तीति जानात्येव । अनेन विज्ञायते वायुना सह सुगंधं दुर्गंधं च द्रव्यं गच्छतीति । तद्यदा स दूरं गच्छति तदा तस्य घ्राणेन्द्रियसंयोगो न भवति पुनर्बालबुद्धीनां भ्रमो भवति स सुगंधो नास्तीति परंतु तस्य हुतस्य पृथग्भूतस्य वायुस्थस्य सुगंधयुक्तस्य द्रव्यस्य देशान्तरे वर्तमानत्वात्तेर्न विज्ञा यते । अन्यदपि खलु होमकरणस्य बहुविधमुत्तमं फलमस्ति तद्विचारेण बुधैर्विज्ञेयमिति ॥

॥ भाषार्थ ॥

और भी सुगंध के नाश नहीं होने में कारण है कि किसी पुरुष ने दूर देश में सुगंध चीजों का अग्नि में होम किया हो । उस सुगंध से युक्त जो वायु है सो होम के स्थान से दूर देश में स्थित हुए मनुष्य के नाक

इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने में उस को यह ज्ञान होता है कि यहां सुगंध-वायु है इसे जाना जाता है कि द्रव्य के अलग होने में भी द्रव्य का गुण द्रव्य के साथही बना रहता है और वह वायु के साथ सुगंध और दुर्गंधयुक्त सूक्ष्म होके जाता आता है परंतु जब वह द्रव्य दूर चला जाता है तब उस के नाक इन्द्रिय से संयोग भी कूट जाता है फिर बालबुद्धि मनुष्यों को ऐसा भ्रम होता है कि वह सुगंधित द्रव्य नहीं रहा परंतु यह उन को अवश्य जानना चाहिये कि वह सुगंध द्रव्य आकाश में वायु के साथ बनाही रहता है इन से अन्य भी होम करने के बहुत से उत्तम फल हैं उन को बुद्धिमान लोग विचार से जान लेंगे ॥

यदि होमकरणस्यैतत्फलमस्ति तद्धोमकरणमाचैणैव सिध्यति पुनस्तच्च वेदमंत्राणां पाठः किमर्थः क्रियते । अत्र ब्रूमः । एतस्यान्यदेव फलमस्ति । किम् । यथा हस्तेन होमो नेत्रेण दर्शनं त्वचास्पर्शनं च क्रियते तथा वाचा वेदमंत्रा अपि पठ्यन्ते । तत्पाठेनेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः क्रियन्ते । होमेन किं फलं भवतीत्यस्य ज्ञानं तत्पाठानुवृत्त्या वेदमंत्राणां रक्षणमीश्वरस्यास्ति त्वसिद्धिश्च । अन्यच्च सर्वकर्मादावीश्वरस्य प्रार्थना कार्येत्युपदेशः । यच्चे तु वेदमंत्रोच्चारणात्सर्वत्रैव तत्प्रार्थना भवतीति वेदितव्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० होम करने का जो प्रयोजन है सो तो केवल होमसे ही सिद्ध होता है फिर वहां वेदमंत्रों के पढ़ने का क्या काम है उ० उन के पढ़ने का प्रयोजन कुछ और ही है प्र० वह क्या है उ० जैसे हाथ से होम करते आश्व से देखते और त्वचा से स्पर्श करते हैं वैसे ही वाणीसे वेदमंत्रों को भी पढ़ते हैं क्योंकि उनके पढ़ने से वेदों की रक्षा ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना होती है तथा होमसे जो २ फल होते हैं उन का स्मरण भी होता है वेदमंत्रों के बारंबार पाठ करने से वे कंठस्थ भी रहते हैं और ईश्वर का होना भी विदित होता है कि कोई नास्तिक न हो जाय क्योंकि ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक ही सब कर्मों का आरंभ करना होता है सो वेदमंत्रों के उच्चारण से यज्ञ में तो उस की प्रार्थना सर्वत्र होती है इस लिये सब उत्तम कर्म वेदमंत्रों से ही करना उचित है ॥

कश्चिदत्राह वेदमंत्रोच्चारणं विहायान्यस्य कस्यचित्पाठस्तच्च क्रियेत तदा किं दूषणमस्तीति । अत्रोच्यते । नान्यस्य पाठे कृते सत्ये-तत्प्रयोजनं सिध्यति । कुतः । ईश्वरोक्ताभावान्निरतिशयसत्यविरहाच्च ।

यद्यद्विषयं क्वचित्सत्यं प्रसिद्धमस्ति तत्तत्सर्वं वेदादेव प्रसृतमिति वि-
ज्ञेयम् । यद्यत्खल्वनृतं तत्तदनीश्वरोक्तं वेदाद्बुद्धिरिति च । अथार्थं मनु-
राह त्वमेकोह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ॥ अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य
कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ १ ॥ अ० १ श्लो० ३ । चातुर्वर्ण्यं च्योलोकाश्च-
त्वारश्चाश्रमाः पृथक् । भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ २ ॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ॥ तस्मादेतत्परं मन्येयज्जन्तो-
रस्य साधनम् ॥ ३ ॥ अ० १२ श्लो० ६० । ६६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० यज्ञ में वेदमंत्रों को छोड़ के दूसरे का पाठ करे तो क्या दोष है उ० अन्य के पाठ में यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ईश्वर के वचन से जो सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो अन्य के वचन से कभी नहीं हो सकता क्योंकि जैसा ईश्वर का वचन सर्वथा भांति रहित सत्य होता है वैसा अन्य का नहीं और जो कोई वेदों के अनुकूल अर्थात् आत्मा की शुद्धि आप्त पुरुषों के यंत्रों का बोध और उनकी शिक्षा से वेदों को यथावत् जान के कहता है उस का भी वचन सत्यही होता है और जो केवल अपनी बुद्धि से कहता है वह ठीक २ नहीं हो सकता इससे यह निश्चय है कि जहां २ सत्य दीखता और सुनने में आता है वहां २ वेदों में से ही फैला है और जो २ मिथ्या है सो २ वेद से नहीं किंतु वह जीवों ही की कल्पना से प्रसिद्ध हुआ है क्योंकि जो ईश्वरोक्त ग्रंथ से सत्य प्रयोजन सिद्ध होता है सो दूसरे से कभी नहीं हो सकता इस विषय में मनु का प्रमाण है कि (त्वमे०) मनुजी से ऋषि लोग कहते हैं कि स्वयंभू जो सनातन वेद हैं जिन में असत्य कुछ भी नहीं और जिन में सब सत्यविद्याओं का विधान है उन के अर्थ को जानने वाले केवल आपही हैं ॥ १ ॥ (चातु०) अर्थात् चार वर्ण । चार आश्रम । भूत भविष्यत् और वर्तमान आदि की सब विद्या वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं ॥ २ ॥ क्योंकि (बिभर्ति०) यह जो सनातन वेद शास्त्र है सो सब विद्याओं के दान से संपूर्ण प्राणियों का धारण और सब सुखों का प्राप्त करता है इस कारण से हम लोग उस को सर्वथा उत्तम मानते हैं और इसी प्रकार मानना भी चाहिये क्योंकि सब जीवों के लिये सब सुखों का साधन यही है ॥

किं यज्ञानुष्ठानार्थं भूमिं खनित्वा वेदिः प्रणीतादीनि पात्राणि कु-
शतृणं यज्ञशाला ऋत्विजश्चैतत्सर्वं करणीयमस्ति । अथ ब्रूमः । यद्यदा-
वश्यकं युक्तिसिद्धं तत्तत्कर्तव्यं नेतरत् । तद्यथा । भूमिं खनित्वा वेदी
रचनीया तस्यां होमे कृते ऽग्नेस्ती व्रत्वाद्भुतं द्रव्यं सदो विभेदं प्राप्याकाशं
गच्छति । तथा वेदिं दृष्टान्तेन चिकोणचतुष्कोणमोलस्येनाकारवत्क-

रणाद्रेखागणितमपि साध्यते । तत्र चेष्टुकानां परिगणितत्वादनया गणि-
तविद्यापि गृह्यते । एवमेवोत्तरेपि पदार्थाः स प्रयोजनाः सन्त्येव परंत्वेवं
प्रणीतायां रक्षितायां पुण्यं स्यादेवं पापमिति यदुच्यते । तत्र पापनिमित्ता-
भावात्सा कल्पना मिथ्यैवास्ति किंतु खलु यज्ञसिद्धयर्थं यदादावश्यकं युक्ति
सिद्धमस्ति ततदेव ग्राह्यम् । कुतः । तैर्विना तदसिद्धेः ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० क्या यज्ञ करने के लिये पृथिवी खोद के वेदि रचन, प्रणीता
प्रातृणी और चमसादि पात्रों का स्थापन, दर्भ का रखना, यज्ञशाला का
बनाना, और ऋत्विजों का करना यह सब करना ही चाहिये, उ० करना तो
चाहिये परंतु जो २ युक्ति सिद्ध हैं सो २ ही करने के योग्य हैं क्योंकि जैसे
वेदि बनाके उस में होम करने से वह द्रव्य शीघ्र भिन्न २ परमाणुरूप होके
वायु और अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है ऐसेही वेदि में भी अग्नि
तेज होने और होम का साकल्य इधर उधर बिखरने से रोकने के लिये वेदि
अवश्य रचनी चाहिये, और वेदि के त्रिकोन, चतुष्कोन, गोल, तथा श्येन पक्षी
आदि के तुल्य बनाने के दृष्टांत से रेखागणित विद्या भी जानी जाती है,
कि जिसे त्रिभुज आदि रेखाओं का भी मनुष्यों को यथावत् बोध हो, तथा
उस में जो दूटों की संख्या की है उसे गणितविद्या भी समझी जाती है
इस प्रकार से कि जब इतनी लंबी चौड़ी और गहरी वेदि हो तो उस में
इतनी बड़ी दूटे इतनी लंगी इत्यादि वेदि के बनाने में बहुत प्रयोजन हैं,
तथा सुवर्ण चांदी वा काष्ठ के पात्र इस कारण से बनाते हैं कि उन में जो
घृतादि पदार्थ रक्खे जाते हैं वे बिगड़ते नहीं और कुश इस लिये रखते हैं
कि जिसे यज्ञशाला का मार्जन हो और चिंवटी आदि कोई जन्तु वेदि
की और अग्नि में न गिरने पावे, ऐसे ही यज्ञशाला बनाने का यह प्रयोजन,
है कि जिसे अग्नि की ज्वाला में वायु अत्यंत न लगे और वेदि में कोई पक्षी
किंवा उन की बीठ भी न गिरे, इसी प्रकार ऋत्विजों के बिना यज्ञ का काम
कभी नहीं हो सकता इत्यादि प्रयोजन के लिये यह सब विधान यज्ञ में
अवश्य करना चाहिये इन से भिन्न द्रव्य की शुद्धि और संस्कार आदि भी
अवश्य करने चाहिये परंतु इस प्रकार से प्रणीता पात्र रखने से पुण्य और
इस प्रकार रखने से पाप होता है इत्यादि कल्पना मिथ्या ही है किंतु जिस
प्रकार करने में यज्ञ का कार्य अच्छा बने वही करना अवश्य है अन्य नहीं ॥

यज्ञे देवताशब्देन किं गृह्यते । याश्च वेदोक्ताः । अथ प्रमाणानि ।
अग्निर्देवता वातादेवता सूर्यादेवता चन्द्रमादेवता वसवादेवता रुद्रादेवता
दित्यादेवता मरुतादेवता विश्वेदेवादेवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रोदेवता बृहणो

देवता ॥ १ ॥ यजुः० अ० १४ मं० २० अथ कर्मकाण्डे देवताशब्देन वेदमंत्राणां ग्रहणम् । गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादिदेवताख्यान्येव गृह्यन्ते । तेषां कर्मकाण्डादिविधेर्द्योतकत्वात् । यस्मिन्मंत्रे चाग्निशब्दार्थप्रतिपादनं वर्तते स एव मंत्रोऽग्निदेवतो गृह्यते । एवमेव वातः ऽसूर्यश्चन्द्रमा वसवो रुद्रा आदित्या मरुतो विश्वेदेवा बृहस्पतिरिन्द्रो वरुणश्चेत्येतच्छब्दयुक्ता मंत्रा देवताशब्देन गृह्यन्ते तेषामपि तत्तदर्थस्य द्योतकत्वात्परमाप्रेश्वरेण कृतसंकेतत्वाच्च ।

॥ भाषार्थ ॥

प्र० यज्ञ में देवता शब्द से किस का ग्रहण होता है उ० जो २ वेद में कहे हैं उन्हीं का ग्रहण होता है इस में यह यज्ञवेद का प्रमाण है कि (अग्निदेव०) कर्मकांड अर्थात् यज्ञक्रिया में मुख्य करके देवताशब्द से वेद मंत्रों का ही ग्रहण करते हैं क्योंकि जो गायत्र्यादिछन्द हैं वेही देवता कहाते हैं और इन वेदमंत्रों से ही सब विद्याओं का प्रकाश भी होता है इस में यह कारण है कि जिन २ मंत्रों में अग्नि आदि शब्द हैं उन २ मंत्रों का और उन २ शब्दों के अर्थों का अग्नि आदि देवता नामों से ग्रहण होता है मंत्रों का देवता नाम इस लिये है कि उन्हीं से सब अर्थों का यथावत् प्रकाश होता है ॥

अथाह यास्काचार्यो निरुक्ते । कर्मसंपत्तिर्मंत्रो वेदे नि० अ० १ खं० २ अथातोऽदेवतं तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्वैषतमित्याचक्षते सैषा देवतोपपरीक्षा यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुक्ते तद्वैषतः समंचो भवति तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च । नि० अ० ७ खं० १ । अस्यार्थः । (कर्मसं०) कर्मणामग्निहोचाद्यश्वमेधान्तानां शिल्पविद्यासाधनानां च संपत्तिः संपन्नता संयोगो भवति येन समंचो वेदे देवताशब्देन गृह्यते तथा च कर्मणां संपत्तिर्मौक्षो भवति येन परमेश्वरप्राप्तिश्च सोऽपि मंत्रो मंत्रार्थेश्चाङ्गीकार्यः । अथेत्यनन्तरं देवतं किमुच्यते यत्प्राधान्येन स्तुतिर्यासां देवतानां क्रियते तद्वैषतमिति विज्ञायते । यानि नामानि मंत्रोक्तानि येषामर्थानां मंत्रेषु विद्यन्ते तानि सर्वाणि देवतालङ्गानि भवन्ति । तद्यथा । अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपहुवे ॥ देवां २ ॥ आसादयाद्विह ॥ १ ॥ यजुः० अ० २२ मं० १७ ॥ अथान्निशब्दो लिङ्गमस्ति । अतः किं विज्ञेयं यच्च यच्च देवतोच्यते तच्च तच्च तद्विज्ञो मंत्रो ग्राह्यमिति । यस्य द्रव्यस्य नामान्वितं यच्छब्दोऽस्ति । तदेव देवतमिति

बोध्यम् । सा एषा देवतोपपरीक्षा ऽतीता आगामिनी चास्ति । अचोच्यते । ऋषिरीश्वरः । सर्वदृग्भ्यत्कामोयं कामयमान इममर्थमुपदिशेयमिति स यत्कामः । यस्यां देवतायामार्थपत्त्यमर्थस्य स्वामित्वमुपदेष्टुमिच्छन्सन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदर्थगुणकीर्तनं प्रयुक्तवानस्ति स एव मन्त्रस्तद्देवतो भवति । किंच यदेवार्थप्रतीतिकरणं दैवतं प्रकाश्यं येन भवति स मन्त्रो देवता शब्दवाच्योस्तीति विज्ञायते । देवताभिधाऋचो याभिर्विद्वांसः सर्वाः सत्यविद्याः स्तुवन्ति प्रकाशयन्ति ऋचस्तुताविति धात्वर्थयोगात् । ताः श्रुतयस्त्रिविधास्त्रिप्रकारकाः सन्ति परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्चेति । यासां देवतानामृचां परोक्षकृतो ऽर्थोऽस्तिताः परोक्षकृताः । यासां प्रत्यक्षमर्थो दृश्यते ताः प्रत्यक्षकृता ऋचो देवताः ॥ आध्यात्मिक्यश्चाध्यात्मं जीवात्मानं तदन्तर्यामिणं परमेश्वरं च प्रतिपादितुमर्हं या ऋचो मन्त्रास्ता आध्यात्मिक्यश्चेति एता एव कर्मकाण्डे देवताशब्दार्थाः सन्तीति विज्ञेयम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(कर्मसं०) वेदमंत्रों का के अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यंत सब यज्ञों की शिल्पविद्या और उन के साधनों की संपत्ति अर्थात् प्राप्ति होती और कर्मकाण्ड को लेके मोक्षपर्यंत सुख मिलता है इसी हेतु से उन का नाम देवता है (अथातो०) दैवत उन को कहते हैं कि जिन के गुणों का कथन किया जाय अर्थात् जो २ संज्ञा जिन २ मंत्रों में जिम २ अर्थ की होती है उन २ मंत्रों का नाम वही देवता होता है जैसे (अग्निद्रुत०) इस मंत्र में अग्निशब्द चिन्ह है यहां इसी मंत्र को अग्नि देवता जानना चाहिये ऐसे ही जहां २ मंत्रों में जिस २ शब्द का लेख है वहां २ उस २ मंत्र को ही देवता समझना होता है इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये सो देवताशब्द से जिस २ गुण से जो २ अर्थ लिये जाते हैं सो २ निरुक्त और ब्राह्मणादि ग्रंथों में अच्छी प्रकार लिखा है इस में यह कारण है कि ईश्वर ने जिस २ अर्थ को जिस २ नाम से वेदों में उपदेश किया है उस २ नाम वाले मंत्रों से उन्हीं अर्थों को जानना होता है सो वे मंत्र तीन प्रकार के हैं उन में से कइ एक परोक्ष अर्थात् अप्रत्यक्ष अर्थ के । कइ एक प्रत्यक्ष अर्थात् प्रसिद्ध अर्थ के और कइ एक आध्यात्मिक अर्थात् जीव परमेश्वर और सब पदार्थों के कार्य कारण के प्रतिपादन करने वाले हैं इससे क्या आया कि त्रिकालस्थ जितने पदार्थ और विद्या हैं उन के विधान करने वाले मंत्रही हैं इसी कारण से इन का नाम देवता है ॥

तद्योनादिष्टदेवतामन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्त्यथान्यथ यज्ञात्प्राजापत्या इति याज्ञिका नाराशंसा

इति नैरुक्ता अपि वा सा कामदेवता स्यात्प्रायो देवता वास्तिह्याचारो बहुलं लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं याज्ञदेवतोमंच इति ॥ नि० अ० ० खं० ४ (तद्योनादि०) तनस्माद्योखल्वनादिष्ट देवतामंचा अर्थान्न विशेषतो देवतादर्शनं नामार्थो वा येषु दृश्यते तेषु देवतोपपरीक्षा कास्तीत्युच्यते । यच्च विशेषेण न दृश्यते तत्रैवं यज्ञो देवतायज्ञाङ्गं वेत्येतदेवताख्यमिति विज्ञायते । ये खलु यज्ञादन्यत्र प्रयुज्यन्ते ते वै प्राजापत्याः परमेश्वरदेवता कामा भवन्तीत्येवं याज्ञिका मन्यन्ते । अत्रैव विकल्पोस्ति नाराशंसा मनुष्यविषया इति नैरुक्ता ब्रुवन्ति । तथा या कामनासा कामदेवता भवतीति स कामा लौकिका जना जानन्ति । एवं देवताविकल्पस्य प्रायेण लोके बहुलमाचारोस्ति । क्वचिदेवदेवत्यं कर्ममातृदेवत्यं विद्वदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं चैतेषु पूज्याः सत्कर्तव्याः सन्त्यतस्तेषामुपकारकर्तृत्वमात्रमेव देवतात्वमस्तीति विज्ञायते । मंचास्तु खलु यज्ञसिद्धये मुख्यहेतुत्वाद्याज्ञदेवता एव सन्तीति निश्चीयते ॥

॥ भाषार्थ ॥

जिन २ मंत्रों में सामान्य अर्थात् जहां २ किसी विशेष अर्थ का नाम प्रसिद्ध नहीं दीख पड़ता वहां २ यज्ञ आदि को देवता जानना होता है (अग्निमीळे०) इस मंत्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है अर्थात् एक तो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यंत दूसरा प्रकृति से लेके पृथिवी पर्यंत जगत् का रचन रूप तथा शिल्पविद्या और तीसरा सत्संग आदि से जो विज्ञान और योगरूप यज्ञ है येही उन मंत्रों के देवता जानना चाहिये तथा जिन से यह यज्ञ सिद्ध होता है वे भी उन यज्ञों के देवता हैं और जो इन से भिन्न मंत्र हैं उन का प्राजापत्य अर्थात् परमेश्वर ही देवता है तथा जो मंत्र मनुष्यों अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उन के मनुष्य देवता हैं इस में बहुत प्रकार के विकल्प हैं कि कहीं पूर्वाक्त देवता कहाते हैं, कहीं यज्ञादि कर्म, कहीं माता, कहीं पिता कहीं विद्वान् कहीं अतिथि और कहीं आचार्यदेव कहाते हैं परंतु इस में इतना भेद है कि यज्ञ में मंत्र और परमेश्वर को ही देव मानते हैं ॥

अत्र परिगणनं गायत्र्यादिच्छन्दोन्वितामंचा ईश्वराज्ञा यज्ञः यज्ञाङ्गं प्राजापतिः परमेश्वरः नराः कामः विद्वान् अतिथिः माता पिता आचार्यश्चेति कर्मकाण्डादीन्प्रत्येता देवताः सन्ति । परंतु मंचेश्वरावेव याज्ञदेवते भवतइति निश्चयः ॥

॥ भाषार्थ ॥

जो २ गायत्र्यादि छन्दों से युक्त वेदों के मंत्र, उन्हीं में ईश्वर की आज्ञा,

यज्ञ, और उन के अङ्ग अर्थात् साधन, प्रजापति जो परमेश्वर, नर जो मनुष्य, काम, विद्वान्, अतिथि, माता, पिता, और आचार्य, ये अपने-२ दिव्यगुणों से ही देवता कहाते हैं परंतु यज्ञ में तो वेदों के मंत्र और ईश्वर को ही देवता माना है ॥

अन्यच्च । देवोदानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । नि० अ० ७ खं० १५ । मंचा मननाच्छन्दांसि द्वादनात् नि० अ० ७ खं० ११ । अस्यार्थः । (देवोदानात्०) यत्स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं तद्वानं भवति (दीपनात्) दीपनं प्रकाशनं द्योतनमुपदेशादिकं च । अत्र दानशब्देनेश्वरो विद्वांसो मनुष्याश्च देवता संज्ञाः सन्ति । दीपनात्सूर्यादयो द्योतनान्मातृ पित्राचार्यातिथयश्च । तथाद्यौः किरणा आदित्यरश्मयः प्राणसूर्यादयो वा स्थानं स्थित्यर्थे यस्य सद्युस्थानः प्रकाशकानामपि प्रकाशकत्वात्परमेश्वरएवात्र देवोस्तीति विज्ञेयम् । अत्र प्रमाणम् । न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ॥ तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । इति कठ० वल्ली ५ मं० १५ ॥ तत्र नैव परमेश्वरे सूर्यादयो भान्ति प्रकाशं कुर्वन्ति । किंतु तमेव भान्तं प्रकाशयन्तमनुपश्चातेहि प्रकाशयन्ति । नैव खल्वेतेषु कश्चित्स्वातंत्र्येण प्रकाशोस्तीति । अतो मुख्योदेव एकः परमेश्वर एवोपास्योस्तीति मन्यध्वम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(देवोदाना०) दान देने से देव नाम पड़ता है, और दान कहते हैं अपनी चीज़ दूसरे के अर्थ दे देना, दीपन कहते हैं प्रकाश करने को, द्योतन कहते हैं सत्यापदेश को, इनमें से दान का दाता मुख्य एक ईश्वर ही है कि जिसने जगत् को सब पदार्थ दे रखे हैं, तथा विद्वान् मनुष्य भी विद्यादि पदार्थों के देने वाले होने से देव कहाते हैं, (दीपन) अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों का प्रकाश करने से सूर्यादिलोकों का नाम भी देव है, तथा माता, पिता, आचार्य, और अतिथि भी पालनविद्या और सत्यापदेशादि के करने से देव कहाते हैं, वैसेही सूर्यादिलोकों का भी जो प्रकाश करने वाला है सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है अन्य कोई नहीं इस में कठोपनिषद् का भी प्रमाण है कि सूर्य चन्द्रमा तारं बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते किंतु इन सब का प्रकाश करने वाला एक वही है क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है इस में यह जानना चाहिये कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतंत्र प्रकाश करनेवाला नहीं है इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ॥

नैनद्वेवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् । य० अ०४० मं०४ । अथ देवशब्देन मनः षष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते । तेषां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात्तान्यपि देवाः । यो देवः सा देवता देवा-
तलित्यनेन सूत्रेण स्वार्थे तत्त्वविधानात् । स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्तनं भवति यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति तादृशानामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते । तद्यथा । अयमसिः प्रहृतः सन्नतीवच्छेदनं करोति । तीक्ष्णधारः स्वच्छो धनुर्वन्नाम्य मानोपि न बुध्यतीत्यादि गुणकथनमतो वि-
परीतो ऽसिनैव तत् कर्तुं समर्थो भवतीत्यसेः स्तुतिर्विज्ञेया ॥

॥ भाषार्थ ॥

(नैनद्वेवा०) इस वचन में देव शब्द से इन्द्रियों का ग्रहण होता है जो कि श्रोत्र त्वचा नेत्र जीभ नाक और मन ए कः देव कहाते हैं क्योंकि शब्द स्पर्श रूप रस गंध सत्य और असत्य इत्यादि अर्थों का इन से प्रकाश होता है और देवशब्द से स्वार्थ में तत्त्व प्रत्यय करने से देवता शब्द सिद्ध होता है जो २ गुण जिस २ पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं उन २ गुणों का लेख, उपदेश, श्रवण, और विज्ञान करना तथा मनुष्य सृष्टि के गुण दोषों का भी लेख आदि करना इस को स्तुति कहते हैं क्योंकि जितना २ जिस २ में गुण है उतना २ उस २ में देवपन है इससे वे किसी के दृष्टदेव नहीं हो सकते जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह तलवार काट करने में बहुत अच्छी और निर्मल है इस की धार बहुत तेज है और यह धनुष के समान नमाने से भी नहीं टूटती इत्यादि तलवार के गुण कथन को स्तुति कहते हैं ॥

तद्वदन्यथापि विज्ञेयम् । परंत्वयं नियमः कर्मकाण्डं प्रत्यस्ति । उपासना ज्ञानकाण्डयोः कर्मकाण्डस्य निष्कामभोगे च परमेश्वरः प्रवेष्ट-
देवोस्ति । कस्मात् । तत्र तस्यैव प्राप्तिः प्रार्थ्यते । यश्च तस्य सकामो भागोस्ति तत्रेष्टविषयभागप्राप्तये परमेश्वरः प्रार्थ्यते । अतः कारणाद्वेदे भवति । परंतु नैवेश्वरार्थत्यागः क्वापि भवतीति वेदाभिप्रायोस्ति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार सर्वत्र ज्ञान लेना इस नियम के साथ कि केवल परमे-
श्वर ही कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड में सब का दृष्टदेव स्तुति, प्रार्थना, पूजा, और उपासना करने के योग्य है क्योंकि गुण वे कहाते हैं जिनसे कर्मकाण्डादि में उपकार लेना होता है परंतु सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी दृष्ट-
भाग की प्राप्ति के लिये परमेश्वर का त्याग नहीं होता क्योंकि कार्य कारण संबंध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति प्रार्थना उपासना से पूजा करने के योग्य होता है ॥

अथ प्रमाणम् । माहाभाष्यादेवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनो अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति । कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषां रथो भवत्यात्मा ऽश्वा आत्मायुधमात्मेष्टव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य । नि० अ० ७ ख० ४ । (माहाभाष्यादेव०) सर्वासां व्यवहारोपयोगिदेवतानां मध्य आत्मनएव मुख्यं देवतात्वमस्ति । कुतः । आत्मनो माहाभाष्यादर्थ्यात्सर्वशक्तिमत्त्वादिविशेषणवत्त्वात् । न तस्याये अन्यस्य कस्यापि देवतात्वं गण्यं भवितुमर्हति । कुतः । सर्वेषु वेदेष्वेकस्याद्वितीयस्यासहायस्य सर्वव्याप्स्यात्मन एव बहुधा बहुप्रकारैरुपासना विहितास्ति । अस्मादन्ये ये देवा उक्ता वक्ष्यन्ते च ते सर्व एकस्यात्मनः परमेश्वरस्य प्रत्यङ्गान्येव भवन्ति । अङ्गमङ्गं प्रत्यङ्गंतीति निरुक्त्या तस्यैव सामर्थ्यस्यैकैकस्मिन्देष्टे प्रकाशिताः सन्ति ते च (कर्मज०) यतः कर्मणा जायन्ते तस्मात्कर्मजन्मानो यत आत्मन ईश्वरस्य सामर्थ्याज्जातास्तस्मादात्मजन्मानश्च सन्ति । अर्थैतेषां देवानामात्मा परमेश्वर एव रथोरमणाधिकरणम् । स एवाश्वागमनहेतवः स आयुधं विजयाबहुमिषवोवाणादुःखनाशकाः स एवास्ति । तथा चात्मैव देवस्य देवस्य सर्वस्वमस्ति । अर्थ्यात्सर्वेषां देवानां स एवात्पादको धाताधिष्ठाता मङ्गलकारी वर्तते । नातःपरं किंचिदुत्तमं वस्तुविद्यतइति बोध्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस में निरुक्त का भी प्रमाण है कि व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिये किंतु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है इस का निश्चय वेदों में अनेक प्रकार से किया है कि एक अद्वितीय परमेश्वर के ही प्रकाश, धारण, उत्पादन करने से वे सब व्यवहार के देव प्रकाशित हो रहे हैं इन का जन्म, कर्म और ईश्वर के सामर्थ्य से होता है और इन का रथ अर्थात् जो रमण का स्थान अर्थात् शीघ्र सुख प्राप्ति का कारण आयुध अर्थात् सब शत्रुओं के नाश करने का हेतु और द्यु अर्थात् जो बाण के समान सब दुष्ट गुणों का छेदन करनेवाला शस्त्र है सो एक परमेश्वर ही है क्योंकि परमेश्वर ने जिस २ में जितना २ दिव्यगुण रक्खा है उतना २ ही उन द्रव्यों में देवपन है अधिक नहीं इससे क्या सिद्ध हुआ कि केवल परमेश्वर ही उन सब का उत्पादन धारण और मुक्ति का देनेवाला है ॥

अथान्यदपि प्रमाणम् । ये षिंशति चर्यस्यरोदेवासो बहिरासंदन् । विदन्नहद्वितासंनन् ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६ अ० २ व० ३५ मं० १ । चर्यस्त्रिंशता-

स्तुवत भूतान्यंशाम्यन्त्रजार्पतिः परमेष्ठ्यर्धिपतिरासीत् ॥ २ ॥ य० अ० १४
मं० ३१ ॥ यस्य चयस्त्रिंशद्वेवानिधिं रक्षन्ति सर्वदा । निधिं तमद्यकोर्वेदयं
देवा अभिरक्षन्ति ॥ ३ ॥ यस्य चयस्त्रिंशद्वेवा अङ्गेगात्रा विभेजिरे । तान्वै
चयस्त्रिंशद्वेवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १० प्रपा० २३ अनु० ४
मं० २३ । २७ ॥ सहोवाच महिमान एवैषामेते चयस्त्रिंशत्वेव देवा इति ।
कतमे ते चयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशादित्यास्त एकविं-
शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च चयस्त्रिंशाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति ।
अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्ष-
त्राणि चेते वसव एतेषु हीदुः सर्वे वसुहितमेतेहीदुःसर्वे वासयन्ते
तद्यदिदुःसर्वे वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति । दशमे
पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति
तद्यद्दोदयन्ति तस्मादुद्रा इति ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति द्वादशमासाः
संवत्सरस्येत आदित्या एतेहीदुःसर्वमाददानायन्ति तद्यदिदुःसर्वमाददाना-
यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतमइन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति ।
स्तनयित्वरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमस्तनयित्वरित्यशनिरिति कतमो
यज्ञ इति पशव इति ॥ ७ ॥ कतमेतेचयो देवा इतीम एव चयोलोका
एषुही मे सर्वे देवा इति कतमौ द्वौ देवा वित्यन्नं चैव प्राणश्चेति
कतमो ऽध्यर्ध इति योयंपवत इति ॥ ८ ॥ तदाहुः । यदयमेक एव
पवते ऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदुःसर्वमध्यार्धात्तेनाध्यर्ध इति । कतम
एको देव इति स ब्रह्मत्यदित्या चक्षते ॥ १० ॥ श० कां० १४ ।
प्रपा० १६ ॥ अथेषामर्थः ॥ वेदमंत्राणामेवार्थो ब्राह्मणग्रंथेषु प्रकाशित
इति द्रष्टव्यम् । शाकल्यं प्रतियान्नवलक्योक्तिः । चयस्त्रिंशदेवदेवाः सन्ति ।
अष्टौ वसवः । एकादशरुद्राः । द्वादशादित्याः । इन्द्रः प्रजापतिश्चेति ।
तत्र (वसवः) अग्निः । पृथिवी । वायुः । अन्तरिक्षम् । आदित्यः ।
द्यौः । चन्द्रमाः । नक्षत्राणि च । एतेषामष्टानां वसुसंज्ञा कृतास्ति ।
आदित्यः सूर्यलोकास्तस्य प्रकाशोस्ति द्यौः सूर्यसन्निधौ पृथिव्यादिषु वा ।
अग्निलोकोऽस्त्यग्निरेव (कुत एते वसव इति) यदास्मादेतेष्वष्टसु वेदं
सर्वं संपूर्णं वसु वस्तु जातं हितं धृतमस्ति । किंच सर्वेषां वासाधिकरणा-
नीम एव लोकाः सन्ति । हियतश्चेदं वासयन्ते सर्वस्यास्य जगतो वास-
हेतवस्तस्मात्कारणादन्यादयो वसुसंज्ञकाः सन्तीति बोद्धव्यम् । (एकाद-

शरुद्राः) ये पुरुषेस्मिन्देहे । प्राणः । अपानः । व्यानः । समानः । उदानः । नागः । कूर्मः । कृकलः । देवदत्तः । धनंजयश्च । इमे दशप्राणा एकादशम आत्मा सर्वे मिलित्वैकादशरुद्रा भवन्ति । कुत एते रुद्रा इत्यत्राह । यदा यस्मिन्काले ऽस्मान्मरणधर्मकाच्छरीरादुत्क्रामन्तो निःसरन्तः सन्तो ऽथेत्यनन्तरं मृतकसंबन्धिनो जनांस्ते रोदयन्ति यतो जना रुदन्ति । तस्मात्कारणादेते रुद्राः सन्तीति विज्ञेयम् । (द्वादशादित्याः) चैवाद्याः फाल्गुनान्ता द्वादशमासा आदित्या विज्ञेयाः । कुतः हियत एते सर्वे जगदाददाना अर्थादासमन्ताद्गृह्णन्तः प्रतिक्षणमुत्पन्नस्य वस्तु न आयुषः प्रलयं निकटमानयन्तो यन्ति गच्छन्ति चक्रवद् भ्रमणे नातरोत्तरं जातस्य वस्तुनो ऽवयवसिथलतां परिणामेन प्रापयन्ति तस्मात्कारणान्मासानामादित्यसंज्ञा कृतास्ति । इन्द्रः परमैश्वर्ययोगात्स्तनयिब्रुरशनिर्विद्युदिति । प्रजापतिर्यज्ञः पशव इति । प्रजायाः पालनहेतुत्वात्पशूनां यज्ञस्य च प्रजापतिरिति गौणिकीसंज्ञा कृतास्ति । एते सर्वे मिलित्वा त्रयस्त्रिंशद्वेवा भवन्ति । देवोदानादित्यादि निरुक्त्या ह्येतेषु व्यावहारिकमेव देवत्वं योजनीयम् । त्रयोलोका स्त्रयोदेवाः । केत इत्यत्राह निरुक्तकारः । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति । नि० अ० ६ खं० २८ । त्रयोलोका एत एव । वागे वायं लोको मनोन्तरिक्षलोकः प्राणो ऽसौ लोकः ॥ श० कां० १४ अ० ४ एतेपि त्रयोदेवा ज्ञातव्याः ॥ द्वौ देवावन्नं प्राणश्चेति । अध्यर्धो ब्रह्माण्डस्यः सूचात्माख्यः सर्वजगतो वृद्धिकरत्वाद्वायुर्देवः । किमेते सर्वे एवोपास्याः सन्तीत्यत्राह । नैव किंतु (सब्रह्म०) यत्सर्वजगत्कर्तुं सर्वशक्तिमत्सर्वस्येष्टं सर्वोपास्यं सर्वोधारं सर्वव्यापकं सर्वकारणमनादि सच्चिदानन्दस्वरूपमजं न्यायकारीत्यादिविशेषणयुक्तं ब्रह्मास्ति । स एवैको देवश्चतुस्त्रिंशो वेदोक्तसिद्धान्तप्रकाशितः परमेश्वरो देवः सर्वमनुष्यैरुपास्योस्तीति मन्यध्वम् । ये वेदोक्तमार्गपरायणा आर्यास्ते सर्वदैतस्यैवोपासनं चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । अस्माद्विन्नस्येष्टकरणेनोपासनेन चानार्यत्वमेव मनुष्येषु सिध्यतीति निश्चयः । अत्र प्रमाणम् । आत्मेत्येवोपासीत सयोन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियश्रोतस्यतीतीश्वरोह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत सय आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्यप्रियं प्रमायुक्तं भवति । योन्यां देवतामुपास्ते न सवेद यथा पशुरेव ऽसदेवानाम् ॥ श० कां० १४ अ० ४ । अनेनार्यैतिहासे न विज्ञायतेन परमेश्वरं विहायान्यस्योपासका आर्याह्यसन्निति ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब आगे देवता विषय में तेतीस देवों का व्याख्यान लिखते हैं जैसा ब्राह्मण ग्रंथों में वेद मंत्रों का व्याख्यान लिखा है (त्रयस्त्रिंशत्०) अर्थात् व्यवहार के ये (३३) तेतीस देवता हैं (८) आठ वसु (११) ग्यारह रुद्र (१२) बारह आदित्य एक इन्द्र और एक प्रजापति उनमें से आठ वसु ये हैं अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा, और नक्षत्र इन का वसु नाम इस कारण से है कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और ये ही सबके निवास करने के स्थान हैं (११) ग्यारह रुद्र ये कहते हैं जो शरीर में दश प्राण हैं अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय, और ग्यारहवा जीवात्मा है क्योंकि जब वे इस शरीर से निकल जाते हैं तब मरण होने से उस के सब संबंधी लोग रोते हैं वे निकलते हुए उन को सलाते हैं इस से इन का नाम रुद्र है इसी प्रकार आदित्य बारह महीनों को कहते हैं क्योंकि वे सब जगत् के पदार्थों का आदान अर्थात् सब की आयु को ग्रहण करते चले जाते हैं इसी से इन का नाम आदित्य है ऐसेही इन्द्र नाम बिजुली का है क्योंकि वह उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु है और यज्ञ को प्रजापति इस लिये कहते हैं कि उस से वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा प्रजा का पालन होता है तथा पशुओं की यज्ञ संज्ञा होने का यह कारण है कि उन से भी प्रजा का जीवन होता है ये सब मिल के अपने २ दिव्यगुणों से तेतीस देव कहते हैं और तीन देव स्थान नाम और जन्मको कहते हैं दो देव अन्न और प्राण को कहते हैं अर्धदेव अर्थात् जिसे सबका धारण और वृद्धि होती है जो सूत्रात्मा वायु सब जगत् में भर रहा है उस को अर्धदेव कहते हैं प्र० क्या ये चालीस देव भी सब मनुष्यों को उपासना के योग्य हैं उ० इन में से कोई भी उपासना के योग्य नहीं है किंतु व्यवहार मात्र की सिद्धि के लिये ये सब देव हैं और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्मही है इस में यह प्रमाण है (सब्रह्म०) जो सब जगत्का करता सर्वशक्तिमान् सब का दृष्ट सबको उपासना के योग्य सबका धारण करने वाला सबमें व्यापक और सबका कारण है जिस का आदि अंत नहीं और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है जिस का जन्म कभी नहीं होता और जो कभी अन्याय नहीं करता इत्यादि विशेषणों से वेदादि शास्त्रों में जिस का प्रतिपादन किया है उसी को दृष्ट देव मानना चाहिये और जो कोई इसे भिन्न को दृष्ट देव मानता है उस को अनार्य अर्थात् अनाड़ी कहना चाहिये क्योंकि (आत्मेत्ये०) इस में आर्यों का इतिहास शतपथब्राह्मण में है कि परमेश्वर जो सब का आत्मा है सब मनुष्यों को उसी की उपासना करनी उचित है इस में जो कोई कहे

कि परमेश्वर को छोड़के दूसरे में भी ईश्वर बुद्धि से प्रेमभक्ति करनी चाहिये तो उससे कहै कि तू सदा दुःखी होके रोदन करेगा क्योंकि जो ईश्वर की उपासना करता है वह सदा आनन्दमें ही रहता है जो दूसरे में ईश्वर बुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता इस लिये वह विद्वानों के बीच में पशु अर्थात् गधा के समान है इससे यह निश्चय हुआ कि आर्य लोग सब दिन से एक ईश्वरही की उपासना करते आये हैं ॥

अतः फलितार्थोयं जातः । देवशब्दे दिवुधातोर्ये दशार्थास्ते संगता भवन्तीति । तद्यथा । क्रीडा । विजिगीषा । व्यवहारः । द्युतिः । स्तुतिः । मोदः । मदः । स्वप्नः । कान्तिः । गतिश्चेति । गणामुभयच समानार्थत्वात् । परंत्वन्याः सर्वादेवताः परमेश्वरप्रकाश्याः सन्ति सच स्वयंप्रकाशोस्ति । तत्र क्रीडनं क्रीडा । दुष्टान् विजेतुमिच्छा विजिगीषा । व्यवह्रियन्ते यस्मिन्व्यवहरणं । व्यवहारः । स्वप्नो निद्रा । मदीग्लेपनं दीनता । एते मुख्यतया लौकिकव्यवहारवृत्तयो भवन्ति । तत्सिद्धिहेतवो ऽग्न्यादयो देवताः सन्ति । अत्रापि नैव सर्वथा परमेश्वरस्य त्यागो भवति तस्य सर्वत्रानुसंगितया सर्वात्पादकाधारकत्वात् । तथा द्युतिर्द्योतनं प्रकाशनं स्तुतिर्गुणेषु गुणकथनं स्थापनं च मोदो हर्षः । प्रसन्नता कान्तिः शोभा । गतिर्ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति । एते परमेश्वरे मुख्यवृत्त्या यथावत्संगच्छन्ते । अतोऽन्यत्र तत्सतया गौण्या वृत्त्या वर्तन्ते । एवं गौणमुख्याभ्यां हेतुभ्यामुभयच देवतात्वं सम्यक् प्रतीयते ॥

॥ भाषार्थ ॥

इससे यह सिद्ध हुआ कि दिवु धातु के जो दश अर्थ हैं वे व्यवहार और परमार्थ इन दोनों अर्थ में यथावत् घटते हैं क्योंकि इनके दोनों अर्थ की योजना वेदों में अच्छी प्रकार से की है इन में इतना भेद है कि पूर्वाक्त वसु आदि देवता परमेश्वर के ही प्रकाश से प्रकाशित होते हैं और परमेश्वर देव तो अपनेही प्रकाश से सदा प्रकाशित हो रहा है इससे वही एक सब का पूज्य देव है और दिवु धातु के दश अर्थ ये हैं कि एक क्रीडा जो खेलना दूसरा विजिगीषा जो शत्रुओं को जीतने की इच्छा होना, तीसरा व्यवहार जो कि दो प्रकार का है एक बाहर और दूसरा भीतर का चौथा निद्रा, और पांचवा मद, ये पांच अर्थ मुख्य करके व्यवहार में ही घटते हैं क्योंकि अग्नि आदि ही पदार्थ व्यवहार सिद्धि के हेतु हैं परंतु परमेश्वर का त्याग इस में भी सर्वथा नहीं होता क्योंकि वे देव उसी की व्यापकता और रचना से दिव्य गुण वाले हुए हैं तथा द्युति जो प्रकाश करना, स्तुति जो गुणों का कीर्तन करना, मोद प्रसन्नता, कान्ति, जो शोभा, गति जो ज्ञान गमन और प्राप्ति है, ये पांच

अर्थ परमेश्वर में मुख्य करके वर्तते हैं क्योंकि इन से भिन्न अर्थों में जितने २ जिन २ में गुण हैं उतना २ ही उनमें देवतापन लिया जाता है परमेश्वर में तो सर्व शक्तिमत्त्वादि सब गुण अनंत हैं इस से पूज्य देव एक वही है ॥

अथ केचिदाहुः । वेदेषु जडचेतनयोः पूजाविधानाद्वेदाः संशया-
स्पदं प्राप्ताः सन्तीति गम्यते । अत्रोच्यते । मैवंभ्रमि । ईश्वरेण सर्वेषु पदा-
र्थेषु स्वातंत्र्यस्य रक्षितत्वात् । यथा चक्षुषि रूपग्रहणशक्तिस्तेन रक्षिता-
स्ति । अतश्चक्षुष्मान् पश्यति नैवान्धश्चेति व्यवहारोस्ति । अथ कश्चि-
द्गुणान्नेत्रेण सूर्यादिभिश्च विनेश्वररूपं कथं न दर्शयतीति यथा तस्य
व्यर्थेयं शङ्कास्ति । तथा पूजनं पूजासत्कारः प्रियाचरणमनुकूलाचरणं
चेत्यादयः पर्याया भवन्ति । इयं पूजा चक्षुषोपि सर्वैर्जनेः क्रियत एव
मग्न्यादिषु यावदर्थद्योतकत्वं विद्याक्रियोपयोगित्वं चास्ति तावदेवतात्व-
मप्यस्तु नात्र काचित्क्षतिरस्ति । कुतः । वेदेषु यत्र यत्रोपासना विधीयते
तत्र तत्र देवतात्वेनेश्वरस्यैव ग्रहणात् ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० इस विषय में कोई २ मनुष्य ऐसा कहते हैं कि वेदों के प्रति-
पादन से एक ईश्वर की पूजा सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि उन में जड़ और
चेतन की पूजा लिखी है इससे वेदों में संदेह सहित कथन मालूम पड़ता है
उ० ऐसा भ्रम मत करो क्योंकि ईश्वर ने सब पदार्थों के बीच में स्वतंत्र गुण
रक्खे हैं जैसे उसने आंख में देखने का सामर्थ्य रक्खा है तो उससे दीखता है ।
यह लोक में व्यवहार है इस में कोई पुरुष ऐसा कहे कि ईश्वर नेत्र और
सूर्य के बिना रूप को क्यों नहीं दिखलाता है जैसे यह शंका उस की व्यर्थ
है वैसेही पूजाविषय में भी जानना क्योंकि जो दूसरे का सत्कार प्रियाचरण
अर्थात् उस के अनुकूल काम करना है इसी का नाम पूजा है सो सब मनुष्यों
को करनी उचित है इसी प्रकार अग्नि आदि पदार्थों में जितना २ अर्थका
प्रकाश दिव्यगुण क्रिया सिद्धि और उपकार लेने का संभव है उतना २ उनमें
देवपन मानने से कुछ भी हानि नहीं हो सकती क्योंकि वेदों में जहां २
उपासना व्यवहार लिया जाता है वहां २ एक अद्वितीय परमेश्वर का ही
ग्रहण किया है ॥

तत्रापि मतद्वयं विग्रहवत्यविग्रहवदेवताभेदात् । तच्चोभयं पूर्वं
प्रतिपादितम् । अन्यच्च । मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव
अतिथिदेवो भव । प्रपा० ७ अनु० ११ । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं
ब्रह्म वदिष्यामि । प्रपा० ७ अनु० १ ॥ इति सर्वमनुष्योपास्याः पंचदेवता-

स्तैत्तिरीयोपनिषद्युक्ताः । यथाच माता पितरा वाचार्य्यो तिथिश्चेति सशरीरादेवताः सन्ति ॥ एवं सर्वथानिःशरीरं ब्रह्मास्ति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस देवता विषय में दो प्रकार का भेद है एक मूर्त्तिमान् और दूसरा अमूर्त्तिमान् जैसे माता, पिता, आचार्य्य, अतिथि, ये चार तो मूर्त्तिमान् देवता हैं और पांचवा परब्रह्म अमूर्त्तिमान् है अर्थात् उस की किसी प्रकार की मूर्त्ति नहीं है इस प्रकार से पांच देव की पूजा में यह दो प्रकारका भेद जानना उचित है ॥

तथैव पूर्वोक्तासु देवतास्वग्नि पृथिव्यादित्य चन्द्रमो नक्षत्राणि चेति पंचवसवो विग्रहवत्यः सन्ति । एवमेकादशरुद्रा द्वादशादित्या मनः षष्ठानि ज्ञानेन्द्रियाणि वायुरन्तरिक्षं द्यौर्मन्त्राश्चेति शरीररहिताः । तथास्तनयिन्निविधियज्ञौ च सशरीराशरीरे देवतेस्त इति । एवं सशरीर निःशरीरभेदेन देवताद्वयं भवति । तच्चेतासां व्यवहारोपयोगित्वमात्रमेव देवतात्वं गृह्यते । इत्थमेव मातृपितृचार्य्यातिथीनां व्यवहारोपयोगित्वं परमार्थप्रकाशकत्वं चैतावन्मात्रं च । परमेश्वरस्तु खल्विष्टोपयोगित्वेनैवोपास्योस्ति । नातो वेदेषु ह्यपरा काचिद्देवतापूज्योपास्यत्वेन विहितास्तीति निश्चीयताम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार पूर्वोक्त आठ वसुओं में से अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्रमा, और नक्षत्र ये पांच मूर्त्तिमान् देव हैं और ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, मन अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, और मन्त्र, ये मूर्त्तिरहित देव हैं, तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां बिजुली और विधियज्ञ ये सब देव मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान् भी हैं,* इस्से साकार और निराकार भेद से दो प्रकार की व्यवस्था देवताओं में जाननी चाहिये इन में से पृथिव्यादि का देवपन केवल व्यवहार में तथा माता पिता आचार्य्य और अतिथियों का व्यवहार में उपयोग और परमार्थ का प्रकाश करना मात्रही देवपन है और ऐसेही मन और इन्द्रियों का उपयोग व्यवहार और परमार्थ करने में होता है परंतु सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य एक परमेश्वरही देव है ॥

अत इदानीं तनाः केचिदार्य्या यूरोपखण्डवासिनश्च भौतिकदेवतानामेव पूजनं वेदेष्वस्तीत्युच्यते च तदलीकतरमस्ति । तथा यूरोप-

* इन्द्रियों की शक्तिरूप द्रव्य अमूर्त्तिमान् और गोलक मूर्त्तिमान् तथा विद्युत और विधियज्ञ में जो २ शब्द तथा ज्ञान अमूर्त्तिमान् और दर्शन तथा सामग्री मूर्त्तिमान् जानना चाहिये ।

खण्डवासिनो बहव एवं घदन्ति पुरा ह्यार्या भौतिकदेवतानां पूजका आसन् पुनस्ताः संपूज्य संपूज्य च बहुकालान्तरे परमात्मानं पूज्यं विदुरिति । तदप्यसत् । तेषां सृष्ट्यारम्भमारभ्यानेकैरिन्द्रवरुणाग्न्यादिभिर्नामभिर्वेदे-
त्तरीत्येश्वरस्यैवोपासनानुष्ठानाचारागमात् ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० कितने ही आज काल के आर्य्य और यूरोपदेश वासी अर्थात् अंगरेज आदि लोग इस में ऐसी शंका करते हैं कि वेदों में पृथिव्यादि भूतों की पूजा कही है वे लोग यह भी कहते हैं कि पहिले आर्य्य लोग भूतों की पूजा करते थे फिर पूजते-२ बहुत काल पीछे उन्होंने परमेश्वर को भी पूज्य जाना था यह उन का कहना मिथ्या है क्योंकि आर्य्य लोग सृष्टि के आरंभ से आज पर्यंत इन्द्र वरुण और अग्नि आदि नामों करके वेदाक्त प्रमाण से एक परमेश्वर की ही उपासना करते चले आये हैं इस विषय में अनेक प्रमाण हैं उन में से थोड़े से यहां भी लिखते हैं ॥

अथ प्रमाणानि । (अग्निमी०) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि इन्द्रं मित्रम्० । ऋगमन्त्रोऽयम् । अस्योपरी ममेवाग्निं महान्तमात्मानमित्यादि निरुक्तं च लिखितं तच्च द्रष्टव्यम् । तथा तदेवाग्निस्तदादित्य० इति यजुर्मन्त्रश्च । तमोशानं जगंतस्तस्युषस्यतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पुषानो यथा वेदसामसंदृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १ ॥ ऋ० अ० १ अ० ६ व० १५ मं० ५ ॥ हिरण्यगर्भः समवर्तताये भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । सदा धारपृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० अ० ८ अ० ७ व० ३ मं० १ । इत्यादयो नवमन्त्रा एतद्विषयाः सन्ति ॥ प्रतद्वेदेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वाधामबिभृतं गुहासत् । चीर्णिपदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद सपितुः पितासत् ॥ ३ ॥ सनोबन्धुर्जेनितासर्व्विधाता धामानि वेदभुवनानि विश्वा ॥ यच्चदेवा अमृतमानशास्तृतीये धामन्नथैरयन्त ॥ ४ ॥ पुरीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्यायप्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविशे ॥ ५ ॥ य० अ० ३९ मं० ६ । १० । ११ ॥ वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः प्रस्तात् । तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयं नाय ॥ ६ ॥ य० अ० ३९ मं० १८ ।

तदेजितितनैजितितदुरेतदन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बा-
ह्यतः ॥ ७ ॥ य० अ० ४० मं० ५ । सपर्यगाच्छुक्रमक्रायमब्रणमित्यादि
च ॥ यद्माविश्वामुर्वनानि जुहुदृषिर्होतान्यसीदत् पितानः । स आशि-
षाद्विणमिच्छमानः प्रथमच्छदर्वः ॥ २ ॥ आविवेश ॥ ८ ॥ किं स्विंदा-
सीदधिष्ठानमारम्भं कतमत्स्वित् कथासीत् । यतो भूमिं जनयन् विश्व-
कर्मोवद्यामौर्णोन्महिनाविश्व चक्षाः ॥ ६ ॥ विश्वतश्चक्षुस्तु विश्वतो
मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्यात् । संबाहुभ्यां धर्मति संपतचैर्द्यावा-
भूमीं जनयन्देव एकः ॥ १० ॥ य० अ० १७ मं० १७ । १८ । १६ ॥ इत्या-
दयो मंचा यजुषि बहवः सन्ति । तथा सामवेदस्योत्तरार्चिके चिकम् ११ ।
अभित्वा शूरनो नुमोऽदुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमी-
शानमिन्द्रतस्युषः ॥ ११ ॥ नत्वा वा अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न
जनिष्यते ॥ अश्वायन्तो मघवन्निन्द्रवाजिनो गत्र्यं तस्त्वाहवामहे ॥ १२ ॥
इत्यादयश्च ॥ नासंदासीन्नेसदासीतदानीं नासीद्रजो नोव्योमापरोयत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १३ ॥ इयं वि-
सृष्टिर्यत आबभूव यदि वादधे यदि वान । यो अस्याध्यक्षः परमेव्यो-
मन्तसे अङ्गवेद यदि वानवेद ॥ १४ ॥ इत्यन्ताः सप्रमन्ताः ऋग्वेदे । अ० ८
अ० ७ व० १७ मं० १ । ७ ॥ यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः स-
सृजे विश्वरूपम् । कियंतास्कम्भः प्रविवेश तच्च यन्नप्राविशत् कियन्तदुभू-
व ॥ १५ ॥ यस्मिन्भूमिर्नर्तरन् दौर्गस्मिन्नध्याहिता । यचाग्निश्चन्द्र-
माः सूर्योवातस्तिष्ठन्त्यार्पिता स्कम्भं तं ब्रूहिकतमः स्विदेवसः ॥ १६ ॥
अथर्व० कां० १० अनु० ४ मं० ८ । १२ ॥ इत्यादयो ऽथर्ववेदेऽपि बह-
वो मन्त्राः सन्ति । एतेषां मन्त्राणां मध्यात्केषां चिदर्थः पूर्वं प्रकाशितः
केषां चिदये विधास्य ते ऽचाप्रसङ्गान्नोच्यते ॥ अणोरणीयान्महतोमहीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः
प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ १ ॥ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा ऽरसं
नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्यतं मृत्युमु-
खात्प्रमुच्यते ॥ २ ॥ यदेवेहतदमुच यदमुचतदन्विह । मृत्योः समृत्युमा-
प्नोति यद्बहूनानेव पश्यति ॥ ३ ॥ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं
बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं ये नुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं
नेतरेषाम् ॥ ४ ॥ नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो वि-

दधाति कामान् । तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्व-
 ती नेतरेषाम् ॥ ५ ॥ इति कठवल्क्युपनिषदि ॥ दिव्योद्दामूर्तः पुरुषः
 स बाह्याभ्यन्तरोद्भजः । अप्राणोद्दामनाः शुभ्रो ऽक्षरात्परतः परः ॥ ६ ॥
 यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरेह्येषव्योमन्यात्मा
 प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥ इति मुण्डकोपनिषदि । नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं
 नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्य-
 मलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिव-
 मद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ८ ॥ इति माण्डूक्योप-
 निषदि ॥ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेदनिहितं गुहायाम् । परमेव्यो-
 मन्त्सोऽश्नुते सर्वान्कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥ ९ ॥ इति तैत्ति-
 रीयोपनिषदि । यो वै भूमातत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । भूमा-
 त्वेव विजिज्ञासितव्यइति । यच्च नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्वि-
 जानाति स भूमा ॥ अथ यचान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तद-
 ल्पम् । यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित-
 इति स्वेमहिम्नि ॥ इति छान्दोग्योपनिषदि । वेदोक्तेशानादिविशेषण-
 प्रतिपादितोऽणोरणीया नित्याद्युपनिषदुक्तविशेषणप्रतिपादितश्च यः पर-
 मेश्वरोस्ति । स एवाऽऽर्यैः सृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं यथावद्विदित्वोपासि-
 तोस्तीतिमन्यध्वम् । एवं परब्रह्मविषयप्रकाशकेषु प्रमाणेषु सत्सु यद्वदृष्टो-
 च्छमूलरैरुक्तमार्याणां पूर्वमीश्वरज्ञानं नासीत्पुनः क्रमाज्जातमिति । नत-
 च्छिष्टग्रहणार्हमस्तीति विजानीमः ॥

(इन्द्रं मित्रम्) इस में चारों वेद शतपथ आदि चारों ब्राह्मण
 निरुक्त और छः शास्त्र आदि के अनेक प्रमाण हैं कि जिस सद्वस्तु ब्रह्म के
 इन्द्र ईशान अग्नि आदि वेदोक्त नाम हैं और अणोरणीयान् इत्यादि उप-
 निषदों के विशेषणों से जिस का प्रतिपादन किया है उसी की उपासना
 आर्य लोग सदा से करते आये हैं इन मंत्रों में से जिन का अर्थ भूमिका में
 नहीं किया है उन का आगे वेदभाष्य में किया जायगा और कोई २ आर्य
 लोग किंवा यूरोप आदि देशों में रहनेवाले अंगरेज कहते हैं कि प्राचीन
 आर्य लोग अनेक देवताओं और भूतों की पूजा करते थे यह उन का कहना
 व्यर्थ है क्योंकि वेदों और उन के प्राचीन व्याख्यानों में अग्नि आदि नामों
 से उपासना के लिये एक परमेश्वर का ही ग्रहण किया है जिस की उपा-
 सना आर्य लोग करते थे इससे पूर्वाक्त शंका किसी प्रकार से नहीं आसक्ती ॥

॥ भाष्यम् ॥

किं च हिरण्यगर्भः समवर्तताये भूतस्य ज्ञातः पतिः ० एतन्मन्त्रा-
ख्यानावसरे ऽयं मन्त्रोऽर्वाचीनेस्ति छन्दस इति शारमण्यदेशोत्पन्नैर्भट्ट-
मोक्षमूलरैः स्वकीयसंस्कृतसाहित्याख्ये ग्रन्थे एतद्विषये यदुक्तं तन्न
संगच्छते । यच्च वेदानां द्वौ भागवेकश्छन्दो द्वितीयोमन्त्रश्च तत्र य-
त्सामान्यार्थाभिधानं परबुद्धिप्रेरणजन्यं स्वकल्पनया रचनाभावं यथाह्य-
ज्ञानिनेो मुखादकस्मान्निस्सरेदीदृशं यद्वचनं तच्छन्द इति विज्ञेयम् ।
तस्योत्पत्तिसमय एकविंशच्छतानि वर्षाण्यधिकादधिकानि व्यतीतानि ।
तथैकोनविंशच्छतानि वर्षाणि मन्त्रोत्पत्तौ चेत्यनुमानं तेषामस्ति । तत्र
तैरुक्तानि । प्रमाणानि अग्निःपूर्वैर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत्पत्त्यादीनि ज्ञात-
व्यानि । तदिदमप्यन्यथास्ति । कुतः । हिरण्यगर्भशब्दस्यार्थज्ञानाभावात् ॥
अत्र प्रमाणानि । ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतं हिरण्यम् । शं० कां० ६
अ० ७ ॥ केशीकेशारश्मयस्तैस्तद्वान्भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा केशीदं
ज्योतिरुच्यते । नि० अ० १२ खं० २५ ॥ यशो वै हिरण्यम् । ऐ० पं० ७
अ० ३ । ज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मज्योतिः । शं० कां० १४ अ० ७ । ज्यो-
तिरिन्द्राग्नी । शं० कां० १० अ० ४ । एषामर्थः । ज्योतिर्विज्ञानं गर्भः
स्वरूपं यस्य स हिरण्यगर्भः । एवं च ज्योतिर्हिरण्यं प्रकाशो ज्योतिरमृतं
मोक्षो ज्योतिरादित्यादयः केशाः प्रकाशकालोकाश्च यशः सत्कीर्तिर्धन्य-
वादश्च ज्योतिरात्मा जीवश्च ज्योतिरिन्द्रः सूर्योऽग्निश्चैतत्सर्वं हिरण्य-
ख्यं गर्भं सामर्थ्यं यस्य स हिरण्यगर्भः परमेश्वरः । अतो हिरण्यगर्भश-
ब्दप्रयोगाद्वेदानामुत्तमत्वं सनातत्वं तु निश्चीयते न नवीनत्वं च । अ-
स्मात्कारणाद्यतैरुक्तं हिरण्यगर्भशब्दप्रयोगान्मन्त्रभागस्य नवीनत्वं तु
द्योतितं भवति । किं त्वस्य प्राचीनवत्त्वे किमपि प्रमाणं नोपलभामह इति ।
तद् भ्रममूलमेव विज्ञेयम् । यद्युक्तं मन्त्रभागनवीनत्वे अग्निः पूर्वैर्भिरि-
त्यादिकारणं तदपि तादृशमेव । कुतः । ईश्वरस्य चिकालदर्शित्वात् । ईश्व-
रोहि चीन्कालान् जानाति । भूतभविष्यद्वर्तमानकालस्यैर्मन्त्रद्रष्टृभिर्मनुष्यैर्म-
न्त्रैः प्राणैस्तर्कैश्चर्षिभिरहमेवेद्यो बभूवे भवामि भविष्यामि चेति विदित्वे-
दमुक्तमित्यदोषः ॥ अन्यच्च । ये वेदादिशास्त्राण्यधीत्य विद्वांसो भूत्वा
ऽध्यापयन्ति ते प्राचीनाः । ये चाधीयते ते नवीनाः । तैर्ऋषिभिरग्निः
परमेश्वर एवेद्योस्त्यतश्च ॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी विषय में डाक्टर मोक्षमूलर साहेब ने अपने बनाये संस्कृत साहित्य ग्रंथ में ऐसा लिखा है कि आर्य लोगों को क्रम से अर्थात् बहुत काल के पीछे ईश्वर का ज्ञान हुआ था और वेदों के प्राचीन होने में एक भी प्रमाण नहीं मिलता किंतु उन के नवीन होने में तो अनेक प्रमाण पाये जाते हैं इस में एक तो हिरण्यगर्भ शब्द का प्रमाण दिया है कि छन्दोभाग से मंत्रभाग दो सौ वर्ष पीछे बना है और दूसरा यह है कि वेदों में दो भाग हैं एक छन्द और दूसरा मंत्र उन में से छन्दोभाग ऐसा है जो सामान्य अर्थ के साथ संबंध रखता है और दूसरे की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ मालूम पड़ता है कि जिस की उत्पत्ति बनाने वाले की प्रेरणा से नहीं हो सकती और उस में कथन इस प्रकार का है जैसे अज्ञानी के मुख से अकस्मात् वचन निकला हो उस की उत्पत्ति में (३५००) इकतीस सौ वर्ष व्यतीत हुए हैं और मंत्रभाग की उत्पत्ति में (२९००) उनतीस सौ वर्ष हुए हैं उसमें (अग्निः पूर्वभिः०) इस मंत्र का भी प्रमाण दिया है सो उन का यह कहना ठीक नहीं हो सक्ता क्योंकि उन्होंने (हिरण्यगर्भः०) और अग्निः पूर्वभिः० इन दोनों मंत्रों का अर्थ यथावत् नहीं जाना है तथा मालूम होता है कि उन को हिरण्यगर्भ शब्द नवीन जान पड़ा होगा इस विचार से कि हिरण्य नाम है सोने का वह सृष्टि से बहुत पीछे उत्पन्न हुआ है अर्थात् मनुष्यों की उवति राजा और प्रजा के प्रबंध होने के उपरान्त पृथिवी में से निकाला गया है सो यह बात भी उन की ठीक नहीं हो सकती क्योंकि इस शब्द का अर्थ यह है कि ज्योति कहते हैं विज्ञान को सो जिसके गर्भ अर्थात् स्वरूप में है ज्योति अमृत अर्थात् मोक्ष है सामर्थ्य में जिस के और ज्योति जो प्रकाश स्वरूप सूर्यादिलोक जिस के गर्भ में हैं तथा ज्योति जो जीवात्मा जिस के गर्भ अर्थात् सामर्थ्य में है तथा यशः सत्कीर्ति जो धन्यवाद जिस के स्वरूप में है इसी प्रकार ज्योति इन्द्र अर्थात् सूर्य वायु और अग्नि ये सब जिस के सामर्थ्य में हैं ऐसा जो एक परमेश्वर है उसी को हिरण्यगर्भ कहते हैं इस हिरण्यगर्भ शब्द के प्रयोग से वेदों का उत्तम पन और सनातन पन तो यथावत् सिद्ध होता है परन्तु इस से उन का नवीन पन सिद्ध कभी नहीं हो सक्ता इससे डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना जो वेदों के नवीन होने के विषय में है सो सत्य नहीं है और जो उन्होंने (अग्निः पूर्वभिः०) इस का प्रमाण वेदों के नवीन होने में दिया है सो भी अन्यथा है क्योंकि इस मंत्र में वेदों के करता त्रिकाल दर्शी ईश्वर ने भूत भविष्यत वर्तमान तीनों कालों के व्यवहारों को यथावत् जान के कहा है कि वेदों को पढ़ के जो विद्वान् हो चुके हैं वा जो पढ़ते हैं वे प्राचीन और नवीन ऋषि लोग मेरी स्तुति करें तथा ऋषि नाम मंत्र प्राण और तर्क का भी है इन से ही मेरी स्तुति करनी योग्य है इसी अपेक्षा से ईश्वर ने इस

मंत्र का प्रयोग किया है इससे वेदों का सनातन पन और उत्तम पन तो सिद्ध होता है किंतु उन हेतुओं से वेदों का नवीन होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सक्ता इसी हेतु से डाक्टर मोक्षमूलर साहेब का कहना ठीक नहीं ।

॥ भाष्यम् ॥

अत्र निरुक्तेऽपि प्रमाणम् । तत्प्रकृतीतरद्वर्तनसामान्यादित्ययं मन्त्रार्थाभ्यूहोऽभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु । पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश यव तु निर्वक्तव्या न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्य्य वित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवतीत्युक्तं पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूहं तस्माद्यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्याषं तद्वधति । नि० अ० १३ ख० १२ ॥ अस्यार्थः । (तत्प्रकृति०) तस्य मंत्र-समूहस्य पदशब्दाक्षरसमुदाया नामितरत् परस्परं विशेष्यविशेषणतया सामान्यवृत्तौ वर्तमानानां मंत्राणामर्थज्ञानचिन्ता भवति । कोऽयं खल्वस्य मंत्रस्यार्थो भविष्यतीत्यभ्यूहो बुद्ध्वा वाभिमुख्येनोहो विशेषज्ञानार्थस्तर्को मनुष्येण कर्तव्यः । नैतेश्रुतितः श्रवणमात्रेणैव तर्कमात्रेण च पृथक् २ मंत्रार्था निर्वक्तव्याः । किंतु प्रकरणानुकूलतया पूर्वापरसंबन्धेनैव नितरां वक्तव्याः । किंच नैवैतेषु मंत्रेष्वनृषेरतपसोऽशुद्धान्तःकरणस्या विदुषः प्रत्यक्षं ज्ञानं भवति । न यावद्वा पारोवर्य्यवित्सुकृतप्रत्यक्षमंत्रार्थेषु मनुष्येषु भूयो विद्यो बहुविद्या-न्वितः प्रशस्योऽत्युत्तमो विद्वान् भवति । न तावदभ्यूहः सुतर्केण वेदार्थ-मपि वक्तुमर्हतीत्युक्तं सिद्धमस्ति । अत्रेति हासमाह । पुरस्तात्कदाचिन्म-नुष्याऋषिषु मन्त्रार्थद्वष्टृषूत्क्रामत्स्वतीतेषु सत्सु देवान् विदुषोऽब्रुवन् पृच्छन् कोऽस्माकं मध्ये ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्यः सत्यासत्यविज्ञानेन वेदार्थबो-धार्थं चेत् तर्कमृषिं ते प्रायच्छन् दत्तवन्तोऽयमेव युष्मासु ऋषिर्भविष्य-तीत्युत्तरमुक्तवन्तः । कथंभूतं तं तर्कं मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूहम् । मंत्रा-र्थविज्ञानकारकम् । अतः किं सिद्धं यः कश्चिदनूचानो विद्यापारगः पुरु-षोऽभ्यूहति वेदार्थमभ्यूहते प्रकाशयते तदेवार्थमृषिप्रोक्तं वेदव्याख्यानं भव-तीति मन्तव्यम् । किंच यदल्पविद्योनाल्पबुद्धिना पक्षपातिना मनुष्येण चाभ्यूह्यते तदनार्थमनृतं भवति । नैतत्केनाप्यादर्तव्यमिति । कुतः । तस्यानर्थयुक्तत्वात् । तदादरेण मनुष्याणामप्यनर्थापतेऽप्येति । अतः पूर्वभिः प्राकृतैः प्रथमोत्पन्नेस्तर्कैर्ऋषिभिस्तथा नूतनैर्वर्तमानस्थेऽपि भविष्यद्

भिश्चत्तिकालस्थैरग्निः परमेश्वर एवेद्योस्ति । नैवास्माद्विन्नः कश्चित्पदार्थः
कस्यापि मनुष्यस्येद्यः स्तोतव्य उपास्योस्तीति निश्चयः । एषमग्निः पूर्व-
भिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुतेत्यस्य मन्त्रस्यार्थसंगतेनैव वेदेष्वत्राचीनाख्यः
कश्चिद् दोषो भवितुमर्हतीति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस में विचारना चाहिये कि वेदों के अर्थ को यथावत् बिना
विचारे उन के अर्थ में किसी मनुष्य को हठ से साहस करना उचित नहीं
क्योंकि जो वेद सब विद्याओं से युक्त हैं अर्थात् उन में जितने मंत्र और पद हैं
वे सब संपूर्ण सत्यविद्याओं के प्रकाश करने वाले हैं और ईश्वरने वेदों का
व्याख्यान भी वेदों से ही कर रक्खा है क्योंकि उन के शब्द धात्वर्थ के साथ
योग रखते हैं इस में निरुक्त का भी प्रमाण है जैसा कि यास्क मुनि ने कहा है
(तत्प्रकृतीतम्) इत्यादि वेदों के व्याख्यान करने के विषय में ऐसा समझना
कि जबतक सत्य प्रमाण सुतर्क वेदों के शब्दों का पूर्वापर प्रकरणों, व्याकरण
आदि वेदांगों शतपथ आदि ब्राह्मणों, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों, और शाखा-
त्यों का यथावत् बोध न हो और परमेश्वर का अनुग्रह उत्तम विद्वानों की
शिक्षा उन के संग से पतपात छोड़ के आत्मा की शुद्धि न हो तथा महर्षि
लोगों के किये व्याख्यानों को न देखे तबतक वेदों के अर्थ का यथावत् प्रकाश
मनुष्य के हृदय में नहीं होता । इस लिये सब आर्य्य विद्वानों का सिद्धान्त है
कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से युक्त जो तर्क है वही मनुष्यों के लिये ऋषि है इससे
यह सिद्ध होता है कि जो सायनाचार्य्य और महीधरादि अन्य बुद्धि लोगों के
झूठे व्याख्यानों को देख के आजकाल के आर्य्यावर्त और यूरोपदेश के निवा-
सी लोग जो वेदों के ऊपर अपनी २ देशभाषाओं में व्याख्यान करते हैं वे
ठीक २ नहीं हैं और उन अनर्थ युक्त व्याख्यानों के मानने से मनुष्यों को
अत्यंत दुःख प्राप्त होता है इससे बुद्धिमानों को उन व्याख्यानों का प्रमाण
करना योग्य नहीं तर्क का नाम ऋषि होने से सब आर्य्य लोगों का सिद्धान्त
है कि सब कालों में अग्नि जो परमेश्वर है वही उपासना करने के योग्य है ॥

॥ भाष्यम् ॥

अन्यच्च । प्राणा वा ऋषयोदेव्यासः । ऐ० पं० २ अ० ४ । पूर्वभिः
पूर्वकालावस्थास्थैः कारणस्थैः प्राणैः कार्य्यद्वयस्थैर्नूतनैश्चर्षिभिः सहेष
समाधियोगेन सर्वैर्विद्वद्भिर्ऋग्निः परमेश्वर एवेद्योस्त्यनेन श्रेयो भवतीति
मन्तव्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

जगत् के कारण प्रकृति में जो प्राण हैं उन को प्राचीन और उस के

कार्य में जो प्राण हैं उन को नवीन कहते हैं इस लिये सब विद्वानों को उन्हीं ऋषियों के साथ योगाभ्यास से अग्नि नामक परमेश्वर की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी योग्य है इतने सेही समझना चाहिये कि भट्ट मातृमूलर साहेब आदि ने इस मंत्र का अर्थ ठीक २ नहीं जाना है ॥

॥ भाष्यम् ॥

यच्चेत्तं छन्दोमन्त्रयोर्भेदोस्तीति तदप्य संगतम् । कुतः । छन्दोवेदनिगममन्त्रश्रुतीनां पर्यायवाचकत्वात् । तच्च छन्दोऽनेकार्थवाचकमस्ति । वैदिकानां गायत्र्यादिवृत्तानां लौकिकानामार्यादीनां च वाचकम् । क्वचित्स्वातन्त्र्यस्यापि । अत्राहुर्वास्काचार्याः । मन्त्रा मननाच्छन्दांसिच्छादनास्तोमः स्तवनाद्यजुर्यजतेः सामसंमितमृचा । नि० अ० ७ खं० १२ ॥ अविद्यादि दुःखानां निवारणात्सुखैराच्छादनाच्छन्दोवेदः । तथा चन्देरादेश्चक्रः इत्युणादिकं सूचम् । चदि आल्हादने दीप्तौ चेत्यस्माद्भूतोऽसुप्रत्यये परे चकारस्यच्छकारादेशे च कृते छन्दस् इति शब्दो भवति । वेदाध्ययनेन सर्वविद्याप्राप्तेर्मनुष्य आल्हादी भवति सर्वार्थज्ञाता चातश्छन्दोवेदः । छन्दांसि वेदेवावयो नाथाश्छन्दोभिर्हीदः सर्वं वयुनं नदुम् श० कां० ८ अ० २ । एतावेदेवता श्छन्दांसि । श० कां० ८ अ० ३ । अस्यायमभिप्रायः । मत्रि गुप्रभाषणे । अस्माद्भूलश्चेति सूचेण घञ्प्रत्यये कृते मन्त्रशब्दस्य सिद्धिर्जायते । गुप्तानां पदार्थानां भाषणं यस्मिन्वर्तते समन्त्रोवेदः । तदवयवानामनेकार्थानामपि मन्त्रसंज्ञा भवति तेषां तदर्थवत्त्वात् । तथा मनज्ञाने । अस्माद्भूतोः सर्वधातुभ्यः घृन् इत्युणादिसूचेण घृन्प्रत्ययेकृते मन्त्रशब्दो व्युत्पद्यते । मन्यन्ते ज्ञायन्ते सर्वैर्मनुष्यैः सत्याः पदार्था येन यस्मिन्वा समन्त्रोवेदः । तदवयवा अग्निमीळेपुरोहितमित्यादयो मन्त्रा गृह्यन्ते । यानि गायत्र्यादीनि च्छन्दांसि तदन्विता मन्त्राः सर्वार्थदोतकत्वाद्देवताशब्देन गृह्यन्ते । अतश्च छन्दांस्येवदेवाः । वयोनाथाः सर्वक्रियाप्रियाणि बन्धनास्तैश्छन्दोभिरेव वेदैर्वेदमन्त्रैश्चेदं सर्वं विश्वं वयुनं कर्मादिचेश्वरेण नदुं वदुं कृतमिति विज्ञेयम् । येन छन्दसा छन्दोभिर्वा सर्वा विद्याः संवृता आवृताः सम्यक् स्वीकृता भवन्ति । तस्माच्छन्दांसि वेदामननान्मन्त्राश्चेति पर्यायौ । एवं श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेय इति मनुस्मृतौ इत्यपि निगमो भवतीति निरुक्ते । श्रुतिर्वेदोमन्त्रश्च निगमो वेदोमन्त्रश्चेति पर्यायोस्तः । श्रूयन्ते वा सकला विद्या यया सा श्रुतिर्वेदो मन्त्रा-

श्चश्रुतयः । तथा निगच्छन्ति नितरां जानन्ति प्राप्नुवन्ति वा सर्वा विद्या यस्मिन् स निगमो वेदोमंश्चेति ॥

॥ भाषार्थ ॥

जैसे छन्द और मंत्र ये दोनों शब्द एकार्थवाची अर्थात् संहिता भाग के नाम हैं वैसेही निगम और श्रुति भी वेदों के नाम हैं भेद होने का कारण केवल अर्थही है वेदों का नाम छन्द इसलिये रक्खा है कि वे स्वतंत्र प्रमाण और सत्यविद्याओं से परिपूर्ण हैं तथा उन का मंत्र नाम इस लिये है कि उन से सत्यविद्याओं का ज्ञान होता है और श्रुति इस लिये कहते हैं कि उन के पढ़ने अभ्यास करने और सुनने से सब सत्यविद्याओं को मनुष्यलोग जान सके हैं ऐसेही जिस करके सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो उस को निगम कहते हैं इससे ये चारों शब्द पर्याय अर्थात् एक अर्थ के वाची हैं ऐसाही जानना चाहिये ॥

॥ भाष्यम् ॥

तथा व्याकरणे प । मंत्रे घसह्वरणश वृदहाद्वचकृगमिजनि-
भ्योलेः ॥ १ ॥ अष्टाध्याय्याम् । अ० २ पा० ४ । छन्दसि लुङ् लङ्
लिटः ॥ २ ॥ अ० ३ पा० ४ । वाषपूर्वस्य निगमे ॥ ३ ॥ अ० ६ पा० ४ ॥
अचापिच्छन्दो मन्त्रनिगमाः पर्यायवाचिनः सन्ति । एवं छन्दआदीनां
पर्यायसिद्धेयो भेदं ब्रूते तद्वचनप्रमाणमेवास्तीति विज्ञायते ॥

॥ भाषार्थ ॥

वैसेही अष्टाध्यायी व्याकरण में भी छन्द मंत्र और निगम ये तीनों नाम वेदों हीके हैं इसलिये जो लोग इन में भेद मानते हैं उन का वचन प्रमाण करने के योग्य नहीं ॥

इति वेदविषयविचारः ॥

अथ वेदसंज्ञाविचारः ।

अथ कोयं वेदो नाम मन्त्रभागसंहितेत्याह । किंच मन्त्रब्राह्मण-
योर्वेदनामधेयमिति कात्यायनोक्तेर्ब्राह्मणभागस्यापि वेदसंज्ञा कुतो न स्वी-
क्रियतइति । मेवं वाच्यम् । न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हति । कुतः ।
पुराणेतिहाससंज्ञकत्वाद्वेदव्याख्यानादृषिभिरुक्तत्वादनीश्वरोक्तत्वात्कात्या-
यनभिन्नेष्टृषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वान्मनुष्यबुद्धिरक्षितत्वाच्चेति ॥

अथ वेदसंज्ञाविचारः ।

प्र० वेद किन का नाम है उ० मंत्र संहिताओं का प्र० जो कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मंत्र और ब्राह्मण ग्रंथों का नाम वेद है फिर ब्राह्मण भाग को भी वेदों में ग्रहण आप लोग क्यों नहीं करते हैं उ० ब्राह्मण ग्रंथ वेद नहीं हो सके क्योंकि उन्हीं का नाम इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा और नाराशंसी, भी है वे ईश्वरोक्त नहीं हैं किंतु महर्षि लोगों के किये वेदों के व्याख्यान हैं एक कात्यायन को छोड़ के किसी अन्य ऋषि ने उन के वेद होने में सहाय नहीं दी है और वे देहधारी पुरुषों के बनाये हैं इन हेतुओं से ब्राह्मण ग्रंथों को वेद संज्ञा नहीं हो सकती और मंत्रसंहिताओं का वेद नाम इसलिये है कि ईश्वर रचित और सब विद्याओं का मूल है ॥

॥ भाष्यम् ॥

यथा ब्राह्मणग्रन्थेषु मनुष्याणां नामलेखपूर्वकालौकिका इतिहासाः सन्ति नचैवं मन्त्रभागे । किंचभोः । च्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य च्यायुषम् । यद्वेदेषु च्यायुषं तन्ना अस्तु च्यायुषम् ॥ १ ॥ यजुः० अ० ३ मं० ६२ । इत्यादीनि वचनान्यृषीणां नामाङ्कितानि यजुर्वेदादिष्वपि दृश्यन्ते । अनेनेतिहासादिविषये मंत्रब्राह्मणयोस्तुल्यतादृश्यते पुनर्ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा कुतो न मन्यते । मैवंभूमि । नैवात्र जमदग्निः कश्यपौ देहधारिणो मनुष्यस्य नाम्नीस्तः । अत्र प्रमाणम् । चतुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्देवेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चतुर्जमदग्निर्ऋषिः । श० कां० ८ अ० १ । कश्यपो वै कूर्मः प्राणो वै कूर्मः श० कां० ७ अ० ५ । अनेन प्राणस्य कूर्मः कश्यपश्च संज्ञास्ति । शरीरस्य नामौ तस्य कूर्माकारावस्थितेः । अनेन मन्त्रेश्वर एव प्रार्थ्यते तद्यथा । हे जगदीश्वर भवत्कृपया नो ऽस्माकं जमदग्निसंज्ञकस्य चतुषः कश्यपाख्यस्य प्राणस्य च च्यायुषं त्रिगुणमर्थात् त्रीणि शतानि वर्षाणि यावत्तावदायुरस्तु । चतुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणां प्राणो मन आदीनां च (यद्वेदेषु च्यायुषम्) अत्र प्रमाणम् । विद्वांसोहि देवाः । श० कां० ३ अ० ७ । अनेन त्रिदुषां देवसंज्ञास्ति । देवेषु विद्वत्सु यद्विद्याप्रभावयुक्तं त्रिगुणमायुर्भवति (तन्ना अस्तु च्यायुषम्) तत्सेन्द्रियाणां समनस्कानां नोस्माकं पूर्वोक्तं सुखयुक्तं त्रिगुणमायुरस्तु भवेत् । येन सुखयुक्तावयं तावदायुर्मेजीमहि । अनेनान्यदप्युपदिश्यते । ब्रह्मचर्यादिसुनियमेर्मनुष्यैरेतत्त्रिगुणमायुः कर्तुं शक्यमस्तीति गम्यते । अतोर्थाभिधायकैर्जमदग्न्यादिभिः शब्दैरर्थमात्रं

वेदेषु प्रकाश्यते । अतो नात्र मन्त्रभागेहीतिहासलेशोप्यस्तीत्यवगन्तव्यम् । अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यच्च कुचेति हासवर्णनं कृतं तद्भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्

॥ भाषार्थ ॥

प्र० जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रंथों में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी गार्गी और जनक आदि के इतिहास लिखे हैं वैसे ही (त्र्यायुषं जमदग्नेः०) इत्यादि वेदों में भी पाये जाते हैं इससे मंत्र और ब्राह्मणभाग ये दोनों बराबर होते हैं फिर ब्राह्मणग्रंथों को वेदों में क्यों नहीं मानते हो उ० ऐसा भ्रम मत करो क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम देहधारी मनुष्यों के नहीं हैं इस का प्रमाण शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि चतु का नाम जमदग्नि और प्राण का नाम कश्यप है इस कारण से यहां प्राण से अन्तःकरण और आंख से सब इन्द्रियों का ग्रहण करना चाहिये अर्थात् जिन से जगत् के सब जीव बाहर और भीतर देखते हैं (त्र्यायुषं ज०) सो इस मंत्र से ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये कि हे जगदीश्वर आप के अनुग्रह से हमारे प्राण आदि अन्तःकरण और आंख आदि सब इन्द्रियों की (३००) तीन सौ वर्ष तक उमर बनी रहे (यद्वेषु०) सो जैसी विद्वानों के बीच में विद्यादि शुभगुण और आनन्दयुक्त उमर होती है (तत्रो अस्तु०) वैसी ही हम लोगों की भी हो तथा (त्र्यायुषं जम दग्नेः०) इत्यादि उपदेश से यह भी जाना जाता है कि मनुष्य ब्रह्मचर्यादि उत्तम नियमों से त्रिगुण चतुर्गुण आयु करसकता है अर्थात् (४००) चार सौ वर्ष तक भी सुख पूर्वक जी सकता है इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों में सत्य अर्थ के वाचक शब्दों से सत्यविद्याओं का प्रकाश किया है लौकिक इतिहासों का नहीं इससे जो सायणाचार्यादि लोगों ने अपनी २ बनाई टीकाओं में वेदों में जहां तहां इतिहास वर्णन किये हैं वे सब मिथ्या हैं ॥

॥ भाष्यम् ॥

तथा ब्राह्मणग्रन्थानामेव पुराणेतिहासादिनामास्ति न ब्रह्मवैवर्तश्रीमद्भागवतादीनां चेति निश्चीयते । किंच भोः । ब्रह्मयज्ञविधाने यच्च क्वचिद्ब्राह्मणसूचग्रन्थेषु । यद्ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरित्यादीनि वचनानि दृश्यन्ते । एषां मूलमथर्ववेदेप्यस्ति । स बृहती दिशमनुव्यचलत् । तर्मितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसी-
श्चानुव्यचलन् । इतिहासस्य च वे सपुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १ ॥ अथर्व० कां० १५ । प्रपा० ३० ।

अनु० १ । अतो ब्राह्मणग्रन्थेभ्यो भिन्नाभागवतादयो ग्रन्था इतिहासादि संज्ञया कुतो न गृह्यन्ते । मैवं वाचि । एतैः प्रमाणैर्ब्राह्मणग्रन्थानामेव ग्रहणं जायते न श्रीमद्भागवतादीनामिति । कुतः । ब्राह्मणग्रन्थेष्वितिहासादीनामन्तर्भावात् । तत्र देवासुराः संयत्ता आसन्नित्यादय इतिहासा ग्राह्याः । स देवसाम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम् । छान्दोग्योपनि० प्रपा० ६ । आत्मा वा इदमेकमेवाग्रआसीन्नान्यत् किंचनमिषत् । इत्यैतरेयारण्यकोपनि० अ० १ खं० १ ॥ आपोहवा इदमग्रे सलिलमेवा स । श० कां० ११ अ० १ । इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत् । इत्यादीनि जगतः पूर्वावस्था कथनपूर्वकाणि वचनानि ब्राह्मणान्तर्गतान्येव पुराणानि ग्राह्याणि । कल्पा मन्त्रार्थसामर्थ्यप्रकाशकाः । तद्यथा । हेषत्वोर्जेत्वेति वृष्टौ तदाह । यदा-हेषत्वेत्यूर्जेत्वेति यो वृष्टादूर्गसे जायते तस्मै तदाह । सवितावै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूताः । श० कां० १ अ० ७ । इत्यादयो ग्राह्याः । गाथा याज्ञवल्क्यजनकसंवादो यथा शतपथब्राह्मणे गार्गी मैत्रेय्यादीनां परस्परं प्रश्नोत्तरकथनयुक्ताः सन्तीति । नाराशंस्यश्च । अत्राहुर्ग्यास्काचार्याः । नाराशंसे यज्ञ इति कथञ्चो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्त्यग्निरिति शाक-पूरणिनैः प्रशस्यो भवति । नि० अ० ८ खं० ६ ॥ नृणां यत्र प्रशंसा नृभिर्यत्र प्रशस्यते ता ब्राह्मणनिरुक्ताद्यन्तर्गताः कथा नाराशंस्यो ग्राह्या नातोऽन्या इति किंच तेषु तेषु वचनेष्वपीदमेव विज्ञायते यत् यस्माद्ब्राह्मणानीति संक्षीपदमितिहासादिस्तेषां संज्ञेति । तद्यथा । ब्राह्मणान्येवेतिहासान् जानीयात् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशंसीश्चेति ॥

॥ भाषार्थ ॥

और इस हेतु से ब्राह्मण ग्रंथों का ही इतिहासादि नाम जानना चाहिये श्रीमद्भागवतादि का नहीं । प्र० जहां २ ब्राह्मण और सूत्र ग्रंथों में (यद्वाह्मण०) इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी, इत्यादि वचन देखने में आते हैं तथा अथर्व वेद में भी इतिहास पुराणादि नामों का लेख है इस हेतु से ब्राह्मण ग्रंथों से भिन्न ग्रन्थवैवर्त्त श्रीमद्भागवत महाभारतादि का ग्रहण इतिहास पुराणादि नामों से क्यों नहीं करते हो उ० इन के ग्रहण में कोई भी प्रमाण नहीं है क्योंकि उन में मतों के परस्पर विरोध और लड़ाई आदि की असंभव मिथ्या कथा अपने २ मत के अनुसार लोगों ने लिख रखी हैं इससे इतिहास और पुराणादि नामों से इन का ग्रहण करना किसी मनुष्य को उचित नहीं जो ब्राह्मण ग्रंथों में (देवासुराः संयत्ता आसन्) अर्थात् देव

विद्वान् और असुर मूर्ख ये दोनों युद्ध करने को तत्पर हुए थे इत्यादि कथाओं का नाम इतिहास है (सदेवसो०) अर्थात् जिस में जगत् की उत्पत्ति आदि का वर्णन है उस ब्राह्मण भाग का नाम पुराण है (इषेत्वोर्जत्विति वृष्ट्यै०) जो वेद मंत्रों के अर्थ अर्थात् जिन में द्रव्यों के सामर्थ्य का कथन किया है उन का नाम कल्प है इसी प्रकार जैसे शतपथ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य जनक गार्गी मैत्रेयी आदि की कथाओं का नाम गाथा है और जिन में नर अर्थात् मनुष्य लोगों ने ईश्वर धर्म आदि पदार्थ विद्याओं और मनुष्यों की प्रशंसा की है उन को नाराशंसी कहते हैं (ब्राह्मणानीतिहासान्०) इस वचन में ब्राह्मणानि संज्ञी और इतिहासादि संज्ञा है अर्थात् ब्राह्मण ग्रंथों का नाम इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशंसी है सो ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रंथों में जो २ जैसी २ कथा लिखी हैं उन्हीं का इतिहासादि से ग्रहण करना चाहिये अन्य का नहीं ॥

॥ भाष्यम् ॥

अन्यदप्यत्र प्रमाणमस्ति न्यायदर्शनभाष्ये । वाक्यविभागस्य चार्थ-ग्रहणात् । १ । अ० २ आ० २ सू० ६० । अस्योपरि वात्स्यायनभाष्यम् । प्रमाणं शब्दो यथा लोके विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां विविधः । अयमभिप्रायः । ब्राह्मणग्रंथशब्दा लौकिका एव न वैदिका इति । तेषां विविधो विभागो लक्ष्यते । सू० विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ २ ॥ अ० २ आ० २ सू० ६१ ॥ अस्योप० वा० भा० । विधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवचनानीति तत्र । सू० विधिर्विधायकः ॥ ३ ॥ अ० २ आ० २ सू० ६२ ॥ अस्योप० वा० भा० । यद्वाक्यं विधायकं चोदकं सविधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा यथाग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादि । ब्राह्मणवाक्यानामिति शेषः । सू० स्तुतिर्निन्दापरकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ४ ॥ अ० २ आ० २ सू० ६३ । अस्योप० वा० भा० । विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः । संप्रत्ययार्थं स्तयमानं श्रद्धधीतेति प्रवर्तिका च फलश्रवणात्प्रवर्तते सर्वजिता वेदेवाः सर्वमजयन्सर्वस्याप्ये सर्वस्य जित्ये सर्वस्यैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि । अनिष्टफलवादे निन्दावर्जनार्थं निन्दितं न समाचरेदिति । स एष वा प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ठाऽन्ये न यजते गर्तेपतत्ययमेतज्जीर्यते वा इत्येवमादि । अन्यकर्तृकस्य व्याहृतस्य विधेर्वादः परकृतिः । हुत्वावपामेवाग्नेभिधारयन्ति । अथ पृषदाज्यं तदुहचरकाध्वर्य्यवः पृषदाज्यमेवाग्नेभिधारयन्ति । अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि । ऐतिह्य समाचरिते-

विधिः पुराकल्पइति । तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा हविः पवमानं सामस्तो-
ममस्तौषन् योनेर्यज्ञं प्रतनवामहइत्येवमादि । कथं । परकृति पुराकल्पो
अर्थवादा इति । स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसंबन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्य कस्य-
चिदर्थस्य द्योतनादर्थवादइति ॥

॥ भाषार्थ ॥

ब्राह्मण ग्रंथों की इतिहासादि संज्ञा होने में और भी प्रमाण है
जैसे लोक में तीन प्रकार के वचन होते हैं वैसे ब्राह्मण ग्रंथों में भी हैं उन
में से एक विधिवाक्य है जैसे (देवदत्ता यामं गच्छेत्सुखार्थम्) सुख के लिये
देवदत्त याम को जाय इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में भी है (अग्निहोत्रं जुहुया-
त्स्वर्गकामः) जिस को सुख की इच्छा हो वह अग्निहोत्रादि यज्ञों को करे
दूसरा अर्थवाद है जो कि चार प्रकार का होता है एक स्तुति अर्थात् पदार्थों
के गुणों का प्रकाश करना जिसे मनुष्यों की श्रद्धा उत्तम काम करने और
गुणों के ग्रहण में ही हो दूसरी निन्दा अर्थात् बुरे काम करने में दोषों का
दिखलाना जिसे उन को कोई न करे तीसरा (परकृतिः) जैसे इस चार ने
बुरा काम किया इससे उस को दंड मिला और साहूकार ने अच्छा काम
किया इससे उस की प्रतिष्ठा और उन्नति हुई चौथा (पुराकल्प) अर्थात् जो
बात पहिले हो चुकी हो जैसे जनक की सभा में याज्ञवल्क्य गार्गी शाकल्य
आदि ने इकट्ठे होके आपस में प्रश्नोत्तर रीति से संवाद किया था इत्यादि
इतिहासों को पुराकल्प कहते हैं ॥

॥ भाष्यम् ॥

सू० विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ १ ॥ अ० २ आ० २ सू० ६४ ॥
अस्योप० वा० भा० । विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च पूर्वः
शब्दानुवादो ऽपरो ऽर्थानुवादः । सू० न च तुष्टमैतिह्यार्थापत्तिर्संभवाभाव-
प्रामाण्यात् ॥ ६ ॥ अ० २ आ० २ सू० १ ॥ अस्योप० वा० भा० । न चत्वार्येव
प्रमाणानि किं तर्हि । ऐतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमा-
णानि । इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारं पर्य्यमैतिह्यम् । अनेन
प्रमाणेनापीतिहासादिनामभिर्ब्राह्मणान्येव गृह्यन्ते नान्यदिति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस का तीसरा भाग अनुवाद है अर्थात् जिस का पूर्व विधान करके
उसी का स्मरण और कथन करना सोभी दो प्रकार का है एक शब्द का और
दूसरा अर्थ का जैसे वह विद्या को पढ़े यह शब्दानुवाद है विद्या पढ़नेसेही
ज्ञान होता है इस को अर्थानुवाद कहते हैं जिस की प्रतिज्ञा उसी में हेतु

उदाहरण उपनय और निगमन को घटाना हो जैसे परमेश्वर नित्य है यह प्रतिज्ञा है विनाश रहित होने से यह हेतु है आकाश के समान है इस को उदाहरण कहते हैं जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी है इस को उपनय कहते हैं और इन चारों का क्रम से उच्चारण करके पत में यथावत् योजना करने को निगमन कहते हैं जैसे परमेश्वर नित्य है विनाश रहित होने से आकाश के समान जैसा आकाश नित्य है वैसा परमेश्वर भी इससे इस में समझ लेना चाहिये कि जिस शब्द और अर्थ का दूसरी बार उच्चारण और विचार हो इस को अनुवाद कहते हैं सो ब्राह्मण पुस्तकों में यथावत् लिखा है इस हेतु से भी ब्राह्मण पुस्तकों का नाम इतिहास आदि जानना चाहिये क्योंकि इन में इतिहास पुराण कल्प गाथा और नाराशंसी ये पांच प्रकार की कथा सब ठीक २ लिखी हैं और भागवतादि को इतिहासादि नहीं जानना चाहिये क्योंकि उन में मिथ्या कथा बहुत सी लिखी हैं ॥

॥ भाष्यम् ॥

अन्यच्च । ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्या-
नीति । कुतः । इषेत्वोर्जेत्वेति श० का० १ अ० ७ । इत्यादीनि मन्त्रप्रतीकानि
धृत्वा ब्राह्मणेषु वेदानां व्याख्यानकरणात् ॥

॥ भाषार्थ ॥

ब्राह्मण ग्रंथों की वेदों में गणना नहीं हो सकती क्योंकि (इषेत्वोर्जे-
त्वेति०) इस प्रकार से उन में मन्त्रों की प्रतीक धर २ के वेदों का व्याख्यान
किया है और मन्त्रभाग संहिताओं में ब्राह्मण ग्रंथों की एक भी प्रतीक कहीं
नहीं देखने में आती इससे जो ईश्वरोक्त मूल मन्त्र अर्थात् चार संहिता हैं वेही
वेद हैं ब्राह्मण ग्रंथ नहीं ॥

॥ भाष्यम् ॥

अन्यच्च महाभाष्येपि । केषांशब्दानाम् । लौकिकानां वेदिकानां
च । तच्च लौकिकास्तावत् । गौरश्वः पुरुषोहस्तीशकुनिर्मृगे ब्राह्मण इति ।
वेदिकाः खल्वपि । शन्नेदेवीरभिष्टये । इषेत्वोर्जेत्वा । अग्निमीळिपुरोहि-
तम् । अग्नन्नायाहि धीतयइति । यदि ब्राह्मणग्रंथानामपि वेदसंज्ञाभीष्टा-
भूतर्हि तेषामप्युदाहरणमदात् । अत एव महाभाष्यकारेण मन्त्रभागस्येव
वेदसंज्ञां मत्वा प्रथममन्त्रप्रतीकानि वेदिकेषु शब्देषूदाहृतानि । किंतु यानि
गौरश्व इत्यादीनि लौकिकोदाहरणानि दत्तानि तानि ब्राह्मणादियन्येष्वेव
घटन्ते । कुतः । तेष्वीदृशशब्दपाठव्यवहारदर्शनात् । द्वितीया ब्राह्मणे । १ ।
अ० २ पा० ३ । चतुर्थ्यर्थं बहुलं छन्दसि । २ । अ० २ पा० ३ । पुराणप्रोक्तेषु

ब्राह्मणकल्पेषु ॥ ३ ॥ अ० ४ पा० ३ । इत्यष्टाध्याय्यां सूत्राणि । अत्रापि पाणिन्याचार्यैर्वेदब्राह्मणयोर्भेदेनैव प्रतिपादितम् । तद्यथा पुराणैः । प्राचीनैर्ब्रह्मादृषिभिः प्रोक्ता ब्राह्मणकल्पग्रन्था वेदव्याख्यानाः सन्ति । अतश्चैतेषां पुराणेतिहाससंज्ञा कृतास्ति । यद्यत्र छन्दो ब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञाभीष्टा भवेत्तर्हि चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसीति छन्दोगहणं व्यर्थं स्यात् । कुतः । द्वितीया ब्राह्मणेति ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वात् । अतो विज्ञायते न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञास्तीति । अतः किं सिद्धम् । ब्रह्मेति ब्राह्मणानां नामास्ति । अत्र प्रमाणम् । ब्रह्म वै ब्राह्मणः तत्रैराजन्यः । श० का० १३ अ० १ ॥ समानार्थावेतो वृषशब्दो वृषन्शब्दश्च ब्रह्मन्शब्दो ब्राह्मणशब्दश्च । इति व्याकरणमहाभाष्ये । अ० ५ पा० १ आ० १ ॥ चतुर्वेदविद्विर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि । अन्यच्च । कात्यायनेनापि ब्रह्मणा वेदेन सहचरितत्वात्सहचारोपाधिं मत्वा ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा संमतेति विज्ञायते । एवमपि न सम्यगस्ति । कुतः । एवं तेनानुक्तत्वादतो ऽन्यैर्ऋषिभिरगृहीतत्वात् । अनेनापि न ब्राह्मणानां वेदसंज्ञा भवितुमर्हतीति । इत्यादिबहुभिः प्रमाणैर्महाणामेव वेदसंज्ञा न ब्राह्मणग्रन्थानामिति सिद्धम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

ब्राह्मण ग्रंथों की वेद संज्ञा नहीं होने में व्याकरण महाभाष्य का भी प्रमाण है जिस में लोक और वेदों के भिन्न २ उदाहरण दिये हैं जैसे गौरश्वः० इत्यादि लोक के और श्वोदेवीरभिष्टय इत्यादि वेदों के हैं किंतु वैदिक उदाहरणों में ब्राह्मणों का एक भी उदाहरण नहीं दिया और गौरश्वः इत्यादि जो लोक के उदाहरण दिये हैं वे सब ब्राह्मण पुस्तकों के हैं क्योंकि उन में ऐसाही पाठ है इसी कारण से ब्राह्मण पुस्तकों की वेद संज्ञा नहीं हो सकती और कात्यायन के नाम से जो वेदों की वेद संज्ञा होने में वचन है सो सहचार उपाधि लक्षणा से किया हो तो भी नहीं बन सकता क्योंकि जैसे किसीने किसी से कहा कि उस लकड़ी को भोजन करादो और दूसरे ने इतनेही कहने से तुरंत जान लिया कि लकड़ी जड़ पदार्थ होने से भोजन नहीं कर सकती किंतु जिस मनुष्य के हाथ में लकड़ी है उस को भोजन कराना चाहिये इस प्रकार से कहा हो तो भी मानने के योग्य नहीं हो सकता क्योंकि इस में अन्य ऋषियों की एक भी साक्षी नहीं है इस से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म नाम ब्राह्मण का है सो ब्रह्मादि जो वेदों के जानने वाले महर्षि लोग थे उन्होंने के बनाये हुए ऐतरेय शतपथ आदि वेदों के व्याख्यान

हैं इसी कारण से उन के किये गयेों का नाम ब्राह्मण हुआ है इससे निश्चय हुआ कि मंत्रभाग कीही वेद संज्ञा है ब्राह्मण गंथों की नहीं ॥

॥ भाष्यम् ॥

किंच भोः । ब्राह्मणगंथानामपि वेदवत्प्रामाण्यं कर्तव्यमाहोस्वि-
न्नेति । अथ ब्रूमः । नैतेषां वेदवत्प्रामाण्यं कर्तुं योग्यमस्ति । कुतः । ईश्व-
रोक्ताभावात्तदनुकूलतयैव प्रमाणाहत्वाच्चेति । परंतु सन्ति तानि परतः
प्रमाणयोग्यान्येवेति ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० हम यह प्रकृति हैं कि ब्राह्मण गंथों का भी वेदों के समान प्रमाण
करना उचित है वा नहीं उ० ब्राह्मण गंथों का प्रमाण वेदों के तुल्य नहीं हो
सकता क्योंकि वे ईश्वरोक्त नहीं हैं परंतु वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के
योग्य तो हैं * ॥

॥ इति वेद संज्ञा विचारः ॥

॥ अथ ब्रह्मविद्याविषयः ॥

वेदेषु सर्वाविद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ॥ अचोच्यते । सर्वाः सन्ति
मूलेद्वेशतः । तच्चादिमा ब्रह्मविद्या संक्षेपतः प्रकाशयते । तमीशानं जगत्स्त-
स्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषानो यथा वेदं सामसंदृधे
रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १ ॥ ऋ० अ० १ अ० ६ व० १५ मं० ५ ॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीं वचक्षुरातं तम् ॥ २ ॥ ऋ०
अ० १ अ० २ व० ७ मं० ५ ॥ अनयोरर्थः । (तमीशानम्) ईष्टेऽसावीशानः
सर्वं जगत्कर्ता (जगत्स्तस्थुषस्पतिं) जगतो जङ्गमस्य तस्थुषः स्यावरस्य
च पतिः स्वामी (धियं जिन्वम्) यो बुद्धेस्तृप्तिकर्ता (अवसे हूमहे वयम्)
तमवसे रक्षणाय वयं हूमहे आह्वयामः (पूषा) पुष्टिकर्ता (नः) स एवास्माकं
पुष्टिकारकोस्ति (यथा वेदसामसंदृधे) हे परमेश्वर यथा येन प्रकारेण
वेदसां विद्यासुवर्णादीनां धनानां वृधे वर्धनाय भवानस्ति तथैव कृपया
(रक्षिताऽसत्) रक्षकोप्यस्तु । एवं (पायुरदब्धः स्वस्तये) अस्माकं रक्ष-
णोस्वस्तये सर्वसुखाय (अदब्धः) अनलसः सन् पालनकर्ता सदैवास्तु ॥ १ ॥
तद्विष्णोरिति मंत्रस्यार्थो वेदविषयप्रकरणे विज्ञानकाण्डे गदितस्तच्च द्रष्टव्यः ॥

* इस में इतना भेद है कि जो ब्राह्मण गंथों में कहीं वेद से विरुद्ध हो उस का
प्रमाण करना किसी को न चाहिये और ब्राह्मण गंथों से विरोध आवे तो भी वेदों
का प्रमाण होता है ॥

॥ भाषार्थ ॥

प्र० वेदों में सब विद्या हैं वा नहीं उ० सब हैं क्योंकि जितनी सत्य विद्या संसार में हैं वे सब वेदों सेही निकली हैं उन में से पहिले ब्रह्म विद्या संक्षेप में लिखते हैं (तमीशानं) जो सब जगत् का बनाने वाला है (जगत्-स्तस्युषस्यति अर्थात् जगत् जो चेतन और तस्युष जो जड़ इन दो प्रकार के संसार का जो राजा और पालन करने वाला है (धियं जित्वम्) जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्ति करने वाला है उस की (अवसे हूमहे वयम्) हमलोग आह्वान अर्थात् अपनी रत्ता के लिये प्रार्थना करते हैं (पूषानः) क्योंकि वह हम को सब सुखों से पुष्ट करने वाला है (यथा वेदसामसदृधे) हे परमेश्वर जैसे आप अपनी कृपा से हमारे सब पदार्थों और सुखों को बढ़ाने वाले हैं वैसेही (रक्षिता सब की रक्षा भी करें (पायुरदब्धः स्वस्तये) जैसे आप हमारे रतक हैं वैसेही सब सुख भी दीजिये ॥ १ ॥ (तद्विष्णो०) इस मंत्र का अर्थ वेदविषय प्रकरण के विज्ञान कांड में अच्छी प्रकार लिखा हुआ है वहां देख लेना ॥ २ ॥

॥ भाष्यम् ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशोदिशश्च ॥ उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ मं० ११ ॥ (परीत्यभू०) यः परमेश्वरो भूतान्याकाशादीनि परीत्य सर्वतोभिव्याप्य सूर्यादील्लोकान् परीत्य पूर्वादिदिशः परीत्य अग्नेयादि प्रदिशश्च परीत्य परितः सर्वत इत्वा प्राप्य विदित्वा च । (उपस्थाय प्र०) यः स्वसामर्थ्यस्याप्यात्मास्ति । यश्च प्रथमानि सूक्ष्मभूतानि जनयति तं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं परमेश्वरं यो जीव आत्मना स्वसामर्थ्यनान्तःकरणेनोपस्थाय तमेवोपगतो भूत्वा विदित्वा चाभिसंविवेश आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्य स एव मोक्षाख्यं सुखमनुभवतीति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(परीत्यभू०) जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा (परीत्यलोकान्) सूर्यादि सब लोकों में व्याप्त हो रहा है (परीत्य सर्वाः०) इसी प्रकार जो पूर्वादि सब दिशा और अग्नेयादि उपदिशाओं में भी नीरंतर भरपूर हो रहा है अर्थात् जिस की व्यापकता से एक अणु भी खाली नहीं है (अतस्या०) जो अपने भी सामर्थ्य का आत्मा है (प्रथमजां) और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ती करने वाला है उस आनन्द स्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य अर्थात् मन से यथावत् जानता है वही उस को प्राप्त होके (अभि०) सदा मोक्ष सुख को भोगता है ॥ ३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

महद्यत्वं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ॥ तस्मि-
च्छ्रयन्ते यउके च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परितः इवशाखाः ॥ ४ ॥ अथर्व०
कां० १० प्रपा० २३ अनु० ४ मं० ३८ ॥ (महद्यत्वं) यन्महत्सर्वेभ्यो महतरं
यत्नं सर्वमनुष्यैः पूज्यं (भुवनस्य) सर्वसंसारस्य (मध्ये) परिपूर्णं (तपसि
क्रान्तं) विज्ञाने वृद्धं (सलिलस्य) अन्तरिक्षस्य कारणरूपेण कार्यस्य प्रल-
यानन्तरं (पृष्ठे) पश्चात् स्थितमस्ति तदेव ब्रह्मविज्ञेयम् (तस्मिच्छ्रय०)
तस्मिन्ब्रह्मणि ये केचापि देवास्तद्यस्तिंशद्वस्वादयस्ते सर्वे तदाधारेणैव
तिष्ठन्ति । कस्य का इव (वृक्षस्य स्कन्धः०) वृक्षस्य स्कन्धे परितः सर्वतो-
लम्भाः शाखा इव ॥

॥ भाषार्थ ॥

(महद्यत्वं०) ब्रह्म जो महत् अर्थात् सब से बड़ा और सब का
पूज्य है (भुवनस्य म०) जो सब लोकों के बीच में विराजमान और उपासना
करने के योग्य है (तपसि क्रान्तं) जो विज्ञानादि गुणों में सब से बड़ा है
(सलिलस्य पृष्ठे) सलिल जो अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश है उस का भी आधार
और उस में व्यापक तथा जगत् के प्रलय के पीछे भी नित्य निर्विकार रहने
वाला है (तस्मिच्छ्रयन्ते यउके च देवाः) जिस के आश्रय से वसु आदि पूर्वाक्त
तेतीस देव ठहर रहे हैं (वृक्षस्य स्कन्धः परितः इव शाखाः) जैसे कि पृथिवी
में वृक्ष का प्रथम अंकुर निकल के और वही स्थूल होके सब डालियों का आ-
धार होता है इसी प्रकार सब ब्राह्मण्ड का आधार वही एक परमेश्वर है ॥

॥ भाष्यम् ॥

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थोनाप्युच्यते ॥ ३ ॥ न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो
नाप्युच्यते ॥ ७ ॥ नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ ८ ॥ तस्मिन्निर्गतं सहः
स एष एकं एकं वृदेकं एव ॥ ९ ॥ सर्वे अस्मिन् देवा एकवृत्तो भवन्ति ॥ १० ॥
अथर्व० कां० १३ अनु० ४ मं० १६ । १७ । १८ । २० । २१ । ॥ (न द्वितीय०)
एतैर्मन्त्रैरिदं विज्ञायते परमेश्वर एक एवास्तीति । नैवातो भिन्नः कश्चिदपि
द्वितीयः तृतीयः चतुर्थः । ६ । पंचमः षष्ठः सप्तमः । ७ । अष्टमो नवमो
दशमश्चेश्वरो विद्यते । ८ । यतो नवभिर्नकारैर्द्वित्वसंख्यामारभ्य शून्यप-
र्यन्ते नैकमीश्वरं विधायास्माद्विज्ञेश्वरभावस्यातिशयतया निषेधो वेदेषु
कृतो ऽस्यतो द्वितीयस्योपासनमत्यन्तं निषिध्यते । सर्वानन्तर्यामितया
प्राप्यः सन् जडं चेतनं च द्विविधं सर्वं जगत् स एव पश्यति नास्य कश्चिद्दु-

ग्रास्ति । न चायं कस्यापि दृश्यो भवितुमर्हति । येनेदं जगद्वापि तमेव परमेश्वरमिदं सकलं जगदपि (निगतं) निश्चितं प्राप्नोमस्ति । व्यापकाद्याप्यस्य संयोगसंबन्धत्वात् । (सहः) यतः सर्वं सहते तस्मात्स । एवैष सहोस्ति । स खल्वेक एव वर्तते । न कश्चिद्द्वितीयस्तदधिकस्तत्तुल्योवास्ति । एकशब्दस्य चिरग्रहणात् । अतः सजातीय विजातीय स्वगतभेदराहित्यमीश्वरे वर्तत एव द्वितीयेश्वरस्यात्यन्तनिषेधात् । कस्मादेक वृदेक एवेत्युक्तत्वात् स एष एक एकवृत् । एकेन चेतनमात्रेण वस्तु नैव वर्तते । पुनरेक एवासहायः सन् यद्वदं सकलं जगद्वचयित्वा धारयतीत्यादिविशेषणयुक्तोस्ति । तस्य सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥ ६ ॥ अस्मिन्सर्वशक्तिमति परमात्मनि सर्वदेवाः पूर्वोक्ता वस्वादय एकवृत् एकाधिकरणा एव भवन्त्यर्थात्प्रलयानन्तरमपि तत्सामर्थ्यं प्राप्यैक कारणवृत्तयो भवन्ति । एवंविधाश्चान्येपि ब्रह्मविद्याप्रतिपादकाः सपर्यगाच्छुक्रमकायमित्यादयो मन्त्रा वेदेषु बहवः सन्ति । ग्रन्थाधिक्यमभिया नात्र लिख्यन्ते । किंतु यत्र यत्र वेदेषु ते मन्त्राः सन्ति । ततद्वाप्यकरणावसरे तत्र तत्रार्थानुदाहरिष्याम इति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(न द्वितीयो न०) इन सब मंत्रों से यह निश्चय होता है कि परमेश्वर एक ही है उससे भिन्न कोई न दूसरा न तीसरा और न कोई चौथा परमेश्वर है ॥ ६ ॥ (न पंचमो न०) न पांचवा न छःठा और न कोई सातवा ईश्वर है ॥ ७ ॥ (नाष्टमो न०) न आठवा न नवमा और न कोई दशमा ईश्वर है ॥ ८ ॥ (तमिदं०) किंतु वह सदा एक अद्वितीय ही है उससे भिन्न दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं । इन मंत्रों में जो दो से लेकर दश पर्यंत अन्य ईश्वर होने का निषेध किया है सो इस अभिप्राय से है कि सब संख्या का मूल एक (१) अंक ही है इसी को दो तीन चार पांच छः सात आठ और नव बार गणने से २ । ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । और ९ नव अंक बनते हैं और एक पर शून्य देने से १० दश का अंक होता है उन से एक ईश्वर का निश्चय करा के वेदों में दूसरे ईश्वर के होने का सर्वथा निषेध ही लिखा है अर्थात् उस के एकपने में भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं किंतु जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त एकरस परमात्मा है वही सदा से सब जगत् में परिपूर्ण होके पृथिवी आदि सब लोकों को रच के अपने सामर्थ्य से धारण कर रहा है तथा वह अपने काम में किसी का सहाय नहीं लेता क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है ॥ ९ ॥ (सर्व अस्मिन्०) उसी परमात्मा के सामर्थ्य में वसु आदि सब देव अर्थात् पृथिवी आदि लोक ठहर रहे हैं और प्रलय में भी उस के

सामर्थ्य में लय हो के उसी में बने रहते हैं इस प्रकार के मंत्र वेदों में बहुत हैं यहां उन सब के लिखने की कुछ आवश्यकता नहीं क्योंकि जहां २ वे मंत्र आवेंगे वहां २ उन का अर्थ कर दिया जायगा ॥

॥ इति ब्रह्मविद्याविषयविचारः ॥

॥ अथ वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः प्रकाशयते ॥

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ॥ देवाभागं
यथा पूर्वं संजानाना उपासते ॥ १ ॥ ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४९
मं० २ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(संगच्छध्वं०) ईश्वरो भिषदति हे मनुष्या मयोक्तं न्याय्यं पक्षपा-
तरहितं सत्यलक्षणोज्ज्वलं धर्मं यूयं संगच्छध्वं सम्यक् प्राप्तुं अर्थात्
तत्प्राप्त्यर्थं सर्वं विरोधं विहाय परस्परं संगता भवत येन युष्माकमुनमं सुखं
सर्वदा वर्धेत सर्वदुःखनाशश्च भवेत् (संवद०) संगताभूत्वा परस्परं जल्प-
वितंडादि विरुद्धवादं विहाय संप्रीत्या प्रश्नोत्तरविधानेन संवादं कुरुत
यतो युष्मासु सम्यक्सत्यविद्याद्युत्तमगुणाः सदा वर्धेरन् (संवो मनांसि
जानताम्) यूयं जानन्तो विज्ञानवन्तो भवत जानतां वो युष्माकं मनांसि
यथा ज्ञानवन्ति भवेयुस्तथा सम्यक् पुरुषार्थं कुरुतार्थाद्येन युष्मन्मनांसि
सदानन्दयुक्तानि स्युस्तथा प्रयतध्वम् । युष्माभिर्धर्मं एव सेवनीयो नाध-
र्मश्चेत्यत्र दृष्टान्त उच्यते (देवाभागं यथा०) यथा पूर्वं संजानाना ये स-
म्यग्ज्ञानवन्तो देवा विद्वांस आपाः पक्षपातरहिता ईश्वरधर्मोपदेशप्रिया-
श्चासन् युष्मत्पूर्वं विद्यामधीत्य वर्तन्ते किंवा ये मृतास्ते यथा भागं
भजनीयं सर्वशक्तिमदादिलक्षणमीश्वरं मदुक्तं धर्मं चोपासते । तथैव युष्मा-
भिरपि स एव धर्म उपासनीयो यतो वेदप्रतिपाद्यो धर्मो निश्शङ्कत या
विदितश्च भवेत् ॥ १ ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है,
(संगच्छध्वं) देवो परमेश्वर हम सभी के लिये धर्म का उपदेश करता है कि
हे मनुष्य लोगो जो पक्षपात रहित न्याय सत्याचरण से युक्त धर्म है तुम लोग
उसी को ग्रहण करो उससे विपरीत कभी मत चलो किंतु उसी की प्राप्ति के
लिये विरोध को छोड़ के परस्पर संमति में रहो जिस से तुम्हारा उत्तम सुख

सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुःख न हो (संवदध्वं) तुम लोग विरुद्ध वाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना पढ़ाना प्रश्न उत्तर सहित संवाद करो जिस से तुम्हारी सत्यविद्या नित्य बढ़ती रहे (संवे मनांसि जानताम्) तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो जिस से तुम्हारा मन प्रकाशयुक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे जिस से तुम लोग जानी होके नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये अधर्म का नहीं (देवाभागं य०) जैसे पक्षपात रहित धर्मात्मा विद्वान् लोग वेद रीत से सत्यधर्म का आचरण करते हैं उसी प्रकार से तुम भी करो क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा और तीसरा परमेश्वर की कही वेदविद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है अन्यथा नहीं ॥ १ ॥

समानोमन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमे-
षाम् ॥ समानं मन्त्रंमभिमन्त्रयेवः समानेनैवा हविषा जुहोमि ॥ २ ॥
ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४८ । मं० ३ ।

॥ भाष्यम् ॥

(समानोमन्त्रः०) हे मानवा वो युष्माकं मंत्रो ऽर्थात्मासीश्वरमा-
रभ्य पृथिवीपर्यन्तानां गुप्रप्रसिद्धमामर्थ्यगुणानां पदार्थानां भाषणमुपदेशनं
ज्ञानं वा भवति यस्मिन् येन वा समंत्रो विचारो भवितुमर्हति । यद्यथा ।
राज्ञो मंत्रो सत्यासत्यविवेककर्तृत्यर्थः सोऽपि सत्यज्ञानफलः सर्वोपकारकः
समानस्तुल्यो ऽर्थाद्विरोधरहितएव भवतु । यदा बहुभिर्मनुष्यैर्मिलित्वा
संदिग्धपदार्थानां विचारः कर्तव्यो भवेत्तदा प्रथमतः पृथक् पृथगपि सभा-
सदां मतानि भवेयुस्तत्रापि सर्वेभ्यः सारं गृहीत्वा यदात्सर्वमनुष्यहित-
कारकं सद्गुणलक्षणान्वितं मतं स्यात्तत्सर्वं ज्ञात्वैकत्र कृत्वा नित्यं समाच-
रत । यतः प्रतिदिनं सर्वेषां मनुष्याणामुत्तरोत्तरमुत्तमं सुखं वर्धेत । तथा
(समितिः समानी) समितिः सामाजिकनियमव्यवस्थार्थाद्यान्यायप्रचाराद्या
सर्वमनुष्याणां मान्यज्ञानप्रदा ब्रह्मचर्यविद्याभ्यासशुभगुणसाधिका शिष्टस-
भया राज्यप्रबंधाद्याल्हादिता परमार्थव्यवहारशोधिका बुद्धिशरीरबलारो-
ग्यवर्धनी शुभमर्यादापि समानी सर्वमनुष्यस्वतंत्रदानसुखवर्धनायैकरसैव
कार्येति (समानं मनः०) मनः संकल्पविकल्पात्मकं संकल्पोभिलाषेच्छे-
त्यादि विकल्पेऽप्रीतिर्द्वेषइत्यादि शुभगुणान्प्रति संकल्पः अशुभगुणान्प्रति

विकल्पश्च रक्षणीयः । एतद्धर्मकं युष्माकं मनः समानमन्योन्यमविरुद्ध-
स्वभावमेवास्तु । यद्विन्नं पूर्वपरानुभूतं स्मरणात्मकं धर्मेश्वरचिन्तनं तदपि
समानमर्थात्सर्वप्राणिनां दुःखनाशाय सुखवर्धनाय च स्वात्मवत्सम्यक् पुरु-
षार्थेनैव कार्यम् (सह) युष्माभिः परस्परस्य सुखोपकारायैव सर्वं सामर्थ्यं
योजनीयम् । (एषां०) येह्येषां सर्वजीवानां संगे स्वात्मवद्वर्तन्ते तादृशानां
परोपकारिणां परसुखदातृणामुपर्यहं कृपालुर्भूत्वा (आभिमन्त्रये वः) युष्मा-
न्पूर्वपरोक्तं धर्ममाज्ञापयामि । इत्थमेव सर्वः कर्तव्यमिति । येन युष्माकं
मध्येनैव कदाचित्सत्यनाशो ऽसत्यवृद्धिश्च भवेत् । (समानेन वो०) हवि-
र्दानं ग्रहणं च तदपि सत्येन धर्मेण युक्तमेव कार्यम् । तेन समानेनैव हवि-
षा वोयुष्मान् जुहोमि सत्यधर्मेण सहैवाहं सदा नियोजयामि । अतो मदुक्त
एव धर्मो मन्त्रव्यो नान्य इति ॥ २ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(समानो मंत्रः) हे मनुष्य लोगो जो तुम्हारा मंत्र अर्थात् सत्य असत्य
का विचार है वह समान हो उस में किसी प्रकार का विरोध न हो और
जब २ तुम लोग मिल के विचार करो तब २ सब के वचनों को अलग २ सुन
के जो २ धर्मयुक्त और जिस में सब का हित हो सो २ सब में से अलग
कर के उसी का प्रचार करो जिस से तुम सबों का बराबर सुख बढ़ता
जाय (समितिः समानी) और जिस में सब मनुष्यों का मान, ज्ञान, विद्या-
भ्यास, ब्रह्मचर्य आदि आश्रम, अच्छे २ काम, उत्तम मनुष्यों की सभा से राज्य
के प्रबंध का यथावत् करना, और जिस से बुद्धि, शरीर, बल, पराक्रम आदि
गुण बढ़ें तथा परमार्थ और व्यवहार शुद्ध हो ऐसी जो उत्तम मर्यादा है सो
भी तुम लोगों की एक ही प्रकार की हो जिस से तुम्हारे सब श्रेष्ठ काम
सिद्ध होते जायें (समानं मनः सह चित्तं) हे मनुष्य लोगो तुम्हारा मन भी
आपस में विरोध रहित अर्थात् सब प्राणियों के दुःख के नाश और सुख की
वृद्धि के लिये अपने आत्मा के समतुल्य पुरुषार्थवाला हो शुभ गुणों की प्राप्ति
की इच्छा को संकल्प और दुष्टगुणों के त्याग की इच्छा को विकल्प कहते हैं
जिस से जीवात्माये दोनों कर्म करता है उस का नाम मन है उस से सदा
पुरुषार्थ करो जिस से तुम्हारा धर्म सदा दृढ़ और अविरुद्ध हो तथा चित्त उस
को कहते हैं कि जिस से सब अर्थों का स्मरण अर्थात् पूर्वापर कर्मों का यथा-
वत् विचार हो वह भी तुम्हारा एकसा हो (सह) जो तुम्हारा मन और चित्त
हैं ये दोनों सब मनुष्यों के सुख ही के लिये प्रयत्न में रहें (एषां०) इस प्रकार
से जो मनुष्य सब का उपकार करने और सुख देनेवाले हैं मैं उन्हीं पर सदा
कृपा करता हूँ (समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः) अर्थात् मैं उन के लिये आशीर्वाद

और आज्ञा देता हूँ कि सब मनुष्य मेरी इस आज्ञा के अनुकूल चले जिनमे उन का सत्यधर्म बड़े और असत्य का नाश हो (समाने नवो हविषा जुहोमि) हे मनुष्य लोगो जब २ कोई पदार्थ किसी को दिया चाहे अथवा किसी मे ग्रहण किया चाहे तब २ धर्म मे युक्तही करो उस मे विरुद्ध व्यवहार को मत करो और यह बात निश्चय कर के जानलो कि मैं सत्य के साथ तुम्हारा और तुम्हारे साथ सत्य का संयोग करता हूँ इस लिये कि तुम लोग इसी को धर्म मान के सदा करते रहे। और इस से भिन्न को धर्म कभी मत मानो ॥ २ ॥

समानीव आकृतिः समाना हृदयानि वः ॥ समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहसति ॥ ऋ० अ० ८ अ० ८ व० ४८ मं ४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

अस्यायमभिप्रायः । हे मानवावो युष्माकं यत्सर्वं सामर्थ्यमस्ति तद्धर्मसंबन्धे परस्परमविरुद्धं कृत्वा सर्वैः सुखं सदा संवर्धनीयमिति । (समानीव०) आकृतिरध्यवसाय उत्साह आप्ररोतिर्वा सापि वो युष्माकं परस्परपकारकरणेन सर्वेषां जनानां सुखायैव भवतु । यथा मधुपदिष्टस्यास्य धर्मस्य विलोपो न स्यात्तथैव कार्यम् (समानाहृदयानि वः) वो युष्माकं हृदयान्यर्थान्मानसानि प्रेमप्रचुराणि कर्माणि निर्वैराय समानान्यविरुद्धान्येव सन्तु (समानमस्तु वो मनः) अत्र प्रमाणम् कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धा ऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपसृष्टो मनसा विजानाति । श० कां० १४ अ० ४ ॥ मनसा विविच्य पुनरनुष्ठातव्यम् । शुभगुणानामिच्छाकामः । तत्प्राप्यनुष्ठानेच्छासंकल्पः । पूर्वं संशयं कृत्वा पुनर्निश्चयकरणेच्छासंशयो विचिकित्सा । ईश्वर सत्यधर्मादिगुणानामुपर्य्यत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा । अनीश्वरवादाधर्माद्युपरिसर्वथाह्यनिश्चयोऽश्रद्धा । सुखदुःखप्राप्यापीश्वरधर्माद्युपरि सदैव निश्चयरक्षणं धृतिः । अशुभगुणानामाचरणं नैव कार्यमित्यधैर्यमधृतिः । सत्यधर्मानाचरणे ऽसत्याचरणे च मनसः संकोचो घृणा ह्रीः । शुभगुणान् शीघ्रं धारयेदिति धारणावती वृत्तिर्भीः । असत्याचरणादीश्वराज्ञाभंगात्पापाचरणादीश्वरो नः सर्वत्र पश्यतीत्यादि वृत्तिर्भीः । एतद्धर्मकं मनो वो युष्माकं समानं तुल्यमस्तु । (यथावः सुसहसति) हे मनुष्यावो युष्मकं यथा परस्परं सुसहायेन स्वसति सम्यक् सुखान्नतिः स्यात्तथा सर्वैः प्रयत्नो विधेयः ।

सर्वान् सुखिनो दृष्ट्वा चित्त आल्हादः कार्य्यः ॥ नैव कंचिदपि दुःखितं दृष्ट्वा
सुखं केनापि कर्तव्यम् । किंतु यथा सर्वे स्वतंचाः सुखिनः स्युस्तथैव सर्वे
कार्य्यमिति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(समानीव आकूतिः) ईश्वर इस मंत्र का प्रयोजन कहता है कि हे मनुष्य लोगो तुम्हारा जितना सामर्थ्य है उस को धर्म के साथ मिला के सब सुखों को सब दिन बढ़ाते रहो निश्चय उत्साह और धर्मात्माओं के आचरण को आकूति कहते हैं हे मनुष्य लोगो तुम्हारा सब पुरुषार्थ सब जीवों के सुख के लिये सदा हो जिस से मेरे कहे धर्म का कभी त्याग न हो और सदा वैसाही प्रयत्न करते रहो कि जिस से (समाना हृदयानि वः) तुम्हारे हृदय अर्थात् मन के सब व्यवहार आपस में सदा प्रेम सहित और विरोध से अलग रहें (समानमस्तु वो मनः) मनः शब्द का अनेक बार ग्रहण करने में यह प्रयोजन है कि जिस से मन के अनेक अर्थ जाने जायें (कामः) प्रथम विचारही कर के सब उत्तम व्यवहारों का आचरण करना और बुरों को छोड़ देना इस का नाम काम है (संकल्पः) जो सुख और विद्यादि शुभगुणों को प्राप्त होने के लिये प्रयत्न में अत्यंत पुरुषार्थ करने की इच्छा है उस को संकल्प कहते हैं (विचिकित्सा) जो २ काम करना हो उस २ को प्रथम शंका कर २ के ठीक निश्चय करने के लिये जो संदेह करना है उस का नाम विचिकित्सा है (श्रद्धा) जो ईश्वर और सत्यधर्म आदि शुभ गुणों में निश्चय से विश्वास को स्थिर रखना है उस को श्रद्धा जानना (अश्रद्धा) अर्थात् अविद्या कुतर्क बुरे काम करने ईश्वर को नहीं मानने और अन्याय आदि अशुभ गुणों से सब प्रकार से अलग रहने का नाम अश्रद्धा समझना चाहिये (धृतिः) जो सुख-दुःख हानि लाभ आदि के होने में भी अपने धीरज को नहीं छोड़ना उस का नाम धृति है (अधृति) बुरे कामों में दृढ़ न होने को अधृति कहते हैं (ह्रीः) अर्थात् जो झूठे आचरण करने और सच्चे कामों को नहीं करने में मनको लज्जित करना है उस को ह्री कहते हैं (धीः) जो श्रेष्ठ गुणों को शीघ्र धारण करने वाली वृत्ति है उस को धी कहते हैं (भीः) जो ईश्वर की आज्ञा अर्थात् सत्याचरण धर्म करना और उससे उलटे पाप के आचरण से नित्य डरते रहना अर्थात् ईश्वर हमारे सब कामों को सब प्रकार से देखता है ऐसा जान कर उस से सदा डरना कि जो मैं पाप करूंगा तो ईश्वर मुझ पर अप्रसन्न होगा इत्यादि गुणवाली वस्तु का नाम मन है इस को सब प्रकार से सब के सुख के लिये युक्त करो (यथा वः सुसहासति) हे मनुष्य लोगो जिस प्रकार अर्थात् पूर्वोक्त धर्म सेवन से तुम लोगों को उत्तम सुखों की बढ़ती हो और जिस श्रेष्ठ सहाय से आपस में एक से दूसरे को सुख बढ़े ऐसा काम सब

दिन करते रहो किसी को दुःखी देख के अपने मन में सुख मत मानो किंतु सब को सुखी करके अपने आत्मा को सुखी जानो जिस प्रकार से स्वाधीन होके सब लोग सदा सुखी रहें वैसाही यत्न करते रहो ॥ ३ ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः ॥ अश्रद्धामनृते
दधाच्छ्रद्धासत्ये प्रजापतिः ॥ ४ ॥ य० अ० १८ मं० ७७ ।

॥ भाष्यम् ॥

अस्यायम० (दृष्ट्वा०) प्रजापतिः परमेश्वरो धर्ममुपदिशति सर्वै-
र्मनुष्यैः सर्वथा सर्वदा सत्यगव सम्यक् श्रद्धा रक्षणीया ऽसत्ये चाश्रद्धेति ।
(प्रजापतिः) परमेश्वरः (सत्यानृते) धर्माधर्मौ (रूपे) प्रसिद्धा प्रसिद्धलक्षणौ
दृष्ट्वा (व्याकरोत्) सर्वज्ञया स्वया विद्यया विभक्तौ कृतवानस्ति । कथ-
मित्यवाह (अश्रद्धाम०) सर्वेषां मनुष्याणामनृते ऽसत्ये ऽधर्मे ऽन्याये
ऽश्रद्धामदधात् । अर्थादधर्मे ऽश्रद्धां कर्तुमाज्ञापयति । तथैव वेदशास्त्र-
प्रतिपादिते सत्ये प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः परीक्षिते पक्षपातरहिते न्याय्ये-
धर्मे प्रजापतिः सर्वज्ञ ईश्वरः श्रद्धां चादधात् एवं सर्वैर्मनुष्यैः परमप्रयत्नेन
स्वकीयचित्तं धर्मे प्रवृत्तमधर्मान्निवृत्तं च सदैव कार्यमिति ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(दृष्ट्वा०) इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि प्रजापति परमेश्वर जो
सब जगत् का स्वामी अर्थात् मालिक है वह सब मनुष्यों के लिये धर्म का
उपदेश करता है कि सब मनुष्यों को सब प्रकार से सब काल में सत्यमें ही
प्रीति करनी चाहिये असत्य में कभी नहीं (प्रजापतिः) सब जगत् का अध्यक्ष
जो ईश्वर है सो (सत्यानृते) सत्य जो धर्म और असत्य जो अधर्म है जिन
के प्रगट और गुप्त लक्षण हैं * (व्याकरोत्) उन को ईश्वर ने अपनी सर्वज्ञ
विद्या के ठीक २ विचार से देख के सत्य और झूठ को अलग २ किया है
सो इस प्रकार से हैं कि (अश्रद्धाम०) हे मनुष्य लोगो तुम सब दिन अनृत
अर्थात् झूठ अन्याय के करने में (अश्रद्धा) अर्थात् प्रीति कभी मत करो वैसाही
(श्रद्धास०) सत्य अर्थात् जो वेदशास्त्रोक्त और जिस की प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों
से परीक्षा की गई हो वाकी जाय वही पक्षपात से अलग न्याय रूप धर्म है
उस के आचरण में सब दिन प्रीति रखो और जो २ तुम लोगों के लिये मेरी
आज्ञा है उस २ में अपने आत्मा प्राण और मन को सब पुरुषार्थ तथा
कोमल स्वभाव से युक्त करके सदा सत्य ही में प्रवृत्त करो ॥ ४ ॥

• जितना धर्म अधर्म का लक्षण बाहर की चेष्टा के साथ संबंध रखता है वह प्रकट
और जितना आत्मा के साथ संबंध रखता है वह गुप्त कहाता है ॥

दृते दृष्टं मा मिचस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्ष-
न्ताम् ॥ मिचस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मिचस्य
चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ५ ॥ य० अ० ३६ मं० १८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(दृते दृष्टं०) अस्यायम० सर्वे मनुष्याः सर्वथा सर्वदा सर्वैः
सह सौहार्दोन्नेव वर्तैरन्निति । सर्वैरीश्वरोक्तोयं धर्मः स्वीकार्य ईश्वरः प्रार्थ-
नीयश्च यतो धर्मनिष्ठा स्यात् । तद्यथा हे दृते सर्वदुःखविनाशकेश्वर
मदुपरि कृपां विधेहि यतो ऽहं सत्यधर्मं यथावद्विजानीयाम् पक्षपातर-
हितस्य सुहृदश्चक्षुषा प्रेमभावेन सर्वाणि भूतानि (मा) मां सदा समीक्ष-
न्तामर्थान्मम मित्राणि भवन्तु । इतीच्छाविशिष्टं मां (दृष्टं) दृष्टं सत्य-
सुखैः शुभगुणैश्च सह सदा वर्धय (मिचस्याहं०) श्वमहमपि मिचस्य
चक्षुषा स्वात्मवत्प्रेमबुद्ध्या (सर्वाणि भूतानि समीक्षे) सम्यक् पश्यामि
(मिचस्य च०) इत्यमेव मिचस्य चक्षुषा निर्वैरा भूत्वा वयमन्योन्यं समी-
क्षामहे सुखसंपादनार्थं सदा वर्तामहे । इतीश्वरोपदिष्टो धर्मो हि सर्वैर्मनु-
ष्यैरेकैव मन्तव्यः ॥ ५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(दृते दृष्टं०) इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि सब मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेमभाव से सब दिन वर्त्ते और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है उसी को ग्रहण करें और वेदोक्ति से ही ईश्वर की उपासना करें कि जिससे मनुष्यों का धर्म में ही प्रवृत्ति हो (दृते०) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेम भाव से वर्त्ते (मिचस्य मा०) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जान के बंधु के समान वर्त्ते ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृष्टं) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये (मिचस्याहं०) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि लाभ सुख और दुःख में अपने आत्मा के सम तुल्य ही सब जीवों को मानूं (मिचस्य च०) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्रभाव रखें और सत्यधर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है ॥ ५ ॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छक्यं तन्मे राध्यताम् । इदमहमनुतात्सत्यमुपैमि ॥ ६ ॥ य० अ० १ मं० ५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्ने व्र०) अस्याभिप्रा० सर्वैर्मनुष्यैरीश्वरस्य सहायेच्छा सदा कार्येति ॥ नैव तस्य सहायेन विना सत्यधर्मज्ञानं तस्यानुष्ठानपूर्तिश्च भवतः । हे अग्ने व्रतपते सत्यपते (व्रतं) सत्यधर्मं चरिष्याम्यनुष्ठास्यामि । अत्र प्रमाणम् ॥ सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः । एतदुवै देवाव्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । श० कां० १ अ० १ ॥ सत्याचरणाद्देवा असत्याचरणान्मनुष्याश्च भवन्ति । अतः सत्याचरणमेव धर्ममाहुरिति (तच्छक्यम्) यथा तत्सत्याचरणं धर्मं कर्तुमहं शक्यं समर्थो भवेयम् (तन्मे राध्यताम्) तत्सत्यधर्मानुष्ठानं मे मम भवता राध्यतां कृपया सम्यक् सिद्धं क्रियताम् । किंच तद्व्रतमित्यत्राह (इदमहमनुतात्सत्यमुपै०) यत्सत्यधर्मस्यैवाचरणमनुतादसत्याचरणादधर्मात्पृथग्भूतं तदेवोपैमि प्राप्नोमीति । अस्यैव धर्मस्यानुष्ठानमीश्वरप्रार्थनया स्वपुरुषार्थेन च कर्तव्यम् । नापुरुषार्थिनं मनुष्यमीश्वरोनुगृह्णाति । यथा चक्षुष्मन्तं दर्शयति नान्धं च । एवमेव धर्मं कर्तुमिच्छन्तं पुरुषार्थकारिणमीश्वरानुग्रहाभिलाषिणं प्रत्येवेश्वरः कृपालुर्भवति नान्धं प्रतिचेति कुतः । जीवे तत् सिद्धिं कर्तुं साधनानामीश्वरेण पूर्वमेव रक्षितत्वात् तदुपयोगाकरणाच्च । येन पदार्थेन यावानुपकारो गृहीतुं शक्यस्तावान्स्वेनैव गृहीतव्यस्तदुपरीश्वरानुग्रहेच्छा कार्येति ॥ ६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्ने व्र०) इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि मन्त्र मनुष्य लोग ईश्वर के सहाय की इच्छा करें क्योंकि उस के सहाय के विना धर्म का पूर्ण ज्ञान और उस का अनुष्ठान पूरा कभी नहीं हो सकता है सत्यपते परमेश्वर (व्रतं) मैं जिस सत्यधर्म का अनुष्ठान किया चाहता हूँ उस की सिद्धि आप की कृपा से ही हो सकती है इसी मंत्र का अर्थ शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि जो मनुष्य सत्य के आचरण रूप व्रत को करते हैं वे देव कहते हैं और जो असत्य का आचरण करते हैं उन को मनुष्य कहते हैं इससे मैं उस सत्यव्रत का आचरण किया चाहता हूँ (तच्छक्यं) मुझ पर आप ऐसी कृपा कीजिये कि जिस से मैं सत्यधर्म का अनुष्ठान पूरा कर सकूँ (तन्मे राध्यतां) उस अनुष्ठान को सिद्धि करने वाले एक आप ही हो सो कृपा से सत्यरूप धर्म के अनुष्ठान को सदा के लिये सिद्ध कीजिये (इदमहमनुतात्सत्यमुपैमि) सो यह व्रत है कि

जिस को मैं निश्चय से चाहता हूँ उन सब असत्य कामों से छूट के सत्य के आचरण करने में सदा दृढ़ रहूँ परंतु मनुष्य को यह करना उचित है कि ईश्वर ने मनुष्यों में जितना सामर्थ्य रखा है उतना पुरुषार्थ अवश्य करें उस के उपरान्त ईश्वर के सहाय की इच्छा करनी चाहिये क्योंकि मनुष्यों में सामर्थ्य रखने का ईश्वर का यही प्रयोजन है कि मनुष्यों को अपने पुरुषार्थ से ही सत्य का आचरण अवश्य करना चाहिये जैसे कोई मनुष्य आख वाले पुरुष को ही किसी चीज को दिखला सकता है अन्ये को नहीं इसी रीति से जो मनुष्य सत्य-भाव पुरुषार्थ से धर्म को किया चाहता है उस पर ईश्वर भी कृपा करता है अन्य पर नहीं क्योंकि ईश्वर ने धर्म करने के लिये बुद्धि आदि बटने के साधन जीव के साथ रखे हैं जब जीव उन से पूर्ण पुरुषार्थ करता है तब परमेश्वर भी अपने सब सामर्थ्य से उस पर कृपा करता है अन्य पर नहीं क्योंकि सब जीव कर्म करने में स्वाधीन और पापों के फल भोगने में कुछ पराधीन भी हैं ॥ ६ ॥

व्रतेन दीक्षा माप्नोति दीक्षया प्रोति दक्षिणाम् ॥ दक्षिणा
श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ७ ॥ य० अ० १८ मं० ३० ।

॥ भाष्यम् ॥

(व्रतेन दी०) अस्या० यदा मनुष्यो धर्मं जिज्ञासते सत्यं चिकीर्षति तदैव सत्यं विजानाति तत्रैव मनुष्यैः श्रद्धेयम् । नासत्येचेति । यो मनुष्यः सत्यं व्रतमाचरति । तदा दीक्षामुत्तमाधिकारं प्राप्नोति । (दीक्षया प्राति द०) यदा दीक्षितः सन्नतमगुणैरुत्तमाधिकारी भवति तदा सर्वतः सत्कृतः फलवान् भवति सास्य दक्षिणा भवति तां दीक्षया शुभगुणाचरणेनैवाप्नोति (दक्षिणा श्र०) सा दक्षिणा यदा ब्रह्मवर्यादिसत्यव्रतैः सत्काराद्या स्वस्यान्येषां च भवति तदाचरणे श्रद्धां दृढं विश्वासमुत्पादयति । कुतः । सत्याचरणमेव सत्कारकारकमस्त्यतः । (श्रद्धया०) यदेतरोत्तरं श्रद्धा वर्धते तदा तथा श्रद्धया मनुष्यैः परमेश्वरो मोक्षधर्मादिकं चाप्यते प्राप्यते नान्येति । अतः किमागतं सत्यप्राप्त्यर्थं सर्वदा श्रद्धोत्साहादिपुरुषार्थो वर्धयितव्यः ॥ ८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(व्रतेन दी०) इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य धर्म को जानने की इच्छा करता है तभी सत्य को जानता है उसी सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिये असत्य में कभी नहीं (व्रतेन०) जो मनुष्य सत्य के आचरण को दृढ़ता से करता है तब वह दीक्षा अर्थात् उत्तम अधिकार के

फल को प्राप्त होता है (दीक्षया प्राप्तिः) जब मनुष्य उत्तम गुणों से युक्त होता है तब सब लोग सब प्रकार से उस का सत्कार करते हैं क्योंकि धर्म आदि शुभगुणों सेही उस दक्षिणा को मनुष्य प्राप्त होता है अन्यथा नहीं (दक्षिणा श्र०) जब ब्रह्मचर्य आदि सत्य व्रतों से अपना और दूसरे मनुष्यों का अत्यंत सत्कार होता है तब उसी में दृढ विश्वास होता है क्योंकि सत्यधर्म का आचरणही मनुष्यों का सत्कार कराने वाला है (श्रुत्या०) फिर सत्य के आचरण में जितनी २ अधिक श्रद्धा बढ़ती जाती है उतना २ ही मनुष्य लोग व्यवहार और परमार्थ के सुख को प्राप्त होते जाते हैं अधर्माचरण में नहीं इस से क्या सिद्ध हुआ कि सत्य की प्राप्ति के लिये सब दिन श्रद्धा और उत्साह आदि पुरुषार्थ को मनुष्य लोग बढ़ातेही जायें जिस से सत्यधर्म की यथावत् प्राप्ति हो ॥ ८ ॥

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तकृतेऽश्रिता ॥ ९ ॥ सत्ये-
नाश्रिता श्रिया प्राश्रिता यशसा परीक्षिता ॥ १० ॥ अथर्व० कां० १२
अनु० ५ मं० १ । २ ।

॥ भाष्यम् ॥

(श्रमेण तपसा०) अभिप्रा० श्रमेणेत्यादिमंत्रेषु धर्मस्य लक्षणानि प्रकाशयन्ति इति । श्रमः प्रयत्नः पुरुषार्थ उद्यम इत्यादि । तपो धर्मानुष्ठानं तेन श्रमेणैव तपसा च सहेश्वरेण सर्वे मनुष्याः सृष्टा रचिताः । अतः (ब्रह्मणा) वेदेन परमेश्वरज्ञानेन च युक्ताः सन्तो ज्ञानिनः स्युः (कृते-
श्रिता०) कृते ब्रह्मणि पुरुषार्थे चाश्रिता कृतं सेवमानाश्च सदैव भवन्तु ॥ ९ ॥
(सत्येनावृ०) वेदशास्त्रेण प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैश्च परीक्षितेनाव्यभिचारिणा सत्येनावृता युक्ताः सर्वे मनुष्याः सन्तु । (श्रिया प्रावृ०) श्रिया शुभगुणाचरणे ज्वलया चक्रवर्तिराज्यसेवमानाया प्रकृष्टया लक्ष्म्याऽऽवृता युक्ताः परमप्रयत्नेन भवन्तु (यशसा०) उत्कृष्ट गुणग्रहणं सत्याचरणं यशस्तेन परितः सर्वतोवृता युक्ताः सन्तः प्रकाशयितारश्च स्युः ॥ १० ॥

॥ भाषार्थ ॥

(श्रमेण तपसा०) इन मंत्रों के अभिप्राय से यह सिद्ध होता है कि सब मनुष्यों को (श्रमेण०) इत्यादि धर्म के लक्षणों का ग्रहण अवश्य करना चाहिये क्योंकि ईश्वर ने (श्रम०) जो परम प्रयत्न का करना और (तपः) जो धर्म का आचरण करना है इसी धर्म से युक्त मनुष्यों को रचा है इस कारण से (ब्रह्मणा) ब्रह्म जो वेद विद्या और परमेश्वर के ज्ञान से युक्त होके सब मनुष्य

अपने २ ज्ञान को बढ़ावे (चतेश्रिता) सब मनुष्य चत जो ब्रह्म सत्य विद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभ गुणों का सेवन करें ॥ ८ ॥ (सत्येनावृता) सब मनुष्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्य की परीक्षा करके सत्य के आचरण से युक्त हों (श्रिया प्रावृता) हे मनुष्य लोगो तुम शुभ गुणों से प्रकाशित होके चक्रवर्ति राज्य आदि ऐश्वर्य्य को सिद्ध कर के अति श्रेष्ठ लक्ष्मी से युक्त होके शोभा रूप श्री को सिद्ध कर के उस को चारों ओर पहिन के शोभित हों (यशसा परी०) सब मनुष्यों को उत्तम गुणों का ग्रहण कर के सत्य के आचरण और यश अर्थात् उत्तम कीर्ति से युक्त होना चाहिये ॥ १० ॥

स्वधया परिचिता श्रद्धया पर्य्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ११ ॥ ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च ॥ १२ ॥ अथर्व० कां० १२ । अनु० पू मं० ३ । ७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(स्वधया परि०) परितः सर्वतः स्वकीयपदार्थशुभगुणधारणेनैव संतुष्य सर्वे मनुष्याः सर्वेभ्यो हितकारिणः स्युः (श्रद्धया प०) सत्यमेव विश्वासमूलमस्ति नासदिति तथा सत्यो परिदृढविश्वासरूपया श्रद्धया परितः सर्वत ऊढाः प्राप्नुवन्तः सन्तु (दीक्षया गुप्ता) सद्विराप्रैर्वद्विः कृतसत्योपदेशया दीक्षया गुप्ता रक्षिताः सर्वमनुष्याणां रक्षितारश्च स्युः (यज्ञे प्रतिष्ठिताः) (यज्ञो वै विष्णुः) व्यापके परमेश्वरे सर्वोपकारके ऽश्वमेधादौ शिल्पविद्याक्रिया कुशलत्वे च प्रतिष्ठिताः प्राप्नुवन्ति श्च भवन्तु (लोको निधनम्) अयं लोकः सर्वेषां मनुष्याणां निधनं यावन्मृत्युर्न भवेत्तावत्सर्वोपकारकं सत्कर्मनुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्तीति सर्वैर्मन्तव्यमितीश्वरोपदेशः ॥ ११ ॥ अन्यच्च । (ओजश्च) न्यायपालनान्वितः पराक्रमः (तेजश्च) प्रगल्भता धृष्टता निर्भयता निर्दोषता सत्ये व्यवहारे कर्तव्या (सहश्च) सुखदुःखहानिलाभादिक्रेशप्रदवर्तमानप्राप्तावपि हर्षशोकाकरणं तन्निवारणार्थं परमप्रयत्नानुष्ठानं च सहनं सर्वैः सदा कर्तव्यम् (बलं च) ब्रह्मचर्यादिसुनियमाचरणे न शरीरबुद्ध्यादिरोगनिराकरणं दृढाङ्गतानिश्चलबुद्धित्वसंपादनं भीषणादिकर्मयुक्तं बलं च कार्य्यमिति (वाक् च) विद्या शिक्षा सत्यमधुरभाषणादि शुभगुणयुक्ता वाणी कार्य्येति (चेन्द्रियं च) मन आदीनि वागभिन्नानि षड् चानेन्द्रियाणि वाक् चेति कर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणैः कर्मेन्द्रियाणि च सत्यधर्माचरणयुक्तानि पापाद्वातिरिक्तानि च सदैव रक्षणीयानि

(श्रीश्च) सम्राट् राजाश्रीः परमपुरुषार्थेन कार्य्येति (धर्मश्च) अयमेव वेदोक्तो न्याय्यः पक्षपातरहितः सत्याचरणयुक्तः सर्वोपकारकश्च धर्मः सदैव सर्वैः सेवनीयः । अस्यैवेयं पूर्वापरा सर्वा व्याख्यास्तीति बोध्यम् ॥ १२ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(स्वधया परिहिता) सब प्रकार से मनुष्य लोग स्वधा अर्थात् अपनेही पदार्थों का धारण करें इस अमृत रूप व्यवहार से सदा युक्त हों (अद्वया पर्यूढा) सब मनुष्य सत्य व्यवहार पर अत्यंत विश्वास को प्राप्त हों क्योंकि जो सत्य है वही विश्वास का मूल, तथा सत्य का आचरणही उस का फल, और स्वरूप है, असत्य कभी नहीं (दीक्षया गुप्ता) विद्वानों की सत्य शिखा से रक्षा को प्राप्त हो और मनुष्य आदि प्राणियों की रक्षा में परम पुरुषार्थ करो (यज्ञे प्रतिष्ठिता) यज्ञ जो सब में व्यापक अर्थात् परमेश्वर अथवा सब संसार का उपकार करने वाला अश्वमेधादि यज्ञ अथवा जो शिल्प विद्या सिद्ध कर के उपकार लेना जो यज्ञ है इस तीन प्रकार के यज्ञ में सब मनुष्य यथावत् प्रवृत्ति करें (लोकोनि०) जब तक तुम लोग जीते रहो तब तक सदा सत्य कर्म मेंही पुरुषार्थ करते रहो किंतु इस में आलस्य कभी मत करो ईश्वर का यह उपदेश सब मनुष्यों के लिये है ॥ ११ ॥ (ओजश्च) धर्म के पालन से युक्त जो पराक्रम (तेजश्च) प्रगल्भता अर्थात् भय रहित होके दीनता से दूर रहना (सहश्च) सुख दुःख हानि लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़ के सत्यधर्म में दृढ़ रहना दुःख का निवारण और सहन करना (बलं च) ब्रह्मचर्य्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना (वाक् च) सत्य विद्या की शिखा सत्य मधुर अर्थात् कोमल प्रिय भाषण का करना (इंद्रियं च) जो मन पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय हैं उनको पापकर्मों से रोक के सदा सत्य पुरुषार्थ में प्रवृत्त रखना (श्रीश्च) चक्रवर्त्ति राज्य की सामग्री को सिद्ध करना (धर्मश्च) जो वेदोक्त न्याय से युक्त हो के पक्षपात को छोड़ के सत्यही का सदा आचरण और असत्य का त्याग करना है तथा जो सब का उपकार करने वाला और जिस का फल इस जन्म और परजन्म में आनन्द है उसी को धर्म और उस से उलटा करने को अधर्म कहते हैं उसी धर्म की यह सब व्याख्या है कि जो (संगच्छध्वं०) इस मंत्र से लेके (यतोभ्युदय०) इस सूत्र तक जितने धर्म के लक्षण लिखे हैं वे सब लक्षण मनुष्यों को ग्रहण करने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

ब्रह्मं च ज्ञानं च राष्ट्रं च विश्वं त्विषिं यशं वर्चं
द्रविणं च ॥ १३ ॥ आयुं रूपं च नामं च कीर्तिं प्राणं पानं
चक्षुं श्रोत्रं च ॥ १४ ॥ परं रसं चान्नं चान्नाद्यं च कृतं च

सत्यं चेष्टं च पूर्त्तं च प्रजा च पशवंश्च ॥ १५ ॥ अर्थर्व० कां० १२
अनु० ५ मं० ८ । ८ । १० ।

॥ भाष्यम् ॥

इत्याद्यनेकमंत्रप्रमाणैर्धर्मोपदेशो वेदेष्वीश्वरेणैव सर्वमनुष्ठायार्थमुप-
दिष्टोऽस्ति (ब्रह्म च) ब्राह्मणोपलक्षणं सर्वोत्तमविद्यागुणकर्मवत्त्वं सद्गुण-
प्रचारकरणत्वं च ब्राह्मणलक्षणं तच्च सदैव वर्धयितव्यम् (त्वं च)
क्षत्रियोपलक्षणं विद्याचातुर्य्यशौर्य्यधैर्य्यवीर्य्यपुरुषान्वितं च सदैवोन्नेयम्
(राष्ट्रं च) सत्पुरुषसभयासुनियमैः सर्वसुखाढ्यं शुभगुणान्वितं च राज्यं
सदैव कार्य्यम् (विशश्च) वैश्यादि प्रजानां व्यापारादिकारिणां भूगोलेह्य-
व्याहतगतिसंपादनेन व्यापाराद्धनवृद्ध्यर्थं संरक्षणं च कार्य्यम् (त्विषिश्च)
दीपिः शुभगुणानां प्रकाशः सत्यगुणकामना च शुद्धा प्रचारणीयेति (यशश्च)
धर्मान्वितानुत्तमा कीर्तिः संस्थापनीया (वर्चश्च) सद्विद्याप्रचारं सम्यग-
ध्ययनाध्यापनप्रबन्धं कर्म सदा कार्य्यम् (द्रविणं च) अप्राप्तस्य पदार्थस्य
न्यायेन प्राप्तीच्छा कार्य्या प्राप्स्य संरक्षणं रक्षितस्य वृद्धिर्वृद्धस्य सत्कर्मसु-
व्ययश्च योजनीयः । एतच्चतुर्विधपुरुषार्थेन धनधान्योन्नति सुखे सदैव
कार्य्ये ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य्यादिरक्षणेन भोजनाच्छादनादिसुनियमेन
ब्रह्मचर्य्यसुसेवनेनायुर्वलं कार्य्यम् (रूपं च) निरंतरविषयसेवनेन सदैव
सौन्दर्य्यादिगुणयुक्तं स्वरूपं रक्षणीयम् (नाम च) सत्कर्मानुष्ठानेन नाम
प्रसिद्धिः कार्य्या यतोऽन्यस्यापि सत्कर्मसूत्साहवृद्धिः स्यात् (कीर्तिश्च)
सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानामुपदेशार्थं कीर्तनं स्वसत्कीर्तिमत्त्वं च सदैव
कार्य्यम् (प्राणश्चापानश्च) प्राणायामरीत्या प्राणायानयोः शुद्धिबले कार्य्ये ।
शरीराद्वाह्यदेशं यो वायुर्गच्छति स प्राणः । बाह्याद्वेशाच्छरीरं प्रविशति
स वायुरपानः । शुद्धदेशनिवासादिनैः योः प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां बुद्धिशा-
रीरबलं च संपादनीयम् (चक्षुश्च श्रोत्रं च) चाक्षुषं प्रत्यक्षं श्रोत्रं शब्दजन्यं
चादनुमानादीन्यपि प्रमाणानि यथावद्वेदितव्यानि तैः सत्यं विज्ञानं च
सर्वथा कार्य्यम् ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) पयोजलादिकं रसो दुग्धघृता-
दिश्चेतौ वेद्यकरीत्या सम्यक् शोधयित्वा भोक्तव्यौ (अन्नं चान्नाद्यं च)
अन्नमोदनादिकमन्नाद्यं भोक्तुमर्हं शुद्धं संस्कृतमन्नं संपाद्यैव भोक्तव्यम्
(ऋतं च सत्यं च) ऋतं ब्रह्म सर्वदेवोपासनीयं सत्यं प्रत्यक्षादिभिः
प्रमाणैः परीक्षितं यादृशं स्वात्मन्यस्ति तादृशं सदा सत्यमेव वक्तव्यम् ।

मन्तव्यं च । (इष्टं च पूर्तं च) इष्टं ब्रह्मोपासनं सर्वोपकारकं यज्ञानुष्ठानं च पूर्तं तु यत्पूज्यार्थं मनसा वाचा कर्मणा सम्यक् पुरुषार्थेनैव सर्ववस्तुसंभारैश्चोभयानुष्ठानपूर्तिः कार्य्येति (प्रजा च पशवश्च) प्रजामंतानादिकाराज्यं च सुशिक्षा विद्या सुखान्विता हस्त्यश्वाद्यः पशवश्च सम्यक् शिक्षान्विताः कार्य्याः । बहुभिश्चकारैरन्येपि शुभगुणा अत्र ग्राह्याः ॥ १५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(ब्रह्म च) सब से उत्तम विद्या और श्रेष्ठ कर्म करने वालों को ही ब्राह्मण वर्ण का अधिकार देना उन से विद्या का प्रचार कराना और उन लोगों को भी चाहिये कि विद्या के प्रचार में ही मदा तत्पर रहें (तत्र च) अर्थात् सब कामों में चतुरता शूरवीर पन धीरज वीर पुरुषों से युक्त सेना का रखना दुष्टों को दंड देना और श्रेष्ठों का पालन करना इत्यादि गुणों के बढ़ाने वाले पुरुषों को क्षत्रिय वर्ण का अधिकार देना (राष्ट्रं च) श्रेष्ठ पुरुषों की सभा के अच्छे नियमों से राज्य को सब सुखों से युक्त करना और उत्तम गुणसहित होके सब कामों को मदा सिद्ध करना चाहिये (विश्वश्च) वैश्य आदि वर्णों का व्यापारादि व्यवहारों में भूगोल के बीच में जाने आने का प्रबंध करना और उनकी अच्छी रीति से रत्ता करनी अवश्य है जिस से धनादि पदार्थों को संसार में बढ़ती हो (त्विषश्च) सब मनुष्यों में सब दिन सत्य गुणोंही का प्रकाश करना चाहिये (यशश्च) उत्तम कामों से भूगोल में श्रेष्ठ कीर्ति को बढ़ाना उचित है (वर्चश्च) सत्यविद्याओं के प्रचार के लिये अनेक पाठशालाओं में पुत्र और कन्याओं का अच्छी रीति से पढ़ने पढ़ाने का प्रचार सदा बढ़ाते जाना चाहिये (द्रविणं च) सब मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त धर्म से अप्राप्त पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदा पुरुषार्थ करना, प्राप्त पदार्थों की रत्ता यथावत् करनी चाहिये रत्ता क्रिये पदार्थों की सदा बढ़ती करना, और सत्य विद्या के प्रचार आदि कामों में बड़े हुए धनादि पदार्थों का खर्च यथावत् करना चाहिये, इस चार प्रकार के पुरुषार्थ से धनधान्यादि को बढ़ाके सुख को सदा बढ़ाते जाओ ॥ १३ ॥ (आयुश्च) वीर्य आदि धातुओं की शुद्धि और रत्ता करना तथा युक्ति पूर्वक ही भोजन और वस्त्र आदि का जो धारण करना है इन अच्छे नियमों से उमर को सदा बढ़ाओ (रूपं च) अत्यंत विषय सेवा से पृथक् रह के और शुद्ध वस्त्र आदि धारण से शरीर का स्वरूप सदा उत्तम रखना (नाम च) उत्तम कर्मों के आचरण से नाम की प्रसिद्धि करनी चाहिये जिस से अन्य मनुष्यों का भी श्रेष्ठ कर्मों में उत्साह हो (कीर्तिश्च) श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये परमेश्वर के गुणों का श्रवण और उपदेश करते रहो जिस से तुम्हारा भी यश बढ़े (प्राणश्चापानश्च) जो वायु भीतर से बाहर आता है उस को

प्राण और जो बाहर से भीतर जाता है उस को अपान कहते हैं योगाभ्यास शुद्ध देश में निवास आदि और भीतर से बल करके प्राण को बाहर निकाल के रोकने से शरीर के रोगों को छुड़ा के बुद्धि आदि को बढ़ाओ (चतुश्च आत्रं च) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव, और अभाव, इन आठ प्रमाणों के विज्ञान से सत्य का नित्य शोधन करके ग्रहण किया करो ॥ १४ ॥ (पयश्च रसश्च) जो पय अर्थात् दूध जल आदि और जो रस अर्थात् शक्कर ओषधि और घी आदि हैं इन को वैद्यक शास्त्रों की रीति से यथावत् शोध के भोजन आदि करते रहे (अचं चाचात्रं च) वैद्यक शास्त्र की रीति से चावल आदि अन्न का यथावत् संस्कार करके भोजन करना चाहिये (अतं च सत्यं च) अत नाम जो ब्रह्म है उसी की सदा उपासना करनी जैसा हृदय में ज्ञान हो सदा वैमाही भाषण करना और सत्य कोही मानना चाहिये (इष्टं च पूर्त्तं च) इष्ट जो ब्रह्म है उसी की उपासना और जो पूर्वाक्त यज्ञ सब संसार को सुख देने वाला है उस इष्ट को सिद्ध करने की पूर्त्ति और जिस २ उत्तम कामों के आरंभ को यथावत् पूर्ण करने के लिये जो २ अवश्य हो सो २ सामग्री पूर्ण करनी चाहिये (प्रजा च पशवश्च) सब मनुष्य लोग अपने संतान और राज्य को अच्छी शिक्षा दिया करें और हस्ती तथा घोड़े आदि पशुओं को भी अच्छी रीति से सुशिक्षित करना उचित है इन मंत्रों में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि सब मनुष्य लोग अन्य भी धर्म के शुभ लक्षणों का ग्रहण करें ॥ १५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

अत्र धर्मविषये तैत्तिरीयशाखाया अन्यदपि प्रमाणम् । अतं च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यं च स्वा० तपश्च स्वा० दमश्च स्वा० शमश्च स्वा० अग्नयश्च स्वा० अग्निहोत्रं च स्वा० अतिथयश्च स्वा० मानुषं च स्वा० प्रजा च स्वा० प्रजनश्च स्वा० प्रजातिश्च स्वा० सत्यमितिसत्यवचाराधीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्यायप्रवचने ऽथेति नाको मौद्गल्यः । तद्वितपस्तद्वितपः ॥ १ ॥ वेदमनूच्याचार्य्योन्ते वासिनमनुशाम्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं माव्यवच्छेत्सीः । सत्यान्नप्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्र० कुशलान्न प्र० भूत्येन प्र० स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्र० देवपितृकार्य्याभ्यां न प्र० । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्य्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि ॥ २ ॥ नो इतराणि । एके चास्मच्छ्रेयाः सो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसित-

व्यम् । अद्भुता देयम् । अद्भुता देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् ।
भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्ति-
चिकित्सावास्यात् । ये तच्च ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता अयुक्ताः ।
अलूचाधर्मकामाः स्युः । यथा ते तच्च वर्तेरन् तथा तच्च वर्तेथाः । अथा-
भ्याख्यातेषु ये तच्च ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता अयुक्ता अलूचाधर्मकामाः
स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष
उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एव-
मुचेतदुपास्यम् ॥ ४ ॥ तैत्तिरीय आरण्यके । प्रपा० ७ । अनु० ६ । ११ ॥

॥ भाषार्थ ॥

तैत्तिरीयशाखा में और भी धर्म का विषय है सो आगे लिखते हैं
(चतुर्थ च०) यह सब मनुष्यों को उचित है कि अपने ज्ञान और विद्या को
बढ़ाते हुए एक ब्रह्मही की उपासना करते रहें उस के साथ वेदादि शास्त्रों
का पढ़ना पढ़ाना भी बराबर करते जायें (सत्यं च०) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से
ठीक २ परीक्षा करके जैसा तुम अपने आत्मा में ज्ञान से जानते हो वैसाही बोला
और उसी को मानो उस के साथ पढ़ना पढ़ाना भी कभी न छोड़ो (तपश्च०)
विद्या ग्रहण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करके सदा धर्म में निश्चित
रहो (दमश्च०) अपनी आंख आदि इंद्रियों को अधर्म और आलस्य से छुड़ा
के सदा धर्म में चलाओ (शमश्च०) अपने आत्मा और मन को सदा धर्म से
धन में ही स्थिर रखो (अग्नयश्च०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से
धर्म अर्थ काम और मोक्ष को सिद्ध करो तथा अनेक प्रकार से शिल्प विद्या
की उत्ति करो (अग्निहोत्रं च०) वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा अग्निहोत्र
से लेके अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों से सब सृष्टि का उपकार सदा करते रहो
(अतिथयश्च०) जो सब जगत् के उपकार के लिये सत्यवादी सत्यकारी पूर्ण
विद्वान् सब का सुख चाहने वाले हों उन सत्पुरुषों के संग से करने के योग्य
व्यवहारों को सदा बढ़ाते रहो (मानुषं च०) सब मनुष्यों के राज्य और प्रजा के
ठीक २ प्रबंध से धन आदि पदार्थों को बढ़ाके रक्षा करके और अच्छे कामों
में खर्च करके उन से धर्म, अर्थ काम, और मोक्ष, इन चारों फल की सिद्धि-
द्वारा अपना जन्म सफल करो (प्रजा च०) अपने संतानों का यथायोग्य पालन
शिक्षा से विद्वान् करके सदा धर्मात्मा और पुरुषार्थी बनाते रहो (प्रजनश्च०)
जो संतानों की उत्पत्ति करने का व्यवहार है उसको पुत्रेष्टि कहते हैं उस में
श्रेष्ठ भोजन और श्रेष्ठ सेवन सदा करते रहो तथा ठीक २ गर्भ की रक्षा
भी करो (प्रजातिश्च०) पुत्र और कन्याओं के जन्म समय में स्त्री और बालकों
की रक्षा युक्तिपूर्वक करो अतः से लेके प्रजाति पर्यन्त धर्म के जो बारह

लक्षण होते हैं उन सब के साथ स्वाध्याय जो पढ़ना और प्रवचन जो पढ़ाने का उपदेश किया है सो इसलिये है कि पूर्वोक्त जो धर्म के लक्षण हैं वे तब प्राप्त होमकते हैं कि जब मनुष्य लोग सत्य विद्या को पढ़ें और तभी सदा सुख में रहेंगे क्योंकि सब गुणों में विद्याही उत्तम गुण है इसलिये सब धर्म लक्षणों के साथ स्वाध्याय और प्रवचन का ग्रहण किया है सो इन का त्याग करना कभी न चाहिये (सत्यमिति०) हे मनुष्य लोगो तुम सब दिन सत्यवचन ही बोलो (तप इति०) धर्म और ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये नित्य विद्या ग्रहण करो अर्थात् विद्या का जो पढ़ना पढ़ाना है यही सब से उत्तम है ॥ १ ॥ (वेदमनूच्या०) जो आचार्य्य अर्थात् विद्या और शिक्षा का देने वाला है वह विद्या पढ़ने के समय और जब तक न पढ़चुके तब तक अपने पुत्र और शिष्यों को इस प्रकार उपदेश करे कि हे पुत्रो वा शिष्यलोगो तुम सदा सत्यही बोलो और धर्म काही से बन कर के एक परमेश्वरही की भक्ति किया करो इस में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो आचार्य्य को अनेक उत्तम पदार्थ देकर प्रसन्न करो और युवा अवस्था में ही विवाह करके प्रजा की उत्पत्ति करो तथा सत्यधर्म को कभी मत छोड़ो कुशलता अर्थात् चतुराई को सदा ग्रहण करके भूति अर्थात् उत्तम ऐश्वर्य्य को सदा बढ़ाते जाओ और पढ़ने पढ़ाने में कभी आलस्य मतकरो ॥ १ ॥ (देवपितृ०) देव जो विद्वान् लोग और पितृ अर्थात् ज्ञानी लोगों की सेवा और संग से विद्या के ग्रहण करने में आलस्य वा प्रमाद कभी मत करो माता पिता आचार्य्य अर्थात् विद्या के देनेवाले और अतिथि जो सत्य उपदेश के करनेवाले विद्वान् पुरुष हैं उनकी सेवा में आलस्य कभी मत करो ऐसेही सत्य भाषणादि शुभ गुणों और कर्मोंही का सदा सेवन करो किंतु मिथ्या भाषणादि को कभी मत करो माता पिता और आचार्य्य आदि अपने संतानों तथा शिष्यों को ऐसा उपदेश करें कि हे पुत्रो वा शिष्य लोगो हमारे जो सुचरित्र अर्थात् अच्छे काम हैं तुमलोग उन्हीं का ग्रहण करो किंतु हमारे बुरे कामों को कभी नहीं जो हमारे बीच में विद्वान् और ब्रह्म के जाननेवाले धर्मात्मा मनुष्य हैं उन्हीं के वचनों में विश्वास करो और उनको प्रीति वा अप्रीति से श्री वा लज्जा से भय अथवा प्रतिज्ञा से सदा दान देते रहो तथा विद्या दान सदा करते जाओ और जब तुमको किसी बात में संदेह हो तब पूर्ण विद्वान् पतपात रहित धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ के शंका निवारण सदा करते रहो वे लोग जिस २ प्रकार से जिस २ धर्म काम में चलते होवें वैसे ही तुम भी चलो यही आदेश अर्थात् अविद्या को हटाके उसके स्थान में विद्या का और अधर्म को हटा के धर्मका स्थापन करना है इसी को उपदेश और शिक्षा भी कहते हैं इसी प्रकार शुभ लक्षणों को ग्रहण करके एक परमेश्वर ही की सदा उपासना करो ॥

॥ भाष्यम् ॥

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो
दानं तपो यज्ञस्तपो भुर्भुवः सुवर्त्रह्यैतदुपास्वैततपः ॥ तैत्ति० आरण्य०
प्रपा० १० अनु० ८ ॥ सत्यं परं परं सत्यं सत्येन नसुवर्गालोकाच्यवन्ते
कदाचन सतां हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते ॥ तपइति तपोनानशनात्परं
यद्विपरं तपस्तदुर्ध्वं तदुराध्वं तस्मानपसि० ॥ दमइति नियतं ब्रह्मचा-
रिणस्तस्माद्दमे० ॥ शम इत्यरण्ये मुनयस्तस्माच्छमे० ॥ दानमिति सर्वाणि
भूतानि प्रशं सन्ति दानान्नाति दुष्करं तस्माद्दाने० ॥ धर्मइति धर्मेण सर्व-
मिदं परिगृहीतं धर्मान्नाति दुश्चरं तस्माद्धर्मे० ॥ प्रजनइति भूयांसस्त-
स्माद्विष्टाः प्रजायन्ते तस्माद्विष्टाः प्रजनने० ॥ अग्नयइत्याह तस्माद-
ग्नय आधातव्याः अग्निहोत्रमित्याह तस्मादग्निहोत्रे० ॥ यज्ञइति यज्ञेन
हि देवादिवंगतास्तस्माद्यज्ञे० ॥ मानसमिति विद्वांसस्तस्माद्विद्वांस एव
मानसे रमन्ते ॥ न्यास इति ब्रह्माब्रह्मा हि परः परोहि ब्रह्मा तानि वा
गतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरे च यत् । य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥
प्रजापत्यो ह्यहर्णिः सुपर्णयः प्रजापतिं पितरमुपससार किं भगवन्तः परमं
वदन्तीति तस्मै प्रोवाच सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि
सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति ॥ तपसा
देवा देवतामग्न्यायन्तपसर्पयः सुवरन्वविन्दन् तपसा सपत्नान्प्रणुदामाराती-
स्तपसि सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मातपः प० ॥ दमेन दान्ताः किन्विषमवधून्वन्ति
दमेन ब्रह्मचारिणः सुवरगच्छन् दमोभूतानां दुराध्वं दमे सर्वं प्रतिष्ठितं
तस्माद्धर्मं प० ॥ शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति शमेन नाकं मुनयान्ववि-
न्दच्छमोभूतानां दुराध्वं शमे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माच्छमं प० दानं यज्ञानां
बहुयं दक्षिणालोके दातारः सर्वभूतान्युपजीवन्ति दानेनारातीरनुपानुदन्त-
दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति दाने सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्दानं प० धर्मो
विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठालोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदन्ति
धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं प० प्रजननं वै प्रतिष्ठालोके साधुप्रजायास्त-
न्तुं नन्वानः पितृणामनुषो भवति तदेव तस्य अनुषं तस्मात्प्रजननं प०
अग्नयो वै चयीविद्या देवयानः पन्था गार्हपत्यं ऋक् पृथिवीरथन्तरमन्वा-
हार्यं पचनो यजुरन्तरिक्षं वामदेव्यमाहवनीयः सामसुवर्गो लोको बृहत्त-
स्मादग्नीन्य० ॥ अग्निहोत्रं सायं प्रातर्गृहाणां निष्कृतिः स्विष्टुः सुहुतं यज्ञ-

क्रतूनां प्रापणसुवर्गस्य लोकस्य ज्योतिस्तस्मादग्निहोचं प० ॥ यज्ञ इति
 यज्ञेन हि देवा दिवंगता यज्ञेनासुरानपानुदन्त यज्ञेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति
 यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्यज्ञं प० ॥ मानसं वै प्राजापत्यं पवित्रं मानसेन
 मनसा साधु पश्यति मानसा ऋषयः प्रजा असृजन्तमानसे सर्वं प्रतिष्ठितं
 तस्मान्मानसं परमं वदन्ति ॥ तैति० आरण्य० प्रपा० १० अनु० ६२ । ६३ ॥
 (एतेषामभि०) सर्वैर्मनुष्यैरेतानि वक्ष्यमाणानि धर्मलक्षणानि सदैव सेव्या-
 नीति । (ऋतं च०) यथार्थस्वरूपं वा ज्ञानं (सत्यं च०) सत्यस्याचरणं च
 (तपश्च०) ज्ञानधर्मयोर्ऋतादिधर्मलक्षणानां यथावदनुष्ठानम् (दमश्च)
 अधर्माचरणादिन्द्रियाणि सर्वथा निवर्त्य तेषां सत्यधर्माचरणे सदैव प्रवृत्तिः
 कार्य्या (शमश्च०) नैव मनसापि कदाचिदधर्मकरणेच्छा कार्य्येति (अग्न-
 यश्च०) वेदादिशास्त्रेभ्यो ऽग्न्यादिपदार्थेभ्यश्च पारमार्थिकव्यावहारिक
 विद्योपकारकरणम् (अग्निहोचं च) नित्यहोममारभ्याश्वमेधपर्य्यन्तेन यज्ञे-
 न वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारा सर्वप्राणिनां सुखसंपादनंकार्य्यम् (अतिथय०)
 पूर्णविद्यावतां धर्मात्मनां संगसेवाभ्यां सत्यशोधनं द्विजसंशयत्वं च का-
 र्य्यम् (मानुषं च०) मनुष्यसंबंधिराज्यविद्यादिवितं सम्यक् सिद्धं कर्त्त-
 व्यम् (प्रजा च०) धर्मेणैव प्रजामुत्पाद्य सा सदैव सत्यधर्मविद्या सुशि-
 क्षयान्विता कार्य्या (प्रजनश्च०) वीर्य्यवृद्धिः पुत्रेष्टिरीत्या ऋतुप्रदानं च
 कर्त्तव्यम् । (प्रजातिश्च०) गर्भरक्षाजन्मसमये संरक्षणं संतानशरीरबुद्धि-
 वर्धनं च कर्त्तव्यम् (सत्यमिति०) मनुष्यः सदा सत्यवक्त्रैव भवेदिति
 राशीतराचार्य्यस्य मतमस्ति (तपइति०) यदृतादि सेवनेनैव सत्यविद्या
 धर्मानुष्ठानमस्ति तन्नित्यमेव कर्त्तव्यमिति पौरुषेष्टिरीत्याचार्य्यस्य मतमस्ति ।
 परं तु नाकोमोद्गल्यस्येदं मतमस्ति स्वाध्यायो वेदविद्याध्ययनं प्रवचनं
 तदध्यापनं चेत्युभयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठतमं कर्मास्ति । इदमेव मनुष्येषु परमं
 तपोस्ति नातःपरमुत्तमं धर्मलक्षणं किंचिद्विद्यत इति (वेदमनूच्या०)
 आचार्य्यः शिष्याय वेदानध्याप्यधर्ममुपदिशति हे शिष्य त्वया सदैव सत्य-
 मेव वक्तव्यम् सत्यभाषणादिलक्षणो धर्मश्च सेवनीयः शास्त्राध्ययनाध्यापने
 कदापि नैव त्याज्ये आचार्य्यसेवा प्रजोत्पत्तिश्च सत्यधर्मकुशलतैश्चर्य्यसंव-
 र्धनसेवने सदैव कर्त्तव्ये देवा विद्वांसः पितरो ज्ञानिनश्च तेभ्यो ज्ञानग्रहणं
 तेषां सेवनं च सदैव कार्य्यमेवं मातृपितृाचार्य्यातिथीनां सेवनं चेतत्सर्वं
 संग्रीत्या कर्त्तव्यम् । नेतत्कदापि प्रमादात्याज्यमिति । वक्ष्यमाणरीत्या

मात्रादय उपदिशेयुः । भोः पुत्रायान्युत्तमानि कर्माणि वयं कुर्मस्तान्येव
युष्माभिराचरितव्यानि यानि तु पापात्मकानि कानिचिदस्माभिः क्रियन्ते
तानि कदापि नैवाचरणीयानि । ये ऽस्माकं मध्ये विद्वान्से ब्रह्मविदः
स्युस्तत्संगस्तदुक्तविश्वासश्च सदैव कर्तव्यो नेतरेषाम् । मनुष्यैर्विद्यादि-
पदार्थदानं प्रीत्याऽप्रीत्या श्रिया लज्जया भयेन प्रतिज्ञया च सदैव कर्त-
व्यम् । अर्थात्प्रतिग्रहाद्वानमतीव श्रेयस्करमिति । भोः शिष्य तव कस्मि-
श्चित्कर्मण्याचरणे च संशयो भवेत्तदा ब्रह्मविदां पक्षपातरहितानां योगि-
नामधर्मात् पृथग्भूतानां विद्यादिगुणैः स्निग्धानां धर्मकामानां विदुषां
सकाशातदुत्तरं ग्राह्यं तेषामेवाचरणं च । यादृशेन मार्गेण ते विचरे-
युस्तेनैव मार्गेण त्वयापि गन्तव्यम् । अयमेव युष्माकं हृदय आदेश उप-
देशोहि स्थाप्यत इयमेव वेदानामुपनिषदस्ति । ईदृशमेवानुशासनं सर्वैर्म-
नुष्यैः कर्तव्यम् । ईदृगाचरणपुरःसरमेव परमश्रद्धया सच्चिदानन्दादिल-
क्षणं ब्रह्मोपास्यं नान्यथेति ॥ इदानीं तपसो लक्षणमुच्यते ॥ ऋतं यतन्त्वं
ब्रह्मण्यवोपासनं यथार्थज्ञानं च (सत्यं०) सत्यकथनं सत्यमाचरणं च
(श्रुतं०) सर्वविद्याश्रवणं श्रावणं च । (शान्तं०) अधर्मात्पृथक्कृत्यमनसो-
धर्मे संस्थापनं मनः शान्तिः । (दमस्त०) इन्द्रियाणां धर्मैश्च प्रवर्त-
नमधर्मान्निवर्तनं च, (शमस्त०) मनसोपि नियहश्चाधर्माद्धर्मे प्रवर्तनं
च ॥ (दानं त०) तथा सत्यविद्यादिदानं सदा कर्तव्यम् (यज्ञस्त०)
पूर्वाक्तं यज्ञानुष्ठानं चैतत्सर्वं तपश्शब्देन गृह्यते नान्यदिति । अन्यच्च ।
(भूर्भुव०) हे मनुष्य सर्वलोकाव्यापकं यद्ब्रह्मास्ति तदेव त्वमुपास्वेदमेव
तपोमन्यध्वं नातो विपरीतमिति । (सत्यं प०) सत्यभाषणात्सत्याचर-
णाच्च परं धर्मलक्षणं किञ्चिन्नास्त्येव । कुतः । सत्येनैव नित्यं मोक्षसुखं
संसारसुखं च प्राप्यपुनस्तस्मान्नैव कदापि क्षुतिर्भवति । सत्युपपाणामपि
सत्याचरणमेव लक्षणमस्ति तस्मात्कारणं तत्सर्वैर्मनुष्यैः सत्ये खलु रमणी-
यमिति ॥ तपस्तु ऋतादिधर्मलक्षणानुष्ठानमेव ग्राह्यम् । एवं सम्यग्ब्रह्म-
चर्य्यसेवनेन विद्याग्रहणं ब्रह्म इत्युच्यते । एवमेव दानादिष्वर्थगतिः
कार्या । विदुषो लक्षणं मानसो वायारः । एवमेव सत्येन ब्रह्मणा वायु-
रागच्छति । सत्येनादित्यः प्रकाशितो भवति सत्येनैव मनुष्याणां प्र-
तिष्ठा जायते नान्यथेति । मानसो वायारः प्राणाविज्ञानादयश्चेति ॥

॥ भाष्यार्थ ॥

(ऋतं तपः०) तप इस को कहते हैं कि जो (ऋत) अर्थात् यथार्थ तत्त्व मानने सत्य बोलने (श्रुत) अर्थात् सब विद्याओं को सुनने (शांत) अर्थात् उत्तम कर्म करने और अच्छे स्वभाव के धारण में सदा प्रवृत्त रहे तथा पूर्वोक्त दम, शम, दान, यज्ञ, और प्रेम भक्ति से, तीनों लोक में व्यापक ब्रह्म की जो उपासना करना है उसको भी तप कहते हैं ऋत आदि का अर्थ प्रथम कर दिया है (सत्यं परं०) अब सत्य का स्वरूप दिखाया जाता है कि जिसका ऋत भी नाम है सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है क्योंकि सत्युषों में भी सत्यही सत्यरूपण है सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है जिस से छूटके वे दुःख में कभी नहीं गिरते इस लिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये (तप इति०) जो अन्याय से किसी के पदार्थ को ग्रहण करना जिसका ऋत आदि लक्षण कह चुके हैं जो अत्यंत उत्तम और यद्यपि करने में कठिन भी है तदपि बुद्धिमान् मनुष्य को करना सब सुगम हैं इस से तप में नित्यही निश्चिन रहना ठीक है (दम इति०) जितेंद्रिय हो के जो विद्या का अभ्यास और धर्मका आचरण करना है उस में मनुष्यों को नित्य प्रवृत्त होना चाहिये (दानमिति०) दान की स्तुति सब लोग करते हैं और जिस से कठिन कर्म दूसरा कोई भी नहीं है जिससे शत्रु भी मित्र होजाते हैं इस से दान करने का स्वभाव सब मनुष्यों को नित्य रखना चाहिये (धर्म इति०) जो धर्मलक्षण प्रथम कह आये हैं और जो आगे कहेंगे वे सब इसी धर्म के हैं क्योंकि जो न्याय अर्थात् पक्षपात को छोड़ के सत्य का आचरण और असत्य का परित्याग करना है उसी को धर्म कहते हैं यही धर्मका स्वरूप और सब से उत्तम धर्म है सब मनुष्यों को इसमें सदा वर्तना चाहिये (प्रजन इति०) जिससे मनुष्यों की बढ़ती होती है जिसमें बहुत मनुष्य रमण करते हैं इस से जन्मको प्रजन कहते हैं (अग्नय इत्याह०) तीनों वेद और अग्नि आदि पदार्थों से सब शिल्पविद्या मिट्टु करनी उचित है (अग्निहोत्रं च०) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यंत होम करके सब जगत् का उपकार करने में सदा यत्न करना चाहिये (मानसमिति०) जो विचार करने वाले मनुष्य हैं वेही विद्वान् होते हैं इससे विद्वान् लोग विचार ही में सदा रमण करते हैं क्योंकि मन के विज्ञान आदि गुण हैं वेही ईश्वर और जीव की सृष्टि के हेतु हैं इससे मन का खल और उस की शुद्धि करना भी धर्म का उत्तम लक्षण है (न्यास इति०) ब्रह्मा ब्रह्म के अर्थात् चारों वेद को ज्ञान के संसारी व्यवहारों को छोड़ के न्यास अर्थात् संन्यास आश्रम करके जो सब मनुष्यों को सत्यधर्म और सत्यविद्या से लाभ पहुंचना है यह भी विद्वान् मनुष्यों को धर्म का लक्षण ज्ञान के करना उचित है (सत्येन वा०) सत्य को उत्तम इसलिये कहते हैं कि सत्य जो ब्रह्म

है उससे सब लोगों का प्रकाश और वायु आदि पदार्थों का रक्षण होता है सत्य से ही सब व्यवहारों में प्रतिष्ठा और परब्रह्म को प्राप्त होके मुक्ति का सुख भी मिलता है तथा सत्पुरुषों में सत्याचरण ही सतपुरुष पन हैं ॥ (तपसा देवा०) पूर्वाक्त तपसे ही विद्वान् लोग परमेश्वर देव को प्राप्त होके सब काम क्लेश आदि शत्रुओं को जीत के पापों से कूट के धर्म ही में स्थिर रह सकते हैं इस से तप को भी श्रेष्ठ कहते हैं (दमेन०) दम से मनुष्य पापों से अलग होके और ब्रह्मचर्य आश्रम का सेवन कर के विद्या को प्राप्त होता है इसलिये धर्म का दम भी श्रेष्ठ लक्षण है (शमेन०) शम का लक्षण यह है कि जिस से मनुष्य लोग कल्याण का ही आचरण करते हैं इस से यह भी धर्म का लक्षण है (दानेन०) दान से ही यज्ञ अर्थात् दाता के आश्रय से सब प्राणियों का जीवन होता है और दान से ही शत्रुओं को भी जीत कर अपना मित्र कर लेते हैं इस से दान भी धर्म का लक्षण है (धर्मावि०) सब जगत् की प्रियेष्टा धर्म ही है धर्मात्मा का ही लोक में विश्वास होता है धर्म से ही मनुष्य लोग पापों को छोड़ा देते हैं जितने उत्तम काम हैं वे सब धर्म में ही लिये जाते हैं इसलिये सब से उत्तम धर्म को ही जानना चाहिये (प्रजनन०) जिस से मनुष्यों का जन्म और प्रजा में वृद्धि होती है और जो परंपरा से ज्ञानियों की सेवा से ऋण अर्थात् बदले का पूरा करना होता है इस से प्रजन भी धर्म का हेतु है क्योंकि जो मनुष्यों की उत्पत्ति भी नहीं हो तो धर्म को ही कौन करे इस कारण से भी धर्म को ही प्रधान जानो (अनयेवै०) अर्थात् जिस से तुम लोग सांगोपांग तीनों वेदों को पढ़ो क्योंकि विद्वानों के ज्ञान मार्ग को प्राप्त होके पृथिवी आकाश और स्वर्ग इन तीनों प्रकार की विद्या सिद्ध होती हैं इस से इन तीनों अग्नि अर्थात् वेदों को श्रेष्ठ कहते हैं (अग्निहोत्रं०) प्रातःकाल में संध्या और वायु तथा वृष्टि जल को दुर्गंध से छोड़ा के सुगंधित करने से सब मनुष्यों को स्वर्ग अर्थात् सुख की प्राप्ति होती है इसलिये अग्निहोत्र को भी धर्म का लक्षण कहते हैं (यज्ञइति) विद्या से ही विद्वान् लोग स्वर्ग अर्थात् सुख को प्राप्त होते और शत्रुओं को जीत के अपना मित्र कर लेते हैं इस से विद्या और अध्यय आदि यज्ञ को भी धर्म का लक्षण कहते हैं (मानसं वै०) मन के शुद्ध होने से ही विद्वान् लोग प्रजापति अर्थात् परमेश्वर को जान के नित्य सुख को प्राप्त हो सकते हैं पवित्र मन से सत्य ज्ञान होता है और उस में जो विज्ञान आदि ऋषि अर्थात् गुण हैं उन से परमेश्वर और जीव लोग भी अपनी २ सब प्रजा को उत्पन्न करते हैं अर्थात् परमेश्वर के विद्या आदि गुणों से मनुष्य की प्रजा उत्पन्न होती है इस से मन को जो पवित्र और विद्या युक्त करना है ये भी धर्म के उत्तम लक्षण और साधन हैं इस से मन के पवित्र होने से सब धर्म कार्य सिद्ध होते हैं ये सब धर्म के ही लक्षण हैं इन में से कुछ तो पूर्व कह दिये और कुछ आगे भी कहेंगे ॥

॥ भाष्यम् ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा स सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्य्येण
नित्यम् ॥ अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयोहि शुद्धोऽयं पश्यन्ति यतयः क्षीण-
दोषाः ॥ १ ॥ सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ॥
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्रकामा यच्च तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ २ ॥
मुण्डकोपनिषद्भिः । मुं० ३ खं० १ मं० ५ । ६ ॥ अनयोरर्थः ॥ (सत्येन
लभ्य०) सत्येन सत्यधर्माचरणे नैवात्मा परमेश्वरो लभ्यो नान्यथेत्ययं
मन्त्रः सुगमार्थः ॥ १ ॥ (सत्यमेव०) सत्यमाचरितमेव जयते तेनैव
मनुष्यः सदा विजयं प्राप्नोति । अनृतेनाधर्माचरणेन पराजयं च । तथा
सत्यधर्मेणैव देवयानो विदुषां यः सदानन्दप्रदो मोक्षमार्गोऽस्ति सोऽपि
सत्येनैव विस्तृतः प्रकाशितो भवति । येन च सत्यधर्मानुष्ठानप्रकाशितेन
मार्गेणाप्रकामा ऋषयस्तत्राक्रमन्ति गच्छन्ति यच्च सत्यस्य धर्मस्य परमं
निधानमधिकरणं ब्रह्म वर्तते तत्प्राप्यनित्यानन्दमोक्षप्राप्ता भवन्ति । ना-
न्यथेति । अतएव सत्यधर्मानुष्ठानमधर्मत्यागश्च सर्वैः कर्तव्य इति ॥

॥ भाषार्थः ॥

(सत्येन लभ्यस्तपसा०) अर्थात् जो सत्य आचरण रूप धर्म का अनुष्ठान
ठीक २ विज्ञान और ब्रह्मचर्य्य करते हैं इन्ही शुभगुणों से सब का आत्मा
परमेश्वर जाना जाता है जिस को निर्दोष अर्थात् धर्मात्मा ज्ञानी संन्यासी लोग
देखते हैं सो सब के आत्माओं का भी आत्मा प्रकाशस्वरूप और सब दिन
शुद्ध है उसी की आज्ञा पालन करना सब मनुष्यों को चाहिये ॥ १ ॥
(सत्यमेवजय०) जो सत्य का आचरण करनेवाला है वही मनुष्य सदा वि-
जय और सुख को प्राप्त होता है और जो मिथ्या आचरण अर्थात् झूठे
कामों का करनेवाला है वह सदा पराजय और दुःख ही को प्राप्त
होता है विद्वानों का जो मार्ग है सो भी सत्य के आचरण से ही खुल
जाता है जिस मार्ग से आप्त काम धर्मात्मा विद्वान् लोग चल के सत्य सुख
को प्राप्त होते हैं जहां ब्रह्म ही का सत्य स्वरूप सुख सदा प्रकाशित होता
है सत्य से ही उस सुख को वे प्राप्त होते हैं असत्य से कभी नहीं इस से
सत्य धर्म का आचरण और असत्य का त्याग करना सब मनुष्यों को
उचित है ॥ २ ॥

॥ भाष्यम् ॥

अन्यच्च । वेदना लक्षणार्थोऽधर्मः ॥ १ ॥ पू० मी० अ० १ पा० १
सू० २ । यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्मः ॥ २ ॥ वैशेषिके । अ० १

पा० १ । सू० २ ॥ अनयोरर्थः (चोदना०) वेदद्वारा सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तथैव सत्यधर्मो लक्ष्यते । यो ऽनर्थादधर्माचरणाद्बहिरस्त्यतो धर्माख्यां लब्ध्वाऽर्थो भवति । यस्येश्वरेण निषेधः क्रियते सो ऽनर्थ-रूपत्वादधर्मोयमिति ज्ञात्वा सर्वैर्मनुष्यैस्त्याज्य इति ॥ १ ॥ (यतोभ्यु०) यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्नोति भवति येन च निःश्रेयसं पारमार्थिकं मोक्षसुखं च । स एव धर्मो विज्ञेयः । अतो विपरीतोऽह्य धर्मश्च । इदमपि वेदानामेव व्याख्यानमस्ति । इत्यनेकमंत्रप्रमाणसा-क्षादिधर्मोपदेशो वेदेष्वेश्वरेण । सर्वमनुष्यार्थमुपदिष्टो ऽस्त्येक एवायं सर्वेषां धर्मोऽस्ति नैव चास्माद्वितीयोऽस्तीति वेदितव्यम् ॥ २ ॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः समाप्तः ॥

॥ भाषार्थ ॥

(चोदना०) ईश्वरने वेदों में मनुष्यों के लिये जिस के करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिस के करने की प्रेरणा नहीं की है वह अधर्म कहाता है परंतु वह धर्म अर्थयुक्त अर्थात् अधर्म का आचरण जो अनर्थ है उस से अलग होता है इस से धर्म का ही जो आचरण करना है वही मनुष्यों में मनुष्यपन है ॥ १ ॥ (यतोभ्यु०) जिस के आचरण करने से संसार में उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है उसी का नाम धर्म है यह भी वेदों की व्याख्या है इत्यादि अनेक वेद मंत्रों के प्रमाणों और ऋषि मुनियों की साक्षियों से यह धर्म का उप-देश किया है कि सब मनुष्यों को इसी धर्म के काम करना उचित है इस से विदित हुआ कि सब मनुष्यों के लिये धर्म और अधर्म एक ही हैं दो नहीं जो कोई इस में भेद करे तो उस को अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिये ॥

इति वेदोक्तधर्मविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ सृष्टिविद्याविषयः संक्षेपतः ॥

नासंदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजोनेव्योमा पुरोयत् ॥
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्ममः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अन्धं आसीत्प्रकेतः ॥ आनीद्वान्तं
स्वधया तदेकं तस्माद्ब्रान्यन्नपरः किंच नासं ॥ २ ॥ तमआसीत्तम-
सा गूढमग्रेऽप्रकेतं संल्लिखं सर्वमा दूदम् ॥ तुच्छोनाभ्वापिहितं यदा-

सीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥ कामस्तदग्रे समवर्त्तताधिम-
नसोरेतः प्रथमं यदासीत् ॥ सुतोबन्धुमसन्तिनिरं विन्दन्हृदिप्रतीक्षा
कवयो मनीषा ॥ ४ ॥ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीत्-
दुपरि स्विदासीत् ॥ रेतोधा आसन्महिमानं आसन्स्वधा अवस्ता-
त्यतिः पुरस्तात् ॥ ५ ॥ को अद्वावेदं कद्दुहप्रवोचत्कुत आजाता
कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथाको वेदयतं आब-
भूव ॥ ६ ॥ इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदं वादधेयदिवान ॥ यो अ-
स्याध्यक्षः परमेष्ठ्योमन्तो अद्वावेदयदिवानवेदं ॥ ७ ॥ ऋ० अ० ८
अ० ७ व० १७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

एतेषामभिप्रायार्थः । यदिदं सकलं जगद्दृश्यते तत् परमेश्वरेणैव
सम्यग्रचयित्वा संरक्ष्य प्रलयावसरे वियोज्य च विनाश्य ते पुनः पुनरेवमेव
सदा क्रियत इति । (नासदासी०) यदा कार्यं जगन्नेत्यन्ममासीतदा ऽसत्
सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत् । कुतः । तद्वायवहारस्य वर्तमाना-
भावात् (नासदासीतदानीं) तस्मिन्काले सत्प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं
यज्जगत्कारणं तदपि नो आसीन्नावर्त्तत (नासीद्द्र०) परमाणवो ऽपि नासन्
(नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशमपरं यस्मिन् विराडाख्ये सोपि नो आसीत्
किंतु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव
तदानीं समवर्त्तत (किमावरीवः०) यत्प्रातः कुहकस्यावर्षाकाले धूमाका-
रेण वृष्टं किञ्चिज्जलं वर्त्तमानं भवति । यथा नैतज्जलेन पृथिव्यावरणं भवति
नदीप्रवाहादिकं च चलति । अत एवाक्तं तज्जलं गहनं गभीरं किं भवति ।
नेत्याह किंत्वावरीवः । आवरकमाच्छादकं भवति नैव कदाचित्तस्यातीवा-
ल्पत्वात् तथैव सर्वं जगत् तत्सामर्थ्यादुत्पद्यास्ति तच्छर्मणि शुद्धे ब्रह्म-
णि किं गहनं गभीरमधिकं भवति । नेत्याह । अतस्तद्ब्रह्मणः कदाचि-
न्नेवावरकं भवति । कुतः । जगतः किञ्चिन्मात्रत्वाद्ब्रह्मणो ऽनन्तत्वाच्च ॥ १ ॥
न मृत्युरासीदित्यादिकं सर्वं सुगमार्थमेषामर्थं भाष्ये वक्ष्यामि ॥ (इयं विसृ-
ष्टिः) यतः परमेश्वरादियं प्रत्यक्षाविसृष्टिर्विविधासृष्टिराबभूवोत्पन्नासी-

दस्ति तां स एवं दधे धारयति रचयति यदि वा विनाशयति यदि वा न र-
चयति । योऽस्य सर्वस्याध्यक्षः स्वामी (परमे व्योमन्) तस्मिन्परमाकाशा-
त्मनि परमे प्रकृष्टे व्योमवद्भाषके परमेश्वरएवेदानीमपि सर्वा सृष्टिर्वर्तते ।
प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्मसामर्थ्ये प्रलीनाच भवति (सोऽध्यक्षः) स
सर्वाध्यक्षः परमेश्वरोऽस्ति । (अङ्गवेद) हे अङ्गमित्रजीव तं यो वेद स विद्वान्
परमानन्दमाप्नोति । यदि तं सर्वेषां मनुष्याणां परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षणं
नित्यं कश्चिन्नैव वेद वा निश्चयार्थं स परमं सुखमपि नाप्नोति ॥ ७ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(नासदासीत्) जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक
सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की
सामग्री विराजमान थी उस समय (असत्) शून्यनाम आकाश अर्थात् जो
नेत्रों से देखने में नहीं आता सो भी नहीं था क्योंकि उस समय उस का
व्यवहार नहीं था (नासदासीत्तदानीं०) उस काल में (सत्) अर्थात् सत्ता-
गुण रजोगुण और तमोगुण मिलाके जो प्रधान कहाता है वह भी नहीं था
(नासीद्रजः) उस समय परमाणु भी नहीं थे तथा (नेऽव्यो०) विराट् अर्थात्
जो सब स्थूल जगत् के निवास का स्थान है सो भी नहीं था (किमा०) जो
यह वर्तमान जगत् है वह भी अनन्त शुद्ध ब्रह्म को नहीं ठाक सकता
और उससे अधिक वा अथाह भी नहीं हो सकता जैसे कोहरा का जल पृथिवी
को नहीं ठाक सकता है उस जल से नदी में प्रवाह भी नहीं चल सकता
और न वह कभी गहरा वा उलथा हो सकता है इससे क्या जाना जाता है
कि परमेश्वर अनन्त है और जो यह उसका बनाया जगत् है सो ईश्वर की
अपेक्षा से कुछ भी नहीं है ॥ १ ॥ (नमृत्यु०) जब जगत् नहीं था तब मृत्यु
भी नहीं था क्योंकि जब स्थूल जगत् संयोग से उत्पन्न होके वर्तमान हो पुनः
उस का और शरीर आदि का वियोग हो तब मृत्यु कहावे सो शरीर आदि
पदार्थ उत्पन्नहीं नहीं हुए थे (नमृत्यु०) इत्यादि पांच मंत्र सुगमार्थ हैं इसी
लिये इन की व्याख्या भी यहां नहीं करते किंतु वेदभाष्य में करेंगे (इयं विसृष्टिः०)
जिस परमेश्वर के रचने से जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है
वही इस जगत् को धारण करता नाश करता और मालिक भी है हे मित्र
लोगो जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है वही परमेश्वर
को प्राप्त होता है और जो उस को नहीं जानता वही दुःख में पड़ता है जो
आकाश के समान व्यापक है उसी ईश्वर में सब जगत् निवास करता है और
जब प्रलय होता है तब भी सब जगत् कारणरूप होके ईश्वर के सामर्थ्य
में रहता है और फिर भी उसी से उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रं भूतस्यजातः पतिरेक आसीत् ॥
सदाधारपृथिवीद्यामुते मां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥ अ०
अ० ८ अ० ७ व० ३ मं० १ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(हिरण्यगर्भः०) अग्रे सृष्टेः प्राग्धिरण्यगर्भः परमेश्वरो जातस्यास्यो-
त्पन्नस्य जगत एको ऽद्वितीयः पतिरेव समवर्त्तत । स पृथिवीमारभ्यदुप-
र्यन्तं सकलं जगद्रचयित्वा (दाधार) धारितवानस्ति तस्मै सुखस्वरूपाय
देवाय हविषा वयं विधेमिति ॥ १ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(हिरण्यगर्भः०) हिरण्यगर्भ जो परमेश्वर है वही एक सृष्टि के पहिले
वर्त्तमान था । जो इस सब जगत् का स्वामी है और वही पृथिवी से लेके सूर्य
पर्यन्त सब जगत् को रच के धारण कर रहा है इस लिये उषी सुखस्वरूप
परमेश्वर देव कीही हम लोग उपासना करें अन्य की नहीं ॥ १ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥ सभूमिः सर्वतस्पृत्वा
ऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥ य० अ० ३१ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(सहस्रशीर्षा०) अत्र मंत्रे पुरुष इति पदं विशेष्यमस्ति सहस्रशीर्ष-
त्यादीनि विशेषणानि च अत्र पुरुषशब्दार्थे प्रमाणानि ॥ पुरुषं पुरिशयइत्या-
चक्षीरन् । नि० अ० १ खं० १३ ॥ (पुरि०) पुरिसंसारे शेते सर्वमभिव्याप्य
वर्त्तते स पुरुषः परमेश्वरः ॥ पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरय-
त्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिदास्मान्नाणीयो न
ज्यायेस्ति किञ्चित् ॥ वृद्धइव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरिषेण सर्व-
मित्यपि निगमो भवति । नि० अ० २ खं० ३ ॥ (पुरुषः०) पुरिसर्वस्मिन्सं-
सारेभिव्याप्य सीदति वर्त्तत इति (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं
सर्वं जगत्स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात्सपुरुषः (अन्तरिति०) यो
जीवस्याप्यन्तर्मध्ये ऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः । तमन्तरपुरुषम-
न्तर्यामिणं परमेश्वरमभिप्रेत्येयमुक्त्वा प्रवृत्तास्ति (यस्मात्परं०) यस्मात्पर्या-
त्परमेश्वरात्पुरुषाख्यात्परं प्रकृष्टमुत्तमं किञ्चिदपि वस्तुनास्त्येव पूर्वं वा

(नापरमस्ति) यस्मादपरमर्वाचीनं तत्तुल्यमुत्तमं वा किञ्चिदपि वस्तुनास्त्येव । तथा यस्मादरणीयः सूक्ष्मं ज्यायः स्थूलं महद्वा किञ्चिदपि द्रव्यं नाभूतं न भवति नैव च भविष्यतीत्यवधेयम् । यस्तब्धो निष्कम्पः सर्वस्यास्थिरतां कुर्वन्सन् स्थिरोस्ति । कइव (वृक्षइव०) यथा वृक्षः शाखापत्रपुष्पफलादिकं धारयन् तिष्ठति तथैव पृथिवीसूर्यादिकं सर्वं जगद्धारयन्परमेश्वरोभिव्याप्य स्थितोस्तीति । यश्चैको ऽद्वितीयोस्ति नास्य कश्चित्सजातीयो विजातीयो वा द्वितीय ईश्वरोस्तीति । तेन पुरिषेण पुरुषेण परमात्मना यत इदं सर्वं जगत् पूर्णं कृतमस्ति तस्मात्पुरुषः परमेश्वरएवोच्यते । इत्ययं मंत्रो निगमो निगमनं परं प्रमाणं भवतीति वेदितव्यम् । सर्वं वै सहस्रं सर्वस्य दाता सीत्यादि० श० कां० ७ अ० ५ ॥ (सर्व०) सर्वमिदं जगत्सहस्रनामकमस्तीति विज्ञेयम् । (सहस्रशी०) सहस्राण्यसंख्या तान्यस्मदादीनां शिरांसि यस्मिन्पूर्णे पुरुषे परमात्मनि स सहस्रशीर्षापुरुषः (सहस्राक्षः स०) अस्मदादीनां सहस्राण्यक्षीण्यस्मिन् । एवमेव सहस्राण्यसंख्याताः पादाश्च यस्मिन्वर्तन्ते स सहस्राक्षः सहस्रपादः । (भूमिः सर्वतस्पृत्वा) स पुरुषः परमेश्वरः सर्वतः सर्वेभ्यो बाह्यान्तर्देशेभ्यो भूमिरिति) भूतानामुपलक्षणं भूमिमारभ्य प्रकृतिपर्येतुं सर्वं जगत्स्पृत्वाभिव्याप्य वर्तते (अत्य०) दशाङ्गुलमिति ब्रह्मांडहृदयोरुपलक्षणम् । अङ्गुलमित्यवयवोपलक्षणेन मितस्य जगतो ऽत्र ग्रहणं भवति । पंचस्थूलभूतानि पंचसूक्ष्माणि चेतदुभयं मिलित्वा दशावयवाख्यं सकलं जगदस्ति । अन्यच्च । पंचप्राणाः सेन्द्रियं च तुष्टयमन्तःकरणं दशमो जीवश्च । एवमेवान्यदपि जीवस्य हृदयं दशाङ्गुलपरिमितं च तृतीयं गृह्यते । एतन्नयं स्पृत्वा व्याप्यात्यतिष्ठत् । एतस्मात्त्रयाद्बुद्धिरपि व्याप्तः सन्नवस्थितः । अर्थाद्बुद्धिरन्तश्च पूर्णो भूत्वा परमेश्वरो ऽवतिष्ठत इति वेद्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(सहस्रशी०) इस मंत्र में पुरुष शब्द विशेष्य और अन्य सब पद उस के विशेष्य हैं पुरुष उसको कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है अर्थात् जिसने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है पुर कहते हैं ब्रह्मांड और शरीर को उस में जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक अर्थात् अंतर्धामी है इस अर्थ में निरुक्त आदि का प्रमाण संस्कृत भाष्य में लिखा है जो देख लेना सहस्र नाम है संपूर्ण जगत् का और असंख्यात का भी नाम है जो जिस के बीच में सब जगत् के असंख्यात शिर आंख और पग ठहर रहे हैं

उस को सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष और सहस्रपात् भी कहते हैं क्योंकि वह अनंत है जैसे आकाश के बीच में सब पदार्थ रहते और आकाश सब से अलग रहता है अर्थात् किसी के साथ बंधता नहीं है इसी प्रकार परमेश्वर को भी जानो (सभूमिः सर्वतस्पृत्वा) सो पुरुष सब जगह से पूर्ण होके पृथिवी को तथा सब लोकों को धारण कर रहा है (अत्यतिष्ठद्) दशांगुलशब्द ब्रह्मांड और हृदय का वाची है अंगुलि शब्द अंग का अवयव वाची है पांच स्थूल भूत और पांच सूक्ष्म ये दोनों मिल के जगत् के दश अवयव होते हैं तथा पांच प्राण मन बुद्धि चित्त और अहंकार ये चार और दशमा जीव और शरीर में जो हृदयदेश है सोभी दश अंगुल के प्रमाण से लिया जाता है जो इन तीनों में व्यापक होके इन के चारों ओर भी परिपूर्ण हो रहा है इस से वह पुरुष कहाता है क्योंकि जो उस दशांगुलस्थान का भी उलंघन कर के सर्वत्र स्थिर है वही सब जगत् का बनाने वाला है ॥ १ ॥

पुरुषण्वेदः सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥ उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(पुरुषण्वे०) एतद्विशेषणयुक्तः पुरुषः परमेश्वरः (यद्भूतं०) यज्जगदुत्पन्नमभूत् यद्भाव्यमुत्पत्स्यमानं चकाराद्वर्तमानं च तत्त्रिकालस्थं सर्वं विश्वं पुरुषण्व कृतवानस्ति नान्यः । नैवातो हि परः काश्चज्जगद्वचयितास्तीति निश्चेतव्यम् । उतापि स ण्वेशान ईषणशीलः सर्वस्येश्वरो ऽमृतत्वस्य मोक्षभावस्य स्वामी दातास्ति । नैवैतद्वानेकस्याप्यन्यस्य सामर्थ्यमस्तीति । पुरुषो यद्यस्मादन्नेन पृथिव्यादिना जगता सहातिरोहति व्यतिरिक्तः सन् जन्मादिरहितोस्ति । तस्मात्स्वयमजः सन्सर्वं जनयति स्वसामर्थ्यादिकारणात्कार्यं जगदुत्पादयति । नास्यादिकारणं किंचिदस्ति किंच सर्वस्यादिनिमित्तकारणं पुरुषण्वस्तीति वेद्यम् ॥ २ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(पुरुषण्वे०) जो पूर्वोक्त विशेषण सहित पुरुष अर्थात् परमेश्वर है सो जो जगत् उत्पन्न हुआ था जो होगा और जो इस समय में है इस तीन प्रकार के जगत् को वही रचता है उससे भिन्न दूसरा कोई जगत् का रचने वाला नहीं है क्योंकि वह (ईशान) अर्थात् सर्वशक्तिमान् है (अमृत) जो मोक्ष है उस का देनेवाला एक वही है दूसरा कोई नहीं सो परमेश्वर (अन्न) अर्थात् पृथिव्यादि जगत् के साथ व्यापक होके स्थित है और इस से अलग भी है क्योंकि उस में जन्म आदि व्यवहार नहीं हैं और अपनी सामर्थ्य से सब जगत् को उत्पन्न भी करता है और आप कभी जन्म नहीं लेता ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा-
भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(एतावानस्य०) अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्तमानस्यो यावान्संसा-
रोस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः । एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य
महिम्नः परिच्छेद इयनाजातेति गम्यते । अत्र ब्रूते (अतो ज्यायांश्च पूरुषः)
नैतावन्मात्र एव महिमेति । किं तर्हि । अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्त-
स्यास्तोति गम्यते । अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य
(विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादि पृथिवीपथ्यंतानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोस्ति
एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्तते (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके
स्वस्वरूपे ऽमृतं मोक्षसुखमस्ति । तथा ऽस्य दिवि द्योतके संसारे त्रिपाज्ज-
गदस्ति । प्रकाशमानं जगदेकगुणमस्ति प्रकाशकं च तस्मात्त्रिगुणमिति
स्वयं च मोक्षस्वरूपः सर्वाधिष्ठाता सर्वोपास्यः सर्वानन्दः सर्वप्रकाश-
कोस्ति ॥ ३ ॥ ॥ भाष्यार्थ ॥

(एतावानस्य०) तीनों काल में जितना संसार है सो सब इस पुरुष
का ही महिमा है प्र० जब उस के महिमा का परिमाण है तो अंत भी होगा
उ० (अतो ज्यायांश्च पूरुषः) उस पुरुष का अनंत महिमा है क्योंकि (पादो-
ऽस्य विश्वाभूतानि) जो यह संपूर्ण जगत् प्रकाशित हो रहा है सो इस पुरुष के
एक देश में बसता है (त्रिपादस्यामृतं दिवि) और जो प्रकाश गुणवाला जगत्
है सो उस से त्रिगुना है तथा मोक्ष सुख भी उसी ज्ञानस्वरूप प्रकाश में है
और वह पुरुष सब प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला है ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभ्वत्पुनः ॥ ततो विष्वङ्
व्यक्रामत्साशना नशने अभि ॥ ४ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(त्रिपादूर्ध्व०) अयं पुरुषः परमेश्वरः पूर्वोक्तस्य त्रिपादोपलक्षितस्य
सकाशादूर्ध्वमुपरिभागे ऽर्थात्पृथग्भूतोऽस्त्येवेत्यर्थः । एकपादोपलक्षितं
यत्पूर्वोक्तं जगदस्ति तस्मादपीहास्मिन्संसारे स पुरुषः पृथग् भवत् । व्यति-
रिक्तएवास्ति । स च त्रिपात्संसारशकपात्र मिलित्वा सर्वश्चतुष्पाद्वति ।
अयं सर्वः संसार इहास्मिन्परमात्मन्येव वर्तते पुनर्लयसमये तत्सामर्थ्याका-
रणे प्रलीनश्च भवति । तथापि स पुरुषोऽविद्यान्धकाराज्ञानजन्ममरणज्वरादि
दुःखादूर्ध्वः परः (उदैत्) उदितः प्रकाशितो वर्तते (ततो वि०) ततस्तत्सा-
मर्थ्यात्सर्वमिदं विश्वमुत्पद्यते किंच तत् (साशना नशने०) यदेकमशने-

न भोजनकरणेन सह वर्तमानं जडमं जीवचेतनादिसहितं जगत् । द्वितीयमनशनमविद्यमानमशनं भोजनं यस्मिंस्तत्पृथिव्यादिकं च यज्जडं जीवसंबन्धरहितं जगद्वर्तते तदुभयं तस्मात्पुरुषस्य सामर्थ्यकारणादेव जायते । यतः स पुरुष एतद्विविधं जगत् विविधतया सुष्ठुरीत्या सर्वात्मतया ऽञ्जति तस्मात् सर्वं द्विविधं जगदुत्पाद्य (अभि व्यक्रामत्) सर्वतो व्याप्रवानस्ति ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(त्रिपादूर्ध्व उदैत्यु०) पुरुष जो परमेश्वर है सो पूर्वोक्त त्रिपाद जगत् से ऊपर भी व्यापक हो रहा है तथा सदा प्रकाशस्वरूप सब में भीतर व्यापक और सबसे अलग भी है (पादोऽस्येहाभवत्युनः०) इस पुरुष की अपेक्षा से यह सब जगत् किंचित्मात्र देश में है और जो इस संसार के चार पाद होते हैं वे सब परमेश्वर के बीच में ही रहते हैं इस स्थूल जगत् का जन्म और विनाश सदा होता रहता है और पुरुष तो जन्म विनाश आदि धर्म से अलग और सदा प्रकाशमान है (ततो विष्वङ् व्यक्रामत्) अर्थात् यह नाना प्रकार का जगत् उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है (साशना न०) सो दो प्रकार का है एक चेतन जो कि भोजनादि के लिये चेष्टा करता और जीव संयुक्त है और दूसरा अनशन अर्थात् जो जड़ और भोजन के लिये बना है क्योंकि उस में ज्ञानही नहीं है और अपने आप चेष्टा भी नहीं कर सकता परंतु उस पुरुष का अनंत सामर्थ्य ही इस जगत् के बनाने की सामर्थी है कि जिससे यह सब जगत् उत्पन्न होता है सो पुरुष सर्व हितकारक हो के उस दो प्रकार के जगत् को अनेक प्रकार से आनन्दित करता है वह पुरुष इस का बनानेवाला संसार में सर्वत्र व्यापक होके धारण करके देखाहा और वही सब जगत् का सब प्रकार से आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः । सजातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(ततो विराडजायत) ततस्तस्माद् ब्रह्माण्डशरीरः सूर्यचन्द्रनेत्रा वायुप्राणः पृथिवीपाद इत्यादालंकारलक्षणलक्षितोहि सर्वशरीराणां समष्टि देहो । विविधैः पदार्थैराजमानः सन् । विराट् अजायतोऽत्यनेनैस्ति (विराजो अधिपूरुषः) तस्माद्विराजोऽधि उपरिपश्चाद् ब्रह्माण्डतन्वावयवैः पुरुषः सर्वप्राणिनां जीवाधिकरणो देहः पृथक्२ । अजायतोऽत्यनेनैभूत् (सजातो अ०) सदेहो ब्रह्माण्डावयवैरेव वर्धते नष्टः संस्तस्मिन्नेव प्रलीयत इति परमेश्वरस्तु सर्वभ्यो भूतेभ्यो ऽत्यरिच्यतातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्ति । (पश्चा-

भूमिमथोपरः) पुरः पूर्वं भूमिमुत्पाद्य धारित्वांस्ततः पुरुषस्य सामर्थ्या-
त्सजीवेऽपि देहं धारितवानस्ति । सच पुरुषः परमात्मा ततस्तस्माज्
जीवादप्यत्यरिच्यत पृथग्भूतोस्ति ॥ ५ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(ततो विराडजायत) विराट् जिस का ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन
क्रिया है जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है जिस को मूलप्रकृति
कहते हैं जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य जिस के सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी
है वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग है इत्यादि लक्षणवाला जो यह
आकाश है सो विराट् कहाना है वह प्रथम कलारूप परमेश्वर के सामर्थ्य
से उत्पन्न होके प्रकाशमान हो रहा है (विराजो अधि०) उस विराट् के तत्त्वा
के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक् २ उत्पन्न हुआ है
जिस में सब जीव वाम करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अव-
यव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होना है (मजातो अन्यरिच्यत)
सो विराट् परमेश्वर से अलग और परमेश्वर भी इस संसाररूप देह से मट्टा
अलग रहता है (पश्चाद्भूमिमथोपरः) फिर भूमि आदि जगत् को प्रथम उत्पन्न
करके पश्चात् जो धारण कर रहा है ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् । पशूँ स्तां श्वके वा-
यव्या नारण्या ग्राम्याश्चये ॥ ६ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(तस्माद्य०) अन्वयार्थो वेदात्पत्तिप्रकरणे कश्चिदुक्तः । तस्मात्परमे-
श्वरात् (संभृतः पृषदाज्यम्) पृषु सेचनेधातुः पर्षन्ति सिञ्चन्ति क्षुन्निवृत्त्या-
दिकारकमन्नादिवस्तु यस्मिं स्तपृषत् । आज्यं घृतं मधुदग्धादिकं च पृषदिति
भक्ष्यान्नोपलक्षणम् । आज्यमिति व्यंजनोपलक्षणम् * यावद्वस्तु जगति वर्तते
तावत्सर्वं पुरुषात्परमेश्वरसमर्थ्यादेव जातमिति बोध्यम् । तत्सर्वमीश्वरेण
स्वल्पं २ जीवैश्च सम्यग्धारितमस्ति । अतः सर्वैरनन्यचित्तेनायं परमे-
श्वरश्चोपास्यो नान्यश्चेति । (पशूँ स्तांश्चक्रे०) यश्चाराण्यान्नस्थाः पशवो
ये च ग्राम्या ग्रामस्थास्तान्सर्वान्स एव चक्रे कृतवानस्ति । सच परमेश्वरो
वायव्यान् वायुसहचरितान्यग्निश्चक्रे चकारादन्यान्सूक्ष्मदेहधारिणः कीट-
पतंगादीनपि कृतवानस्ति ॥ ६ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(तस्माद्यज्ञात्स०) इस मंत्र का अर्थ वेदात्पत्ति प्रकरण में कुछ कर
दिया है पूर्वोक्त पुरुष सेही (संभृतः पृषदाज्यम्) सब भोजन वस्त्र अन्न जल
आदि पदार्थों को सब मनुष्य लोगों ने धारण अर्थात् प्राप्त किया है क्योंकि

उसी के सामर्थ्य से ये सब पदार्थ उत्पन्न हुए और उन्हीं से सब का जीवन भी होता है इससे सब मनुष्य लोगों को उचित है कि उस को छोड़ के किसी दूसरे की उपासना न करें (पशून् स्तां श्वक्र०) गाम और वन के सब पशुओं को भी उसी ने उत्पन्न किया है तथा सब पक्षियों को भी बनाया है और भी सूक्ष्म देहधारी कीट पतंग आदि सब जीवों के देह भी उसी ने उत्पन्न किये हैं ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । कन्दाशसि
जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

अस्यार्थ उक्ते वेदोत्पत्तिप्रकरणे ॥ ७ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः०) इस मंत्र का अर्थ वेदोत्पत्ति विषय में कर दिया है ॥ ७ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये केचोभयादतः । गावोह जज्ञिरे
तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(तस्मादश्वा०) तस्मात्परमेश्वरसामर्थ्यादेवाश्वास्तुरंगा अजायन्त । गाम्यारण्यपशूनां मध्ये ऽश्वादीनामन्तर्भावादेषामुत्तमगुणवत्त्वप्रकाशनार्थोयमारम्भः (ये केचोभयादतः (उभयतो दन्ता येषां त उभयादतो ये केचिदुभयादत उष्णगर्दभादयस्तेऽप्यजायन्त । (गावोहज०) तथा तस्मात्पुरुषसामर्थ्यादेव गावोधेनवः किरणाश्चेन्द्रियाणि च जज्ञिरे जातानि । (तस्माज्जाता अजा०) एवमेव चाजांश्छागा अवयश्च जाता उत्पन्ना इति विज्ञेयम् ॥ ८ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(तस्मादश्वा अजायन्त) उसी पुरुष के सामर्थ्य से अश्व अर्थात् घोड़े और बिजुली आदि सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं (ये केचोभयादतः) जिनके मुख में दोनों ओर दांत होते हैं उन पशुओं को उभयदंत कहते हैं वे ऊंट गधा आदि उसी से उत्पन्न हुए हैं (गावोहज०) उसी से गोजाति अर्थात् गाय, पृथिवी, किरण और इन्द्रिय उत्पन्न हुई हैं (तस्माज्जाता अ०) इसी प्रकार छेरी और भेड़ भी उसी कारण से उत्पन्न हुई हैं ॥ ८ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः । तेन देवा अयजन्त
साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(तं यज्ञं ब०) यमयतो जातं प्रादुर्भूतं जगत्कर्तारं पुरुषं पूषं यज्ञं सर्वपूज्यं परमेश्वरं बर्हिषि हृदयान्तरिक्षे प्रोक्षन्प्रकृष्टतया यस्यैवाभिषेकं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्युपदिश्यत ईश्वरेण (तेन देवा०) तेन पर-

मेश्वरेण पुरुषेण वेदद्वारोपदिष्टास्ते सर्वे देवा विद्वांसः साध्या ज्ञानिनश्च-
षयो मन्त्रद्वाराश्च येचान्ये मनुष्यास्तं परमेश्वरमयजन्ता पूजयन्त । अनेन
किं सिद्धं सर्वमनुष्याः परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासना पुरःसरमेव सर्वक-
र्मानुष्ठानं कुर्युरित्यर्थः ॥ ६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(तं यज्ञं बर्हि०) जो सब से प्रथम प्रगट था जो सब जगत् का बनाने
वाला है और सब जगत् में पूर्ण हो रहा है उस यज्ञ अर्थात् पूजने के योग्य
परमेश्वर को जो मनुष्य हृदयरूप आकाश में अच्छी प्रकार से प्रेमभक्ति
सत्य आचरण करके पूजन करता है वही उत्तम मनुष्य है ईश्वर का यह
उपदेश सब के लिये है (तेन देवा अयजन्त सा०) उमी परमेश्वर के वेदोक्त
उपदेशों से (देवाः) जो विद्वान् (साध्याः) जो ज्ञानि लोग (ऋषयश्चये)
ऋषि लोग जो वेदमंत्रों के अर्थ जानने वाले और अन्य भी मनुष्य जो परमेश्वर
के सत्कारपूर्वक सब उत्तम ही काम करते हैं वेही सुखी होते हैं क्योंकि सब
श्रेष्ठ कर्मों के करने के पूर्वही उम का स्मरण और प्रार्थना अवश्य करनी
चाहिये और दुष्ट कर्म करना तो किसी को उचितही नहीं ॥ ६ ॥

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्यासीत्
किं बाहू किमूरूपादा उच्यते ॥ १० ॥

॥ भाष्यम् ॥

(यत्पुरुषं व्य०) यद्यत्मादेतं पूर्वाक्तलक्षणं पुरुषं परमेश्वरं
कतिधा कियत्प्रकारैः (व्यकल्पयन्) तस्य सामर्थ्यगुणकल्पनं कुर्वन्ती-
त्यर्थः । (व्यदधुः) तं सर्वशक्तिमन्तमीश्वरं विविधसामर्थ्यकथनेनाद-
धुरथादनेकविधं तस्य व्याख्यानं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ।
(मुखं कि०) अस्य पुरुषस्य मुखं मुख्यगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् (किं
बाहू) बलवीर्यादिगुणेभ्यः किमुत्पन्नमासीत् (किमूरू) व्यापारादिमध्य-
मेगुणेः किमुत्पन्नमासीत् (पादा उच्यते) पादावर्थान्मुखत्वादिनीचगुणैः
किमुत्पन्नं वर्तते ॥ अस्योत्तरमाह ॥ १० ॥

॥ भाषार्थ ॥

(यत्पुरुषं०) पुरुष उस को कहते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहा-
ता है (कतिधा व्य०) जिस के सामर्थ्य का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते
हैं क्योंकि उस में निच विचित्र बहुत प्रकार का सामर्थ्य है अनेक कल्पनाओं
से जिस का कथन करते हैं (मुखं किमस्यासीत्) इस पुरुष के मुख अर्थात्
मुख्य गुणों से इस संसार में क्या उत्पन्न हुआ है (किं बाहू) बल वीर्य शूरता
और युद्ध आदि विद्यागुणों से इस संसार में कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ है
(किमूरू) व्यापार आदि मध्यम गुणों से किस की उत्पत्ति हुई है (पादा उ-
च्यते) मुखपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति होती है इन चारों प्रश्न
के उत्तर ये हैं कि ॥ १० ॥

ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरूतदस्य यद्वै-
श्यः । पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ११ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(ब्राह्मणो ऽस्य०) अस्य पुरुषस्य मुखं ये विद्यादयो मुख्यगुणाः
सत्यभाषणोपदेशादीनिकर्माणि च सन्ति तेभ्यो ब्राह्मण आसीदुत्पन्ने
भवतीति । (बाहूराजन्यः कृतः) बलवीर्यादिलक्षणां विता राजन्यः क्षत्रि-
यस्तेन कृत आक्षरं आसीदुत्पन्ने भवति । (ऊरूतदस्य०) कृषिआपारादयो
गुणामध्यमास्तेभ्यो वैश्यो वणिग्जनो ऽस्य पुरुषस्योपदेशादुत्पन्ने भवतीति
वेद्यम् (पद्भ्यां शूद्रो०) पद्भ्यां पादेन्द्रिय नीचत्वमर्थान्जडबुद्धित्वादि-
गुणैर्भ्यः शूद्रः सेवागुणविशिष्टः पराधीनतया प्रवर्तमानो ऽजायत जायत इति
वेद्यम् । अस्योपरि प्रमाणानि वर्णाश्रमप्रकरणे वक्ष्यन्ते ॥ छन्दसिलुङ् लङ्
लिटः ॥ १ ॥ अष्टाध्या० अ० ३ पा० ४ इति सूत्रेण सामान्यकाले त्रयोऽल
कारा विधीयन्ते ॥ ११ ॥ ॥ भाष्यार्थ ॥

(ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीत्) इस पुरुष की आज्ञा के अनुसार जो
विद्या सत्यभाषणादि उत्तम गुण और श्रेष्ठ कर्मों से ब्राह्मणवर्ण उत्पन्न
होता है वह मुख्य कर्म और गुणों के सहित होने से मनुष्यों में उत्तम
कहाता है (बाहूराजन्यः कृतः) और ईश्वरने बल पराक्रम आदि पूर्वाक्त गुणों
से युक्त क्षत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है (ऊरू तदस्य०) खेती व्यापार और
सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशुपालन आदि मध्यम गुणों से
वैश्यवर्ण सिद्ध होता है (पद्भ्यां शूद्रो०) जैसे पग सब से नीच अंग है वैसे
मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है इस विषय के प्रमाण
वर्णाश्रम की व्याख्या में लिखेंगे ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । ओषाद्वायुश्च
प्राणश्च मुखोद्ग्निरजायत ॥ १२ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(चन्द्रमा मनसो०) तस्यः स्य पुरुषस्य मनसो मननशोलात्सामर्थ्या-
च्चन्द्रमा जात उत्पन्नेऽस्ति । तथा चक्षोर्ज्योतिर्मयात्सूर्यो अजायत उत्प-
न्नेऽस्ति (ओषाद्वा०) ओषाकाशमयादाकाशो नभ उत्पन्नमस्ति । वायुमया-
द्वायुस्तत्पन्नेऽस्ति प्राणश्च सर्वेन्द्रियाणि चोत्पन्नानि सन्ति । मुखान्मुख्यज्यो-
तिर्मयादग्निरजायतोत्पन्नेऽस्ति ॥ १२ ॥ ॥ भाष्यार्थ ॥

(चन्द्रमा०) उस पुरुष के मनन अर्थात् ज्ञानस्वरूप सामर्थ्य से चन्द्रमा
और तेजस्वरूप से सूर्य उत्पन्न हुआ है (ओषाद्वा०) ओष अर्थात् अवकाश-
रूप सामर्थ्य से आकाश और वायुरूप सामर्थ्य से वायु उत्पन्न हुआ है तथा

सब इन्द्रियां भी अपने २ कारण से उत्पन्न हुई हैं और मुख्य ज्योतिरूप सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुआ है १२ ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णोद्वैः समवर्तत । पद्भ्यां भूमि-
र्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां २ ॥ अकल्पयन् ॥ १३ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(नाभ्या०) अस्य पुरुषस्य नाभ्या अवकाशमयात्सामर्थ्यादन्तरिक्षमुत्प-
न्नमासीत् । एवं शीर्ष्णः शिरोवदुत्तमसामर्थ्यात्प्रकाशमयात् (द्यौः) सूर्या
दिलोकः प्रकाशात्मकः समवर्तत सम्यगुत्पन्नः सन् वर्तते (पद्भ्यां भूमिः)
पृथिवीकारणमयात्सामर्थ्यात्परमेश्वरेण भूमिर्धरणिरूपादितास्ति जलं च ।
(दिशः श्रो०) शब्दाकाशकारणमयानेन दिश उत्पादिताः सन्ति (तथा
लोकां २ ॥ अकल्पयन्) तथा तेनैव प्रकारेण सर्वलोककारणमयात्साम-
र्थ्यादन्यान्सर्वान् लोकान्स्तवस्थान्स्थायरजङ्गमान्पदार्थान् कल्पयत्परमेश्वर
उत्पादितवानस्ति ॥ १३ ॥ ॥ भाष्यार्थः ॥

(नाभ्याआसीदन्त०) इस पुरुष के अत्यंत सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष
अर्थात् जो भूमि और सूर्य आदि लोकों के बीच में पोल है सोभी नियत किया
हुआ है (शीर्ष्णोद्वैः०) और जिस के सर्वोत्तम सामर्थ्य से सब लोकों के
प्रकाश करने वाले सूर्य आदि लोक उत्पन्न हुए हैं (पद्भ्यां भूमिः) पृथिवी के
परमाणु कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने पृथिवी उत्पन्न की है तथा
जलको भी उम के कारण से उत्पन्न किया है (दिशः श्रोत्रात्) उमने श्रोत्ररूप
सामर्थ्य से दिशाओं को उत्पन्न किया है (तथा लोकां २ ॥ अकल्पयन्) इसी
प्रकार सब लोकों के कारणरूप सामर्थ्य से परमेश्वर ने सब लोक और उन
में बसनेवाले सब पदार्थों को उत्पन्न किया है ॥ १३ ॥

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत । वसन्तोऽस्यासीदाज्यं
ग्रीष्म इध्मः शरद्भुविः ॥ १४ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(यत्पुरुषेण०) देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन
चाग्निहोवाद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यद्यं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत
विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च । इदानीं जगदुत्पत्ता कालस्या-
वयवाख्या साम्युच्यते (वसन्तो०) अस्य यज्ञस्य पुरुषादुत्पन्नस्य वा
ब्राह्माण्डमयस्य वसन्त आज्यं घृतवदस्ति । (ग्रीष्म इध्मः) ग्रीष्मर्तु-
रिध्म इन्धनान्यग्निर्वास्ति । (शरद्भुविः) शरदृतुः पुरोडाशादिबहुविह-
वनीयमस्ति ॥ १४ ॥ ॥ भाष्यार्थः ॥

(यत्पुरुषेण०) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उन को भी ईश्वर
ने अपने २ कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है और वे ईश्वर के द्रिये पदार्थों

का ग्रहण करके पूर्वाक्त यज्ञ का विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं और जो ब्रह्मांड का रचन पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं (वसन्तो०) पुरुषने उत्पन्न किया जो यह ब्रह्मांडरूप यज्ञ है इस में वसन्त ऋतु अर्थात् चैत्र और वैशाख घृत के समान है (योष्म इध्मः) योष्म ऋतु जो ज्येष्ठ और अषाढ इंधन है ॥ श्रावण और भाद्र-पद वर्षा ऋतु । आश्विन और कार्तिक शरद ऋतु ॥ मार्गशीर्ष और पौष हिम ऋतु और माघ तथा फालगुण शिशिर ऋतु कहाती है यह इस यज्ञ में आहुती है सो यहां रूपकालंकार से सब ब्रह्मांड का व्याख्यान जानना चाहिये ॥ १४ ॥

सृज्तास्यांसन्यरिधयस्त्रिसृप्त समिधः कृताः । देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्न्युरुषं पशुम् ॥ १५ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(सप्ताम्या०) अस्य ब्रह्मांडस्य सप्तपरिधयः सन्ति । परिधिर्हि गोलस्यो-परिभागस्य यावतासूत्रेण परिवेष्टनं भवति स परिधिर्ज्ञेयः । अस्य ब्रह्माण्डस्य ब्रह्माण्डान्तर्गतलेकानां वा सप्त २ परिधयो भवन्ति । समुद्र एकस्तदु-परिचसरेणुसहितो वायुर्द्वितीयः । मेघमण्डलं तत्रस्थोवायुस्तृतीयः । वृष्टि-जलं चतुर्थस्तदुपरिवायुः पंचमः । अत्यन्तसूक्ष्मो धनंजयष्णुः । सूचा-त्मा सर्वत्रव्याप्तः सप्तमश्च । एवमेकैकमस्योपरि सप्तसप्तावरणानि स्थितानि सन्ति तस्मान्ते परिधयो विज्ञेयाः (चि सप्तसमिधः कृताः) एकविंशतिः पदार्थाः सामग्र्यस्य चास्ति प्रकृतिर्महत् । बुद्ध्याद्यन्तःकरणं जीवश्चैषैका सामग्री परमसूक्ष्मत्वात् । दशेन्द्रियाणि श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, नासिका, वाक्, पादौ, हस्तौ, पायुः उपस्थं चेति । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पंचतन्मात्राः पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति पंचभूतानि च मिलित्वा दश भवन्ति । एवं सर्वा मिलित्वैकविंशतिर्भवन्त्यस्य ब्रह्माण्डरचनस्य समिधः कारणानि विज्ञेयानि एतेषामवयवरूपाणि तु तन्वानि बहूनि सन्तीति बोध्यम् । (देवाय०) तदिदं येन पुरुषेण रचितं तं यज्ञपुरुषं पशुं सर्व-द्रष्टारं सर्वैः पूजनीयं देवा विद्वांसः (अबध्नन्) ध्यानेन बध्नन्ति तं विहा-येश्वरत्वेन कस्यापि ध्यानं नैव बध्नन्ति नैव कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(सप्ताम्या०) ईश्वर ने एक २ लोक के चारों ओर सात २ परिधि ऊपर २ रची हैं जो गोल चीज के चारों ओर एक मूल से नाप के जितना परिमाण होता है उस को परिधि कहते हैं सो जितने ब्रह्माण्ड में लोक हैं ईश्वर ने उन एक २ के ऊपर सात २ आवरण बनाये एक समुद्र, दूसरा

त्रसरेणु, तीसरा मेघमंडल का वायु, चौथा वृष्टिजल, और पांचमा वृष्टि जल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छठा अत्यंत सूक्ष्म वायु जिस को धनंजय कहते हैं सातमा सूत्रात्मा वायु जो कि धनंजय से भी सूक्ष्म है ये सात परिधि कहाते हैं (त्रि सप्त ममिधः०) और इस ब्रह्मांड की सामग्री २१ इक्कीस प्रकार की कहाती है जिस में से एक प्रकृति बुद्धि और जीव ये तीनों मिलके है क्योंकि यह अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ है ॥ दूसरा श्रोत्र ॥ तीसरी त्वचा । चौथा नेत्र । पांचमी जिह्वा । छठी नासिका । सातमी वाक् । आठमा पग । नवमा हाथ । दशमी गुदा । ग्यारहमा उपस्थ जिस को लिंग इंद्रिय कहते हैं । बारहमा शब्द । तेरहमा स्पर्श । चौदहमा रूप । पंद्रहमा रस । सोलहमा गंध । सत्रहमी पृथिवी । अठारहमा जल । उन्नीसमा अग्नि । बीस-मा वायु । इक्कीसमा आकाश ये ईक्कीस ममिधा कहाते हैं (देवाय०) जो परमेश्वर पुरुष इस सब जगत् का रचनेवाला सब का देखनेवाला और पूज्य है उस को विद्वान् लोग सुन के और उसी के उपदेश से उसी के कर्म और गुणों का कथन, प्रकाश, और ध्यान करते हैं उस को छोड़ के दूसरे को ईश्वर किसी ने नहीं माना और उसी के ध्यान में अपने आत्माओं को दृढ़ बांधने से कल्याण जानते हैं ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । तेह
नाकं महिमानः सचन्त यच्च पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(यज्ञेन यज्ञम०) ये विद्वांसो यज्ञं यजनीयं पूजनीयं परमेश्वरं यज्ञे-
न तत्स्तुतिप्रार्थनेनापासनीयं पूजनेन तमेवायजन्त यजन्ते यज्यन्ति च ।
तान्येव धर्माणि प्रथमानि सर्वकर्मभ्य आदौ सर्वैर्मनुष्यैः कर्तव्यान्यासन्
नच तैः पूर्वं कृतेर्विना केनापि किञ्चित्कर्मकर्तव्यमिति (तेहना०) त ईश्वरो-
पासकाहेति प्रसिद्धं नाकं सर्वदुःखरहितं परमेश्वरं मोक्षं च महिमानः
पूज्याः सन्तः सचन्त समवेता भवन्ति कीदृशं तत् (यच्च पूर्वे साध्याः०)
साध्याः साधनवन्तः कृतसाधनाश्च देवा विद्वांसः पूर्वं अतीता यच्च मोक्षाख्ये-
परमपदे सुखिनः सन्ति न तस्माद्ब्रह्मणश्शतवर्षसंख्यातात्कालात् कदाचि-
त्युनरावर्तन्त इति किंतु तमेव सम सेवन्त ॥ आवाहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्याः ।
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा अग्निनाग्निमयजन्त देवा अग्निः पशुरासीत्तमाल-
भन्त तेनायजन्तेति च ब्राह्मणम् । तानिधर्माणि प्रथमान्यासन् तेहनाकं
महिमानः सम सेवन्त यच्च पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाद्युत्थानो देवगण
इति नेरुक्ताः । नि० अ० १२ खं० ४१ ॥ अग्निनाजीवेनान्तःकरणेनवाग्निं

परमेश्वरमयजन्त । अग्निः पशुरासीत्तमेव देवा आलभन्त । सर्वोपकारकमग्नि-
होवाद्यश्वमेधान्तं भौतिकाग्निनापि यज्ञं देवा सम सेवन्तेति वा । साध्याः
साधनवन्तो यत्र पूर्वं पूर्वभूता मोक्षाख्या नन्देपदे सन्ति । तमभिप्रेत्या
तस्य द्युस्थानो देवगण इति निरुक्तकारा वदन्ति । द्युस्थानः प्रकाशमयः
परमेश्वरः स्थानं स्थित्यर्थं यस्य सः । यद्वा सूर्यप्राणस्थानाः विज्ञानकिरणा-
स्तत्रैव देवगणो देवसमूहो वर्तन्ते इति ॥ १६ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(यज्ञेन यज्ञम०) विद्वानों को देव कहते हैं और वे सबके पूज्य होते हैं
क्योंकि वे सबदिन परमेश्वरही की स्तुति प्रार्थना उपासना और आज्ञा पालन
आदि विधान से पूजा करते हैं इससे सब मनुष्यों को उचित है कि वेदमंत्रों
से प्रथम ईश्वर की स्तुति प्रार्थना करके शुभ कर्मों का आरंभ करें (तेहनाक०)
जो २ ईश्वर की उपासना करनेवाले लोग हैं वे २ सब दुःखों से छूटके सब
मनुष्यों में अत्यन्त पूज्य होते हैं (यत्र पूर्व सा०) जहां विद्वान् लोग परमपुरुषा-
र्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनंद में रहते हैं उमी को मोक्ष कहते
हैं क्योंकि उससे निवृत्त होके संसार के दुःखों में कभी नहीं गिरते ॥ इस अर्थ
में निरुक्तकार का भी यही अभिप्राय है कि जो परमेश्वर के अनंत
प्रकाश में मोक्ष को प्राप्त हुए हैं वे परमेश्वरही के प्रकाश में सदा रहते
हैं उन को अज्ञानरूप अंधकार कभी नहीं होता ॥ १६ ॥

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अद्भ्यः संभृतः ०) तेनपुरुषेण पृथिव्यै पृथिव्युत्पत्त्यर्थमद्भ्योरसः
संभृतः संगृह्यतेन पृथिवी रचिता । एवमग्निरसेनानेः सकाशादाप उत्पादि-
ताः । अग्निश्च वायोः सकाशाद्वायुराकाशादुत्पादित आकाशः प्रकृतेः प्रकृतिः
स्वसामर्थ्याच्च । विश्वं सर्वं कर्मक्रियमाणमस्य स विश्वकर्मो तस्य परमे-
श्वरस्य सामर्थ्यमध्ये कारणाख्ये ऽग्रे सृष्टेः प्राग्जगत्समवर्त्तत वर्त्तमानमा-
सीत् । तदानीं सर्वमिदं जगत्कारणभूतमेव नेदृशमिति । तस्य सामर्थ्य-
स्यांशान् गृहीत्वा त्वष्टारचनकर्तेदं सकलं जगद्विदधत् । पुनश्चेदं विश्वं
रूपवत्वमेति । तदेव मर्त्यस्य मरणधर्मकस्य विश्वस्य मनुष्यस्यापि च
रूपवत्त्वं भवति (आजानमग्रे) वेदाज्ञापनसमये परमात्माज्ञाप्रवान् वेदरू-
पमाज्ञां दत्तवान् मनुष्याय धर्मयुक्तेनैव सकामेन कर्मणा कर्म देवत्वयुक्तं
शरीरं धृत्वा विषयेन्द्रियसंयोगजन्यमिष्टं सुखं भवतु तथा निष्कामेन
विज्ञानपरमं मोक्षाख्यं चेति ॥ १७ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अद्भ्यः संभृतः०) उस परमेश्वर पुरुष ने पृथिवी की उत्पत्ति के लिये जल से साराश रस को ग्रहण करके पृथिवी और अग्नि के परमाणुओं को मिलाके पृथिवी रची है इसी प्रकार अग्नि के परमाणु के साथ जल के परमाणुओं को मिलाके जल को वायु के परमाणुओं के साथ अग्नि के परमाणुओं को मिलाके अग्नि को और वायु के परमाणुओं में वायु को रचा है वैसेही अपने सामर्थ्य से आकाश को भी रचा है जो कि सब तत्त्वों के ठहरने का स्थान है ईश्वरने प्रकृति में लेके घास पर्यंत जगत् को रचा है इसमें ये सब पदार्थ ईश्वर के रचे होने में उम का नाम विश्वकर्मा है जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब वह ईश्वर के सामर्थ्य में कारणरूप में वर्तमान था (तस्य०) जब २ ईश्वर अपने सामर्थ्य में इस कार्यरूप जगत् को रचता है तब २ कार्यजगत् रूप गुणवाला होके स्थान बन के देखने में आता है (तन्मर्त्यस्य देवत्व०) जब परमेश्वर ने मनुष्यशरीर आदि को रचा है तब मनुष्य भी दिव्य कर्म करके देव कहाने हैं और जब ईश्वर की उपासना में विद्याविज्ञान आदि अत्युत्तम गुणों का प्राप्त होते हैं तब भी उन मनुष्यों का नाम देव होता है क्योंकि कर्म से उपासना और ज्ञान उत्तम हैं इस में ईश्वर की यह आज्ञा है कि जो मनुष्य उत्तम कर्म में शरीर आदि पदार्थों को चलाता है वह संसार में उत्तम सुख पाता है और जो परमेश्वरही की प्राप्तिरूप मोक्ष की इच्छा करके उत्तम कर्म उपासना और ज्ञान में पुरुषार्थ करता है वह उत्तम देव होता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय ॥ १८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(वेदाहमेतं पु०) किं विदित्वा त्वं ज्ञानी भवसीति पृच्छयते तदुत्तरमाह । यतः पूर्वाक्तलक्षणविशिष्टं सर्वभ्यो महान्तं वृद्धतममादित्यवर्णं स्वप्रकाशविज्ञानस्वरूपं तमसोऽज्ञानाऽविद्यान्धकारात्परस्तात्पृथग् वर्तमानं परमेश्वरं पुरुषमहं वेद जानाम्यतोऽहंज्ञान्यस्मीति निश्चयः । नैव तमविदित्वा कश्चिज्ज्ञानी भवितुमर्हतीति । कुतः (तमेव विदित्वा०) मनुष्यस्तमेव पुरुषं परमात्मानं विदित्वाऽति मृत्युं मृत्युमतिक्रान्तं मृत्योः पृथग्भूतं मोक्षाख्यमानन्दमेति प्राप्नोति । नैवातोऽन्यथेति । एषकारातमीश्वरं विहाय नैव कस्यचिदन्यस्य लेशमावाप्युपासना केनचित्कदाचित्कार्येति गम्यते । कथमिदं विज्ञायते ऽन्यस्योपासना नैव कार्य्यति (नान्यः पन्था

विद्यते ऽयनाय) इति वचनात् । अयनाय व्यावहारिक पारमार्थिक सुखाया-
ऽन्यो द्वितीयः पन्था मार्गो न विद्यते । किंतु तस्यैवोपासनमेव सुखस्य मार्गो
ऽतोभिन्नस्येश्वरगणनोपासनाभ्यां मनुष्यस्य दुःखमेव भवतीति निश्चयः
अतः कारणादेष एव पुरुषः सर्वैरुपासनीय इति सिद्धान्तः ॥ १८ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(वेदाहमेतं) प्र० किस पदार्थ को जान के मनुष्य ज्ञानी होता है उ० उस
पूर्वाक्त लक्षण सहित परमेश्वरही को यथावत् जान के ठीक २ ज्ञानी होता है
अन्यथा नहीं जो सब से बड़ा सब का प्रकाश करनेवाला और अविद्या अंधकार
अर्थात् अज्ञान आदि दोषों से अलग है उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्ट-
देव जानता हूँ उस को जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो
सकता क्योंकि (तमेव विदित्वा०) उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके
जन्म मरण आदि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से कूट के परमानंदस्वरूप
मोक्ष को प्राप्त होता है अन्यथा किसी प्रकार से मोक्षसुख नहीं हो सकता
इस से क्या सिद्ध हुआ कि उसी की उपासना सब मनुष्य लोगों को करनी
उचित है उससे भिन्न की उपासना करना किसी मनुष्य को न चाहिये क्योंकि
मोक्ष का देनेवाला एक परमेश्वर के बिना दूसरा कोई भी नहीं है इस में
यह प्रमाण है कि (नान्यः पन्था०) व्यवहार और परमार्थ के दोनों सुख का
मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उस का जाननाही है क्योंकि इस के
बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा १९ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(प्रजापति०) सद्यः प्रजापतिः सर्वस्य स्वामी जीवस्यान्यस्य
च जडस्य जगतोऽन्तर्गर्भे मध्येऽन्तर्यामिरूपेणाजायमानोऽनुत्पन्नेऽजः
स त्रित्यं चरति । तत्सामर्थ्यादेवेदं सकलं जगद् बहुधा बहुप्रकारं विजा-
यते विशिष्टतया तप्यद्यते (तस्य योनिं०) तस्य परब्रह्मणो योनिं सत्य-
धर्मानुष्ठानं वेदविज्ञानमेव प्राप्रिकारणं धीरा ध्यानवन्तः (परिप०) परितः
सर्वतः प्रेक्षन्ते (तस्मिन्हतस्थुर्भु०) यस्मिन्भुवनानि विश्वानि सर्वाणि
सर्वे लोकास्तस्युः स्थितिं चक्रिरे । हेति निश्चयार्थं तस्मिन्नेव परमे पुरुषे
धीरा ज्ञानिनोमनुष्या मोक्षानन्दं प्राप्य तस्युः स्थिरा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(प्रजापति०) को प्रजा का पति अर्थात् सब जगत् का स्वामी है

वही जड़ और चेतन के भीतर और बाहर अंतर्यामिरूप से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है जिस ने सब जगत् को उत्पन्न करके अपने चाप सदा अजन्मा रहता है (तस्य योनिं०) जो उस परब्रह्म की प्राप्ति का कारण सत्य का आचरण और सत्यविद्या है उस को विद्वान् लोग ध्यान में देख के परमेश्वर को सब प्रकार से प्राप्त होते हैं (तस्मिन्हृत०) जिस में ये सब भुवन अर्थात् लोक ठहर रहे हैं उसी परमेश्वर में जानी लोग भी सत्य निश्चय से मोक्षसुख को प्राप्त होके जन्म मरण आदि आने जाने से कूट के आनन्द में सदा रहते हैं ॥ १९ ॥

यो देवेभ्य आतर्पति यो देवानां पुरोहितः । पूर्वा यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मणे ॥ २० ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(यो देवेभ्य०) यः पूर्णः पुरुषो देवेभ्यो विद्वद्भ्यस्तत्प्रकाशार्थमातर्पति आसमन्तान्तरण करणे प्रकाशयति नान्येभ्यश्च । यश्च देवानां विदुषां पुरोहितः सर्वैः सुखैः सह मोक्षे विदुषो दधाति । (पूर्वा यो देवेभ्यो जातो०) देवेभ्यो विद्वद्भ्यो यः पूर्वः पूर्वमेव सनातनत्वेन वर्तमानः सन् जातः प्रसिद्धोऽस्ति (नमो रुचाय०) तस्मै रुचाय रुचिकराय ब्रह्मणे नमोऽस्तु । यश्च देवेभ्यो विद्वद्भ्यो ब्रह्मोपदेशं प्राप्य ब्रह्मरुचिर्ब्राह्म-ब्रह्मणोऽपत्यमिव वर्तमानोऽस्ति । तस्मा अपि ब्राह्मणे ब्रह्मसेवकाय नमोऽस्तु ॥ २० ॥ ॥ भाष्यार्थ ॥

(यो देवेभ्य०) जो परमात्मा विद्वानों के लिये सदा प्रकाशस्वरूप है अर्थात् उन के आत्माओं को प्रकाश में कर देता और वही उन का पुरोहित अर्थात् अत्यंत सुखों से धारण और पोषण करनेवाला है इस से वे फिर दुःखसागर में कभी नहीं गिरते । (पूर्वा यो देवेभ्यो जातो०) जो सब विद्वानों से आदि विद्वान् और जो विद्वानों के ही ज्ञान से प्रसिद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष होता है (नमो रुचाय०) उस अत्यंत आनंदस्वरूप और सत्य में रुचि करानेवाले ब्रह्म को हमारा नमस्कार हो और जो विद्वानों से वेद-विद्यादि को यथावत् पढ़ के धूर्मात्मा अर्थात् ब्रह्म को पिता के समान मान के सत्यभाव से प्रेम प्रीति करके सेवा करनेवाला जो विद्वान् मनुष्य है उस को भी हमलोग नमस्कार करते हैं ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन् । यत्स्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असुन्वग्ने ॥ २१ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(रुचं ब्राह्मं०) रुचं प्रीतिकरं ब्राह्मं ब्रह्मणोऽपत्यमिव ब्रह्मणः सत्त्वाशक्त्या ज्ञानं जनयन्त उत्पादयन्तो देवा विद्वानोऽन्येषामग्रे तज्-

ज्ञानं तज्ज्ञानसाधनं वा ऽब्रुवन् ब्रुवन्तूपदिशन्तु च (यस्त्वैवं०) यस्त्वैव-
ममुना प्रकारेण तद्ब्रह्म ब्राह्मणो विद्यात् (तु) पश्चात्तस्यैव ब्रह्मविदो
ब्राह्मणस्य देवा इन्द्रियाणि वशे असन् भवन्ति नान्यस्येति ॥ २१ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(रुचं ब्राह्म०) जो ब्रह्म का ज्ञान है वही अत्यंत आनंद करनेवाला और
उस मनुष्य की उम में रुचि का बढानेवाला है जिस ज्ञान को विद्वान् लोग अन्य
मनुष्यों के आगे उपदेश करके उन को आनंदित कर देते हैं (यस्त्वैवं ब्राह्मणो०)
जो मनुष्य इस प्रकार से ब्रह्म को जानता है उसी विद्वान् के सब मन आदि
इन्द्रिय वश में हो जाते हैं अन्य के नहीं ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहैराचे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ
व्यात्तम् ॥ इषान्निषाणामुं इषाण सर्वज्ञोक्तं इषाण ॥ २२ ॥ य०
अ० ३१ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(श्रीश्च ते०) हे परमेश्वर ते तव (श्रीः) सर्वा शोभा (लक्ष्मीः)
शुभलक्षणवती धनादिश्च द्वे प्रिये पत्न्यौ पत्नीवत्सेवमानेस्तः । तथा हो-
राते द्वे ते तव (पार्श्वे०) पार्श्ववत्स्तः । ये कालचक्रस्य कारणभूतस्यापि
कृत्वाद्यववद्वर्तते सूर्याचन्द्रमसौ नेत्रे वा तथैव नक्षत्राणि तवैव सामर्थ्य-
स्यादिकारणस्यावयवाः सन्ति तत्त्वयि रूपवदास्ति । अश्विनौ द्वाशगृथि-
यौ तवैव (व्यात्तम्) विक्राशितं मुखमिव वर्तते । तथैव यत् किंचित्सौन्द-
र्यगुणयुक्तं वस्तु जगति वर्तते तदपिरूपं तवैव सामर्थ्याज्जातमिति
जानीमः । हे विराडधिकरणेश्वरमेमामुं परलोकं मोक्षाख्यं पदं कृपाकृता-
क्षेण (इषान्) इच्छन्स्व (इषाण) स्वेच्छया निष्पादय तथा सर्वलोकं
सर्वलोकसुखं सर्वलोकराज्यं वा मदर्थं कृपया त्वमिषाणेच्छस्वाराज्यं सिद्धं कुरु ।
यवमेव सर्वाः शोभा लक्ष्मीश्च शुभलक्षणवतीः सर्वाः क्रिया मे मदर्थमिषाण
हे भगवन् पुरुषपूर्णपरमेश्वरसर्वशक्तिमन् कृपया सर्वान् शुभान् गुणान्मह्यं
देहि । दुष्टानशुभदोषांश्च विनाशय सद्यः स्वानुग्रहेण सर्वोत्तमगुणभाजनं
मां भवान्करोत्विति ॥ अथ प्रमाणानि ॥ श्रीहिं पशवः । श० कां० १ अ०
८ । श्रीवै सोमः । श० कां० ४ अ० ५ । श्रीवैराष्ट्रं श्रीवैराष्ट्रस्य भारः । श० कां०
१३ अ० १ ॥ लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लप्स्यनाद्वा लाज्जनाद्वा लभतेर्वा स्या-
त्प्रेप्सा कर्मणो लज्जतेर्वा स्यादश्लाघाकर्मणः शिघ्रे इत्युपरिष्ठाद्वा ख्यास्यामः ॥
नि० अ० ४ खं० १० । अथ श्रीलक्ष्म्योः पूर्वोक्तयोरर्थसंगतिरस्तीति बोध्यम् ॥ २२ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता ॥

॥ भाषार्थ ॥

(श्रीश्च ते) हे परमेश्वर जो आप की अनंत शोभा रूप श्री और जो अनंत शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मी है वे दोनों स्त्री के समान हैं अर्थात् जैसे स्त्री पति की सेवा करती है इसी प्रकार आप की सेवा आपही को प्राप्त होती है क्योंकि आपने ही सब जगत् को शोभा और शुभलक्षणों से युक्त कर रक्खा है परंतु ये सब शोभा और सत्यभाषणादि धर्म के लक्षणों से लाभ ये दोनों आपकी ही सेवा के लिये हैं सब पदार्थ ईश्वर के आधीन होने में उस के विषय में यह पत्नी शब्द के रूपकालंकार से वर्णन किया है वैसे ही जो दिन और रात्रि ये दोनों बगल के समान हैं तथा सूर्य और चन्द्र भी दोनों आप के बगल के समान वा नेत्रस्थानी हैं और जितने ये नक्षत्र हैं वे आप के रूप स्थानी हैं और द्यौः जो सूर्य आदि का प्रकाश और विद्युत् अर्थात् बिजुली ये दोनों मुखस्थानी हैं तथा आठ के तुल्य और जैसा खुला मुख होता है इसी प्रकार पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में जो पोल है सो मुख के सदृश है (दृष्णत्) हे परमेश्वर आप की दया से (अमुं) परलोक जो मोक्ष सुख है उस को हमलोग प्राप्त होते हैं इस प्रकार की कृपाद्रष्ट से हमारे लिये इच्छा करो तथा मैं सब संसार में सब गुणों से युक्त हाके सब लोकों के सुखों का अधिकारी जैसे हाक वैसी कृपा और इस जगत् में मुझ को सर्वोत्तम शोभा और लक्ष्मी से युक्त सदा कीर्तये यह आप से हमारी प्रार्थना है सो आप कृपा से पूरी कीर्तये ॥ २२ ॥

इति पुरुषसूक्तव्याख्या समाप्ता ॥

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ॥
कियतास्कम्भः प्रविवेश तच्च यन्न प्राविशत् कियत्तद्वभूव ॥ १ ॥ अथ-
र्व० कां० १० अनु० ४ । मं० ८ ॥ देवाः पितरौ मनुष्या गंधर्वाप्स-
रसश्च ये । उच्छिष्टाज्जिह्वे सर्वे दिवि देवादिदिवि श्रितः ॥ २ ॥ अथर्व०
कां० ११ प्रपा० २४ अनु० २ मं० २७ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(यत्परम०) यत्परमं सर्वोत्कृष्टं प्रकृत्यादिकं जगत् । यच्च (अवमं
निकृष्टं तृणमृत्निका क्षुद्रकृमिकीटादिकं चास्ति (यच्च म०) यन्मनुष्यदेहा-
द्याकाशपर्यन्तं मध्यमं च तत्त्रिविधं सर्वं जगत् प्रजापतिरेव (ससृजे वि०)
स्वसामर्थ्यरूपकारणात् । उत्पादितवानस्ति ॥ योऽस्य जगतो विविधं रूपं
सृष्टवानस्ति (कियता०) एतस्मिंस्त्रिविधे जगति स्कम्भः प्रजापतिः स परमे-
श्वरः कियतासम्बन्धेन प्रविवेश न चैतत् परमेश्वरे (यन्न०) यत्त्रिविधं जग-
त्प्राविशत् तत् कियद्बभूव । तदिदं जगत् परमेश्वरापेक्षया लघुमेवास्तीति ॥ १ ॥

(देवाः०) देवा विद्वांसः सूर्यादयो लोकाश्च पितरो ज्ञानिनः मनुष्यामनन-
शीलाः गंधर्वागानविद्याविदः सूर्यदयो वा अप्सरस एतेषां स्त्रियश्च ये चापि
जगति मनुष्यादिजातिगणा वर्तन्ते ते सर्व उच्छिष्टात्सर्वस्मदूर्ध्वं शिष्टात्परमे-
श्वरान्त्सामर्थ्याच्च जज्ञिरे जाताः सन्ति । ये (दिवि देवा दिविश्रितः)
दिवि देवाः सूर्यादयो लोका ये च दिविश्रिताश्चन्द्रपृथिव्यादयो लोकास्तेपि
सर्वे तस्मादेवोत्पन्ना इति । इत्यादयो मन्त्रा एतद्विषया वेदेषु बहवः सन्ति ॥

इति सन्धेपतः सृष्टिविद्याविषयः समाप्तः ॥ ॥ भाषार्थः ॥

(यत्परम०) जो उत्तम मध्यम और नीच स्वभाव से तीन प्रकार का
जगत् है उस सब को परमेश्वर ने ही रचा है उस ने इस जगत् में नाना प्रकार
की रचना की है और एक वही इस सब रचना को यथावत् जानता है और
इस जगत् में जो कोई विद्वान् होते हैं वे भी कुछ २ परमेश्वर की रचना के
गुणों को जानते हैं वह परमेश्वर सब को रचता है और आप रचना में
कभी नहीं आता ॥ १ ॥ (देवाः पितरो०) विद्वान् अर्थात् पंडित लोग और
सूर्य लोक भी (ज्ञानिनः) अर्थात् यथार्थ विद्या को जानने वाले (मनुष्याः)
अर्थात् विचार करने वाले (गंधर्वाः) अर्थात् गान विद्या के जानने वाले सूर्यादि
लोक और (अप्सरसः) अर्थात् इन सब की स्त्रियां ये सब लोग और दूसरे
लोग भी उसी ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं (दिवि देवाः) अर्थात् जो
प्रकाश करने वाले और प्रकाशस्वरूप सूर्यादि लोक और (दिविश्रिताः) अर्थात्
चंद्र और पृथिवी आदि प्रकाशरहित लोक वे भी उसी के सामर्थ्य से उत्पन्न
हुए हैं ॥ २ ॥ वेदों में इस प्रकार के सृष्टि विधान करनेवाले मंत्र बहुत हैं
परंतु ग्रंथ अधिक न हो जाय इसलिये सृष्टिविषय सन्धेप से लिखा है ॥

इति सृष्टिविद्याविषयः ॥

॥ अथ पृथिव्यादि लोक भ्रमणविषयः ॥

अथेदं विचार्यते पृथिव्यादयो लोका भ्रमन्त्या होस्विन्नेति । अचो-
च्यते । वेदादिशास्त्रोक्तरीत्या पृथिव्यादयो लोकाः सर्वे भ्रमन्त्येव । तत्र
पृथिव्यादिभ्रमणविषये प्रमाणम् ॥

आयंगौः पृश्निरक्रमीदसंदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्तवः ॥

१ ॥ य० अ० ३ मं० ८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

आस्या भि० आयंगोरित्यादिमंत्रेषु पृथिव्यादयो हि सर्वे लोका भ्रम-
न्त्येवेति विज्ञेयम् ॥ (आयंगौः०) आयंगौः पृथिवीगोलः सूर्यश्चन्द्रोऽन्यो
लोको वा पृश्नमन्तरिक्षमाक्रमीदाक्रमणं कुर्वन्सन् गच्छतीति तथाऽन्येपि ।
तत्र पृथिवीमातरं समुद्रजलमसदत् समुद्रजले प्राप्ता सती । तथा (स्वः)

सूर्य्यपितरमग्निमयं च । पुरः पूर्वं पूर्वं प्रयन्सन् सूर्य्यस्य परितो याति ।
 एवमेव सूर्य्यो वायुं पितरमाकाशं मातरं च । तथा चन्द्रोऽग्निं पितरमपोमातरं
 प्रतिचेति योजनीयम् ॥ अत्र प्रमाणानि । गौः । गमा जमेत्याद्येकविंशतिषु
 पृथिवीनामसु गौरिति पठितं यास्ककृते निघण्टो । तथाच । स्वः । पृश्निः ।
 नाकइति षट्सु साधारणनामसु पृश्निरित्यन्तरिक्षस्य नामोक्तम् ॥ निरुक्ते ।
 गौरिति पृथिव्यानामधेयं यदूरंगता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति ।
 निरु० अ० २ खं० ५ ॥ गौरादित्यो भवति गमयति रमान् गच्छत्यन्तरिक्षेय
 द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरंगता भवति यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति । निरु०
 अ० २ खं० १४ ॥ सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमागंधर्व इत्यपि निगमो भवति सोऽपि
 गौरुच्यते । निरु० अ० २ खं० ६ । स्वरादित्यो भवति । निरु० अ० २ खं० १४
 गच्छति प्रतिक्षणं भ्रमति या सा गौः पृथिवी । अद्भ्यः पृथिवीति तैत्ति-
 रीयोपनिषदि । यस्माद्यज्जायते सोऽर्थस्तस्य मातापितृवद् भवति । तथा-
 स्वः शब्देनादित्यस्य ग्रहणात् पितुर्विशेषणत्वादित्योऽस्याः पितृवदिति
 निश्चीयते । यदूरंगता दूरंदूरं सूर्य्याद्गच्छतीति विज्ञेयम् । एवमेव सर्वे
 लोकाः स्वस्य स्वस्य कक्षायां वाय्वात्मनेश्वरसतया च धारिताः सन्तो
 भ्रमन्तीति सिद्धान्तो बोध्यः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

अत्र सृष्टिविद्याविषय के पश्चात् पृथिवी आदि लोक घूमते हैं वा नहीं
 इस विषय में लिखा जाता है इस में यह सिद्धान्त है कि वेदशास्त्रों के
 प्रमाण और युक्ति से भी पृथिवी और सूर्य्य आदि सब लोक घूमते हैं इस
 विषय में यह प्रमाण है ॥

(आयं गौः०) गौ नाम है पृथिवी सूर्य्य चन्द्रमादि लोकों का वे सब
 अपनी २ परिधि में अंतरिक्ष के मध्य में सदा घूमते रहते हैं परंतु जो जल है
 सो पृथिवी की माता के समान है क्योंकि पृथिवी जल के परमाणुओं के साथ
 अपने परमाणुओं के संयोग सेही उत्पन्न हुई है और मेघमंडल के जल
 के बीच में गर्भ के समान सदा रहती है और सूर्य्य उस के पिता के समान
 है इस से सूर्य के चारों ओर घूमती है इसी प्रकार सूर्य्य का पिता वायु
 और आकाश माता तथा चन्द्रमा का अग्नि पिता और जल माता उनके
 प्रति वे घूमते हैं इसी प्रकार से सब लोक अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं
 इस विषय का संस्कृत में निघंटु और निरुक्त का प्रमाण लिखा है उस को देख
 लेना इसी प्रकार सूत्रात्मा जो वायु है उस के आधार और आकर्षण से सब
 लोकों का धारण और भ्रमण होता है तथा परमेश्वर अपने सामर्थ्य से पृथिवी
 आदि सब लोकों का धारण भ्रमण और पालन कर रहा है ॥ १ ॥

या गौर्वर्त्तनिं पर्य्येति निष्कृतं पथो दुहाना व्रतनोरवारतः ।
सा प्रब्रुवाणा वरुणाय दाशुषे देवेभ्यो दाशहविषा विवस्वते ॥ २ ॥
ऋ० अ० ८ अ० २ व० १० मं० ॥ १ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(या गौर्वर्त्तनि०) या पूर्वोक्ता गौर्वर्त्तनिं स्वकीयमार्गं (अवारतः) निरंतरं भ्रमती सती पर्य्येति । विवस्वतेऽर्थात्सूर्य्यस्य * परितः सर्वतः स्वस्वमार्गं गच्छति । (निष्कृतं) कथंभूतं मार्गं तत्तद्गमनार्थमीश्वरेण (निष्कृतं) निष्पादितम् । (पथो दुहाना०) अवारतो निरंतरं पथो दुहाना ऽनेकरसफलादिभिः प्राणिनः प्रपूरयती । तथा व्रतनी व्रतं स्वकीयभ्रमणादि सत्यनियमं प्रापयन्ती (साप्र०) दाशुषे दानकर्त्रे वरुणाय श्रेष्ठकर्मकारिणे देवेभ्यो विद्वद्भ्यश्च हविषा हविर्दानेन सर्वाणि सुखानि दाशत् ददाति किं कुर्वती प्रब्रुवाणा सर्वप्राणिनां व्यक्तवाण्या हेतुभूतासतीयं वर्त्तत इति ॥ २ ॥ ॥ भाष्यार्थ ॥

(या गौर्व०) जिस २ का नाम गौ कह आये हैं सो २ लोक अपने २ मार्ग में घूमता और पृथिवी अपनी कक्षा में सूर्य के चारों ओर घूमती है अर्थात् परमेश्वर ने जिस २ के घूमने के लिये जो २ मार्ग निष्कृत अर्थात् निश्चय किया है उस २ मार्ग में सब लोक घूमते हैं (पथो दुहाना०) वह गौ अनेक प्रकार के रस फल फूल तृण और अर्चादि पदार्थों से सब प्राणियों को निरंतर पूर्ण करती है तथा अपने २ घूमने के मार्ग में सब लोक सदा घूमते २ नियमही से प्राप्त हो रहे हैं (सा प्रब्रुवाणा०) जो विद्यादि उत्तम गुणों का देनेवाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिये सब जगत् दृष्टांत है और जो विद्वान् लोग हैं उन को उत्तम पदार्थों के दान से अनेक सुखों का भूमि देती और पृथिवी सूर्य वायु और चन्द्रादि गौही सब प्राणियों की वाणी का निमित्त भी है ॥ २ ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानो ऽनुद्यावां पृथिवी आतंतथ ।
तस्मै तद्भुङ्क्षो हविषा विधेम व्यंस्थाम् पतयोरथीणाम् ॥ ३ ॥ ऋ०
अ० ६ अ० ४ व० १३ मं० ३ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(त्वं सोम०) अस्याभिप्रा० अस्मिन्मन्त्रे चन्द्रलोकः पृथिवीमनु-भ्रमतीत्ययं विशेषोऽस्ति । अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत्पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिमनुभ्रमति । कदा चित्सूर्यपृथि-व्योर्मध्येऽपि भ्रमन्सन्नागच्छतीत्यर्थः अस्यार्थं भाष्यकरणसमये स्पष्टतया वक्ष्या-

मि । तथा द्यावापृथिवी एजेते इति मन्त्रवर्णार्थादौः सूर्यः पृथिवी च प्रम-
तश्चल तदित्यर्थः । अर्थात्स्वस्यां स्वस्यां कक्षायां सर्वे लोका भ्रमन्तीति
सिद्धम् ॥ इति पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः संक्षेपतः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(त्वं सोम०) इस मंत्र में यह बात है कि चन्द्रलोक पृथिवी के चारों
ओर घूमता है कभी २ सूर्य और पृथिवी के बीच में भी आजाता है इस
मंत्र का अर्थ अच्छी तरह से भाष्य में करेंगे तथा (द्यावा पृथिवी) यह बहुत
मंत्रों में पाठ है कि द्याः नाम प्रकाश करनेवाले सूर्य आदि लोक और जो
प्रकाशरहित पृथिवी आदि लोक हैं वे सब अपनी २ कक्षा में सदा घूमते हैं
इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोक भ्रमण करते हैं ३ ॥

इति संक्षेपतः पृथिव्यादिलोकभ्रमणविषयः ॥

॥ अथाकर्षणानुकर्षणविषयः ॥

यदा ते ह्य्यता हरी वा वृधा ते दिवे दिवे । आदिते विश्वा
भुवनानि येमिरे ॥ १ ॥ ऋ० अ० ६ अ० १ व० ६ मं० ३ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(यदा ते०) अस्याभिप्रा० सूर्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षण-
मस्तीश्वरेण सह सूर्यादिलोकानां चेति । हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य यदा
यस्मिन्काले ते हरी आकर्षण प्रकाशन हरणशक्ति बलपराक्रमगुणावश्वौ
किरणौ वा ह्य्यता ह्य्यते प्रकाशवन्तावत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्यां
(आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ते तव गुणाः प्रकाश-
कर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सर्वान् लोकानाकर्षणेन
येमिरे नियमेन धारयन्ति । अतः कारणात्सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहाये-
तस्ततो नैव विचलन्तीति ॥ १ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(यदा ते०) इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ
सूर्य का आकर्षण और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है
(यदा ते०) हे इंद्र परमेश्वर आप के अनंत बल और पराक्रमगुणों से सब
संसार का धारण आकर्षण और पालन होता है आप के ही सब गुण सूर्यादि
लोकों को धारण करते हैं इस कारण से सब लोक अपनी २ कक्षा और स्थान
से इधर उधर चलायमान नहीं होते दूसरा अर्थ इंद्र जो वायु सूर्य है इस
में ईश्वर के रचे आकर्षण प्रकाश और बल आदि बड़े २ गुण हैं उन से
सब लोकों का दिन २ और क्षण २ के प्रति धारण आकर्षण और प्रकाश
होता है इस हेतु से सब लोक अपनी २ ही कक्षा में चलते रहते हैं इधर
उधर विचल भी नहीं सकते ॥ १ ॥

यदा ते मासुतीर्विश्वस्तुभ्यमिन्द्रनियेमिरे ॥ आदित्ते विश्वा भु-
वन्नानि येमिरे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ६ अ० १ व० ६ मं० ४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(यदा ते मासुती०) अस्याभिप्रा० अत्रापि पूर्वमन्त्रवदाकर्षणवि-
द्यास्तीति । हे पूर्वोक्तेन्द्र यदा ते तब मासुतीर्मासुत्यो मरणधर्माणो मरु-
त्प्रधाना वा विश्वः प्रजास्तुभ्यं येमिरे तवाकर्षणधारणनियमं प्राप्नुवन्ति तदेव
सर्वाणि विश्वानि भुवनानि स्थितिं लभन्ते । तथा तवैव गुणैर्नियेमिरे ।
आकर्षणनियमं प्राप्नुवन्ति सन्ति । अत एव सर्वाणि भुवनानि यथा कलं
भ्रमन्ति वसन्ति च ॥ २ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(यदा ते मासुती) अभि० इस मंत्र में भी आकर्षण विद्या है हे परमे-
श्वर आप की जो प्रजा उत्पत्ति स्थिति और प्रलय धर्मवाली और जिस में
वायु प्रधान है वह आप के आकर्षणादि नियमों से तथा सूर्य लोक के आकर्षण
करके भी स्थिर होरही है जब इन प्रजाओं को आप के गुण नियम में रखते हैं तभी
भुवन अर्थात् सब लोक अपनी २ कक्षा में घूमते और स्थान में बस रहे हैं ॥ २ ॥

यदा सूर्यममुं दृष्ट्वि शुक्रं ज्योतिरधारयः आदित्ते विश्वा
भुवन्नानि येमिरे ॥ ३ ॥ ऋ० अ० ६ अ० १ व० ६ मं० ५ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(यदा सूर्य०) अभि० अत्रापि पूर्ववदभिप्रायः । हे परमेश्वरामुं
सूर्यं भवात्रचितवानस्ति । यद्विद्योतनात्मके त्वयि शुक्रमनन्तं सामर्थ्यं
ज्योतिः प्रकाशमयं वर्तते । तेन त्वं सूर्यादिलोकानधारयो धारितवानसि
(आदित्ते) तदनन्तरं (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि भुवनानि सूर्यादयो
लोका अपि (येमिरे) तदा कर्षणनियमेनैव स्थिराणि सन्ति । अर्थाद्यथा
सूर्यस्या कर्षणेन पृथिव्यादयोलोकास्तिष्ठन्ति । तथा परमेश्वरस्याकर्षणेनैव
सूर्यादयः सर्वे लोका नियमेन सह वर्तन्त इति ॥ ३ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(यदा सूर्य०) अभि० इस मंत्र में भी आकर्षणविचार है हे परमेश्वर जब
उन सूर्यादि लोकों को आप ने रचा और आप के ही प्रकाश से प्रकाशित हो
रहे हैं और आप अपने अनन्त सामर्थ्य से उन का धारण कर रहे हो इसी
कारण से सूर्य और पृथिवी आदि लोकों और अपने स्वरूप को धारण कर
रहे हैं इन सूर्य आदि लोकों का सब लोकों के साथ आकर्षण से धारण
होता है इससे यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर सब लोकों का आकर्षण और
धारण कर रहा है ॥ ३ ॥

व्यस्तभ्राद्रोदसी मिचो अद्भुतोन्तर्वावदकृणे ज्योतिषा त-
मः । विचर्मणीव धिषणे अवर्तयद्वैश्वानरो विश्वमधत्त वृष्यम् ॥ ४ ॥

च० अ० ४ अ० ५ व० १० मं० ३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(व्यस्तभ्राद्रोदसी०) अभि० । परमेश्वर सूर्यलोको सर्वालोकाना-
कर्षणप्रकाशाभ्यां धारयत इति । हे परमेश्वर तव सामर्थ्येनैव वैश्वानरः
पूर्वाक्तः सूर्यादिलोको रोदसी द्यावापृथिव्यौ भूमिप्रकाशौ व्यस्तभ्रास्तम्भि-
तवानस्ति । अतो भवान् मिचडव सर्वेषां लोकानां व्यवस्थापकोस्ति । अद्भुत
आश्चर्यस्वरूपः स सवितादिलोको ज्योतिषा तमोन्तरकृणेतिरोहितं निवा-
रितं तमः करोति । वावतथैव धिषणे धारणकर्म्यौ द्यावापृथिव्यौ धारणा-
कर्षणेन व्यवर्तयत् । विविधतयैतयोर्वर्तमानं कारयति । कस्मिन्नैव चर्म-
ण्याकर्षितानि लोमानीव । यथा त्वचि लोमानि स्थितान्याकर्षितानि भवन्ति ।
तथैव सूर्यादिबलाकर्षणेन सर्वे लोकाः स्थापिताः सन्तीति विज्ञेयम् ।
अतः किमागतं वृष्यं वीर्यवद्विश्वं सर्वं जगत् सूर्यादिलोको धारयति
सूर्यादेर्धारणमेश्वरः करोतीति ॥ ४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(व्यस्तभ्राद्रोदसी०) अभि० इस मंत्र में भी आकर्षणविचार है हे पर-
मेश्वर आप के प्रकाश से ही वैश्वानर सूर्य आदि लोकों का धारण और प्रकाश
होता है इस हेतु से सूर्य आदि लोक भी अपने २ आकर्षण से अपना और
पृथिवी आदि लोकों का भी धारण करने में समर्थ होते हैं इस कारण से
आप सब लोकों के परम मित्र और स्थापन करने वाले हैं और आप का
सामर्थ्य अत्यंत आश्चर्यरूप है सो सविता आदि लोक अपने प्रकाश से
अंधकार को निवृत्त कर देते हैं तथा प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप इन
दोनों लोकों का समुदाय धारण और आकर्षण व्यवहार में वर्तते हैं इस
हेतु से इन से नाना प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है वह आकर्षण किस
प्रकार से है कि जैसे त्वचा में लोमों का आकर्षण होरहा है वैसेही सूर्य
आदि लोकों के आकर्षण के साथ सब लोकों का आकर्षण हो रहा है और
परमेश्वर भी इन सूर्य आदि लोकों का आकर्षण कर रहा है ॥ ४ ॥

आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्मृतं मर्त्यं च । हिर-
ण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ १ ॥ य० अ० ३३
मं० ४३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(आकृष्णेन०) अभि० अवाप्याकर्षणविद्यास्तीति । सविता पर-
मात्मा सूर्यलोको वा रजसा सर्वलोकैः सहाकृष्णेनाकर्षणगुणेनासह वर्तमा-

नोस्ति । कथंभूतेन गुणेन हिरण्ययेन ज्योतिर्मयेन । पुनः कथंभूतेन रमणा-
नन्दादिव्यवहारसाधक ज्ञानतेजोरूपेण रथेन किं कुर्वन् सन्मर्त्य मनुष्यलोक-
ममृतं सत्यविज्ञानं किरणसमूहं वा स्वस्वकक्षायां निवेशयन् व्यवस्थापयन्सन् ।
तथा च मर्त्यं पृथिव्यात्मकं लोकं प्रत्यमृतं मोक्षमोक्षध्यात्मकं वृष्ट्यादिकं
रसं च प्रवेशयन्सूर्य्या वर्तमानोस्ति । सच सूर्य्यादेवोद्योतनात्मको भव-
नानि सर्वान् लोकान्धारयति । तथा पश्यन्दर्शयन्सन् रूपादिकं विभक्तं
याति प्रापयतीत्यर्थः । अस्मात्पूर्वमंवाद् द्युभिरक्तुभिरिति पदानुवर्तनात्सू-
र्य्याद्युभिः सर्वैर्दिवसैरक्तुभिः सर्वाभिराचिभिश्चाथ्यात्सर्वाल्लोकान्प्रतिक्षणमा-
कर्षतीति गम्यते । एवं सर्वेषु लोकेष्व्यात्मिका स्वास्याप्याकर्षणशक्तिरस्त्येव ।
तथानन्ताकर्षणशक्तिस्तु खलु परमेश्वरेस्तीति मन्तव्यम् । रजोलोकानां नामा-
स्ति । अत्राहुर्निरुक्तकारायास्काचार्याः ॥ लोका रजां स्युच्यन्ते । निरु० अ० ४
खं० १६ रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोस्मिंस्ति-
ष्ठतीति वारयतेर्वा रसतेर्वा । निरु० अ० ६ खं० ११ ॥ विश्वानरस्यादि-
त्यस्य । निरु० अ० १२ खं० २१ ॥ अतो रथशब्देन रमणानंदकरं ज्ञानं
तेजो गृह्यते । इत्यादयोमंवा वेदेषु धारणाकर्षणविधायका बहवः सन्
तीति बोध्यम् ॥ १ ॥

॥ इति धारणाकर्षणविद्याविषयः संचेपतः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(आह्वणेन०) अभि० । इस मंत्र में भी आकर्षणविद्या है । सविता
जो परमात्मा वायु और सूर्यलोक है वे सब लोकों के साथ आकर्षण धारण गुण
से सहित वर्तते हैं सो हिरण्यय अर्थात् अनंत बल ज्ञान और तेज से सहित
(रथेन) आनंद पूर्वक क्रीड़ा करने के योग्य ज्ञान और तेज से युक्त हैं इस में
परमेश्वर सब जीवों के हृदयों में अमृत अर्थात् सत्य विज्ञान को सदैव प्रकाश
करता है और सूर्यलोक भी रस आदि पदार्थों को मर्त्य अर्थात् मनुष्यलोक
में प्रवेश करता और सब लोकों को व्यवस्था से अपने २ स्थान में रखता है
वैमर्ही परमेश्वर धर्मात्मा जानी लोगों को अमृतरूप मोक्ष देता और सूर्य
लोक भी रसयुक्त जो ओषधि और वृष्टि का अमृतरूप जल को पृथिवी में प्रावष्ट
करता है सो परमेश्वर सत्य असत्य का प्रकाश और सब लोकों का प्रकाश
करके सब को जनता है तथा सूर्यलोक भी रूपादि का विभाग दिखलाता
है इस मंत्र से पहिले मंत्र में (द्युभिरक्तुभिः) इस पद से यही अर्थ आता
है कि दिन रात अर्थात् सब समय में सब लोकों के साथ सूर्यलोक का
और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण हो रहा है तथा
सब लोकों में ईश्वरही की रचना से अपना २ आकर्षण है और परमेश्वर की

तो आकर्षणरूप शक्ति अनंत है यहां लोकों का नाम रज है और रज शब्द के अनेक अर्थ हैं इस कारण से कि जिस से रमण और आनंद की प्राप्ति होती है उस को रज कहते हैं इस विषय में निरुक्त का प्रमाण इसी मंत्र के भाष्य में लिखा है मो देव लेना ऐसे धारण और आकर्षण विद्या के मित्र करने वाले मंत्र वेदों में बहुत हैं ॥ १ ॥ इति धारणाकर्षणविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ प्रकाश्यप्रकाशकविषयः संक्षेपतः ॥

॥ सूर्येण चन्द्रादयः प्रकाशिता भवन्तीत्यत्र विषये विचारः ॥

सत्येनोत्तंभिताभूमिः सूर्येणोत्तंभितादौः ॥ ऋतेनादित्या-
स्तिष्ठन्ति दिवि सोमे अधिश्रितः ॥ १ ॥ सोमेनादित्या बलिनः
सोमेन पृथिवी मही ॥ अथोनक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥
२ ॥ अथर्व० कां० १४ अनु० १ मं० १ । २ । कः स्वदेकाकी चरति
कडस्विज्जायते पुनः ॥ किं स्वद्विमस्य भेषजं किं वा वपनं म-
हत् ॥ ३ सूर्येणकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ॥ अग्निर्हिमस्य
भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४ ॥ य० अ० २३ मं० ८ । १० ॥

॥ भाष्यम् ॥

(सत्येनो०) एषामभि० अत्र चन्द्रपृथिव्यादिलोकानां सूर्यः प्रकाश-
कोस्तीति । इयं भूमिः सत्येन नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणोत्तंभिताध्वमाकाशमध्ये
धारितास्ति वायुना सूर्येण च । (सूर्येण०) तथादौः सर्वः प्रकाशः सूर्येणो-
त्तंभितो धारितः (ऋतेन०) कालेन सूर्येण वायुना वा ऽऽदित्या द्वादशमा-
साः किरणास्त्रसरेणवो बलवन्तः मन्तो वा तिष्ठन्ति (दिवि सोमे अधिश्रितः)
एवं दिवि द्योतनात्मके सूर्यप्रकाशे सोमश्चन्द्रमा अधिश्रित आश्रितः संप्रका-
शितो भवति । अर्थाच्चन्द्रलोकादिषु स्वकीयः प्रकाशो नास्ति । सर्वे चन्द्रा-
दयोलोकाः सूर्यप्रकाशेनैव प्रकाशिता भवन्तीति वेदम् ॥ १ ॥ (सोमेना-
दित्या०) सोमेन चन्द्रलोकेन सहादित्याः किरणाः संयुज्य ततो निवृत्य
च भूमिं प्राप्य बलिना बलं कर्तुं शीला भवन्ति तेषां बलप्रापकशीलत्वात् ।
तद्यथा । यावन्तो ऽन्तरिक्षदेशे सूर्यप्रकाशस्यावरणं पृथिवी करोति ता-
वति देशेधिकं शीतलत्वं भवति । तत्र सूर्यकिरणपतनाभावात्तदभावे चो-
ष्णत्वाभावात्ते बलकारिणो बलवन्तो भवन्ति । सोमेन चन्द्रमसः प्रकाशेन
सोमादौषध्यादिना च पृथिवी मही बलवती पुष्टा भवति । अथो इत्यनन्तर-

मेषां नक्षत्राणामुपस्थे समीपे चन्द्रमा आहितः स्थापितः सन्वर्तत इति विज्ञेयम् ॥ २ ॥ (कः स्व०) को ह्येकाकी ब्रह्माण्डे चरति । कोऽथ स्वे-
नैव स्वयं प्रकाशितः सन् भवतीति । कः पुनः प्रकाशितो जायते हिमस्य शीतस्य भेषजमौषधं किमस्ति । तथा बीजारोपणार्थं महत् क्षेचमिव किमत्र भवतीति प्रश्नाश्चत्वारः ॥ ३ ॥ एषां क्रमेणोत्तराणि । (सूर्य्य ए-
काकी०) अस्मिन्सारे सूर्य्य एकाकीचरति स्वयंप्रकाशमानः सन्नन्यान्सर्वान्
लोकां प्रकाशयति तस्यैव प्रकाशेन चन्द्रमा पुनः प्रकाशितो जायते नहि
चन्द्रमसि स्वतः प्रकाशः कश्चिदस्तीति । अग्निर्हिमस्य शीतस्य भेषजमौ-
षधमस्तीति । भूमिर्महदा वपनं बीजारोपणादेरधिकरणं क्षेचं चेति
वेदेष्वेतद्विषयप्रतिपादका एवंभूता मंत्रा बहवः सन्ति ॥ ४ ॥

॥ इति प्रकाश्यप्रकाशकविषयः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(सत्येनो०) इन मंत्रों में यही विषय और उन का यही प्रयोजन है कि लोक दो प्रकारके होते हैं एक तो प्रकाश करने वाले और दूसरे वे जो प्रकाश किये जाते हैं अर्थात् सत्यस्वरूप परमेश्वर ने ही अपने सामर्थ्य से सूर्य्य आदि सब लोकों का धारण किया है उसी के सामर्थ्य से सूर्य्यलोक ने भी अन्य लोकों का धारण और प्रकाश किया है तथा अतः अर्थात् काल महि ने सूर्य्य किरण और वायु ने भी सूक्ष्म स्थूल त्रसरेण आदि पदार्थों का यथावत् धारण किया है (दिवि सोमो०) इसी प्रकार दिवि अर्थात् सूर्य्य के प्रकाश में चन्द्रमा प्रकाशित होता है उस में जितना प्रकाश है सो सूर्य्य आदि लोक का ही है और ईश्वर का प्रकाश तो सब में है परंतु चन्द्र आदि लोकों में अपना प्रकाश नहीं है किंतु सूर्य्य आदि लोकों से ही चन्द्र और पृथिव्यादिलोक प्रकाशित हो रहे हैं ॥ १ ॥ (सोमेनादित्या०) जब आदित्य की किरण चन्द्रमा के साथ युक्त हो के उससे उलट कर भूमि को प्राप्त हो के बलवाली होती है तभी वे शीतल भी होती हैं क्योंकि आकाश के जिस २ देश में सूर्य्य के प्रकाश को पृथिवी की छाया रोकती है उस २ देश में शीत भी अधिक होता है जिस २ देश में सूर्य्य की किरण तिरछी पड़ती है उस २ देश में गर्मी भी कमती होती है फिर गर्मी के कम होने और शीतलता के अधिक होने से सब मूर्तिमान् पदार्थों के परमाणु जम जाते हैं उनको जमने से पुष्टि होती है और जब उन के बीच में सूर्य्य की तेज रूप किरण पड़ती है तब उन में से भाफ उठती है उनके योग से किरण भी बलवाली होती हैं जैसे जल में सूर्य्य का प्रतिबिंब अत्यंत चमकता है और चन्द्रमा के प्रकाश और वायु से सोमलता आदि ओषधियां भी पुष्ट होती हैं और उनसे पृथिवी पुष्ट होती है इसीलिये ईश्वरने नक्षत्र लोकों के समीप चन्द्रमा को स्थापित किया है ॥ २ ॥ (कःस्वि०) इस मंत्र में चार प्रश्न हैं

उन के बीच में से पहिला (प्रश्न) कौन एकाकी अर्थात् अकेला बिचरता और अपने प्रकाश से प्रकाश वाला है (दूसरा) कौन दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होता है (तीसरा) शीतका ओषध क्या है और (चौथा) कौन बड़ा क्षेत्र अर्थात् स्थलपदार्थ रखने का स्थान है ॥ ३ ॥ इन चारों प्रश्न का क्रमसे उत्तर देने हैं (सूर्य्य एकाकी०) (१) इस संसार में सूर्य्य की एकाकी अर्थात् अकेला बिचरता और अपनी ही कील पर घूमता है तथा प्रकाश-स्वरूप होकर सब लोकों का प्रकाश करने वाला है ॥ (२) उमी सूर्य्य के प्रकाश से चंद्रमा प्रकाशित होता है ॥ (३) शीतका ओषध अग्नी है और चौथा यह है पृथिवी साकार चीजों के रखने का स्थान तथा सब बीज बोने का बड़ा खेत है (४) वेदों में इस विषय के सिद्ध करने वाले मंत्र बहुत हैं उनमें से यहां एक देशमात्र लिखदिया है वेदभाष्य में सब विषय विस्तार पूर्वक आज्ञा-वंगे ॥ ४ ॥ इति संक्षेपतः प्रकाश्यप्रकाशकविषयः ॥

॥ अथ गणितविद्याविषयः ॥

एकाचमे तिस्रश्चमे तिस्रश्चमे पञ्चचमे पञ्चचमे सप्तचमे सप्तचमे नवचमे नवचम एकादशचमे एकादशचमे त्रयोदशचमे त्रयोदशचमे पञ्चदशचमे पञ्चदशचमे सप्तदशचमे सप्तदशचमे नवदशचमे नवदशचम एकाविंशतिश्चमे एकाविंशतिश्चमे त्रयोविंशतिश्चमे त्रयोविंशतिश्चमे पञ्चविंशतिश्चमे पञ्चविंशतिश्चमे सप्तविंशतिश्चमे सप्तविंशतिश्चमे नवविंशतिश्चमे नवविंशतिश्चमे एकात्रिंशच्चमे एकात्रिंशच्चमे त्रयस्त्रिंशच्चमे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥ चतस्रश्चमे ऽष्टौचमे ऽष्टौचमे द्वादशचमे द्वादशचमे षोडशचमे षोडशचमे विंशतिश्चमे विंशतिश्चमे चतुर्विंशतिश्चमे चतुर्विंशतिश्चमे ऽष्टाविंशतिश्चमे ऽष्टाविंशतिश्चमे द्वात्रिंशच्चमे द्वात्रिंशच्चमे षट्त्रिंशच्चमे षट्त्रिंशच्चमे चत्वारिंशच्चमे चत्वारिंशच्चमे चतुश्चत्वारिंशच्चमे चतुश्चत्वारिंशच्चमे ऽष्टाचत्वारिंशच्चमे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥ य० अ० १८ मं० ॥ २४ ॥ २५ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

अभि० अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्गुलीजरेखागणितं प्रकाशितमिति (एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति । १ । सैकेन युक्ता द्वौ भवतः । २ । यच्च द्वात्रेकेन युक्ता सा चित्त्ववाचिका (३) ॥ १ ॥ द्वाभ्यां

द्वे युक्तौ चत्वारः । ४ । एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ता षट् (६) एवमेव चतस्रश्चमे षड्चमे इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्केर्गणित-विद्या सिध्यति । अन्यत्पल्लवचानेकचक्राणां पाठान्मनुष्यैरनेकविधा गणित-विद्याः सन्तीति वेद्यम् सेयं गणितविद्या वेदांगे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धा स्थितेता नात्र लिख्यते । परं त्वीदृशमत्र ज्योतिषशास्त्रस्य गणितविद्याया मूलमिति विज्ञायते । इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यातपदार्थेषु प्रवर्तते ये चाज्ञातसंख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं बीजगणितं प्रवर्तते । तदपि विधनमेका चेति । अ^२-क^२ इत्यादि संकेतेनैतन्मन्त्रादिभ्यो बीजगणितं निःसृतीत्यवधेयम् । २ ।

“अ^२३न^३ आ^१या^२हि बी^३त^१ये^२ गृणा^३नो^२ ह^३व्य^१दा^२तये ॥
नि^१हो^२स्ता^२ सत्सि^३बो^१र्हि^१षि^२, १ ॥ साम. छं० । प्र० १ । खं० १ । यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धेतिन्यायेन स्वरसंकेताङ्केर्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम् एवं गणितविद्याया रेखागणितं तृतीयोभागः सोप्यचोच्यते ॥

॥ भाषार्थ ॥

(एकाचमे०) इन मंत्रों में यही प्रयोजन है कि अंक बीज और रेखा भेद से जो तीन प्रकार की गणितविद्या सिद्ध की है उनमें से प्रथम अंक जो संख्या है (१) सो दो बार गणने से दोकी वाचक होती है जैसे $१ + १ = २$ ऐसे ही एक के आगे एक तथा एक के आगे दो वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार ४ तथा तीन को तीन ३ के साथ जोड़ने से (६) अथवा तीन को तीन से गुणने से $३ \times ३ = ९$ हुए ॥ १ ॥ इसी प्रकार चार के साथ चार पांच के साथ पांच छः के साथ छः आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणने तथा सब मंत्रों के आशय को फैलाने से सब गणित विद्या निकलती है जैसे पांच के साथ पांच (५५) वैसे ही पांच २ छः २ (५५) (६६) इत्यादि जान लेना चाहिये ऐसे ही इन मंत्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अंकों से अनेक प्रकार की गणित विद्या सिद्ध होती है क्योंकि इन मंत्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणित विद्या अवश्य जाननी चाहिये और जो की वेदों का अंग ज्योतिषशास्त्र कहता है उस में भी इसी प्रकार के मंत्रों के अभिप्राय से गणित विद्या सिद्ध की है और अंकों से जो गणित विद्या निकलती है वह निश्चित और असंख्यात पदार्थों में युक्त होती है और अज्ञात पदार्थों की संख्या जानने के लिये जो बीजगणित होता है सोभी (एकाचमे०) इत्यादि मंत्रों ही से सिद्ध होता है जैसे (अ^२ + क^२) (अ^२ - क^२) (क^२ ÷ अ^२) - इत्यादि संकेत से निकलता है यह

भी वेदांही से ऋषि मुनियों ने निकाला है और इसी प्रकार से तीसरा भाग जो रेखागणित है सोभी वेदांही से मिट्टा होता है ॥ २ ॥ (अ० १००) इस मंत्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है ॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ ३ ॥ य०
अ० २३ मं० ६२ ॥ कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमा-
सीत्परिधिः क आसीत् । छन्दः किमासीत्प्रउगं किमु कथं यद्देवा
देवमयंजन्त विश्वे ॥ ४ ॥ ऋ० अ० ८ अ० ७ व० १८० मं० ३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(इयं वेदिः०) अभिप्रा० अथ मंत्रयो रेखागणितं प्रकाशयत इति ।
इयं या वेदिस्त्रिकोणा चतुरस्रा सेनाकारा वर्तुलाकारादियुक्ता क्रियते ऽस्या
वेदेराकृत्या रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । एवं पृथिव्याः परोऽ-
न्तो यो भागोऽर्थात्सर्वतः सूत्रवेष्टनवदस्ति स परिधिरित्युच्यते । यश्चायं
यज्ञोहि संगमनीयो रेखागणिते मध्यो व्यासाख्यो मध्यरेखाख्यश्च सोऽयं
भुवनस्य भूगोलस्य ब्रह्मांडस्य वा नाभिरस्ति ॥ (अयं सो०) सोम-
लोकोऽप्येवमेव परिध्यादि युक्तेस्ति (वृष्णो अश्व०) वृष्टिकर्तुः सूर्यस्या-
ग्नेर्वायोर्वा वेगहेतोरपि परिध्यादिकं तथैवास्ति । (रेतः) तेषां वीर्यमौ-
षधिरूपेण सामर्थ्याय विस्तृतमप्यस्तीति वेदम् ॥ (ब्रह्मायं वा०)
यद्ब्रह्मास्ति तद्वाण्याः (परमं व्योम) अर्थात्परिधिरूपेणान्तर्बहिःस्थित-
मस्ति ॥ ३ ॥ (कासीत् प्रमा) यथार्थज्ञानं यथार्थज्ञानवान् तत्साधिका
बुद्धिः कासीत् सर्वस्येति शेषः । एवम् (प्रतिमा) प्रतिमायते ऽनया सा
प्रतिमायया परिमाणं क्रियते सा कासीत् । एवमेवास्य (निदानम्) कारणं
किमस्ति । (आज्यम्) ज्ञातव्यं घृतवत्सारभूतं चास्मिन् जगति किमा-
सीत् सर्वदुःखनिवारकमानन्देन स्निग्धं सारभूतं च (परिधिः क०)
तथास्य सर्वस्य विश्वस्य पृष्ठावरणं (क आसीत्) । गोलस्य पदार्थ-
स्योपरि सर्वतः सूत्रवेष्टनं कृत्वा यावती रेखा लभ्यते । स परिधिरि-
त्युच्यते । (छन्दः०) स्वच्छन्दं स्वतन्त्रं वस्तु (किमासीत्) (प्रउगं)
ग्रहोक्तं स्तोतव्यं (किमासीत्) इति प्रश्नाः एवामुत्तराणि । (यद्देवा
दे०) यत् यं देवं परमेश्वरं विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसः (अयंजन्त)

समपूजयन्त पूजयन्ति पूजयिष्यन्ति च स एव सर्वस्य (प्रमा) यथार्थ-
तया ज्ञातास्ति (प्रतिमा) परिमाणकर्ता । एवमेवाद्येपि पूर्वोक्तोर्थो योज-
नीयः अत्रापि परिधिशब्देन रेखागणितोपदेशलक्षणं विज्ञायते । सेयं
विद्या ज्योतिषशास्त्रे विस्तरश उक्तास्ति । एवमेतद्विषयप्रतिपादका अपि
वेदेषु बहवो मंत्राः सन्ति ॥ इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(इयं वेदिः०) अभिप्रा० इन मंत्रों में रेखागणित का प्रकाश किया है
क्योंकि वेदी की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है जैसे तिकोन चौकोन
सेन पत्ती के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है
सो आर्यों ने रेखागणित ही का दृष्टान्त माना था क्योंकि (परो अन्तःपृ०)
पृथिवी का जो चारों ओर घेरा है उस को परिधि और ऊपर से अन्त तक
जो पृथिवी को रेखा है उस को व्यास कहते हैं इसी प्रकार से इन मंत्रों में
आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिये और इसी रीत
से तिर्यक विषुवत् रेखा आदि भी निकलती हैं ॥ ३ ॥ (कःसीत्प्र०) अर्थात्
यथार्थ ज्ञान क्या है (प्रतिमा) जिस में पदार्थों का तोल किया जाय सो
क्या चीज है (निदानम्) अर्थात् कारण जिस से कार्य उत्पन्न होता है वह
क्या चीज है (आज्यं) जगत् में जानने के योग्य सारभूत क्या है (परिधिः०)
परिधि किम को कहते हैं (छंदः०) स्वतंत्र वस्तु क्या है (प्रउ०) प्रयोग और
शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत्
दिया जाता है (यद्वेवा देव०) जिस को सब विद्वान् लोग पूजते हैं वही
परमेश्वर प्रमा आदि नाम वाला है इन मंत्रों में भी प्रमा और परिधि आदि
शब्दों से रेखागणित साधने का उपदेश परमात्मा ने किया है सो यह तीन
प्रकार की गणित विद्या आर्यों ने वेदों सेही मिट्टी की है और इसी आर्यों-
वर्त देश से सर्वत्र भूगोल में गई है ॥ इति संक्षेपतो गणितविद्याविषयः ॥

॥ अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनायाचनासमर्पणोपासनाविद्याविषयः ॥

स्तुतिविषयस्तु यो भूतं चेत्यारभ्योक्तो वक्ष्यते च । अथेदानीं प्रार्थना-
विषय उच्यते ।

तेजोसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि बलमसि
बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मयि धेहि
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ १ ॥ य० अ० १८ मं० ८ ॥ मयीदमिन्द्र
इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायौ मध्वानः सचन्ताम् । अस्माकं संत्वा-
शिषः सुत्यानः संत्वाशिषः ॥ २ ॥ य० अ० २ मं० १० । यां मेधां

देवगुणाः पितरश्चोपासते । तथा मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु
स्वाहा ॥ ३ ॥ य० अ० ३२ मं० १४ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

अभि० । तेजोसोत्यादिमंत्रेषु परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनादिविषयाः
प्रकाशयन्त इति बोध्यम् (तेजोसि०) हे परमेश्वर त्वं वीर्यमस्यनन्तवि-
द्यादिगुणैः प्रकाशमयोसि मय्यप्यसंख्यातं तेजोविज्ञानं धेहि (वीर्यमसि०)
हे परमेश्वर त्वं वीर्यमस्यनन्तपराक्रमवानसि कृपया मय्यपि शरीरबुद्धि-
शौर्यस्फूर्त्यादि वीर्यं पराक्रमं स्थिरं धारय (बलम०) हे महाबलेश्वर त्वम-
नन्तबलमसि मय्यप्यनुग्रहत उतमं बलं धेहि स्थापय (आजो०) हे परमे-
श्वर त्वमोजोसि मय्यप्योजः सत्यं विद्याबलं धेहि (मन्युरसि०) हे परमे-
श्वर त्वं मन्युर्दुष्टान्प्रतिक्रोध कृदसि मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्त्रं धेहि
(सहोसि०) हे सहनशीलेश्वर त्वं सहोसि मय्यपि सुखदुःखयुद्धादिसहनं
धेहि । एवं कृपयैतदादिगुणान्गुणान्मह्यं देहीत्यर्थः ॥ १ ॥ (मयीद-
मिन्द्र०) हे इन्द्र परमेश्वर्यवन्यरमात्मन् मयि मदात्मनि आचादिकं
मनश्च सर्वोत्तमं भवान् दधातु । तथा ऽस्मांश्च पोषयतु । अर्थात्सर्वोत्तमैः
पदार्थैः सह वर्तमानानस्मान्सदा कृपया करोतु पालयतु च (अस्मान्
रायो०) तथा नोस्मभ्यं मधं परमं विज्ञानादिधनं विद्यते यस्मिन्स मधवा
भवान् स परमोत्तमं राज्यादिधनमस्मदर्थं दधातु (सचतां०) सचतां
तत्र चास्मान्समवेतान्करोतु । तथा भवन्त उतमेषु गुणेषु सचतां समवेता
भवंत्वितोश्वरा ऽऽज्ञास्ति (अस्माकं०) तथा हे भगवन् त्वत्कृ-
पया ऽस्माकं सर्वा आशिष इच्छाः सर्वदा सत्या भवन्तु मा काचिद-
स्माकं चक्रवर्तिराज्यानुशासनादय आशिष इच्छामोघा भवेयुः ॥ २ ॥
(याम्मेधां०) हे अग्ने परमेश्वर परमोत्तमया मेधया धारणावत्या-
धिया बुद्ध्या सह (मा) मां मेधाविनं सर्वदा कुरु कामधेत्युच्यते
(देवगुणाः) विद्वत्समूहाः पितरो विज्ञानिनश्चोपासते (तया०) तया
मेधया (अद्य) वर्तमानदिने मां सर्वदा युक्तम् कुरु संपादय (स्वाहा)
अथ स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः ॥ स्वाहा कृतयः स्वाहेत्ये-
तत्सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहो-
तीति वा तासामेषा भवति ॥ निह० अ० ८ खं० २० ॥ स्वाहाशब्दस्याय-
मर्थः । (सु आहेति वा) (सु) सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियंवचनं
सर्वमेनुष्यैः सदा वक्तव्यं (स्वावागाहेति वा) या ज्ञानमध्ये स्वकीया वा-

मर्तते सा यदाह तदेववाग्निद्विषेण सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थे प्रत्येव स्वत्वं वाच्यं न परपदार्थे प्रतिचेति (स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा) सुगुरीत्या संस्कृत्य २ हविः सदा होतव्यमिति स्वाहा-शब्दपर्यायार्थाः ॥ ३ ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब गणित विद्या विषय के पश्चात् तेजोमीत्यादि मंत्रों में केवल ईश्वर की प्रार्थना याचना समर्पण और उपासना विषय है सो आगे लिखा जाता है परंतु जानना चाहिये कि स्तुति विषय तो (यो भूतं च०) इत्यादि मंत्रों में कुछ २ लिख दिया है और आगे भी कुछ लिखेंगे यहां पहिले प्रार्थना विषय लिखते हैं (तेजोऽसि०) अर्थात् हे परमेश्वर आप प्राकाशरूप हैं मेरे हृदय में भी कृपा से विज्ञानरूप प्रकाश कीजिये (वीर्यमसि०) हे जगदीश्वर आप अनन्त पराक्रम वाले हैं मुझको भी पूर्ण पराक्रम दीजिये (बलमसि०) हे अनन्त बलवाले महेश्वर आप अपने अनुग्रह से मुझ को भी शरीर और आत्मा में पूर्ण बल दीजिये (योज्ञो०) हे सर्व शक्तिमान् आप सब सामर्थ्य के निवासस्थान हैं अपनी कृपा से यथोचित सामर्थ्य का निवासस्थान मुझ को भी कीजिये (मन्दुरसि०) हे दुष्टोंपर क्रोध करने वाले आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध करने का स्वभाव मुझ में भी रखिये (सहोसि०) हे सब के सहन करने वाले ईश्वर आप जैसे पृथिवी आदि लोकों के धारण और नास्तिकों के दुष्ट व्यवहारों को सहते हैं वैसे ही सुख दुःख हानि लाभ सरदी गरमी भूख प्यास और युद्ध आदि का सहने वाला मुझ को भी कीजिये अर्थात् सब शुभगुण मुझ को देके अशुभ गुणों से सदा अलग रखिये ॥ १ ॥ (मयी-दमिन्द्र०) हे उत्तम ऐश्वर्य युक्त परमेश्वर आप अपनी कृपा से श्रात्र आदि उत्तम इंद्रिय और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुझ में स्थिर कीजिये अर्थात् हम को उत्तम गुण और पदार्थों के सहित सब दिन के लिये कीजिये (आत्मान् रा०) हे परम धनवाले ईश्वर आप उत्तम राज्य आदि धनवाले हम को सदा के लिये कीजिये (सचन्ता०) मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो (आत्माक०स०) हे भगवन् आप की कृपा से हम लोगों की सब इच्छा सर्वदा सत्यही होती रहो तथा सदा सत्यही कर्म करने की इच्छा हो किंतु चक्रवर्ती राज्य आदि बड़े २ काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये ॥ २ ॥ (याम्मेधाम्०) इस मंत्र का यह अभिप्राय है कि हे परमात्मन् आप अपनी कृपा से जो अत्यंत उत्तम सत्य विद्यादि शुभगुणों का धारण करने के योग्य क्षुद्रि है उस से युक्त हम लोगों को कीजिये कि जिस के प्रताप से देव अर्थात् विद्वान् और पितर अर्थात् ऋषी लोग हम लोग आप की उपासना सब दिन करते रहें (स्वाहा०) इति

शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्कमुनिजी ने अनेक प्रकार से कहा है सो लिखते हैं कि (सु आहेति वा) सब मनुष्यों को अच्छा मीठा कल्याण करने वाला और प्रिय बचन मदा बोलना चाहिये (स्वा वागाहेति वा) अर्थात् मनुष्यों को यह निश्चय करके जानना चाहिये कि जैसी बात उन के ज्ञान के बीच में वर्तमान हो जीभ से भी सदा वैसाही बोलें उस से विपरीत नहीं (स्वं प्राहेति वा०) सब मनुष्य अपने ही पदार्थ को अपना कहें दूसरे के पदार्थ को कभी नहीं अर्थात् जितना २ धर्मयुक्त पुरुषार्थ से उनको पदार्थ प्राप्त हो उतने ही में सदा संतोष करें (स्वाहुतं ह०) अर्थात् सर्व दिन अच्छी प्रकार सुगंधादि द्रव्यों का संस्कार कर के सब जगत के उपकार करने वाले होम को किया करें और स्वाहा शब्द का यह भी अर्थ है कि सब दिन मिथ्यावाद को छोड़ के सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३ ॥

स्थिरवः संत्वार्युधा पराणुदेवीळ उत प्रतिष्कमे । युष्माकं-
मस्तुर्वाविषीपनीयसी मामन्त्यस्य मायिनः ॥ ४ ॥ ऋ० अ० १ । अ० ३ ।
व० १८ मं० २ ॥ इवे पिन्वस्वेर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व त्वायं
पिन्वस्व द्यावां पृथिवीभ्यां पिन्वस्व । धर्मासि सुधर्मा मे न्यस्मे
नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय त्वं धारय विश्वं धारय ॥ ५ ॥ य०
अ० । ३८ । मं० १४ ॥ यज्जाग्रतो दूरमुदैति देवं तदं सुप्तस्य
तथैवैति । दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्प-
मस्तु ॥ ६ ॥ य० अ० ३४ मं० १ ॥ वाजंश्वमे प्रसुवश्वमे प्रयतिश्वमे
प्रसितिश्वमे धोतिश्वमे क्रतुश्वमे ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(स्थिरावः०) अग्नि० ईश्वरो जीवेभ्य आशीर्ददातीति विज्ञेयम् ।
हे मनुष्या वो युष्माकं (आयुधा) आयुधान्याग्नेयास्त्रादीनि शतघ्नीभुशुण्डी-
धनुर्बाणास्यादीनि शस्त्राणि च (स्थिरा) स्थिराणि मदनुग्रहेण सन्तु ।
(पराणुदे) दुष्टानां शत्रूणां पराजयाय युष्माकं विजयाय च सन्तु । तथा
(वीळ) अत्यंतदृढानि प्रशंसितानि च । (उत) एवं शत्रुसेनाया अपि
(प्रतिष्कमे) प्रतिष्ठम्भनाय पराङ्मुखतया पराजयकरणाय च सन्तु ॥ तथा
(युष्माकमस्तु तविषो०) युष्माकं तविषीसेना उत्थंतप्रशंसनीया बलं चास्तु
येन युष्माकं चक्रवर्तिराज्यं स्थिरं स्यादुष्टकर्मकारिणां युष्मद्विरोधिनां शत्रूणां
पराजयश्च सदा भवेत् (मामन्त्यस्य मा०) परन्त्वयमाशीर्वादः सत्यकर्मो-
द्गानिभ्योहि ददामि । किन्तु मायिनोऽन्यासकारिणो मर्त्यस्य मनुष्यस्य च

कदाचिन्मास्तु । अथान्नैव दुष्टकर्मकारिभ्यो मनुष्येभ्यो ऽहमाशीर्वादं कदा-
 चिद्वृद्धामीत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ (इषेपिन्वस्व०) हे भगवन् इषे उत्तमेच्छाये
 परमात्कृष्टायान्नायचास्मान् त्वं पिन्वस्व स्वतंचतया सदैव पुष्टिमतः प्रसन्ना-
 न्कुरु (उज्जं०) वेदविद्याविज्ञानग्रहणाय परमप्रयत्नकारिणे ब्राह्मणवर्ण-
 योग्यान् कृत्वा सदा पिन्वस्व दृढेत्साहयुक्तानस्मान् कुरु (क्षत्रा०) क्षत्राय
 साम्राज्याय पिन्वस्व परमवीरतः क्षत्रियस्वभावयुक्तान् चक्रवर्तिराज्यसहि-
 तानस्मान्कुरु (द्यावापृ०) एवं यथा द्यावापृथिवीभ्यां सूर्याग्निभूम्यादिभ्यः
 पदार्थेभ्यः सर्वजगते प्रकाशोपकारौ भवतः तथैव कलाकौशलयानचाल-
 नादिविद्यां गृहीत्वा सर्वमनुज्योपकारं वयं कुर्मः एतदर्थमस्मान् पिन्व-
 स्वात्मप्रयत्नवतः कुरु । (धर्मासि०) हे सुधर्म परमेश्वर त्वं धर्मासि
 न्यायकार्यसि अस्मानपि न्यायधर्मयुक्तान् कुरु । (अमेनि०) हे सर्वहित-
 कारकेश्वर यथा त्वममेनिर्निर्वरासि तथा ऽस्मानपि सर्वमिच्छान्निर्वरान्
 कुरु । तथा (अस्मे) अस्मदर्थं (नृम्णानि) कृपया सुराज्यसुनियमसुर-
 बाढीनि धारय । एवमेवास्माकं (ब्रह्म०) वेदविद्यां ब्राह्मणवर्णं च धारय
 (क्षत्रम्०) राज्यं क्षत्रियवर्णं च धारय (विश्वम्०) वैश्ववर्णं प्रजां च
 धारय । अथात्सर्वोत्तमान् गुणानस्मन्निष्ठान् कुर्विति प्रार्थ्यते याच्यते च
 भवान् तस्मात्सर्वामस्मदिच्छां सम्पूणां संपादयेति ॥ ५ ॥ (यज्जायतेदू०)
 यन् मनोजायतो मनुष्यस्य दूरमुदैति सर्वपाप्मिन्द्रियाणामुपरि वर्तमानत्वा-
 दधिष्ठातृत्वेन व्याप्नोति (दैवम्) ज्ञानादि दिव्यगुणयुक्तं (तदु०) तत् उ
 इति वितर्के सुप्रस्य पुरुषस्य (तथैव) तेनैव प्रकारेण स्वप्ने दिव्यपदार्थद्वष्टु
 (एति) प्राप्नोति एवं सुषुप्तौ च दिव्यानन्दयुक्तां चैति । तथा (दूरं-
 गमम्) अथादूरगमनशीलमस्ति (ज्योतिषां ज्योति०) ज्योतिषामिन्द्रि-
 याणां सूर्यादीनां च ज्योतिः सर्वपदार्थप्रकाशकं (एकम्) असहायं यन्म-
 नोस्ति । हे ईश्वर भवत्कृपया (तन्मे०) तत् मे मम मनो मननशीलं
 सत् शिवसंकल्पं कल्याणेष्वधर्मशुभगुणप्रियमस्तु ॥ ६ ॥ एवमेव वाजश्चम
 इत्यष्टादशाध्यायस्यैवैः सर्वस्वसमर्पणं परमेश्वराय कर्तव्यमिति वेदे
 विहितम् । अतः परमेतमपदार्थं मोक्षमारभ्यान्नपानादिपर्यन्तमीश्वराद्या-
 चितव्यमिति सिद्धम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(स्थिरा वः०) इस मंत्र में ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि
 हे मनुष्यो तुम लोग सब काल में उत्तम बलवाले हो किन्तु तुम्हारे (आयुषा)
 अर्थात् ज्ञानयादि अस्त्र यौर (शितघ्नी) तोप (भुसुंही) बंदूक धनुष बाण यौर

तलवार आदि शस्त्र सब स्थिर हों तथा (पराणुदे) मेरी कृपा से तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं के पराजय करने के योग्य होवें (वीर्य) तथा वे अत्यंत दृढ़ और प्रशंसा करने के योग्य होवें (उत्त प्रतिष्कभे०) अर्थात् तुम्हारे अस्त्र और शस्त्र सब दुष्ट शत्रुओं की सेना के वेग थांभने के लिये प्रबल हों तथा (युष्माकमस्तुत०) हे मनुष्या तुम्हारी (तविषी०) अर्थात् सेना अत्यंत प्रशंसा के योग्य हो जिस से तुम्हारा अखंडित बल और चक्रवर्ति राज्य स्थिर होकर दुष्ट शत्रुओं का सदा पराजय होता रहे (मामर्त्यस्य०) परन्तु यह मेरा आशीर्वाद केवल धर्मात्मा न्यायकारी श्रेष्ठ मनुष्यों के लिये है और जो (मायि०) अर्थात् कपटी छनी अन्यायकारी और दुष्ट मनुष्य है उस के लिये नहीं किंतु ऐसे मनुष्यों का तो सदा पराजय ही होता रहेगा इसलिये तुम लोग सदा धर्मकार्यों ही को करते रहो ॥ ४ ॥ (इषे पितृस्व०) हे भगवन् (इषे) हमारी शुभकर्म करने ही की इच्छा हो और हमारे शरीरों को उत्तम अव से सदा पुष्टि युक्त रखिये (ऊर्ज०) अर्थात् अपनी कृपा से हम को सदा उत्तम पराक्रम युक्त और दृढ़ प्रयत्नवाले कीजिये (ब्रह्मणे०) सत्य शास्त्र अर्थात् वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उस से यथावत् उपकार लेने में हम को अत्यंत समर्थ कीजिये अर्थात् जिस से हम लोग उत्तम विद्यादि गुणों और कर्मों कर के ब्राह्मण वर्ण हों (तत्राय०) हे परमेश्वर आप के अनुग्रह से हम लोग चक्रवर्ति राज्य और शूरवीर पुरुषों की सेना से युक्त हों कि तत्रिय वर्ण के अधिकारी हम को कीजिये (द्यावापृ०) जैसे पृथिवी सूर्य अग्नि जल और वायु आदि पदार्थों से सब जगत का प्रकाश और उपकार होता है वैसे ही कला कौशल विमान आदि यान चलाने के लिये हम को उत्तम सुख सहित कीजिये कि जिस से हम लोग सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों (धर्माभि०) हे सुधर्मन् न्याय करनेहारें ईश्वर आप न्यायकारी हैं वैसे हम को भी न्यायकारी कीजिये (अमे०) हे भगवन् जैसे आप निर्द्वैत होके सब से वर्तते हो वैसे ही सब से वर रहित हम को भी कीजिये (अस्मे०) हे परम कारुणिक हमारे लिये (नृम्यानि) उत्तम राज्य उत्तम धन और शुभगुण दीजिये (ब्रह्म०) हे परमेश्वर आप ब्राह्मणों को हमारे बीच में उत्तम विद्या युक्त कीजिये (तत्रम्०) हम को अत्यंत चतुर शूरवीर और तत्रिय वर्ण का अधिकारी कीजिये (विशम्०) अर्थात् वैश्य वर्ण और हमारी प्रजा का रक्षण सदा कीजिये कि जिस से हम शुभगुणवाले होकर अत्यंत पुरुषार्थी हों ॥ ५ ॥ (यज्जायता०) हे सर्व व्यापक जगदीश्वर जैसे जायत अवस्था में मेरा मन दूर २ घूमने वाला सब इन्द्रियों का स्वामी तथा (देवम्०) ज्ञान आदि दिव्य गुणवाला और प्रकाशस्वरूप रहता है वैसे ही (तदुसु०) निद्रा अवस्था में भी शुद्ध और आनन्द युक्त रहे (ज्योतिषां०) जो प्रकाश का भी प्रकाश करनेवाला और एक है (तस्मे०) हे परमेश्वर ऐसा जो मेरा मन है सो आप की कृपा से (शिवसं०) कल्याण करने-

बाला और शूद्र स्वभाव युक्त हो जिससे अधर्म कामों में कभी प्रवृत्त न हो ॥ ६ ॥
इसी प्रकार से (वाजश्वमे०) इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद के ऋतारहवे अध्याय
में मंत्र ईश्वर के अर्थ सर्वस्व समर्पण करनेके ही विधान में हैं अर्थात् सब
से उत्तम मोक्ष सुख से लेके अन्न जल पर्यंत सब वस्तुओं की याचना मनुष्यों
को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वायुयज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा
यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्ग्यज्ञेन
कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । स्तोमश्च यजुश्च
ऋक् च सामं च बृहच्च रथन्तरं च ॥ स्वर्देवा अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः
प्रजा अभूम वेद स्वाहा ॥ ७ ॥ य० अ० १८ मं० २९ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञो वै विष्णुः । वेवेष्टिव्याप्नोति सर्वं जगत्स विष्णु-
रीश्वरः हे मनुष्यास्तनं यज्ञेश्वरं प्राप्यथ सर्वं स्वकीयमायुः कल्पतामिति ।
यदस्मदीयमायुरस्ति तदीश्वरेण कल्पतां परमेश्वराय समर्पितं भवतु ।
एवमेव (प्राणः) (चक्षुः) (वाक्) वाणी (मनः) मननं ज्ञानं (आत्मा)
(जीवः) (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञाना यज्ञानुष्ठानकर्ता (ज्योतिः) सूर्यादिप्रकाशः
(धर्मः) न्यायः (स्वः) (सुखं) (पृष्ठं) भूम्याद्यधिकरणं (यज्ञो०) अश्व-
मेधादिः शिल्पक्रियामयो वा (स्तोमः) स्तुतिस्मूहः (यजुः) यजुर्वेदा-
ध्ययनम् (ऋक्) ऋग्वेदाध्ययनम् (साम) सामवेदाध्ययनम् चकारादथ-
र्ववेदाध्ययनं च (बृहच्च रथन्तरं च) महत् क्रियासिद्धिफलभागः शिल्पवि-
द्याजन्यं वस्तुचास्मदीयमेतत्सर्वं परमेश्वराय समर्पितमस्तु येन वयं
कृतज्ञाः स्याम । एवं कृते परमकारुणिकः परमेश्वरः सर्वोत्तमं सुखमस्मभ्यं
दद्यात् येन वयं (स्वर्देवा०) सुखे प्रकाशिताः (अमृता) परमानन्दमोक्षं
(अगन्म) सर्वदा प्राप्ताः भवेम । तथा (प्रजापते प्र०) वयं परमेश्वरस्यैव
प्रजा (अभूम) अर्थात्परमेश्वरं विहायान्यमनुष्यं राजानं नैव कदाचिन्म-
न्यामह्वति । एवं जाते (वेद स्वाहा०) सदा वयं सत्यं वदामो भवदा-
ज्ञाकरणे परमप्रयत्नतः साहवन्तोऽभूम भवेम मा कदाचिद्विषदाज्ञाविरोधिना
वयमभूम किंतु भवन्सेवायां सदैव पुण्यद्वर्ते महि ॥ ७ ॥ ॥ भाष्यार्थ ॥

(आयुर्यज्ञेन०) यज्ञ नाम विष्णु का है जो कि सब जगत् में व्याप्त
हो रहा है उसी परमेश्वर के अर्थ सब चीज समर्पण कर देना चाहिये इस

विषय में यह मंत्र है कि सब मनुष्य अपनी आयु को ईश्वर की सेवा और उस की आज्ञा पालन में समर्पित करें (प्राणो०) अर्थात् अपना प्राण भी ईश्वर के अर्थ कर दें (चतु०) जो प्रत्यक्ष प्रमाण और आँख (आत्रं०) जो श्रवण विद्या और शब्द प्रमाणादि (वाक्०) वाणी (मनो०) मन और विज्ञान (आत्मा०) जीव (ब्रह्मा) तथा चारों वेद को पढ़ के तो पुण्यार्थ किया है (ज्योतिः०) जो प्रकाश (स्वर्ग०) जो सब सुख (पृष्ठम्०) जो उत्तम कर्मों का फल और स्थार (यज्ञो०) जो कि पूर्वोक्त तीन प्रकार का यज्ञ किया जाता है ये सब ईश्वर की प्रसन्नता के अर्थ समर्पित कर देना अवश्य है (स्तोमश्च०) जो स्तुति का समूह (यजुश्च०) सब क्रियाओं की विद्या (ऋक् च०) ऋग्वेद अर्थात् स्तुति स्तोत्र (साम च०) सब गान करने की विद्या (चकारात्०) अथर्ववेद (बृहच्च०) बड़े-सब पदार्थ और (रथंतरं च०) शिल्प विद्या आदि के फलों में से जो २ फल कपने आधीन हैं वे सब परमेश्वर के समर्पण कर दें क्योंकि सब वस्तु ईश्वर ही की बनाई हैं इस प्रकार से जो मनुष्य अपनी सब चीजें परमेश्वर के अर्थ समर्पित कर देता है उस के लिये परम कारुणिक परमात्मा सब सुख देता है इस में संदेह नहीं (स्वर्देवा०) अर्थात् परमात्मा की कृपा की लहर और परम प्रकाशरूप विज्ञान प्राप्ति में शुद्ध होके तथा सब संसार के बीच में कीर्तिमान हो के हम लोग परमानन्दस्वरूप मोक्षसुख को (अगन्म०) सब दिन के लिये प्राप्त हैं (प्रजापतेः०) तथा हम सब मनुष्य लोगों को उचित है कि किसी एक मनुष्य को अपना राजा न मानें क्योंकि ऐसा अभागी कौन मनुष्य है कि जो सर्वज्ञ न्यायकारी सब के पिता एक परमेश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना करे और राजा माने इस लिये हम लोग उसी को अपना राजा मान के सत्य न्याय को प्राप्त हैं अर्थात् वही सब मनुष्यों का न्याय करने में समर्थ है अन्य कोई नहीं (वेद स्वहा) अर्थात् हम लोग सर्वज्ञ सत्य स्वरूप सत्य न्याय करने वाले परमेश्वर राजा की अपने सत्य भाव से प्रज्ञा होके यथावत् सत्य मानने सत्य बोलने और सत्य करने में समर्थ होबें सब मनुष्यों को परमेश्वर से इस प्रकार की आशा करना उचित है कि हे कृपानिधे आप की आज्ञा और भक्ति से हम लोग परस्पर विरोधी कभी न हों किंतु आप और सब के साथ सदा पिता पुत्र के समान प्रेम से रहें ॥ ७ ॥

अथोपासनाविषयः संक्षेपतः ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।

विहोत्रा दधेवयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ १ ॥

ऋ० आ० ४ अ० ४ ब्र० २४ मं० १ ॥ युञ्जानः प्रशुभं मनस्तत्त्वाय

सविता भिदम् ॥ अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्यं पृथिव्या अध्याभरत् ॥ २ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ॥ स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ ३ ॥
 युक्ताय सविता देवान्स्वर्ग्यतो धिया दिवं ॥ बृहज्ज्योतिः करिष्यतः
 सविता प्रसुवाति तान् ॥ ४ ॥ युजे वां ब्रह्मं पूर्यं नमोभिर्विश्लोकं
 एतु पथ्येव सूरैः ॥ ऋग्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि
 दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥ य० अ० ११ मं० ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(युञ्जते०) अस्याभि० अत्र जीवेन सदा परमेश्वरस्यैवोपासना
 कर्तव्येति विधीयते (विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः (होषाः) योगि-
 नोमनुष्याः (विप्रस्य०) सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते)
 युक्तं कुर्वति (उत) अपि धियाबुद्धिवृत्तिस्तस्यैव मध्ये युञ्जते । कथंभूतः
 स परमेश्वरः सर्वमिदं जगत् यः (विदधे) विदधे तथा (वयुना
 वि०) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो
 वेद स वयुना वित् (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञान-
 स्वरूपश्च नास्मात्पर उतमः कश्चित् पदार्थो वर्तत इति । तस्य (देवस्य)
 सर्वजगत्प्रकाशकस्य (सवितुः) सर्वजगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः
 (परिष्ठुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्या कथंभूता स्तुतिः (मही)
 महतात्थर्थः एवं कृतेसति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति ॥ १ ॥ (युञ्जानो)
 योगं कुर्वन्ः सन् (तत्त्वाय) ब्रह्मादितत्त्वज्ञानाय प्रथमं मनो युञ्जानः सन्
 योऽस्ति तस्य धियं (सविता) कृपया परमेश्वरः स्वस्मिन्नुपयुक्तं (अग्ने-
 र्ज्योतिः) यतोऽग्नेरीश्वरस्य (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं (निचाप्य) यथावत्
 निश्चित्य (अध्याभरत्) स योगी स्वात्मनि परमात्मानं धारितवान्
 भवेत् इदमेव पृथिव्यामध्ये योगिन उपासकस्य लक्षणमिति वेदित-
 व्यम् ॥ २ ॥ सर्वे मनुष्या एव मिच्छेयुः (स्वर्ग्याय०) मोक्षसुखाय (शक्त्या)
 योगबलान्नत्या (देवस्य) स्वप्रकाशस्यानन्दप्रदस्य (सवितुः) सर्वोत्तर्या-
 मिनः परमेश्वरस्य (सवे) अनन्तेश्वर्य्ये (युक्तेन मनसा०) योगयुक्तेन
 शुद्धान्तःकरणेन वयं सदापयुञ्जीमहीति ॥ ३ ॥ एवं योगाभ्यासेन कृतेन
 (स्वर्गतः) शुद्धभावप्रेम्णा (देवान्) उपासकान् योगिनः (सविता)
 अन्तर्यामीश्वरः कृपया (युक्ताय०) तदात्मसु प्रकाशकरणेन सम्यग् युक्ता
 (धिया) स्वकृपाधारवृत्त्या (बृहज्ज्योतिः) अनन्तप्रकाशं (दिवं) दिव्यम्

स्वस्वरूपम् (प्रसुवाति) प्रकाशयति तथा (करिष्यतः) सत्यभक्तिं करिष्यमाणानुपासकान्योगिनः (सञ्चिता) परमकारुणिकान्तर्यामीश्वरो मोक्षदानेन सदा नन्दयतीति ॥ ४ ॥ उपासना प्रदोपासना ग्रहीतारौ प्रति परमेश्वरः प्रति जानीते (ब्रह्म पूर्वम्) यदा तौ पुरातनं सनातनं ब्रह्म (नमोभिः) स्थिरेणात्मना सत्यभावेन नमस्कृरैरुपासते तदा तद्ब्रह्म ताभ्यामाशीर्ददाति (श्लोकः) सत्यर्कीर्तिः (वां) (वि) (एतु) व्येतु व्याप्नोतु कस्य केव (सूरैः) परमविदुषः (पथ्येव) धर्ममार्गइव (ये) एवं य उपासकाः (अमृतस्य) मोक्षस्वरूपस्य नित्यस्य परमेश्वरस्य (पुत्राः) तदा ज्ञानुष्ठातारस्तत्सेवकाः सन्ति तस्य (दिव्यानि) प्रकाशस्वरूपाणि विद्योपासनायुक्तानि कर्माणि तथा दिव्यानि (धामानि) सुखस्वरूपाणि जन्मानि सुखयुक्तानि स्थानानि वा (आत्मस्युः) आसमन्तात् तेषु स्थिरा भवन्ति ते (विश्वे०) सर्वे (वां) उपासनेऽपदेष्टुपदेश्यौ द्वौ (शृण्वन्तु) प्रख्यातौ जानन्तु । इत्यनेन प्रकारेणोपासनां कुर्वाणौ वां युवां द्वौ प्रतांश्वरोऽहं युजे कृपया समवेतो भवामीति ॥ ५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब ईश्वर की उपासना का विषय जैसा वेदों में लिखा है उसमें से कुछ संक्षेप में यहां भी लिखा जाता है (युञ्जते मनः) इस का अभिप्राय यह है कि जीव को परमेश्वर की उपासना नित्य करनी उचित है अर्थात् उपासना समय में सब मनुष्य अपने मन को उसी में स्थिर करें और जो लोग ईश्वर के उपासक (विप्रा) अर्थात् बड़े बुद्धिमान् (होत्राः) उपासना योग के ग्रहण करने वाले हैं वे (विप्रस्य) सब को जानने वाला (बृहत्तः) सब में बड़ा (विपश्चितः) और सब विद्याओं से युक्त जो परमेश्वर है उस के बीच में (मनः) (युञ्जते) अपने मन को ठीकर युक्त करते हैं तथा (उत०) (धियः) अपनी बुद्धि वृत्ति अर्थात् ज्ञान को भी (युञ्जते०) सदा परमेश्वर ही में स्थिर करते हैं जो परमेश्वर इस सब जगत् को (विदधे०) धारण और विधान करता है (वयुना विदेकइत्) जो सब जीवों के ज्ञानों तथा प्रजा का भी साक्षी है वही एक परमात्मा सर्वत्र व्यापक है कि जिस से परे कोई उत्तम पदार्थ नहीं है (देवस्य) उस देव अर्थात् सब जगत् के प्रकाश और (सचितुः) सबको रचना करने वाले परमेश्वर की (परिष्टुतिः) हम लोग सब प्रकार से स्तुति करें कैसी वह स्तुति है कि (मही) सब में बड़ी अर्थात् जिस के समान किसी दूसरे की होही नहीं सकती ॥ ५ ॥ (युञ्जानः) योग को करने वाले मनुष्य (तत्त्वाय) तत्त्व अर्थात् । ब्रह्मज्ञान के लिये (प्रथमं) (मनः) जब अपने मन को पहिले परमेश्वर में युक्त करते हैं तब (सचिता) परमेश्वर उन की (धियम्) बुद्धि को अपनी कृपा से अपने में युक्त करलेता है (अग्नेर्हो०) फिर वे परमेश्वर के प्रकाश

को निश्चय करके (अध्याभरत्) यथावत् धारण करते हैं (पृथिव्याः) पृथिवी के बीच में योगों का यही प्रसिद्ध लक्षण है ॥ २ ॥ सब मनुष्य इस प्रकार की इच्छा करें कि (वयम्) हम लोग (स्वर्थाय) मोक्षसुख के लिये (शक्त्या) यथायोग्य सामर्थ्य के बल से (देवस्य) परमेश्वर की सृष्टि में उपासना योग करके अपने आत्मा को शुद्ध करें कि जिस से (युक्तेन मनसा) अपने शुद्ध मन से परमेश्वर के प्रकाशरूप आनन्द को प्राप्त हों ॥ ३ ॥ इसी प्रकार वह परमेश्वर देव भी (देवान्) उपासकों को (स्वर्गतो धिया दिवम्) अत्यन्त सुख को देके (सविता) उन की बुद्धि के साथ अपने आनन्दस्वरूप प्रकाश को कर्ता है तथा (युक्त्वाय) वही अन्तर्यामी परमात्मा अपनी कृपा से उन को युक्त करके उन के आत्माओं में (बृहज्ज्यातिः) बड़े प्रकाश को प्रगट करता है और (सविता) जो सब जगत का पिता है वही (प्रसुवा०) उन उपासकों को ज्ञान और आनन्दादि से परिपूर्ण करदेता है परन्तु (करिष्यतः) जो मनुष्य सत्य प्रेम भक्ति से परमेश्वर की उपासना करेंगे उन्हीं उपासकों को परम कृपामय अन्तर्यामी परमेश्वर मोक्षसुख देके सदा के लिये आनन्द युक्त करदेगा ॥ ४ ॥ उपासना का उपदेश देनेवाले और ग्रहण करने वाले दोनों के प्रति परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है कि जब तुम (पूर्वम्) सनातन ब्रह्म की (नमोभिः) सत्य प्रेमभाव से अपने आत्मा को स्थिर करके नमस्कारादि रीति से उपासना करोगे तब मैं तुम को आशीर्वाद देऊंगा कि (श्लोकः) सत्यकीर्तिः (वां) तुम दोनों को (एतु) प्राप्त हो किस के समान (पथ्येव सूरैः) जैसे परम विद्वान् को धर्ममार्ग यथावत् प्राप्त होता है इसी प्रकार तुम को सत्यसेवा से सत्यकीर्ति प्राप्त हो फिर भी मैं सब को उपदेश करता हूँ कि (अमृतस्य पुत्राः) हे मोक्षमार्ग के पालन करने वाले मनुष्यों (शृण्वन्तु विश्वे) तुम सब लोग सुनो कि (आये धामानि०) जो दिव्य लोकों अर्थात् मोक्षसुखों को (आतस्युः) पूर्व प्राप्त होचुके हैं उसी उपासना योग से तुम लोग भी उन सुखों को प्राप्त हो इस में संदेह मत करो इसी लिये (युजे) मैं तुम को उपासना योग में युक्त करता हूँ ॥ ५ ॥

सीरा युञ्जन्नि कवयो युगा वितन्वते पृथक् ॥ धीरा देवेषु सुस्रया ॥ ६ ॥ युनक्त सीरा वियुगा तनुध्वं ह्यते योनौ वपतेह बीजम् । गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्तो नदीय इत्सुय्यः पक्वमेयात् ॥ ७ ॥ य० अ० १२ मं० ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(कवयः) विद्वंसः क्रांतदर्शनाः क्रान्तप्रज्ञा वा (धीराः) ध्यानवन्तो योगिनः (पृथक्) विभगेन (सीराः) योगाभ्यासोपासनाद्यै

नाडीयुञ्जन्ति अर्थात् तासु परमात्मानं ज्ञातुमभ्यस्यन्ति तथा (युगा) युगानि योगयुक्तानि कर्माणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति य एवं कुर्वन्ति ते (देवेषु) विद्वत्सु योगिषु (सुम्नया) सुखेनैव स्थित्वा परमानन्दं युञ्जन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥ हे योगिने! यूयं योगाभ्यासोपासनेन परमात्म-योगेनानन्दं (युनक्त) तद्युक्ता भवत एवं मोक्षसुखं सदा (वितनुध्वं) विस्तारयत तथा (युगा०) उपासनायुक्तानि कर्माणि (सीराः) प्राणादि-त्ययुक्तानाडीश्च युनक्तोपासनाकर्माणि योजयत । एवं (कृते योनौ) अन्तःकरणे शुद्धे कृते परमानन्दयोनौ कारण आत्मनि (वपतेहबीजम्) उपासनाविधानेन योगोपासनाया विज्ञानाख्यं बीजं वपत तथा (गिरा च) वेदवाण्या विद्याया (युनक्त) युक्तयुक्ता भवत किंच (श्रुष्टिः) क्षिप्रं शीघ्रं योगफलं (नो नेदीयः) नोऽस्मान्नेदीयोतिशयेन निकटं परमेश्वरानुग्रहेण (असत्) अस्तु कथंभूतं फलं (पक्वं) शुद्धानन्दसिद्धं (एयात्) आस-मन्तादियात् प्राप्नुयात् (इत्सृण्यः) उपासनायुक्तास्ता योगवृत्तयः सृण्यः सर्वक्लेशहन्त्य एव भवन्ति । इदिति निश्चयार्थं पुनः कथंभूतास्ताः (स-भराः) शान्त्यादिगुणपुष्टा एताभिर्वृत्तिभिः परमात्मयोगं वितनुध्वम् ॥ ७ ॥ अत्र प्रमाणम् । श्रुष्टीति क्षिप्रनामाशु अष्टीति निरु० अ० ६ खं० १२ ॥ द्विविधा सृष्टिर्भवति भर्ता च हंता च । निरु० अ० १३ खं० ५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(कवयः) जो विद्वान् योगी लोग और (धीराः) ध्यान करने वाले हैं वे (सीरायुञ्जन्ति) (पृथक्) यथायोग्य विभाग से नाडियों में अपने आत्मा से परमेश्वर की धारणा करते हैं (युगा) जो योग युक्त कर्मों में तत्पर रहते हैं (वितन्वते) अपने ज्ञान और आनन्द को सदा विस्तृत करते हैं (देवेषु सुम्नया) वे विद्वानों के बीच में प्रशंसित होके परमानन्द को प्राप्त होते हैं ॥ ६ ॥ हे उपासक लोगो! तुम योगाभ्यास तथा परमात्मा के योग से नाडियों में ध्यान करके परमानन्द को (वितनुध्वं) विस्तार करो इस प्रकार करने से (कृते योनौ) यानि अर्थात् अपने अन्तःकरण को शुद्ध और परमानन्द-स्वरूप परमेश्वर में स्थिर करके उस में उपासना विधान से विज्ञानरूप (बीजं) बीज को (वपत) अच्छी प्रकार से बोझो तथा (गिरा च) पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी करके परमात्मा में (युनक्त) युक्त हो कर उस की स्तुति प्रार्थना और उपासना में प्रवृत्ति करो तथा (श्रुष्टिः) तुम लोग ऐसी इच्छा करो कि हम उपासना योग के फल को प्राप्त होयें और (नो नेदीयः) हम

को ईश्वर के अनुग्रह से वह फल (असत्) शीघ्रही प्राप्त हो कैसा वह फल है कि (पक्क) जो परिपक्व शुद्ध परम आनन्द से भरा हुआ और मोक्ष सुख को प्राप्त करने वाला है (इत्युच्यते) अर्थात् वह उपासना योगवृत्ति कैसी है कि सब क्लेशों को नाश करनेवाली और (सम्राः) सब शान्ति आदि गुणों से पूर्ण है उन उपासना योगवृत्तियों से परमात्मा के योग को अपने अत्मा में प्रकाशित करो ॥ ७ ॥

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे । योगं प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमो ऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ८ ॥
अथर्व० कां० १८ ॥ अनु० १ व० ८ मं २ ॥ भूयानरात्याः शच्याः पति-
स्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरितित्वेपस्महे वयम् ॥ ९ ॥ नमस्ते अस्तु
पश्यत पश्य मा पश्यत १० ॥ अन्नाद्येन यज्ञसा तेजसा ब्राह्मणव-
र्चसेन ॥ ११ ॥

॥ भाष्यम् ॥

अष्टाविंशानि०) हे परमेश्वर भगवत् कृपया ऽष्टाविंशानि (शि-
वानि०) कल्याणानि कल्याणकारकाणि सन्त्वर्थादृशेन्द्रियाणि दशप्राणा मने-
बुद्धिचित्ताहंकारविद्यास्वभावशरीरबलं चेति (शग्मानि०) सुखकारकाणि
भूत्वा (अहोरात्राभ्यां) दिवसे रात्रौ उपासनाव्यवहारं योगं (मे) मम
(भजन्तु) सेवन्ताम् तथा भवत्कृपया ऽहं (योगं प्र०) प्राप्य (क्षेमं च)
(प्रपद्ये) क्षेमं प्राप्ययोगं च प्रपद्ये । यतोऽस्माकम् सहायकारी भवान्भवे-
देतदर्थं सततं नमोस्तु ते ॥ ८ ॥ इमे वक्ष्यमाणाश्च मंचा अथर्ववेदस्य सन्तीति
बोध्यम् ॥ (इन्द्रा०) हे इन्द्र परमेश्वर त्वं (शच्याः) प्रजाया वाण्या
कर्मणो वा पतिरसि तथा (भूयान्) सर्वशक्तित्वात्सर्वोत्कृष्टत्वादतिशयेन
बहुरसि तथा (अरात्याः) शत्रुभूताया वाण्यास्तादृशस्य कर्मणो वा शत्रु-
र्यादुयान्निवारकोसि (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थश्चासि (इति) अनेन
प्रकारेणैवंभूतं (त्वा) त्वां (वयम्) सदैव (उपास्महे) अर्थात्वेवो-
पासनं कुर्महे इति ॥ ९ ॥ अथ प्रमाणम् । वाचो नामसु शचीति पठितं ॥
निघंटु० अ० १ । खं० ११ तथा कर्मणो नामसु शचीति पठितम्० निघं०
अ० २ खं० १ ॥ तथा प्रजानामसु शचीति पठितं० निघं० अ० ३
खं० ६ ॥ ईश्वरोभिषदति हे मनुष्या यूयमुपासनारीत्या सदैव (मा) मां
(पश्यत) सम्यग् ज्ञात्वा चरत उपासक एवं जानीयाद्वेद्य हे परमेश्वरा-

नन्तविद्यायुक्त (नमस्ते अस्तु) ते तुभ्यमस्माकं सततं नमोऽस्तु भवतु ॥ १० ॥
 (अन्नाद्येन) कस्मै प्रयोजनायान्नादिराज्यैश्वर्येण (यशसा) सर्वोत्तम सत्क-
 र्मानुष्ठानोद्भूत सत्यकीर्त्या (तेजसा) निर्दीनतया प्रागल्भ्येण च (ब्राह्मण-
 वर्चसेन) पूर्णविद्यासह वर्तमानानस्मान् हे परमेश्वर त्वं कृपया सदैव
 (पश्य) संप्रेक्षस्वैतदर्थं ध्येयं (त्वां) सर्वदोषास्महे ॥ ११ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(अष्टाविंशानि शिवानि) हे परमैश्वर्ययुक्त मंगलमय परमेश्वर आप की
 कृपा से मुझ को उपासना योग प्राप्त हो तथा उस से मुझ को सुख भी मिले इसी
 प्रकार आप की कृपा से दश इन्द्रिय दश प्राण मन बुद्धि चित्त अहंकार विद्या
 स्वभाव शरीर और बल ये अष्टादश सब कल्याणों में प्रवृत्त होके उपासना
 योग को सदा सेवन करें तथा हम भी (योगं) उस योग के द्वारा (तिमं)
 रत्ना को और रत्ना से योग को प्राप्त हुआ चाहते हैं इसलिये हम लोग रात
 दिन आप को नमस्कार करते हैं ॥ ८ ॥ (भूयानरात्याः) हे जगदीश्वर आप
 (शय्याः) सब प्रजा, वाणी, और कर्म इन तीनों के पति हैं तथा (भूयान्)
 सर्वशक्तिमान् आदि विशेषणों से युक्त हैं जिससे आप (अरात्याः) अर्थात्
 दुष्ट प्रजा मिथ्या रूपवाणी और पाप कर्मों को विनाश करने में अन्यन्त
 समर्थ हैं तथा आप को (विभूः) सब में व्यापक और (प्रभूः) सब सामर्थ्य
 वाले जान के हम लोग आप की उपासना करते हैं ॥ ९ ॥ (नमस्ते अस्तु)
 अर्थात् परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि हे उपासक लोगो तुम
 मुझ को प्रेमभाव से अपने आत्मा में सदा देखते रहो तथा मेरी आज्ञा और
 वेदविद्या को यथावत् जान के उसी रीति से आचरण करो फिर मनुष्य भी
 ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर आप कृपादृष्टि से (पश्यमा) हम को
 सदा देखिये इसलिये हम लोग आप को सदा नमस्कार करते हैं ॥ १० ॥
 कि (अन्नाद्येन) अर्थात् अन्न आदि ऐश्वर्य (यशसा) सब से उत्तम कीर्ति
 (तेजसा) भय से रहित (ब्राह्मणवर्चसेन) और सम्पूर्ण विद्या से युक्त हम
 लोगों को करके कृपा से देखिये इसलिये हम लोग सदा आप की उपासना
 करते हैं ॥ ११ ॥

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १२ ॥
 अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १३ ॥
 उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १४ ॥ प्रथो वरो
 व्यचैलोक इति त्वोपास्महे वयम् ॥ १५ ॥ अथर्वं कां १६
 अनु० ४ मं० ४७ । ४८ । ४९ । ५० । ५१ । ५२ । ५३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(हे ब्रह्मन्) (अम्भः) व्यापकं शान्तस्वरूपं जलवत् प्राणस्यापि प्राणम् । आप्र धातोरसुन् प्रत्ययान्तस्यायं प्रयोगः ॥ (अमः) ज्ञानस्वरूपम् (महः) पूज्यं सर्वेभ्यो महतरं (सहः) सहनस्वभावं ब्रह्म (त्वा) त्वां ज्ञात्वा (इति) अनेन प्रकारेण (वयं) सन्तं उपास्महे ॥ १२ ॥ (अम्भः) आदरार्थोद्विरारम्भः अस्यार्थ उक्तः (अरुणम्) प्रकाशस्वरूपम् (रजतम्) रागविषयमानन्दस्वरूपम् (रजः) सर्वलोकैश्वर्यसहितम् (सहः) सहनशक्तिप्रदम् (इति त्वोपास्महे वयम्) त्वां विहाय नैव कश्चिदन्यार्थः कस्यचिदुपास्योस्तीति ॥ १३ ॥ (उरुः) सर्वशक्तिमान् (पृथुः) अतीव विस्तृतो व्यापकः (सूभूर्भुवः) सुष्ठुतया सर्वेषु पदार्थेषु भवतीति सुभूः अन्तरिक्षवदवकाशरूपत्वादुवः (इति) एवं ज्ञात्वा (त्वो०) त्वां (उपास्महे वयं) १४ ॥ बहुनामसु (उरुरिति प्रत्यक्षमस्ति । निघण्टु । अ० ३ । ख० १ (प्रथः) सर्वजगत् प्रसारकः (वरः) श्रेष्ठः (व्यचः) विविधतया सर्वं जगज्जानातीति (लोकः) लोक्यते सर्वजनेलोकयति सर्वान् वा (इति त्वो०) वयमीदृक्स्वरूपं सर्वज्ञं त्वामुपास्महे ॥ १५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अम्भो) हे भगवन् आप सब में व्यापक शान्तस्वरूप और प्राण का भी प्राण हैं तथा (अमः) ज्ञानस्वरूप और ज्ञान को देने वाले हैं (महः) सब के पूज्य सब के बड़े और (सहः) सब के सहन करने वाले हैं (इति) इस प्रकार का (त्वो०) आप को जान के (वयम्) हम लोग सदा उपासना करते हैं ॥ १२ ॥ (अम्भः) (दूसरी बार इस शब्द का पाठ केवल आदर के लिये है) (अरुणम्) आप प्रकाशस्वरूप सब दुःखों के नाश करने वाले तथा (रजतम्) प्रीति का परम हेतु आनन्दस्वरूप (रजः) सब लोकों के ऐश्वर्य से युक्त (सहः) (इस शब्द का भी पाठ आदरार्थ है) और सहनशक्ति वाले हैं इस लिये हम लोग आप की उपासना निरन्तर करते हैं ॥ १३ ॥ (उरुः) आप सब बल वाले (पृथुः) अर्थात् आदि अन्त रहित तथा (सुभूः) सब पदार्थों में अच्छी प्रकार से वर्तमान और (भुवः) अवकाशस्वरूप से सब के निवासस्थान हैं इस कारण हम लोग उपासना कर के आप के ही आश्रित रहते हैं ॥ १४ ॥ (प्रथो वरो०) हे परमात्मन् आप सब जगत् में प्रसिद्ध और उत्तम हैं (व्यचः) अर्थात् सब प्रकार से इस जगत् का धारण पालन और वियोग करने वाले तथा (लोकः) सब विद्वानों के देखने अर्थात् जानने के योग्य केवल आदमी हैं दूसरा कोई नहीं ॥ १५ ॥

युञ्जन्ति ब्रध्मरूपं चरन्तं परितस्थुषः । रोचन्ते रोचना
दिवि ॥ १६ ॥ अ० १ अ० १ व० ११ मं० १ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(युञ्जन्ति) ये योगिना विद्वांसः (परितस्थुषः) परितः सर्वतः
सर्वान् जगत्पदार्थान्मनुष्यान्वा चरन्तं ज्ञातारं सर्वज्ञं (अरुषं) अङ्घ्रिं सक्तं
करुणामयम् (रुषहिंसायाम्) (ब्रध्मं) विद्या योगाभ्यासप्रेमभरेण सर्वा-
नन्दवर्धकं महान्तं परमेश्वरमात्मनासह युञ्जन्ति (रोचनाः) त आन-
न्दे प्रकाशिता रुचिमया भूत्वा (दिवि) द्यातनात्मके सर्वप्रकाशके पर-
मेश्वरे (रोचन्ते) परमानन्दयोगेन प्रकाशन्ते ॥ इति प्रथमोर्थः ॥ अथ
द्वितीयः ॥ (परित०) चरन्तमरुषमग्निमयं ब्रध्ममादित्यं सर्वं लोकाः
सर्वे पदार्थाश्च (युञ्जन्ति) तदाकर्षणेन युक्ताः सन्ति । एते सर्वे तस्यैव
(दिवि) प्रकाशे (रोचनाः) रुचिकराः सन्तः (रोचन्ते) प्रकाशन्ते ॥
इति द्वितीयोर्थः ॥ अथ तृतीयः ॥ ये उपासकाः परितस्थुषः सर्वान्
पदार्थान् चरन्तमरुषं सवमर्मस्थं (ब्रध्मं) सर्वावयववृद्धिकरं प्राणमा-
दित्यं प्राणायामरीत्या (दिवि) द्यातनात्मके परमेश्वरे वर्तमानं
(रोचनाः) रुचिमन्तः सन्तो युञ्जन्ति युक्तं कुर्वन्ति । अतस्ते तस्मिन्
मोक्षानन्दे परमेश्वरे रोचन्ते सदैव प्रकाशन्ते ॥ १६ ॥ अथ प्रमाणानि ॥
मनुष्यनामसु तस्थुषः पञ्चजनाः इति पठितम् निघं० अ० २ खं० ३ ॥
महत्, ब्रध्म, महन्नामसु पठितम् निघं० अ० ३ खं० ३ ॥ तथा । युञ्जन्ति
ब्रध्मरुषं चरन्तमिति । असौ वा आदित्यो ब्रध्मोऽरुषो ऽमुमेवास्मा आदि-
त्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समृद्धौ ॥ १ ॥ श० का० १३ अ० २ ॥
आदित्यो हवै प्राणोरयिरेव चन्द्रमारयिर्वा गतत्सर्वं यन्मूर्ते चामूर्ते च तस्मा-
न्मूर्तिरेव रयिः ॥ १ ॥ प्रश्नोपनि० प्रश्न० १ मं० ५ ॥ परमेश्वरान् महान्
कश्चिदपि पदार्थो नास्त्येवातः प्रथमर्थे योजनीयम् ॥ तथा शतपथप्रमाणं
द्वितीयमर्थं प्रति ॥ एवमेव प्रश्नोपनिषत्प्रमाणं तृतीयमर्थं प्रति च । क्वचि-
न्निघण्टांश्वस्यापि ब्रध्मासौ नान्नी पठिते । परन्त्वस्मिन् मन्त्रे तद् घटना-
नेव सम्भवति शतपथादिव्याख्यानविरोधात् । मूलार्थविरोधादेकशब्देना-
प्यनेकार्थग्रहणाच्च ॥ एवं सति भट्ट मोक्षमूलरैक्यवेदस्येङ्गलण्डभाषया व्या-
ख्याने यदश्वस्य पशोरेव ग्रहणं कृतं तद्भ्रान्तिमूलमेवास्ति ॥ सायणा-
चार्य्येणास्य मन्त्रस्य व्याख्यायामादित्यग्रहणादेकस्मिन्नंशे तस्य व्याख्यानं
सम्यग्नास्ति । परन्तु न जाने भट्ट मोक्षमूलरेणायमर्थं आकाशाद्वा पातालाद्

गृहीतः ॥ अतो विज्ञायते स्वकल्पनया लेखनं कृतमिति ज्ञात्वा प्रमाणार्हं नास्तीति ॥ ॥ भाषार्थः ॥

(युञ्जति) मुक्ति का उत्तम साधन उपासना है इसी लिये जो विद्वान् लोग हैं वे सब जगत् और सब मनुष्यों के हृदयों में व्याप्त ईश्वर को उपासना रीति से अपने आत्मा के साथ युक्त करते हैं वह ईश्वर कैसा है कि (चरन्तं) अर्थात् सब का जानने वाला (अरुणं) हिमोदित दीपकित कृपा का समुद्र (ब्रह्मं) सब आनन्दों का बढ़ाने वाला सब रीति से बड़ा है । इसी से (रोचनाः) अर्थात् उपासकों के आत्मा सब अविद्यादि दोषों के अन्धकार से कूट के (दिवि) आत्माओं का प्रकाशित करने वाले परमेश्वर में प्रकाशमय होकर (रोचन्ते) प्रकाशित रहते हैं ॥ इति प्रथमोर्थः ॥ अब दूसरा अर्थ करते हैं कि (परितस्युषः) जो सूर्यलोक अपनी किरणों से सब मूर्तिमान् द्रव्यों के प्रकाश और आकर्षण करने में (ब्रह्मं) सब से बड़ा और (अरुणं) रक्तगुण युक्त है और जिस के आकर्षण के साथ सब लोक युक्त हो रहे हैं (रोचनाः) जिस के प्रकाश से सब पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं विद्वान् लोग उसी को सब लोकों के आकर्षणयुक्त जानते हैं ॥ इति द्वितीयोर्थः ॥ (युञ्जति) इस मन्त्र का और तीसरा यह भी अर्थ है कि सब पदार्थों की मिट्टी का मुख्य हेतु जो प्राण है उस को प्राणायाम की रीति से अत्यन्त प्रीति के साथ परमात्मा में युक्त करते हैं इसी कारण वे लोग मोक्ष का प्राप्त होके मदा आनन्द में रहते हैं इन तीनों अर्थों में निघंटु आदि के प्रमाण भाष्य में लिखे हैं सो देखलेना ॥ १६ ॥ इस मंत्र के इन अर्थों को नहीं जान के भट्ट मोक्षमूलर साहब ने छोड़े का जो अर्थ किया है सो ठीक नहीं है यद्यपि सायणाचार्य का अर्थ भी यथावत् नहीं है परन्तु मोक्षमूलर साहब के अर्थ से तो अच्छाही है क्योंकि प्रफेसर मेक्समोलर साहब ने इस अर्थ में केवल कपोलकल्पना की है ॥

इदानीमुपासना कथंरीत्या कर्तव्येति लिख्यते । तत्र शुद्धयकान्ते ऽभीष्टदेशे शुद्धमानसः समाहितो भूत्वा सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चेकाग्रिकृत्य सच्चिदानन्दस्वरूपमन्तर्यामिनं न्यायकारिणं परमात्मानं सञ्चिन्त्य तच्चात्मानं नियोज्य च तस्यैव स्तुतिप्रार्थनानुष्ठाने सम्यक्कृत्वा उपासनयेश्वरे पुनः २ स्वात्मानं संलगयेत् । अत्र पतञ्जलिमहामुनिना स्वकृतसूत्रेषु वेदव्यासकृतभाष्ये चायमनुक्रमो योगशास्त्रे प्रदर्शितः ॥ तद्यथा । योगश्चिन्तनवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥ अ० १ पा० १ सू० २ ॥ उपासनासमये व्यवहारसमये वा परमेश्वरादतिरिक्तविषयादयमेव्यवहारान्न मनसोवृत्तिः सदैव निरुद्धा रक्षणीयेति । निरुद्धासती सा क्वावतिष्ठत इत्युच्यते ॥ १ ॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेव स्थानम् ॥ २ ॥ अ० १ पा० १ सू० ३ ॥ यदा सर्वस्माद्बन्धव्यवहारा-

मनो ऽवहृष्यते तदाऽयोपासकस्य मनो द्रष्टुः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य स्वरूपे स्थितिं लभते ॥ २ ॥ यदोपासको योग्युपासनां विहाय सांसारिक-व्यवहारे प्रवर्तते तदा सांसारिकजनघनस्यापि प्रवृत्तिर्भवत्याहोस्विद्विल-क्षणेत्यत्राह ॥ वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ३ ॥ अ० १ पा० १ सू० ४ ॥ इत-रत्र सांसारिकव्यवहारे प्रवृत्तेऽप्युपासकस्य योगिनः शान्ता धर्मोद्धा विद्या विज्ञानप्रकाशा सत्यतत्त्वनिष्ठा ऽतीव तीव्रा साधारणमनुष्य विलक्षणा ऽपूर्वैव वृत्तिर्भवतीति । नैवेदृश्यनुपासकानामयोगिनां कदाचिद्वृत्तिर्जायत इति ॥ ३ ॥ कतिवृत्तयः सन्ति कथं निरोद्धव्या इत्यत्राह ॥ वृत्तयः पंचतप्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ४ ॥ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ५ ॥ तत्र प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ६ ॥ विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप-प्रतिष्ठम् ॥ ७ ॥ शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ८ ॥ अभावप्रत्य-या लम्बनावृत्तिर्निद्रा ॥ ९ ॥ अनुभूतविषया सं प्रमोषः स्मृतिः ॥ १० ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ ११ ॥ अ० १ पा० १ सू० ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १० । ११ । १२ ॥ उपासनायाः सिद्धेः सहायकारिपरमंसाधनं किमस्तीत्यत्रोच्यते ॥ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ १२ ॥ अ० १ पा० १ । सू० २३ । भा० प्रणिधानाद्वाक्तिविशेषादावर्तते ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्या-नमात्रेण तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्न तमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति ॥ १२ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

अब जिस रीति से उपासना करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं । जब २ मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें तब २ इच्छा के अनुकूल एका-न्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें तथा सब इंद्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षण वाले अन्तर्यामी अर्थात् सब में व्यापक और न्यायकारी परमात्मा की ओर अर्की प्रकार से लगाकर सम्यक् चिन्तन कर के उस में अपने आत्मा को नियुक्त करें फिर उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना को बारंबार करके अपने आत्मा को भली भाँति से उस में लगा दे इस की रीति पतंजलि मुनि के शिष्य योगशास्त्र और उन्हीं सूत्रों के वेद व्यास मुनिजी के किये भाष्य के प्रमाणों से लिखते हैं ॥ (योग-शिक्षण) चित्त की धृतियों को सब बुराईयों से हटा के शुभ गुणों में स्थिर कर के परमेश्वर के समीप में मोक्ष का प्राप्त करने को योग कहते हैं और वियोग उस को कहते हैं कि परमेश्वर और उस की आज्ञा से विरुद्ध बुराईयों में फस के उस से दूर होजाना । (प्रश्न) जब धृति बाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है तब कहाँ पर स्थिर होती है इस का उत्तर यह है

कि ॥ १ ॥ (तदाद्र०) जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध के रोक देते हैं तब वह जिस ओर नीचा होता है उस ओर चलके कहीं स्थिर हो जाता है इसी प्रकार मन की वृत्ति भी जब बाहर से रुकती है तब परमेश्वर में स्थिर हो जाती है एक तो चित्त की वृत्ति के रोकने का यह प्रयोजन है और दूसरा यह है कि ॥ २ ॥ (वृत्ति सा०) अर्थात् उपासक योगी और संसारी मनुष्य जब व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं तब योगी की वृत्ति तो सदा हर्ष शोक रहित आनन्द से प्रकाशित होकर उत्साह और आनन्द युक्त रहती है और संसार के मनुष्य की वृत्ति सदा हर्ष शोक रूप दुःख सागर में ही डूबी रहती है उपासक योगी की तो ज्ञानरूप प्रकाश में सदा बढ़ती रहती है और संसारी मनुष्य की वृत्ति सदा अंधकार में फसती जाती है ॥ ३ ॥ (वृत्तयः०) अर्थात् सब जीवों के मन में पांच प्रकार की वृत्ति उत्पन्न होती है उस के दो भेद हैं एक क्लिष्ट दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेश सहित और क्लेश रहित उनमें से जिन की वृत्ति विषयासक्त परमेश्वर की उपासना से विमुख होती है उन की वृत्ति अविद्यादि क्लेश सहित और जो पूर्वाक्त उपासक हैं उन को क्लेश रहित शांत होती हैं ॥ ४ ॥ ये पांच वृत्ति ये हैं पहिली (प्रमाण) दूसरी (विपर्यय) तीसरी (विकल्प) चौथी (निद्रा) और पांचवीं स्मृति ॥ ५ ॥ उन के विभाग और लक्षण ये हैं (तत्र प्रत्यक्षा०) इस की व्याख्या वेदविषय के होम प्रकरण में लिख दी है ॥ ६ ॥ (विपर्ययो०) दूसरी विपर्यय कि जिस से मिथ्य ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न जानना अथवा अन्य में अन्य की भावना करनेना इस को विपर्यय कहते हैं ॥ ७ ॥ तीसरी विकल्प वृत्ति (शब्दज्ञाना०) जैसे किसी ने किसी से कहा कि एक देश में हमने आदमी के शिरपर सोंग देखे थे इस बात को सुन के कोई मनुष्य निश्चय करले कि ठीक है सोंगवाले मनुष्य भी होते होंगे ऐसी वृत्ति को विकल्प कहते हैं सो झूठी बात है अर्थात् जिस का शब्द तो हो परंतु किसी प्रकार का अर्थ किसी को न मिल सके इसी से इस का नाम विकल्प है ॥ ८ ॥ चौथी (निद्रा) अर्थात् जो वृत्ति अज्ञान और अविद्या के अंधकार में फसी हो उस वृत्ति का नाम निद्रा है पांचवीं (स्मृति) (अनुभूत०) अर्थात् जिस व्यवहार वा वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो उसी का संस्कार ज्ञान में बना रहता और उस विषय को (अप्रमोष) भूलें नहीं इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं इन पांच वृत्तियों को बुरे कामों और अनीश्वर के ध्यान से हटाने का उपाय कहते हैं कि ॥ १० ॥ (अभ्यास०) जैसा अभ्यास उपासना प्रकरण में आगे लिखेंगे वैसा करें और वैराग्य अर्थात् सब बुरे कामों और दोषों से अलग रहें इन दोनों उपायों से पूर्वाक्त पांच वृत्तियों को रोक के उन को उपासना योग में प्रवृत्त रखना ॥ ११ ॥ तथा उस समाधी के योग होने का यह भी साधन है कि (ईश्वर प्र०) ईश्वर में विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधी योग को शीघ्र प्राप्त होजाता है ॥ १२ ॥

अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोयमीश्वरो नामेति ॥ क्लेशकर्म-
विपाकाशयेरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ १३ ॥ अ० १ सू० २४ भा०
अविद्यादयः क्लेशाः कुशला कुशलानि कर्माणि तत्फलं विपाकस्तदनु-
गुणावासाना आशयाः ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते स हि
तत्फलस्य भोक्तेति यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यप-
दिश्यते योह्यनेन भोगेनापरामृष्टः सपुरुषविशेष ईश्वरः कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि
सन्ति च बहवः केवलिनः ते हि त्रीणि बंधनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः ईश्व-
रस्य च तत्संबंधो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वाबन्धकोटिः प्रज्ञायते
नेवमीश्वरस्य यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बंधकोटिः संभाव्यते नेवमीश्वरस्य
सत्तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति योऽसौ प्रकृष्ट सत्त्वापादानादीश्वरस्य शा-
श्वतिक उत्कर्षः सकिं स निमित्त आहो स्विन्निर्निमित्त इति तस्य शास्त्रं
निमित्तं शास्त्रं पुनः किं निमित्तं प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तमेतयोः शास्त्रोत्कर्षयोगी-
श्वरस्त्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः एतस्मादेतद्वदति सदैवेश्वरः सदैव
मुक्त इति तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तं न तावदैश्वर्यान्तरेण तद-
तिशय्यते यदेवातिशयिष्यात्तदेव तत्स्यात्तस्माद्यथाकाष्ठा प्राप्तिरैश्वर्यस्य
स ईश्वरः न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति कस्मात् द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन्
युगपत् कामितेर्धे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्विति एकस्य सिद्धावितर-
स्य प्राकाम्यविधातादूनत्वं प्रसक्तं द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत् कामितार्थ-
प्राप्तिर्नास्ति अर्थस्य विरुद्धत्वात्तस्माद्यद्यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमे-
श्वर्यं स ईश्वरः स च पुरुषविशेष इति किं च ॥ १३ ॥ तच्च निरतिशयं
सर्वज्ञबीजम् ॥ १४ ॥ अ० १ पा० १ सू० २५ । भा० यद्विद-
मतीतानागतं प्रत्युत्पन्नं प्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्व-
ज्ञबीजमेतद्विबर्धमानं यच्च निरतिशयं स सर्वज्ञः अस्ति काष्ठा प्राप्तिः
सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणं वदिति यच्च काष्ठा प्राप्तिर्ज्ञानस्य
स सर्वज्ञः स च पुरुषविशेष इति सामान्यमात्रोपसंहारे कृतोपक्षय-
मनुमानं न विशेषप्रतिपत्तो समर्थमिति तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरा-
गमतः पर्यन्वेष्ट्या तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनं ज्ञानधर्मो-
पदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्गरिष्यामीति । तथा चेत्तं ।
आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्गगवान् परमर्षिसुरयेजिज्ञा-
समानाय त्वं प्रोवाचेति ॥ १४ ॥ स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छे-

दात् ॥ १५ अ० १ पा० १ सू० २६ ॥ भा० पूर्वेहि गुरवः कालेनावच्छेद्यन्ते
 यथावच्छेदार्थेनकालेनोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः यथा ऽस्य
 सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धः तथातिक्रांतसर्गादिष्वपि प्रत्येत्यः ॥ १५ ॥
 तस्य वाचकः प्रणवः ॥ १६ ॥ अ० १ पा० १ सू० २७ ॥ भा० वाच्य
 ईश्वरः प्रणवस्य किमस्य संकेत कृतम् वाच्यवाचकत्वं अथ प्रदीपप्रकाश-
 वदवस्थितमिति स्थितोस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबंधः संकेतस्त्वेश्वरस्य
 स्थितमेवार्थमभिनयति यथावस्थितः पितापुत्रयोः संबंधः संकेतेनावद्यो-
 त्यते अयमस्य पिता अयमस्य पुत्र इति सर्गांतरेष्वपि वाच्यवाचक शक्त्यपे-
 क्षस्तथैव संकेतः क्रियते संप्रतिपत्ति नित्यतया नित्यः शब्दार्थ संबंध इत्या-
 गमिनः प्रतिजानते विज्ञात वाच्यवाचकत्वस्य योगिनः ॥ १ ॥ तज्जपस्तदर्थं
 भावनम् ॥ १७ ॥ अ० १ पा० १ सू० २८ ॥ भा० प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य
 चेश्वरस्य भावना तदस्य योगिनः प्रणवजपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्त
 मेकाग्रसंपद्यते । तथा चेत्तम् । स्वाध्यायाद्योगमासीतयोगात्स्वाध्यायमाम-
 नेत् स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशत इति ॥ १७ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेश कर्म०) अर्थात् इसी प्रकार
 में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो र-
 खासना इन सब से जो सदा अलग और बंधरहित है उसी पूर्ण पुरुष
 को ईश्वर कहते हैं फिर वह कैसा है जिस से अधिक वा तुल्य दूसरा
 पदार्थ कोई नहीं तथा जो सदा आनन्द ज्ञान स्वरूप सर्व शक्तिमान् है
 उसी को ईश्वर कहते हैं क्योंकि ॥ १३ ॥ (तत्र निरति०) जिसमें नित्य सर्वज्ञ
 ज्ञान है वही ईश्वर है जिसके ज्ञानादि गुण अनन्त हैं जो ज्ञानादि गुणों की
 पराकाष्ठा है जिसके सामर्थ्य की अवधि नहीं ॥ और जीव के सामर्थ्य की
 अवधि प्रत्यक्ष देखने में आती है इसलिये सब जं वों को उचित है कि अपने
 ज्ञान बढ़ाने के लिये सदैव परमेश्वर की उपासना करते रहें ॥ १४ ॥ अब
 उस की भक्ति किस प्रकार से करनी चाहिये सो आगे लिखते हैं (तस्यवा०)
 जो ईश्वर का ओंकार नाम है सो पिता पुत्र के संबंध के समान है और यह
 नाम ईश्वर का छोड़के दूसरे अर्थ का वाच्य नहीं हो सकता ईश्वर के जित-
 ने नाम हैं उनमें से ओंकार सब से उत्तम नाम है इसलिये ॥ १५ ॥ (तज्जप०)
 इसी नाम का जप अर्थात् स्मरण और उसी का अर्थ विचार सदा करना
 चाहिये कि जिससे उपासक का मन एकाग्रता प्रसन्नता और ज्ञान को यथावत्
 प्राप्त होकर स्थिर हो जिससे उस के हृदय में परमात्मा का प्रकाश और
 परमेश्वर की प्रेम भक्ति सदा बढ़ती जाय ॥ फिर उस से उपासकों को यह
 भी फल होता है कि ॥ १६ ॥

किंचास्य भवति । ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमो ऽप्यन्तराया भावश्च
 ॥ १८ ॥ अ० १ पा० १ सू० २६ ॥ भा० येतावदन्तरायाः व्याधिप्रभृतय
 स्ते तावदीश्वरप्रणिधानान्न भवन्ति स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति यथैवेश्वरः
 पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलः अनुपसर्गः तथायमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदीयः
 पुरुष इत्येवमधिगच्छति । अथ के ऽन्तरायाः ये चित्तस्य विज्ञेयकाः के
 पुनस्ते क्रियन्ते वेति ॥ १८ ॥ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-
 दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचितविज्ञेयास्ते ऽन्तरायाः ॥ १९ ॥
 अ० १ पा० १ सू० ३० ॥ भा० नवांतरायाश्चित्तस्य विज्ञेयाः सहेते चित्त-
 वृत्तिभिर्भवन्त्येतेषामभावेनभवन्ति पूर्वोक्ताश्चित्तवृत्तयः व्याधिर्धनुस्तुल्यसंकरण-
 वैषम्यं, स्थानमकर्मण्यता, चित्तस्य संशय उभयकोटिसृक्चिन्तनं स्या-
 दिदम् एवं नैवं स्यादिति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम्, (आलस्य)
 कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिश्चित्तस्य विषयसंप्रयोगा-
 त्मागर्द्धः । भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानं अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः ।
 अनवस्थितत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिप्राप्तमाधिप्रतिफलमेहि सति
 तदवस्थितं स्यादिति । एते चित्तविज्ञेयाः नवयोगमलाः योगप्रतिपन्ना योगा-
 न्तराया इत्याभिधीयन्ते ॥ १९ ॥ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वा-
 साविज्ञेयसह भुवः ॥ १९ ॥ अ० १ पा० १ सू० ३१ ॥ भा० । दुःखमाध्या-
 त्मिकं, आधिभौतिकं, आधि दैविकं, च येनाभिहताः प्राणिनस्तदुपघाताय
 प्रयतन्ते तद्दुःखदौर्मनस्यम् । इच्छामिघाताच्चेतसः क्षोभः । यदङ्गान्ये जयति
 कंषयति तदङ्गमे जयत्वं । प्राणो यद्वाह्यं वायुमाचामति स श्वासः । यत्कौष्ठ्यं
 वायुं निस्सारयति स प्रश्वासः । विज्ञेयसहभुवो विज्ञेयप्रतिपत्तयैते भवन्ति
 समाहितचित्तस्यैतेनभवन्ति । अथैते विज्ञेयाः समाधिप्रतिपन्नाः ताभ्या-
 मेवाभ्यां सवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः तत्राभ्यासस्यविषयमुपसंहरन्निद-
 माह ॥ १९ ॥ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ २० ॥ अ० १ पा० १ सू०
 ३२ ॥ भा० । विज्ञेयप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वावलम्बनचित्तमभ्यसेत् यस्य तु
 प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तं एकाग्रं
 नास्त्येव विज्ञेयं यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्य एकस्मिन्नर्थे समाधायते
 तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतं योपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेण
 चित्तमेकाग्रं मन्यते तस्यैकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः तदैकं नास्ति
 प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात् अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्मः स सर्वः

सदृशप्रत्ययप्रवाही वा वि सदृशप्रत्यय प्रवाही वा प्रत्यर्थं नियतत्वादेकाय
 एवेति विक्षिप्रचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति यदि च
 चित्तेनैकेनान्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन् । अथ कथमन्यप्रत्ययदृ-
 ष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत् । अन्यप्रत्ययोपचितस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय
 उपभोक्ता भवेत् कथंचित्समाधीयमानमप्येतद्गोमयपायसीयं न्यायमाक्षिप-
 ति किंच स्वात्मानुभवापन्हवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्तेति कथं यदहमद्राक्षं तत्
 स्पृशामि यच्चास्पृक्षम् तत्पश्यामीति । अहमिति प्रत्ययः कथमत्यतभिन्नेषु
 चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत् स्वानुभवग्राह्यश्चायमभे-
 दात्मा अहमिति प्रत्ययः नच प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते
 प्रमाणान्तरञ्च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं
 च चित्तं यस्येदं शास्त्रेण परिकर्मनिर्दिश्यते तत्कथम् ॥ २० ॥ ॥ भाषार्थ ॥

इस मनुष्य को क्या होता है (ततः प्र०) अर्थात् उम अन्तर्यामी परमात्मा
 की प्राप्ति और (अन्तराय) उम के अविद्यादि क्लेशों तथा रोग रूप विघ्नों का नाश
 हो जाता है वे विघ्न नव प्रकार के हैं ॥ १७ ॥ (व्याधि) एक व्याधि अर्थात्
 धातुओं की विषमता से ज्वर आदि पीड़ा का होना (दूसरा) स्थान अर्थात्सत्य
 कर्मों में अप्रीति (तीसरा) संशय अर्थात् जिस पदार्थ का निश्चय किया चाहे
 उस का यथावत् ज्ञान न होना (चौथा) प्रमाद अर्थात् समाधि साधनों के
 ग्रहण में प्रीति और उन का विचार यथावत् न होना (पांचवां) आनस्य
 अर्थात् शरीर और मन में आराम की इच्छा से पुरुषार्थ छोड़ बैठना (छठा)
 अविर्ति अर्थात् विषयमेषा में तृष्णा का होना (सातवां) भ्रान्तिदर्शन
 अर्थात् चलते ज्ञान का होना जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि
 करना तथा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वरभाव करके पूजा करना
 (आठवां) अलब्ध भूमिकत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति न होना और (नववां)
 अनवस्थितत्व अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर भी उस में चित्त स्थिर
 न होना ये सब चित्त की समाधि होने में विक्षेप अर्थात् उपासना योग के
 शत्रु हैं ॥ १८ ॥ अब इन के फल लिखते हैं (दुःख दौर्म०) अर्थात् दुःख की
 प्राप्ति मन का दुष्ट होना शरीर के अवयवों का कंपना श्वास और प्रश्वास
 के अत्यन्त वेग से चलने में अनेक प्रकार के क्लेशों का होना जो कि चित्त को
 विक्षिप्त कर देते हैं ये सब क्लेश अशांत चित्तबाले को प्र.प. होते हैं शांत
 चित्तबाले को नहीं और उन के छुड़ाने का मुख्य उपाय यही है ॥ २० ॥
 कि (तत्प्रतिषेधा०) जो केवल एक अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व है उसी में प्रेम
 और सर्वदा उसी की आज्ञा पालन में पुरुषार्थ करना है वही एक उन
 विघ्नों के नाश करने का वज्ररूप शस्त्र है अन्य कोई नहीं इस लिये सब
 प्रनुष्ठों को अच्छी प्रकार प्रेमभाव से परमेश्वर के उपासना योग में नित्य

पुरुषार्थे करना चाहिये कि जिस से वे सब विघ्न दूर हो जायें आगे जिस भावना से उपासना करनेवाले को व्यवहार में अपने चित्त को प्रसन्न करना होता है सो कहते हैं ॥ २० ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना तश्चित्तप्रसादनं ॥ २१ ॥ अ० १ पा० १ सू० ३३ ॥ भा० तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्री भावयेत् दुःखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदितानां अपुण्यशालेषूपेक्षाः मैत्रमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते ॥ २१ ॥ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ २२ अ० १ पा० १ सू० ३४ ॥ भा० कोष्ठस्य वायोर्नोसिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषादुपमनं प्रच्छर्दनं विधारणं प्राणायामः । ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत् ॥ छर्दनं भवितान्नमनवत्प्रयत्नेन शरीरस्य प्राणं बाह्यदेशं निस्सार्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भनेन चित्तस्य स्थिरता संपादनीया ॥ २२ ॥ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिर्नये ज्ञानदीपिराविवेकव्यातेः ॥ २३ ॥ अ० १ पा २ सू० २८ ॥ एषामुपासनायोगांगानामनुष्ठानाचरणदशुद्धिरज्ञानं प्रतिदिनं क्षीणं भवति ज्ञानस्य च वृद्धिर्यावन्मोक्षप्राप्तिर्भवति ॥ २३ ॥ यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारण ध्यान समाधयो ऽष्टावङ्गानि ॥ २४ ॥ अ० १ पा० २ सू० २६ ॥ तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः ॥ २६ ॥ अ० १ पा० २ सू० ३० ॥ भा० तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः । उत्तरे च यमनियमस्तत्सलःस्तत् त्रिद्वि परतया तत्प्रतिपादनाय प्रतिपादयते तदवदातरूपकारणैर्विषादीयन्ते (तथाचोक्तम्) सखत्वं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसा निदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति, सत्यं यथार्थं वाङ्मनसे यथा दृष्टं यथा ऽनुमितं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति परच स्वबोधसंक्रांतये वागुक्ता सायं दिनवंचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवंध्या वा भवेत् इत्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत् पापमेव भवेत् तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेन कष्टं तमः प्राप्नुयात् तस्मात्परोक्ष सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् ॥ स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां धरतः स्वीकरणं तत्प्रतिषेधः पुनरसृष्टारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः विषयाणामर्जनरक्षणव्यसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः ॥ २४ ॥ एषां विचारणं प्राकृतभाषायां वक्ष्यते ।

॥ भाषार्थ ॥

(मैत्री) अर्थात् इस संसार में जितने मनुष्य आदि प्राणी सुखी हैं उन सबों के साथ मित्रता करना । दुःखियों पर क्रपादृष्टि रखनी । पुण्यात्माओं के साथ प्रसन्नता । पापियों के साथ उपेक्षा अर्थात् न उन के साथ प्रीति रखना और न वैर ही करना इस प्रकार के वर्त्तमान से उपासक के आत्मा में सत्यधर्म का प्रकाश और उस का मन स्थिरता को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ (प्रच्छुर्दन०) जैसे भोजन के पीछे किसी प्रकार से वमन हो जाता है वैसे ही भीतर के वायु को बाहर निकाल के सुखपूर्वक जितना बन सके उतना बाहर ही रोक दे पुनः धीरे २ भीतर लेके पुनरपि ऐसे ही करै इसी प्रकार वारंवार अभ्यास करने से प्राण उपासक के वश में हो जाता है और प्राण के स्थिर होने से मन मन के स्थिर होने से आत्मा भी स्थिर हो जाता है इन तीनों के स्थिर होने के समय अपने आत्मा के बीच में जो आनन्द स्वरूप अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के स्वरूप में मग्न हो जाना चाहिये जैसे मनुष्य जल में गोता मार कर ऊपर आता है फिर गोता लगा जाता है इसी प्रकार अपने आत्मा को परमेश्वर के बीच में वारंवार मग्न करना चाहिये ॥ २३ ॥ (योगांगानु०) आगे जो उपासना योग के आठ अंग लिखते हैं जिन के अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का त्तय और ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होने से जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त हो जाता है ॥ २४ ॥ (यमनियम०) अर्थात् एक (यम) दूसरा (नियम) तीसरा (आसन) चौथा (प्राणायाम) पांचवा (प्रत्याहार) छठा (धारणा) सातवा (ध्यान) और आठवा (समाधि) ये सब उपासना योग के अंग कहते हैं और आठ अंगों का मिश्रित रूप फल संयम है ॥ २५ ॥ (तत्राहिंसा०) उन आठों में से पहिला यम है सो पांच प्रकार का है एक (अहिंसा) अर्थात् सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़ के प्रेम प्रीति से वर्त्तना । दूसरा (सत्य) अर्थात् जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही सत्य बोले करे और माने । (तीसरा) (अस्तेय) अर्थात् पदार्थ खाने की आज्ञा के बिना किसी पदार्थ की इच्छा भी न करना इसी को चोरी त्याग कहते हैं । (चौथा) (ब्रह्मचर्य्य) अर्थात् विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना और पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह का करना परस्त्री वेष्या आदि का त्यागना सदा चतुर्गामी होना विद्या को ठीक २ पढ़ के सदा पढ़ाते रहना और उपस्य इंद्रिय का सदा नियम करना । पांचवा (अपरिवह) अर्थात् विषय और अभिमानादि दोषों से रहित होना इन पांचों का ठीक २ अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है दूसरा अंग उपासना का नियम है जोकि पांच प्रकार का है ॥ २५ ॥

॥ ते तु ॥ शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ २६ ॥

अ० १ पा० २ सू० ३२ ॥ शौचवाह्यमाभ्यन्तरं च बाह्यं जलादिनाऽऽभ्य-

न्तरं रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन च कार्यम् । संतोषो धर्मानुष्ठानेन सम्यक् प्रसन्नता संपादनीया । तपः सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्तव्यम् वेदादिसत्य-
शास्त्राणामध्ययनाध्यापने प्रणवजपो वा । ईश्वरप्रणिधानम् । परमगुरवे-
परमेश्वराय सर्वात्मादिद्रव्यसमर्पणमित्युपासनायाः पञ्चनियमा द्वितीय-
मङ्गलम् ॥ २६ ॥ अथाहिंसाधर्मस्य फलं ॥ अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्स-
न्निधौ वैरत्यागः ॥ २७ ॥ अथ सत्याचरणस्य फलम् ॥ सत्यप्रतिष्ठायां
क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ २८ ॥ अथ चैरीत्यागफलम् ॥ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्व-
रत्नोपस्थानम् ॥ २९ ॥ अथ ब्रह्मचर्याश्रमानुष्ठानेन यत्नभ्यते तदुच्यते ॥
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३० ॥ अथापरिग्रहफलमुच्यते ॥ अपरिग्र-
हस्थैर्ये जन्मक्रयतासंबोधः ॥ ३१ ॥ अथ शौचानुष्ठानफलम् ॥ शौचात्स्वा-
ङ्गजुगुप्सापरैरसंसर्गः ॥ ३२ ॥ किंच सत्त्वगुद्विषैर्मनस्यैकमेन्द्रियजयात्मदर्श-
नयोग्यत्वानि च ॥ ३३ ॥ संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ३४ ॥ कायेन्द्रियसि-
द्धिरशुद्धिश्चयातपसः ॥ ३५ ॥ स्वाध्यायादिष्टुदेवता संप्रयोगः ॥ ३६ ॥ समा-
धिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ३७ ॥ योगो अ० १ पा० १ सू० ३५ । ३६ ।
३७ । ३८ । ३९ । ४० । ४१ । ४२ । ४३ । ४४ । ४५ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(पहिला) (शौच) अर्थात् पवित्रता करनी सी भी दो प्रकार की है
एक भीतर की और दूसरी बाहर की, भीतर की शुद्धि धर्माचरण सत्य भा-
षण विद्याध्यास सत्संग आदि शुभ गुणों के आचरण से होती है और बाहर
की पवित्रता जल आदि से शरीर स्थान मार्ग वस्त्र खाना पीना आदि शुद्धि
करने से होती है (दूसरा) (सन्तोष) जो सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ
करके प्रसन्न रहना और दुःख में शाकातुर न होना किन्तु आलस्य का नाम
सन्तोष नहीं है (तीसरा) (तपः) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर
देते हैं वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ गुणों के आचरण
रूप तप से निर्मल कर देना (चौथा) (स्वाध्याय) अर्थात् मोक्षविद्या विधायक
वेद शास्त्र का पढ़ना पठाना और ओंकार के विचार से ईश्वर का निश्चय
करना कराना और (पांचवा) (ईश्वरप्रणिधानम्) अर्थात् सब सामर्थ्य सब गुण
प्राण आत्मा और मन के प्रेमभाव से आत्मादि सत्य द्रव्यों का ईश्वर के
लिये समर्पण करना ये पांच नियम भी उपासना का दूसरा अंग है अब पांच
यम और पांच नियमों के यथावत् अनुष्ठान का फल कहते हैं ॥ २६ ॥
(अहिंसा प्र०) अर्थात् जब अहिंसा धर्म निश्चय हो जाता है तब उस पुरुष
के मन से वैरभाव छूट जाता है किन्तु उस के सामने वा उस के संग से
अन्य पुरुष का भी वैरभाव छूट जाता है ॥ २७ ॥ (सत्य प्र०) तथा सत्या-
चरण का ठीक २ फल यह है कि जब मनुष्य निश्चय करके केवल सत्यही

मानता बोलता और करना है तब वह जो २ योग्य काम करता और करना चाहता है वे २ सब सफल हो जाते हैं ॥ २८ ॥ चोरी त्याग करने से यह बात होती है कि (अस्तेय०) अर्थात् जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है तब उस को सब उत्तम २ पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं और चोरी इस का नाम है कि मालिक की आज्ञा के बिना अधर्म से उस की चीज को कपट से वा छिपाकर ले लेना ॥ २९ ॥ (ब्रह्मचर्य०) ब्रह्मचर्य सेवन से यह बात होती है कि जब मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करें उपस्थ इंद्रिय का संयम रखे वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे विवाह के पीछे भी चतुर्गामी बना रहे और परस्त्री गमन आदि व्यभिचार को मन कर्म वचन से त्याग देवे तब दो प्रकार का वीर्य अर्थात् बल बढ़ता है एक शरीर का दूसरा बुद्धि का उस के बढ़ने से मनुष्य अत्यन्त आनन्द में रहता है ॥ ३० ॥ (अपरिग्रहस्य०) अपरिग्रह का फल यह है कि जब मनुष्य विषयासक्तों से बचकर सर्वथा जितेंद्रिय रहता है तब मैं कौन हूँ कहां से आया हूँ और मुझ को क्या करना चाहिये अर्थात् क्या काम करने से मेरा कल्याण होगा इत्यादि शुभगुणों का विचार उस के मन में स्थिर होता है ये ही पांच यम कहाते हैं । इन का ग्रहण करना उपासकों को अवश्य चाहिये ॥ ३१ ॥ परंतु यमों का नियम सहकरी कारण है जो कि उपासना का दूसरा अंग कहाता है और जिस का साधन करने से उपासक लोगों का अत्यंत सहाय होता है सो भी पांच प्रकार का है उन में से प्रथम शौच का फल लिखा जाता है (शौचात्स्वा०) पूर्वाक्त दो प्रकार के शौच करने से भी जब अपना शरीर और उस के सब अवयव बाहर भीतर से मलीन हो रहते हैं तब औरों के शरीर की भी परीक्षा होती है कि मग्न के शरीर मल आदि से भरे हुए हैं इस ज्ञान से वह योगी दूसरे से अपना शरीर मिलाने में घृणा अर्थात् सकोच करके सदा अलग रहता है ॥ ३२ ॥ और उम का फल यह है कि (किञ्च०) अर्थात् शौच से अन्तःकरण की शुद्धि मन की प्रसन्नता और एकाग्रता इंद्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है तदनंतर ॥ ३३ ॥ (संतोषाद०) अर्थात् पूर्वाक्त संतोष से जो सुख मिलता है वह सब से उत्तम है और उसी को मोक्ष सुख कहते हैं ॥ ३४ ॥ (कार्येन्द्रिय०) अर्थात् पूर्वाक्त तप से उन के शरीर और इंद्रियां अशुद्धि के तप से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहते हैं तथा ॥ ३५ ॥ (स्वाध्याय०) पूर्वाक्त स्वाध्याय से दृष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ संप्रयोग अर्थात् साक्षात् होता है फिर परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय अपने आत्मा की शुद्धि सत्याचरण पुरुषार्थ और प्रेम के संप्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति का प्राप्त होता है तथा ॥ ३६ ॥ (समाधि०) पूर्वाक्त प्रणिधान से उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है तथा ॥ ३७ ॥

तत्र स्थिरसुखमासनम् ॥ ३८ ॥ अ० १ पा० २ सू० ४६ ॥ भा० तद्यथा
 पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्य्यक्तं कौच-
 निषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथा सुखं चेत्येव-
 मार्यानि ॥ ३८ ॥ पद्मासनादिकमासनं विदध्यात् यद्वा यादृशीच्छा ता-
 दृशमासनं कुर्यात् ॥ ३८ ॥ ततो द्वंद्वानभिघातः ॥ ३९ ॥ अ० १
 पा० २ सू० ४८ ॥ भा० शीतोष्णादिभिर्द्वंद्वैरासनजयान्नाभिभूयते ॥ ३९ ॥
 तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४० ॥ अ० १
 पा० २ सू० ४९ ॥ भा० सत्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः को-
 ष्ठस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः ॥ ४० ॥
 आसने सम्यक् मिद्वे कृते बाह्याभ्यन्तरगमनशीलस्य वायोर्युक्त्याशनैः
 शनैरभ्यासेन जयकरणमर्थात् स्थिरीकृत्य गत्यभावकरणं प्राणायामः ॥ ४० ॥
 स तु बाह्याभ्यन्त स्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ४१ ॥
 अ० १ पा० २ सू० ५० ॥ भा० यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः यत्र
 श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः तृतीयस्तम्भवृत्तिर्यत्रोभयाभावः
 सकृत्प्रयत्नादुपवति यथा तत्प्रत्यस्तमुपले जनं सर्वतः संकोचमापद्यते तथा
 द्वयोर्युगपद्गत्यभावइति ॥ ४१ ॥ बालवृद्धिभिरंगुन्यङ्गुभ्यां नासिकाच्छि-
 द्रमवरु ऽयः प्राणायामः क्रियते स खलु शिष्टैस्त्याज्य श्वास्ति किंत्वत्र बाह्या-
 भ्यन्तरांगेषु शान्तिशैथिल्ये संपाद्य सर्वांगेषु यथावत् स्थितेषु सत्सु बाह्यदेशं
 गतं प्राणं तत्रैव यथाशक्तिसंरुध्य प्रथमो बाह्याख्यः प्राणायामः कर्तव्यः
 तथोपासकैर्यो बाह्यादुत्थायन्तः प्रविशति तस्याभ्यन्तर एव यथाशक्तिनि-
 रोधः क्रियते स आभ्यन्तरोद्धितीयः सेवनीयः । एवं बाह्याभ्यन्तराभ्या-
 मनुष्ठिताभ्यां द्वाभ्यां कदाचिदुभयोर्युगपत्संरोधो यः क्रियते स स्तम्भवृ-
 त्तिस्तृतीयः प्राणायामोऽभ्यसनीयः ॥ ४० ॥ बाह्याभ्यन्तरविषयान्नेषी
 चतुर्थः ॥ ४१ ॥ अ० १ पा० २ सू० ५१ ॥ भा० देशकालसंख्याभिर्बाह्य-
 विषयः परिदृष्ट आक्षिप्तः तथाभ्यन्तरविषयः परिदृष्ट आक्षिप्त उभयथा दीर्घ-
 सूक्ष्मः तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामस्तृती-
 यस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परि-
 दृष्टो दीर्घसूक्ष्मश्चतुर्थस्तु श्वासयोर्विषयावधारणात् क्रमेण भूमिजयादुभया
 दोषपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति यः प्राणायाम
 उभयाक्षेपी स चतुर्थो गद्यते । तद्यथा यदोदराद्बाह्यदेशं प्रतिगंतुं प्रथम-

क्षणे प्रवर्तते तं संलक्ष्य पुनः बाह्यदेशं प्रत्येव प्राणाः प्रक्षेप्यः पुनश्च यदा बाह्यादेशादाभ्यन्तरं प्रथममागच्छेतमाभ्यन्तर एव पुनः २ यथाशक्ति गृहीत्वा तत्रैव स्तम्भयेत्स द्वितीयः ॥ एवं द्वयोरेतयोः क्रमेणाभ्यासेन गत्यभावः क्रियते स चतुर्थः प्राणायामः । यस्तु खलु तृतीयोऽस्ति स नैव बाह्याभ्यन्तराभ्यासस्यापेक्षां करोति किन्तु यत्र २ देशे प्राणावर्तते तत्र तत्रैव सकृत्स्तम्भनीयः । यथा किमप्यद्भुतं दृष्ट्वा मनुष्यश्चकितो भवति तथैव कार्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(तत्र स्थिर०) अर्थात् जिस में सुखपूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो उस को आसन कहते हैं अथवा जैसी रुचि हो वैसा आसन करे ॥ ३८ ॥ (ततोऽद्वन्द्व०) जब आसन दृढ़ होता है तब उपासना करने में कुछ परिश्रम करना नहीं पड़ता है और न सर्दी गर्मी अधिक बाधा करती है ॥ ३९ ॥ (तस्मिन्सति०) जो वायु बाहर से भीतर को आता है उस को श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है उस को प्रश्वास कहते हैं उन दोनों के जाने आने के विचार से रोके नासिका को हाथ से कभी न पकड़े किन्तु ज्ञान से ही उन के रोकने को प्राणायाम कहते हैं और यह प्राणायाम चार प्रकार में होता है ॥ ४० ॥ (स तु बाह्या०) अर्थात् एक बाह्य विषय दूसरा आभ्यन्तर विषय तीसरा स्तम्भ वृत्ति और चौथा जो बाहर भीतर रोकने में होता है ॥ ४१ ॥ अर्थात् जो कि (बाह्याभ्य०) इस सूत्र का विषय । वे चार प्राणायाम इस प्रकार में होते हैं कि जब भीतर से बाहर को श्वास निकले तब उस को बाहर ही रोक दे इस को प्रथम प्राणायाम कहते हैं जब बाहर से श्वास भीतर को आवे तब उस को जितना रोक सके उतना भीतर ही रोक दे इस को दूसरा प्राणायाम कहते हैं तीसरा स्तम्भ वृत्ति है कि न प्राण को बाहर निकाले और न बाहर से भीतर ले जाय किन्तु जितनी देर सुखसे हो सके उस को जहां का तहां ज्यों का त्यों एक दम रोक दे और चौथा यह है कि जब श्वास भीतर से बाहर को आवे तब बाहर ही कुछ २ रोकता रहे और जब बाहर से भीतर जावे तब उस को भीतर ही थोड़ा २ रोकता रहे इस को बाह्याभ्यन्तराक्षेपो कहते हैं और इन चारों का अनुष्ठान इसलिये है कि जिस से चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर रहे ॥ ४२ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ४२ ॥ अ० १ पा० २ सू० ५२ ॥ एवं प्राणायामाभ्यासाद्यत्परमेश्वरस्यान्तर्यामिनः प्रकाशसत्यविवेकस्यावरणाख्यमज्ञानमस्ति तत्क्षीयते क्षयं प्राप्नोतीति ॥ ४२ ॥ किंच धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ४३ ॥ अ० १ पा० २ सू० ५३ ॥ भा० प्राणायामाभ्यासादेव प्रच्छेद-नविधारणाभ्यां वा प्राणस्येति वचनात् ॥ ४३ ॥ प्राणायामानुष्ठानेनोपासकानां

मनसो ब्रह्मध्याने सम्यग्योग्यता भवति ॥ ४३ ॥ अथ कः प्रत्याहारः ॥
स्वविषया संप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ४४ ॥
अ० १ पा० २ सू० ५४ ॥ यदा चित्तं जितं भवति परमेश्वरस्मरणलम्बनाद्वि-
षयान्तरे नैव गच्छति तदन्द्रियाणां प्रत्याहारो ऽर्थान्निरोधो भवति । कस्य
केषामिव यथा चित्तं परमेश्वरस्वरूपस्य भवति तथैवेन्द्रियाण्यप्यर्थाच्चित्ते
जिते सर्वमिन्द्रियादिकं जितं भवतीति विज्ञेयम् ॥ ४४ ॥ ततः परमा वश्य-
तेन्द्रियाणाम् ४५ ॥ अ० १ पा० २ सू० ५५ ॥ ततस्तदनन्तरं स्वस्वविषया
संप्रयोगेर्थात्स्वस्वविषयान्निवृत्तौ सत्यामिन्द्रियाणां परमावश्यता यथा-
वद्विजयो जायते स उपासको यदा यदेश्वरोपासनं कर्तुं प्रवर्तते तदा तदै-
व चित्तस्येन्द्रियाणां च वश्यत्वं कर्तुं शक्नोतीति ॥ ४५ ॥ देशबन्धश्चित्तस्य
धारणा ॥ ४६ ॥ अ० १ पा० ३ सू० १ ॥ भा० नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके
मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाये जिह्वाय इत्येवमादिषु देशेषु चित्तस्य वृत्तिमात्रेण
बन्ध इति बन्धो धारणा ॥ ४६ ॥ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ४७
अ० १ पा० ३ सू० २ ॥ तस्मिन्देशे ऽध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता
सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेण परामृष्टो ध्यानम् ॥ ४७ ॥ तदेवार्थमाचनि-
र्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ४८ ॥ अ० १ पा० ३ सू० ३ ॥ ध्यानसमा-
ध्योरयं भेदः ध्याने मनसो धातृध्यानध्येयाकारेण विद्यमाना वृत्तिर्भवति
समाधौ तु परमेश्वरस्वरूपे तदानन्दे च मग्नः स्वरूपशून्यइव भवतीति
॥ ४८ ॥ त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४९ ॥ अ० १ पा० ३ सू० ४ ॥ भा० तदेतद्
धारणाध्यानसमाधियत्रमेकत्र संयमः । एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम
इत्युच्यते तदस्य त्रयस्य तांत्त्रिकीपरिभाषासंयम इति ॥ ४९ ॥ संयमश्चे-
पासनाया नवमांगम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस प्रकार प्राणायाम पूर्वक उपासना करने से आत्मा के ज्ञान का
ढाँकने वाला आवरण जो अज्ञान है वह नित्य प्रति नष्ट होता जाता है और
ज्ञान का प्रकाश धीरे २ बढ़ता जाता है उस अभ्यास से यह भी फल होता है
कि ॥ ४३ (किंच धारणा०) परमेश्वर के बीच में मन और आत्मा की धारणा
होने से मोक्ष पर्यंत उपासना योग और ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती
है तथा उस से व्यवहार और परमार्थ का विवेक भी बराबर बढ़ता रहता है
इसी प्रकार प्राणायाम करने से भी ज्ञान लेना ॥ ४४ ॥ (स्वविषया०) प्रत्या-
हार उस का नाम है कि जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है तब इंद्रियों
का जीतना अपने आप हो जाता है क्योंकि मनही इंद्रियों का चलाने वाला
है ॥ ४५ ॥ (ततः पर०) तब वह मनुष्य जितेंद्रिय होके जहाँ अपने मन को

ठहराना वा चलाना चाहे उसी में ठहरा और चला सकता है फिर उस को ज्ञान हो जाने से सदा सत्य में ही प्रीति हो जाती है असत्य में कभी नहीं ॥ ४६ ॥ (देशव०) जब उपासना योग के पूर्वोक्त पांचो अंग सिद्ध हो जाते हैं तब उस का छठा अंग धारणा भी यथावत् प्राप्त होती है (धारणा) उस को कहते हैं कि मन को चंचलता से छुड़ा के नाभि, हृदय, मस्तक, नासिका, और जीभ के अग्रभाग आदि देशों में स्थिर करके आकार का जप और उस का अर्थ जो परमेश्वर है उस का विचार करना तथा ॥ ४७ ॥ (तत्र प्र०) धारणा के पीछे उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने के योग्य जो अंतर्ध्यामी व्यापक परमेश्वर है उस के प्रकाश और आनन्द में अत्यंत विचार और प्रेमभक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती है उस समय में ईश्वर को छोड़ किसी अन्य पदार्थ का स्मरण नहीं करना किंतु उसी अंतर्ध्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाना इसी का नाम ध्यान है इन सात अंगों का फल समाधि है ॥ ४८ ॥ (तदेवार्थ०) जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होके अपने शरीर को भी भूने हुए के समान जानके आत्मा को परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने का समाधि कहते हैं ॥ ध्यान और समाधि में इतनाही भेद है कि ध्यान में तो ध्यान करनेवाला जिस मन से जिस चीज का ध्यान करता है वे तीनों विद्यमान रहते हैं परंतु समाधि में केवल परमेश्वर ही के आनन्द स्वरूप ज्ञान में आत्मा मग्न हो जाता है वहां तीनों का भेद भाव नहीं रहता जैसे मनुष्य जल में डुबकी मार के थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न हो के फिर बाहर को आ जाता है ॥ ४९ ॥ (त्रयमेकत्र०) जिस देश में धारणा की जाय उसी में ध्यान और उसी में समाधि अर्थात् ध्यान करने के योग्य परमेश्वर में मग्न हो जाने को संयम कहते हैं जो एक ही काल में तीनों का मेल होना है अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान और ध्यान से संयुक्त समाधि होती है उन में बहुत सूक्ष्म काल का भेद रहता है परंतु जब समाधि होती है तब आनन्द के बीच में तीनों का फल एक ही हो जाता है ॥ ५० ॥

॥ अथोपासनाविषये उपनिषदां प्रमाणानि ॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तोनासमाहितः नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनेनमाप्नुयात् ॥ १ ॥ कठोपनि० वल्ली० २ ॥ मं० २४ तपः श्रद्धेय-
ह्युपवसन्त्यराग्ये शान्ता विद्वानो भेद्यचर्या चरन्तः । सूर्य्यद्वारेण ते विर-
जाः प्रयान्ति यचामृतः स पुरुषोऽह्यव्यात्मा ॥ २ ॥ मुण्ड० १ खं० २ मं०
११ ॥ अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्त-

राकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ ३ ॥ तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव जिज्ञासितव्यमिति ॥ ४ ॥ स ब्रूयादावान्वा अयमाकाशस्तावानेषो ऽन्तर्हृदय अकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसामुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्ये हास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥ ५ ॥ तं चेद्ब्रूयुरस्मिन्श्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वं च कामाय दैनज्जरावाप्नोति प्रध्वंसते वा किं ततोति शिष्यत इति ॥ ६ ॥ स ब्रूयान्नास्य जरयै तज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत गतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मा ऽग्रहतपाप्मा विजरो विमृशुर्विशोको विजियत्सोऽपिपासः सत्यक्रामः सत्यनकल्पो यथाह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवेपजीवन्ति ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ८ ॥ मं० १।२।३।४।५ ॥ अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते ॥ सेयं तस्य परमेश्वरस्योपासनाद्विविधास्ति ॥ गका सगुणा द्वितीया निर्गुणा चेति ॥ तद्व्या॥ (सपर्यगाच्छ्रु०) इत्यस्मिन्सर्वे शुक्रशुद्धमिति सगुणोपासनम् । अकायम ब्रह्मसत्त्वाविरमित्यादिनिर्गुणोपासनं च । तथा । एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥ सर्वाध्यतः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेत्ता केवलो निर्गुणश्च ॥ १ ॥

॥ भाषार्थ ॥

यह उपासनायोग दुष्ट मनुष्य को मिट्ट नहीं होता क्योंकि (नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्ट कामों में अलग हो कर अपने मन को शांत और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करना तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करना तब तक कितना ही पढ़े वा सुने उस को परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥ १ ॥ (तपः श्रद्धे०) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उस की आज्ञा में अत्यंत प्रेम कर के अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में स्थिरता के साथ निवास करते हैं वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं जो लोग अधर्म के छोड़ने और धर्म के करने में दृढ़ तथा वेदादि सत्य विद्याओं में विद्वान् हैं जो भिताचर्य्य आदि कर्म कर के संन्यास वा किसी अन्य आश्रम में हैं इस प्रकार के गुण वाले मनुष्य (सूर्यद्वारेण०) प्राण द्वार से परमेश्वर के सत्य राज्य में प्रवेश करके (विरजाः) अर्थात् सब दोषों में कूट के परमानन्द मोक्ष को प्राप्त होते हैं जहां कि पूर्ण पुरुष सब में भरपूर सब से सूक्ष्म (अमृतः) अर्थात् अविनाशी और जिस में हानि लाभ कभी नहीं होता ऐसे परमेश्वर

को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उस में प्रवेश किया चाहें उस समय इस रीति से करें कि ॥ २ ॥ (अथ यदिदं०) कंठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिस को ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं उस के बीच में जो गर्त है उस में कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उस के बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस हो कर भर रहा है वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिलजाता है दूसरा उस के मिलने का कोई उत्तमस्थान वा मार्ग नहीं है ॥ ३ ॥ और कदाचित् कोई पूछे कि (तं चेदुयु०) अर्थात् उस हृदयाकाश में क्या रक्खा है जिस की खोज ना की जाय तो उस का उत्तर यह है कि ॥ ४ ॥ (स ब्रूयाद्वा०) हृदयदेश में जितना आकाश है वह सब अंतर्धामी परमेश्वर ही से भर रहा है और उमी हृदयाकाश के बीच में सूर्य आदि प्रकाश तथा पृथिवी लोक अग्नि वायु सूर्य चन्द्र बिजुनी और सब नतत्र लोक भी ठहर रहे हैं जितने दीखने वाले और नहीं दीखने वाले पदार्थ हैं वे सब उमी की सत्ता के बीच में स्थिर हो रहे हैं ॥ ५ ॥ (तं चेदुयु०) इस में कोई ऐसी शंका करे कि जिस ब्रह्मपुर हृदयाकाश में सब भूत और काम स्थिर होते हैं उस हृदयदेश के वृद्धावस्था के उपरान्त नाश हो जाने पर उस के बीच में क्या बाकी रह जाता है कि जिस को तुम खोजने को कहते हो तो इस का उत्तर यह है ॥ ६ ॥ (स ब्रूयात्) सुनो भाई उस ब्रह्मपुर में जो परिपूर्ण परमेश्वर है उस को नतो कभी वृद्धावस्था होती है और न कभी नाश होता है उसी का नाम सत्य ब्रह्मपुर है कि जिस में सब काम परिपूर्ण हो जाते हैं वह (अपहत पाप्मा०) अर्थात् सब पापों से रहित शुद्ध स्वभाव (विजरः) जरा अवस्था रहित (विशोकः) शोक रहित (विजिघत्सोपि०) जो खाने पीने की इच्छा कभी नहीं करता (सत्यकामः) जिस के सब काम सत्य हैं (सत्यसंकल्पः) जिस के सब संकल्प भी सत्य हैं उसी आकाश में प्रलय होने के समय सब प्रजा प्रवेश कर जाती है और उसी के रचने से उत्पत्ति के समय फिर प्रकाशित होती है इस पूर्वोक्त उपासना से उपासक लोग जिस २ काम की जिस २ देश की जिस २ क्षेत्रभाग अर्थात् अवकाश की इच्छा करते हैं उन सब को वे यथावत् प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥ सो उपासना दो प्रकार की है एक सगुण और दूसरी निर्गुण इन में से (सपर्यगा०) इस मंत्र के अर्थानुसार शुक्ल अर्थात् जगत् का रचने वाला धीर्यवान् तथा शुद्ध कवि मनोषी परिभू और स्वयंभू इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण है और अकाय अत्रण अस्वाविर इत्यादि गुणों के निषेध होने से वह निर्गुण कहाता है तथा ॥

एको देव इत्यादि सगुणोपासनम् निर्गुणश्चेति वचनान्निर्गुणोपासनम् तथा सर्वज्ञादिगुणैः सहवर्तमानः सगुणः अविद्यादिकेशपरिमाणद्वित्वदि संख्या शब्दस्पर्शरूपरसगंधादिगुणैः निर्गतत्वात्निर्गुणः । तद्यथा । परमेश्वरः सर्वज्ञः सर्वश्रोत्रो सर्वोऽप्यक्षः सर्वस्वामी चेत्यादिगुणैः सहवर्तमानत्वात्परमेश्वरस्य सगुणोपासनं विज्ञेयम् तथा सोऽजोऽर्थाज्जन्मरहितः (अव्रणः) छेदरहितः । निराकारः । आकाररहितः । अकायः । शरीरसंबन्धरहितः । तथैव रूपरसगंधस्पर्शसंख्यापरिमाणादयोगुणास्तस्मिन् सन्तोदमेव तस्य निर्गुणोपासनं ज्ञातव्यम् । अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति तस्मात्सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(एको देवः०) एक देव इत्यादि गुणों के सहित होने से परमेश्वर सगुण और (निर्गुणश्च०) इस के कहने से निर्गुण समझा जाता है तथा ईश्वर के सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् शुद्ध सनातन न्यायकारी दयालु सब में व्यापक सब का आधार मंगलमय सब की उत्पत्ति करने वाला और सब का स्वामी इत्यादि सत्य गुणों के ज्ञान पूर्वक उपासना करने को सगुणोपासना कहते हैं और वह परमेश्वर कभी जन्म नहीं लेता निराकार अर्थात् आकारवाला कभी नहीं होता अकाय अर्थात् शरीरक भी नहीं धारता अव्रण अर्थात् जिम में छिद्र कभी नहीं होता जो शब्द स्पर्श रूप रस और गंधवाला कभी नहीं होता जिस में दो तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती जो लंबा चौड़ा और हलका भारी कभी नहीं होता इत्यादि गुणों के निवारण पूर्वक उस का स्मरण करने को निर्गुण उपासना कहते हैं इस से क्या सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देह धारण करने से सगुण और देह त्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं सो यह उन की कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिये किंतु सब को पूर्वाक्त रीति से ही उपासना करनी चाहिये ॥ इति संक्षेपतो ब्रह्मोपासनावधानम् ॥

॥ अथ मुक्तिविषयः संक्षेपतः ॥

एवं परमेश्वरोपासनेनाविद्या ऽधर्माचरणानिवारणाच्छुद्धविज्ञानधर्मानुष्ठानोन्नतिभ्यां जीवो मुक्तिं प्राप्नोतीति ॥ अथात्र योगशास्त्रस्य प्रमाणानि तद्यथा । अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचकेशाः ॥ १ ॥ अविद्या क्षेत्र-मुत्तरेषां प्रसूततनुविद्विद्धोदाराणाम् ॥ २ ॥ अनित्या शुचिदुःखानात्मसु नित्य

शुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ३ ॥ दुःखदर्शनशतयोरेकात्मतेवास्मिता ॥ ४ ॥
 सुखानुशयी रागः ॥ ५ ॥ दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ६ ॥ स्वरसवाही विदुषोपि
 तथा रुढोऽभिनवेशः ॥ ७ ॥ अ० १ पा० २ सू० ३। ४। ५। ६। ७। ८। ९ ॥
 तदभावात्संयोगाभावो हानं तदृशेः कैवल्यम् ॥ अ० १ पा० २ सू० २५ ॥
 तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ८ ॥ अ० १ पा० ३ सू० ४८ ॥
 सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ९ ॥ अ० १ पा० ३ सू० ५३ ॥ तदा
 विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ ११ ॥ अ० १ पा० ४ सू० २६ ॥
 पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठावाचित् शक्तिर-
 ति ॥ १२ ॥ अ० १ पा० ४ सू० ३४ ॥ अथन्यायशास्त्र प्रमाणानि ॥ दुःख-
 जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ १ ॥
 बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २ ॥ तदन्यन्तविमोक्षोपवर्गः ॥ ३ ॥ न्यायद०
 अ० १ आह्निक १ सू० २। २१। २२ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार परमेश्वर की उपासना करके अविद्या आदि क्लेश तथा
 अधर्माचरण आदि दुष्ट गुणों को निवारण करके शुद्ध विज्ञान और धर्मादि
 शुभ गुणों के आचरण से आत्मा की उन्नति करके जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाता
 है अब इस विषय में प्रथम योगशास्त्र का प्रमाण लिखते हैं पूर्व लिखी
 हुई चित्त की पांच वृत्तियों का यथावत् रोकने और मोक्ष के साधन में सब
 दिन प्रवृत्त रहने से नीचे लिखे हुए पांच क्लेश नष्ट हो जाते हैं वे क्लेश ये हैं
 (अविद्या) एक (अविद्या) दूसरा (अस्मिता) तीसरा (राग) चौथा (द्वेष)
 और पांचवां (अभिनवेश) ॥ १ ॥ (अविद्या क्षेत्र०) उन में से अस्मि-
 तादि चार क्लेश और मिथ्या भाषणादि दोषों की माता अविद्या है
 जो कि मूढ़ जीवों को अंधकार में फसा के जन्ममरणादि दुःखसागर में सदा
 डुबाती है । परंतु जब विद्वान् और धर्मात्मा उपासकों को सत्य विद्या से
 अविद्या (विकृति) अर्थात् कृतिभिन्न होके (प्रसुप्तनु) नष्ट हो जाती है तब
 वे जीव मुक्ति को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २ ॥ अविद्या के लक्षण ये हैं (अनित्य)
 (अनित्य) अर्थात् कार्य (जो शरीर आदि स्थूल पदार्थ तथा लोक लोकान्तर में
 नित्य बुद्धि) तथा जो (नित्य) अर्थात् ईश्वर जीव जगत्का कारण क्रिया क्रिया-
 वान् गुण गुणी और धर्म धर्मी हैं इन नित्य पदार्थों का परस्पर संबंध है इन
 में अनित्य बुद्धि का होना यह अविद्या का प्रथम भाग है तथा (अशुचि)
 मलमूत्र आदि के समुदाय दुर्गंधरूप मल से परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि
 का करना तथा तलाव, बावरी, कुंड, कुंआ, और नदी, आदि में तीर्थ और पाप
 कुड़ाने की बुद्धि करना और उनका चरणाश्रित पीना पकादशी आदि मिथ्या
 व्रतों में भूख प्यास आदि दुःखों का सहना स्पर्श इन्द्रिय के भोग में अत्यंत प्रीति

करना इत्यादि अशुद्ध पदार्थों को शुद्ध मानना और सत्यविद्या सत्यभाषण धर्म सत्संग परमेश्वर की उपासना जितेंद्रियता सर्वोपकार करना मन्त्र से प्रेम भाव से वर्तना आदि शुद्ध व्यवहार और पदार्थों में अपवित्रबुद्धि करना यह अविद्या का दूसरा भाग है तथा दुःख में सुख बुद्धि अर्थात् विषयवृष्णा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, ईर्ष्या, द्वेष, आदि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना, जितेंद्रियता निष्काम शम संतोष विवेक प्रमत्तता प्रेम मित्रता आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि का करना यह अविद्या का तीसरा भाग है इसी प्रकार अनात्मा में आत्मबुद्धि अर्थात् जड़ में चेतन भाव और चेतन में जड़ भावना करना अविद्या का चतुर्थ भाग है यह चार प्रकार की अविद्या संसार के अज्ञानी जीवों को बंधन का हेतु होके उन को सदा नचाती रहती है परंतु विद्या अर्थात् पूर्वाक्त अनित्य अशुचि दुःख और अनात्मा में अनित्य अपवित्रता दुःख और अनात्म बुद्धि का होना तथा नित्य शुचि सुख और आत्मा में नित्य पवित्रता सुख और आत्म बुद्धि करना यह चार प्रकार की विद्या है जब विद्या में अविद्या की निवृत्ति होती है तब बंधन में छूट के जीव मुक्ति का प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ (अस्मि ता०) दूसरा क्लेश (अस्मिता) कहाता है अर्थात् जीव और बुद्धि को मिलने के समान देखना अभिमान और अहंकार से अपने को बड़ा समझना इत्यादि व्यवहार को अस्मिता जानना जब सम्यक् विज्ञान में अभिमान आदि के नाश होने से इस की निवृत्ति हो जाती है तब गुणों के ग्रहण में रुचि होती है ॥ ४ ॥ तीसरा (सुखानु०) राग अर्थात् जो २ सुख संसार में साक्षात् भागने में आते हैं उन के संस्कार की स्मृति से जो वृष्णा के लोभसागर में बहना है इस का नाम राग है जब ऐसा ज्ञान मनुष्य को होता है कि सब संयोग वियोग संयोग वियोगांत हैं अर्थात् वियोग के अंत में संयोग और संयोग के अंत में वियोग तथा वृद्धि के अंत में क्षय और क्षय के अंत में वृद्धि होती है तब इस की निवृत्ति हो जाती है ॥ ५ ॥ (दुःखानु०) वैथा द्वेष कहाता है ॥ अर्थात् जिस अर्थ का पूर्व अनुभव किया गया हो उस पर और उस के साधनों पर सदा क्रोधबुद्धि होना इस की निवृत्ति भी राग की निवृत्ति में ही होती है ॥ ६ ॥ (स्वप्नानु०) पांचवा (अभिनिवेश) क्लेश है जो सब प्राणियों का नित्य आशा होती है कि हम सदैव शरीर के साथ बने रहें अर्थात् कभी मरें नहीं सो पूर्व जन्म के अनुभव से होती है और इस से पूर्व जन्म भी मिट्टा होता है क्योंकि छोटे २ क्षमि चीटी आदि को भी मरण का भय बराबर बना रहना है इसी से इस क्लेश को अभिनिवेश कहते हैं जो कि विद्वान् मूर्ख तथा क्षुद्र जंतुओं में भी बराबर दीख पड़ता है इस क्लेश की निवृत्ति उस समय होगी कि जब जीव परमेश्वर और प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण का नित्य और कार्यद्रव्य के संयोग वियोग को अनित्य जान लेगा इन क्लेशों की शांति से जीवों को

मोक्षसुख की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥ (तदभावात्०) अर्थात् जब अविद्यादि क्लेश दूर होके विद्यादि शुभगुण प्राप्त होते हैं तब जीव सब बंधनों और दुःखों से कूट के मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥ (तद्वैराग्या०) अर्थात् शोक रहित आदि सिद्धि से भी विरक्त होके सब क्लेशों और दोषों का बीज जो अविद्या है उस के नाश करने के लिये यथावत् प्रयत्न करे क्योंकि उस के नाश के बिना मोक्ष कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥ तथा (सत्त्व पुरुष०) अर्थात् सत्त्व जो बुद्धि पुरुष जो जीव इन दोनों की शुद्धि से मुक्ति होती है अन्यथा नहीं ॥ १० ॥ (तदा विवेक०) जब सब दोषों से अलग होके ज्ञान की और आत्मा भुक्ता है तब कैवल्य मोक्ष धर्म के संस्कार से वित्त परिपूर्ण हो जाता है तभी जीव को मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि जब तक बंधन के कामों में जीव फसता जाता है तब तक उस को मुक्ति प्राप्त होना असंभव है ॥ ११ ॥ कैवल्य मोक्ष का लक्षण यह है कि (पुरुषार्थ०) अर्थात् कारण के सत्त्व रजो और तमोगुण और उन के सब कार्य पुरुषार्थ में नष्ट होकर आत्मा में विज्ञान और शुद्धि यथावत् होके स्वरूप प्रतिष्ठा जैसा जीव का तत्त्व है वैसा ही स्वाभाविक शक्ति और गुणों से युक्त हो के शुद्ध स्वरूप परमेश्वर के स्वरूप विज्ञान प्रकाश और नित्य आनन्द में जो रहना है उसी का कैवल्य मोक्ष कहते हैं ॥ १२ ॥ अब मुक्ति विषय में मोक्षमाचार्यों के कहे हुए न्यायशास्त्र के प्रमाण लिखते हैं (दुःखजन्म०) जब मिथ्या ज्ञान अर्थात् अविद्या नष्ट हो जाती है तब जीव के सब दोष नष्ट हो जाते हैं उस के पीछे (प्रवृत्ति०) अर्थात् अधर्म अन्याय विषयासक्ति आदि की वासना सब दूर हो जाती है उस के नाश होने से (जन्म) अर्थात् फिर जन्म नहीं होता उस के न होने से सब दुःखों का अत्यंत अभाव हो जाता है दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानंद मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनंद ही आनंद भोगने को बाकी रह जाता है इसी का नाम मोक्ष है ॥ १ ॥ (बाधना०) सब प्रकार की बाधा अर्थात् इच्छा विघात और परतंत्रता का नाम दुःख है ॥ २ ॥ (तदत्यंत०) फिर उस दुःख के अत्यंत अभाव और परमात्मा के नित्य योग करने से जो सब दिन के लिये परमानंद प्राप्त होता है उसी सुख का नाम मोक्ष है ॥ ३ ॥

॥ अथ वेदांशशास्त्रस्य प्रमाणानि ॥

अभावं वादरिराहस्येवम् ॥ १ ॥ भावं जेमिनिर्विकल्पात्मननात् ॥ २ ॥
द्वादशह वदुभयवधंवादरायणोतः ॥ ३ ॥ अ० ४ पा० ४ सू० १० । ११ ।
१२ ॥ यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥ बुद्धिश्च न विचेष्टते तामा-
हुः परमां गतिम् ॥ १ ॥ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययो ॥ २ ॥ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा

येऽस्य हृदिप्रिताः ॥ अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यथ ब्रह्म समश्नुते ॥ ३ ॥ यदा सर्वे प्रभिवन्ते हृदयस्येह गन्थ यः ॥ अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम् ॥ ४ ॥ कठो० अ० २ वल्ली० ६ मे० १० । ११ । १४ । १५ ॥ देवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥ य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आताः सर्वे च कामाः स सर्वाश्च लोका नाप्नोति सर्वाश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य जानातीतिह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥ यदन्तरापस्तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा प्रजापतेः सभां वैश्व प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि सहाहं यशसां यशः ॥ ७ ॥ छान्दोग्योपनि० प्रपा० ७ ॥ अणुः पन्थावितरः पुराणो मास्पर्शो वितोमयैव ॥ तेन धीरा अपि यन्ति ब्रह्मविद् उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः ॥ ८ ॥ तस्मिन्कुक्कुमुतनीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ॥ एष पथा ब्रह्मणाहानुवितस्तेनैति ब्रह्म वितैजसः पुण्यकृत् ॥ ९ ॥ प्राणस्य प्राणमुतचक्षुषश्च क्षुद्रतम्रोचस्य ओचमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः ॥ तेनिचिश्चुब्रह्म पुराणमग्रमन सैवाप्रव्यं नेह नानास्ति किंचन ॥ १० ॥ मृत्योः समृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ मनसैवानुद्रव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम् ११ ॥ विरजः पर आकाशात् अज आत्मा महाध्रुवः ॥ तमेव धीरा विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥ १२ ॥ श० कां० १४ अ० ७ ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब व्यासोक्त वेदांत दर्शन और उपनिषदों में जो मुक्ति का स्वरूप और लक्षण लिखे हैं सो आगे लिखते हैं (अभाव०) व्यास जी के पिता जो बादरि आचार्य थे उन का मुक्तिविषय में ऐसा मत है कि जब जीव मुक्त हुआ तो प्राप्नो होता है तब वह शुद्ध मन से परमेश्वर के साथ परमानन्द मोक्ष में रहता है और इन दोनों में भिन्न इन्द्रियादि पदार्थों का अभाव हो जाता है ॥ १ ॥ तथा (भाव० जैमिनि०) इसी विषय में व्यास जी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे उन का ऐसा मत है कि जैसे मोक्ष में मन रहता है वैसे ही शुद्ध संकल्पमय शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है क्योंकि उपनिषद् में (स एकधा भवति द्विधा भवति त्रिधा भवति) इत्यादि बचनों का प्रमाण है कि मुक्त जीव संकल्प मात्र से ही दिव्य शरीर रख लेता है और रच्छामात्र ही से शीघ्र छोड़ भी देता है और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है ॥ २ ॥ (द्वादशाह०) इस मुक्ति विषय में बादरायण जो व्यास जी थे उन का ऐसा मत है कि मुक्ति में भाव

और अभाव दोनों ही बने रहते हैं अर्थात् क्लेश अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषों का सर्वथा अभाव हो जाता है और परमानन्द ज्ञान शुद्धता आदि सब सत्यगुणों का भाव बना रहता है इस में दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे खानप्राशन आश्रम में बारह दिन का प्राजापत्यादि व्रत करना होता है उस में थोड़ा भोजन करने से तुष्टा का थोड़ा अभाव और पूर्ण भोजन न करने से तुष्टा का कुछ भाव भी बना रहता है इसी प्रकार मोक्ष में भी पूर्वाक्त रीति से भाव और अभाव समझ लेना इत्यादि निरूपण मुक्ति का वेदांत शास्त्र में किया है ॥ ३ ॥ अब मुक्तिविषय में उपनिषद्कारों का जो मत है सो भी आगे लिखते हैं कि (यदा पंचात्र०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय परमेश्वर में स्थिर होके उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥ १ ॥ (तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं जब मनुष्य उपासना योग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमाद रहित होता है तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ वह उपासना योग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करने वाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला है इस लिये केवल उपासना योग ही मुक्ति का साधन है ॥ २ ॥ (यदा सर्व०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्द युक्त होता है (प्र०) क्या वह मोक्ष पद कहीं स्थानांतर वा पदार्थ विशेष है क्या वह किसी एकही जगह में है वा सब जगह में (उत्तर) नहीं ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ तथा (यदा सर्व०) जब जीव को अविद्यादि बंधन की सब गाँठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (प्र०) जब मोक्ष में शरीर और इन्द्रियां नहीं रहती तब वह जीवात्मा व्यवहार को कैसे जानता और देख सकता (उत्तर) (दैवेन०) वह जीव शुद्ध इन्द्रिय और शुद्ध मन से इन आनन्द रूप कामों को देखता और भोक्ता भया उस में सदा रमण करता है क्योंकि उस का मन और इन्द्रियां प्रकाश स्वरूप हो जाती हैं ॥ ५ ॥ (प्र०) वह मुक्त जीव सब सृष्टि में घूमता है अथवा कहीं एकही ठिकाने बैठा रहता है (उ०) (य एते ब्रह्मलोके०) जो मुक्त पुरुष होते हैं वे ब्रह्मलोक अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त होके और सब के आत्मा परमेश्वर की उपासना करते हुए उसी के आश्रय से रहते हैं इसी कारण से उन का जाना आना सब लोक लोकांतरों में होता है उन के लिये कहीं रुकावट नहीं रहती और उन के सब काम पूर्ण हो जाते हैं कोई काम अपूर्ण नहीं रहता इस लिये जो मनुष्य पूर्वाक्त

रीति से परमेश्वर को सब का आत्मा जानके उस की उपासना कर्तु को वह अपनी संपूर्ण कामनाओं को प्राप्त होता है यह बात प्रजापति परमेश्वर सब जीवों के लिये वेदों में बताता है ॥ ६ ॥ पूर्व प्रसंग का अभिप्राय यह है कि मोक्ष की इच्छा सब जीवों को करनी चाहिये (यदन्तरा०) जो कि आत्मा का भी अन्तर्यामी है उसी को ब्रह्म कहते हैं और वही अमृत अर्थात् मोक्षस्वरूप है और जैसे वह सब का अन्तर्यामी है वैसे उस का अन्तर्यामी कोई भी नहीं किंतु वह अपना अन्तर्यामी आपही है ऐसे प्रजानाथ परमेश्वर के व्याप्ति रूप सभाष्यान को मैं प्राप्त होऊँ और इस संसार में जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण हैं उन के बीच में (यशः) अर्थात् कीर्ति को प्राप्त होऊँ तथा (राज्ञां) क्षत्रियों (विशां) अर्थात् व्यवहार में चतुर लोगों के बीच में यशस्वी होऊँ हे परमेश्वर मैं कीर्तियों का भी कीर्ति रूप होके आप को प्राप्त हुआ चाहता हूँ आप भी कृपा करके मुझ को मदद अपने समीप रखिये ॥ ७ ॥ अब मुक्ति के मार्ग का स्वरूप वर्णन करते हैं (अणुः पन्था०) मुक्ति का जो मार्ग है सो अणु अर्थात् अत्यंत सूक्ष्म है (वितरः) उस मार्ग से सब दुःखों के पार सुगमता से पहुँच जाते हैं जैसे दृढ़ नौका से समुद्र को तरजाने हैं तथा (पुराणः) जो मुक्ति का मार्ग है वह प्राचीन है दूसरा कोई नहीं मुझ को (सृष्टः) वह ईश्वर की कृपा से प्राप्त हुआ है उसी मार्ग से विमुक्त मनुष्य सब दोष और दुःखों से छूटे हुए (धीराः) अर्थात् विचारशील और ब्रह्मवित् वेदविद्या और परमेश्वर के जानने वाले जीव (उत्क्रम्य) अर्थात् अपने सत्य पुरुषार्थ से सब दुःखों का उलंघन करके (स्वर्गं लोकं) सुखस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥ तस्मिच्छुक्र०) अर्थात् उसी मोक्षपद में (शुक्र) श्वेत (नील) शुद्ध घनम्याम (पिंगल) पीला श्वेत (हरित) हरा और (लोहित) लाल ये सब गुणवाले लोक लोकान्तर ज्ञान से प्रकाशित होते हैं यही मोक्ष का मार्ग परमेश्वर के साथ समागम के पीछे प्राप्त होता है उसी मार्ग से ब्रह्म का जानने वाला ॥ तथा (तैजसः) शुद्ध स्वरूप और पुण्य का करने वाला मनुष्य मोक्ष सुख को प्राप्त होता है अन्य प्रकार से नहीं ॥ ९ ॥ (प्राणस्य प्राणा०) जो परमेश्वर प्राण का प्राण चतु का चतु ओत्र का ओत्र अत्र का अत्र और मन का मन है उस को जो विद्वान् निश्चय करके जानते हैं वे पुरातन और सब से श्रेष्ठ ब्रह्म को मन से प्राप्त होने के योग्य मोक्षसुख को प्राप्त होके आनंद में रहते हैं (नेहना०) जिस सुख में किंचित् भी दुःख नहीं है ॥ १० ॥ (मृत्याः समृत्यु०) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस, जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है वह बारंबार मृत्यु अर्थात् जन्म मरण को प्राप्त होता है क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतन मात्र स्वरूप ही है तथा प्रमाद रहित और व्यापक होके सब में स्थिर है इस को मन से ही देखना होता है क्योंकि ब्रह्म आकाश से भी सूक्ष्म है

॥ ११ ॥ (विरजः परब्रह्म) जो परमात्मा विद्येय रहित आकाश से परम सूक्ष्म (अजः) अर्थात् लम्बरहित और महा ध्रुव अर्थात् निरचल है ज्ञानि लोग उसी को ज्ञान के अपनी बुद्धि को विशाल करें और वह इसी से ब्राह्मण कहाता है ॥ १२ ॥

सहोवाच । एतद्वेतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिषदन्त्य स्थूलमनख्य ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्त्रेहमच्छायमतमोऽवाद्यानाकाशमसंगमस्पर्शमगंधमर-
समचक्षुष्कमश्रावमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमनामागोचमजर ममरमभ-
यममृतमरजोऽशब्दमविवृतमसंवृतमपूर्वमनपरमनंतरमबाह्यं न तदश्नो-
त्तिकं च न नतदश्नोति कश्चन ॥ १३ ॥ श० कां० १४ अ० ६ । कं० ८ ॥
इति मुक्तेः प्राप्स्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानंदादिलक्षणस्य परब्रह्मणः
प्राप्या जीवस्सदासुखी भवतीति बोध्यम् ॥

॥ अथ वैदिकप्रमाणम् ॥

ये यज्ञेन दक्षिण्या समक्ता इंद्रस्य सख्यममृतत्त्वमानश ।
तेभ्यो भद्रमंगिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवंसुमेधसः ॥ १ ॥
ऋ० अ० ८ अ० २ व० १ मं० १ ॥ सनोर्वधुर्जनिता सविधाता धामानि
वेद भुवनानिविश्वा । यच देवा अमृत मानशानास्तृतीये धामान्न-
ध्यैरयन्त ॥ २ ॥ य० अ० ३२ मं० १० ॥

अविद्यास्मितेत्यारभ्याध्यैरयंतेत्यन्तेन मोक्षस्वरूप निरूपणमस्तीति
वेदितव्यम् एषामर्थः प्राकृतभाषायां प्राकाशयते ॥ भाषार्थ ॥

(सहोवाच ए०) याज्ञवल्क्य कहते हैं हे गार्गि जो परब्रह्म नाश, स्थूल,
सूक्ष्म, लघु, लाल, चिक्कन, छाया, अन्यकार, वायु, आकाश, संग, शब्द, स्पर्श,
गंध, रस, नेत्र, कर्ण, मन, तेज, प्राण, मुख, नाम, गोच, वृद्धावस्था, मरणा-
भय, आकार, विकाश, संकोच, पूर्व, अपर, भीतर, बाह्य, अर्थात् बाहर, इन
सब दोष और गुणों से रहित मोक्षस्वरूप है । वह साकार पदार्थ के
समान किसी को प्राप्त नहीं होता और न कोई उस को मूर्ति द्रव्य के समान
प्राप्त होता है क्योंकि वह सब में परिपूर्ण सब से अलग अद्वुत स्वरूप परमे-
श्वर है उस को प्राप्त होने वाला कोई नहीं हो सकता जैसे मूर्त द्रव्य को
चक्षुरादि इंद्रियों से साक्षात् कर सकता है क्योंकि वह सब इंद्रियों के विषयों
से अलग और सब इंद्रियों का आत्मा है तथा (ये यज्ञेन) अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान
रूप यज्ञ और आत्मादि द्रव्यों की परमेश्वर को दक्षिणा देने से वे मुक्त लोग
मोक्ष सुख में प्रसन्न रहते हैं (इंद्रस्य) जो परमेश्वर की सख्य अर्थात् मित्रता
से मोक्षभाष को प्राप्त हो गये हैं उन्हीं के लिये भद्र नाम सब सुख नियत किये

गये हैं (अंगिरसः) अर्थात् उन के जो प्राण हैं वे (सुमेधसः) उन की बुद्धि को अत्यंत बढ़ाने वाले होते हैं और उस मोक्ष प्राप्त मनुष्य को पूर्व मुक्त लोग अपने समीप आनंद में रख लेते हैं और फिर वे परस्पर अपने ज्ञान से एक दूसरे को प्रीत पूर्वक देखते और मिलते हैं (सनेाबंधु०) सब मनुष्यों को यह जानना चाहिये कि वही परमेश्वर हमारा बंधु अर्थात् दुख का नाश करने वाला (जनिता) सब सुखों का उत्पन्न और पालन करने वाला है तथा वही सब कामों का पूर्ण करता और सब लोकों को जानने वाला है कि जिस में देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनंद में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छंदता से रमण करते हैं ॥ २ ॥ इस प्रकार संक्षेप से मुक्ति विषय कुछ तो वर्णन कर दिया और कुछ आगे भी कहों २ करेंगे सो जान लेना जैसे (वेदाहमेतं) इस मंत्र में भी मुक्ति का विषय कहा गया है ॥ इति मुक्तिविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ नौविमानादिविद्याविषयसंक्षेपतः ॥

तुग्रोद्धुज्यमंश्चिनोद्मेघेरयिं नकश्चिन्मृवां अवाहाः ।
तम्बुद्धयुनाभिरात्मन्वतीभिरंतरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः ॥ १ ॥ तिस्रः
क्षपस्त्रिरक्षाति ब्रजङ्गिर्नासत्या भुज्युम्बुद्धयुः पतंगैः । समुद्रस्य
धन्वन्तार्द्रस्य पारे चिभीरयैः शतपङ्क्तिः षडंशैः ॥ २ ॥ ऋ० १ ।
अ० ८ । व० ८ । मं० १ । ४ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

एषामभिप्रायः तुग्रोहेत्यादिषु मंत्रेषु शिल्पविद्या विधीयतइति (तुग्रोह०) तुजिहिंसाबलादाननिकेतनेषु । अस्माद्गतोरोणादिके रक् प्रत्यये कृते तुय इति पदं जायते । यः कश्चिद्धनाभिलाषी भवेत् (रयिं) सधनं कामयमानो (भुज्युं) पालनभोगमयं धनादिपदार्थभोगमिच्छन् विजयं च । पदार्थविद्यया स्वाभिलाषं प्राप्नुयात् । सच (अश्विना०) पृथिवीमयेः कण्टलोष्ठादिभिः पदार्थैर्नावं रक्षयित्वा ऽग्निजलादिप्रयोगेण (उद्देधे) समुद्रे ममयेदागमयेच्च तेन द्रव्यादिसिद्धिं साधयेत् । एवं कुर्वन् न कश्चिन्मृवान् योगक्षेमविरहः सन् न मरणं कदाचित् प्राप्नोति कुतः तस्य कृतपुरुषार्थत्वात् । अतो नार्ध (अवाहाः) अर्थात् समुद्रे द्वीपांतरगमनं प्रति नावो वाहनावहने परमप्रयत्नेन नित्यं कुर्यात् । को साधयित्वा (अश्विना) द्यौरिति द्योतनात्मकाग्निप्रयोगेण पृथिव्या पृथिवीमयेनायस्ताम्ररक्तधातुकाष्ठादिमयेन चैयं क्रियासाधनीया । अश्विनो मृवां तो सा-

धितो द्वौ नावादिकं यानं (ऊहयुः) देशान्तरगमनं सम्यक् सुखेन प्राप-
यतः । पुरुषव्यत्ययेनात्र प्रथमपुरुषस्थाने मध्यमपुरुषप्रयोगः । कथंभू-
तेर्यानेः (नौभिः) समुद्रे गमनागमनहेतुरूपाभिः । (आत्मन्वतीभिः)
स्वयं स्थिताभिः स्वात्मीयस्थिताभिर्वा । राजपुरुषैर्व्यापारिभिश्च मनुष्ये-
र्व्यवहारार्थं समुद्रमार्गेण तासां गमनागमने नित्यं कार्यं इति शेषः । तथा
ताभ्यामुक्तप्रयत्नाभ्यां भूयांस्यन्यान्यपि विमानादीनि साधनीयानि । एवमेव
(अंतरिक्षप्रद्विः) अंतरिक्षं प्रतिगं तृभिर्विमानाख्ययानैः साधितैः सर्वैर्मनुष्यैः
परमेश्वर्य सम्यक् प्रापणीयम् ॥ पुनः कथंभूताभिर्नौभिः (अपोदकाभिः)
अपगतं दूरीकृतं जललेपो यासांता अपोदकानात्रः । अर्थात् सत्त्विकानास्ता-
भिः । उदरे जलागमनरहिताभिश्च समुद्रे गमनं कुर्यात्तथैव भूयानैर्भूमौ
जलयानैर्जले अंतरिक्षयानैश्चांतरिक्षे चेति अर्थात्त्रिविधं यानं रचयित्वा
जलभूम्याकाशगमनं यथावत्कुर्यादिति ॥ १ ॥ अत्र प्रमाणम् । अथातो-
द्युस्थानादेवतास्तासामश्विनौ प्रथमागामिनौभवतो ऽश्विनौ यद्व्यशुवाते
सर्वं रसेनान्योज्योतिषा ऽन्योऽश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभस्तत्कावश्विनौ द्यावा-
पृथिव्यावित्येके ऽहोरात्रावित्येके सूर्याचंद्रमसावित्येके ॥ निरु० अ० १२
खं० १ ॥ तथाश्विनौ चापि भर्तारौ जर्भरीभर्तारावित्यर्थस्तुर्फरीतूहन्तारौ ।
उदन्यजेवेत्युदकजे इव रत्ने सामुद्रे ॥ निरु० अ० ०३ खं० ५ ॥ एतैः
प्रमाणैरेतत्सिध्यति वायुजलाग्निपृथिवीविकारकलाकौशलसाधनेन न चि-
विधं यानं रचनीयमिति ॥ १ ॥ (तिस्रः क्षपस्तिरहा) कथंभूतेर्नौवादि-
भिः तिसृभिराचिभिस्त्रिभिर्दिनैः । (आर्द्रस्य) जलेन पूर्णस्य समुद्रस्य
तथा (धन्वनः) म्थलस्यान्तरिक्षस्य पारे (अतिव्रजद्विः) अत्यंत-
वेगवद्विः ॥ पुनः कथंभूतैः (पतङ्गैः) प्रतिपातं वेगेन गंतृभिः । तथा
(चिभीरथैः) चिभी रमणीयसाधनैः (शतपद्विः) शतेनासंख्यातेन वेगेन
पद्भ्यां यथा गच्छेत्तादृशैरत्यंतवेगवद्विः । (षडश्वैः) षडश्वा आशुगमन-
हेतवोयन्त्राण्यग्निस्थानानि वा येषु तानि षडश्वानि तैः षडश्वैर्याने-
स्त्रिषु मार्गेषु सुखे न गन्तव्यमिति शेषः तेषां यानानां सिद्धिः केन द्रव्येण
भवतीत्यत्राह ॥ (नासत्या) पूर्वोक्ताभ्यामश्विभ्याम् । अत एवोक्तं ना-
सत्यो द्यावापृथिव्या तानि यानानि (ऊहयुः) इत्यत्र पुरुषव्यत्ययेन
प्रथमस्य स्थाने मध्यमः । प्रत्यक्षविषयवाचकत्वात् अत्र प्रमाणम् । व्यत्य-
योर्बहुलम् । अष्टाध्याय्याम् । अ० ३ पा० १ अत्राह महाभाष्यकारः ॥

सुप्रिदुपयहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङां च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्र-
कृदेषां सोपि च सिध्यति बाहुलकेनेति महाभाष्यप्रामाण्यात् ॥ तावेव
नासत्याधशिवनौ सम्यग् यानानि वहतइत्यत्र सामान्यकाले लिङ्विधा-
नात् । ऊहयुतिर्युक्तम् । तावेव तेषां यानानां मुख्ये साधनेस्तः ॥ एवं
कुर्वतो भुञ्ज्यमुनमसुखभोगं प्राप्नुयुर्नान्यथेति ॥ २ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

अब मुक्ति के आगे समुद्र भूमि और अंतरित में शीघ्र चलने के लिये
यान विद्या लिखते हैं जैसी कि वेदों में लिखी है (तुयोह०) तुजिधातु से
रक् प्रत्यय करने से तुय शब्द सिद्ध होता है उस का अर्थ हिंसक, बलवान्,
ग्रहण करने वाला, और स्थान वाला है क्योंकि वैदिक शब्द सामान्य
अर्थ में वर्तमान है जो शत्रु को हनन कर के अपने विजय बल और धनादि
पदार्थ और जिस २ स्थान में सवारियों से अत्यंत सुख का ग्रहण किया
चाहे उन सबों का नाम तुय है (रयिं) जो मनुष्य उत्तम विद्या सुवर्ण
आदि पदार्थों की कामना वाला है उस का जिन से पालन और भोग होता
है उन धनादि पदार्थों की प्राप्ति भोग और विजय की इच्छा को आगे
लिखे हुए प्रकारों से पूर्ण करे (अश्विना) जो कोई सेना, चांदी, तांबा,
पीतल, लोहा, और लकड़ों, आदि पदार्थों से अनेक प्रकार की कलायुक्त
नौकाओं का रचके उन में अग्नि वायु और जल आदि का यथावत् प्रयोग कर
और पदार्थों को भर के व्यापार के लिये (उदमेघे) समुद्र और नदी आदि
में (अवाहाः) आवे जावे तो उस के द्रव्यादि पदार्थों की उन्नति होती है ॥
जो कोई इस प्रकार से पुरुषार्थ करता है वह (न कश्चिन्ममृवान्) पदार्थों
की प्राप्ति और उन की रक्षा सहित होकर दुख से मरण का प्राप्त कभी नहीं
होता क्योंकि वह पुरुषार्थी होके आलसी नहीं रहता वे नौका आदि किन
को सिद्ध करने से होते हैं अर्थात् जो अग्नि वायु और पृथिव्यादि पदार्थों में
शीघ्र गमनादि गुण और अश्वि नाम से सिद्ध हैं वेही यानों को धारण और
प्रेरणा आदि अपने गुणों से वेगवान् कर देते हैं वेदोक्त युक्ति से सिद्ध
किये हुए नाव विमान और रथ अर्थात् भूमि में चलने वाली सवारियों का
(ऊहयुः) जाना आना जिन पदार्थों से देश देशांतर में सुख से होता है ।
यहां पुरुष व्यत्यय से (ऊहतुः) इस के स्थान में (ऊहयुः) ऐसा प्रयोग
किया गया है । उन से किस २ प्रकार की सवारों सिद्ध होती हैं सो
लिखते हैं (नौभिः) अर्थात् समुद्र में सुख से जाने आने के लिये अत्यंत
उत्तम नौका होती हैं (आत्मान्वतीभिः) जिन से उनके मालिक अथवा
नौकर चला के जाते आते रहें व्यवहारी और राजपुरुष लोग इन सवारियों
से समुद्र में जावें आवें तथा (अंतरितप्रद्विः) अर्थात् जिन से आकाश
में जाने आने की क्रिया सिद्ध होती है जिन का नाम विमान शब्द

करके प्रसिद्ध है तथा (अपोदकाभिः) वे सवारी ऐसी शुद्ध और चिक्कन होनी चाहिये जो जल से न गले और न जलदी टूटें फूटें । इन तीन प्रकार की सवारियों की जो रीति पहिले कह आये और जो आगे कहेंगे उसी के अनुसार बराबर उन को सिद्ध करें इस अर्थ में निरुक्त का प्रमाण संस्कृत में लिखा है सो देख लेना उस का अर्थ यह है (अथातोद्यस्थानादे०) वायु और अग्नि आदि का नाम अश्वि है क्योंकि सब पदार्थों में धनंजय रूप करके वायु और विद्युत् रूप से अग्नि ये दोनों व्याप्त हो रहे हैं । तथा जल और अग्नि का नाम भी अश्वि है क्योंकि अग्नि ज्योति से युक्त और जल रस से युक्त हो के व्याप्त हो रहा है । (अश्वैः) अर्थात् वे वेगादि गुणों से भी युक्त हैं । जिन पुरुषों को विमान आदि सवारियों की सिद्धि की इच्छा होवे वायु अग्नि और जल से उन को सिद्ध करें यह श्रीगोवाभ आचार्य का मत है । तथा कई एक ऋषियों का ऐसा मत है कि अग्नि की ज्वाला और पृथिवी का नाम अश्वि है । पृथिवी के षकार काष्ठ और लोहा आदि के कलायंत्र चलाने से भी अनेक प्रकार के वेगादि गुण सवारियों वा अन्य कारीगरियों में किये जाते हैं तथा कई एक विद्वानों का ऐसा मत है कि (अहोरात्रौ) अर्थात् दिन रात्रि का नाम अश्वि है क्योंकि इन से भी सब पदार्थों के संयोग और वियोग होने के कारण से वेग उत्पन्न होते हैं अर्थात् जैसे शरीर और ओषधि आदि में वृद्धि और क्षय होते हैं इसी प्रकार कई एक शिल्प विद्या जानने वाले विद्वानों का ऐसा भी मत है कि (सूर्याचंद्रमसौ) सूर्य और चंद्रमा को अग्नि कहते हैं क्योंकि सूर्य और चंद्रमा के आकर्षणादि गुणों से जगत् के पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग वियोग वृद्धि क्षय आदि श्रेष्ठ गुण उत्पन्न होते हैं । तथा (जर्भरी) और (तुर्फरीतू) ये दोनों पूर्वोक्त अश्वि के नाम हैं (जर्भरी) अर्थात् विमान आदि सवारियों के धारण करने वाले और (तुर्फरीतू) अर्थात् कलायंत्रों के हनन से वायु अग्नि जल और पृथिवी के युक्ति पूर्वक प्रयोग से विमान आदि सवारियों का धारण पोषण और वेग होते हैं जैसे घोड़े और बैल चाबुक मारने से शीघ्र चलते हैं वैसे ही कलाकौशल से धारण और वायु आदि को कलाओं करके घेरने से सब प्रकार की शिल्प विद्या सिद्ध होती है । (उदन्यजे) अर्थात् वायु अग्नि और जल के प्रयोग से समुद्र में सुख करके गमन हो सकता है ॥ १ ॥ (तिस्रः तपस्त्रि०) । नासत्या० । जो पूर्वोक्त अश्वि कह आये हैं वे (भुज्य-मूहयुः) अनेक प्रकार के भोगों को प्राप्त करते हैं क्योंकि जिन के वेग से तीन दिन रात में (समुद्र०) सागर (धन्वन्०) आकाश और भूमि के पार नौका विमान और रथ करके (ब्रजद्वि०) सुकपूर्वक पार जाने में समर्थ होते हैं (त्रिभीरथैः) अर्थात् पूर्वोक्त तीन प्रकार के वाहनों से समनागमन

करना चाहिये तथा (पडश्वैः) कः अश्व अर्थात् उन में अग्नि और जल के कः घर बनाने चाहिये जैसे उन यानों से अनेक प्रकार के गमनागमन हो सकें तथा (पतंगैः) जिन से तीन प्रकार के मार्गों में यथावत् गमन हो सकता है ॥ २ ॥

अनारम्भणे तद्वीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे । यदं-
श्विना ऊहयुर्भुज्युमस्तं शतारिचां नावं मातस्थिवांसम् ॥ ३ ॥
यमंश्विना ददथुः श्वेतमश्वं मघाश्वाय शश्वदित्स्वस्ति । तद्वां दाचं
महिं कीर्त्तन्यं भूयैद्रोवाजीसदमिद्वयो अर्थः ॥ ४ ॥ ऋ० अष्ट०
१ अ० ८ व० ८ । ९ । म० ५ । १ । ॥ आष्यम् ॥

हे मनुष्याः पूर्वाक्ताभ्यां प्रयत्नाभ्यां कृतसिद्धयानैः (अनारम्भणे) आ-
लम्बग्रहिते (अनास्थाने) स्यातुमशक्ये (अग्रभणे) हस्तालम्बना विद्यमाने
(समुद्रे) समुद्रवन्त्यापो यस्मिन् तस्मिन् जलेन पूर्णं । अंतरिक्षे वा कार्य-
सिद्ध्यर्थं युष्माभिर्गतव्यमिति । अश्विना ऊहयुर्भुज्युमिति पूर्ववद्विज्ञेयम् ।
तद्यानं सम्यक् प्रयुक्ताभ्यां ताभ्यामश्विभ्यां (अस्तं) क्षिप्रं चालितं यानं
सम्यक् कार्यं साधयतीति ॥ कथंभूतां नावं समुद्रे चालयेत् (शतारि-
चाम्) शतानि अरिचाणि लोहमयानि समुद्रम्यलांतरिक्षमध्ये स्तम्भनार्थानि
गाधग्रहणार्थानि च भवन्ति यस्यां तां शतारिचां । यत्रमेव शतारिचं भूम्या-
काशविमानं प्रतियोजनीयं तथा तदेतन्निविधं यानं शतकलं शतबंधनं शत-
स्तम्भनसाधनञ्च रचनीयमिति । तद्यानैः कथंभूतं भुज्युं भोगं प्राप्नुवन्ति ॥
(तस्थिवांसं) स्थितिमंतमित्यर्थः ॥ ३ ॥ यद्यस्मादेवं भोगो जायते तस्मा-
देवं सर्वमनुष्यैः प्रयत्नः कर्तव्यः (यमश्विना०) यं सम्यक् प्रयुक्ताभ्या-
मग्निजनाभ्यामश्विभ्यां शुक्रवर्णं वाष्पाख्यमश्वं (अघाश्वाय) शीघ्रगमनाय
शिल्पविद्याविदो मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तमेवाश्वं गृहीत्वा पूर्वाक्तानि यानानि
साधयन्ति । (शश्वत्) तानि शश्वन्निरंतरमेव (स्वस्ति) सुखकारकाणि
भवन्ति । तद्यानसिद्धिं (अश्विनाददथुः) दत्तस्ताभ्यामेवायं गुणो मनुष्यै-
र्ग्राह्य इति (वाम्) अत्रापि पुरुषव्यत्ययः । तयोरश्विनोर्मध्ये यत्सामर्थ्यं
वर्तते तत् कीदृशं (दाचं) दानयोग्यं सुखकारकत्वात्पोषकं च (महि०)
महागुणयुक्तम् (कीर्त्तन्यम्) कीर्त्तनीयमत्यंतप्रशंसनीयम् । कृत्यार्थैतवै-
केनकेन्यत्वन इति केन्य प्रत्ययः अन्येभ्यस्तच्चेष्टेपकारकं । (भूत्) अभूत्

भवतीति अत्र लङर्थे लुङ्विहित इति वेद्यम् ॥ स चान्याख्यो वाजी वेग-
वान् (पैदुः०) यो यानं मार्गं शीघ्रवेगेन गमयितास्ति पैदुषतंगावश्व-
नाम्नी । निघं० अ० १ खं० १४ । (सदमित्) यः सदं वेगं इत् इति
प्राप्नोतीतीदृशोऽग्निरस्माभिः (हव्यः) ग्राह्योऽस्ति । (अर्यः) तमश्व-
मर्य्यो वैश्यो वणिग्जनोऽवश्यं गृह्णीयात् ॥ अर्य्यः स्वामिवैश्ययोः । इति
पाणिनि सूचात् । अर्य्यो वैश्य स्वामिवाचीति ॥ ४ ॥

चयः पवयो मधुवाहने रथे सोमस्यवेना मनु विश्व इद्विदुः ।
चयः स्क्रभासः स्क्रभितासं आरभे चिर्नक्तं याथस्त्रिर्विश्विना दिवा ॥ ५ ॥
ऋ० अष्ट १ अ० ३ वर्ग ४ मं० । १ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(मधुवाहने) मधुरगतिमतिरथे (चयः पवयः) वज्रतुल्याश्वक्रस-
मूहाः कलायंचयुक्ता दृढाः शीघ्रं गमनार्थं चयः कार्य्याः । तथैव शिल्पिभिः
(चयः स्क्रभासः) स्तंभनार्थाः स्तम्भास्त्रयः कार्य्याः (स्क्रभितासः०) कि-
मर्थाः सर्वकलानां स्थापनार्थाः (विश्वे) सर्वे शिल्पिनो विद्वांसः । (सो-
मस्य) सोमगुणविशिष्टस्य सुखस्य (वेनां) कमनीयां कामनासिद्धिं विदु-
र्जानंत्येव ॥ अर्थात् (अश्विना) अश्विभ्यामेवैतद्यानमारब्धुमिच्छेयुः ।
कुतः तावेवाश्विनौ तद्यानसिद्धिं (याथः) प्रापयत इति । तत्कीदृश-
मित्यत्राह (चिर्नक्तम्) (चिर्दिवा) तिसृभोरात्रिभिस्त्रिभिर्दिनैश्चातिदूरमपि
मार्गं गमयतीति बोध्यम् ॥ ५ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(अनारंभणे०) हे मनुष्य लोगो तुम पूर्वोक्त प्रकार से अनारंभण अर्थात्
आलंब रहित समुद्र में अपने कार्य्या की सिद्धि करने योग्य यानों को रचलो
(तद्वीर्येयाम्) वे यान पूर्वोक्त अश्विनी से ही जाने आने के लिये सिद्ध होते
हैं (अनास्थाने) अर्थात् जिस आकाश और समुद्र में विना आलंब से कोई
भी नहीं ठहर सकता (अयंभणे) जिस में हाथ से पकड़ने का आलंब कोई
भी नहीं मिल सकता (समुद्रे) ऐसा जो पृथिवी पर जल से पूर्ण समुद्र प्रत्यत
है तथा अंतरिक्ष का भी नाम समुद्र है क्योंकि वह भी वर्षा के जल से पूर्ण
रहता है उन में किसी प्रकार का आलंबन सिवाय नौका और विमान से
नहीं मिल सकता इस से इन यानों को पुरुषार्थ से रच लेवें (यदश्वि-
नाजह्युर्भु०) जो यान वायु आदि अश्वि से रचा जाता है वह उत्तम भोगों
को प्राप्त करदेता है क्योंकि (अस्तं) जो उन से चलाया जाता है वह पूर्वोक्त
समुद्र भूमि और अंतरिक्ष में सब कार्य्या की सिद्धि करता है (शतारिचाम्)
उन नौकादि सवारियों में सैकड़ह अरिच अर्थात् जल का घाह लेने उन

के थांभने और वायु आदि विघ्नों से रक्ताके लिये लोह आदि के लंगर भी रखना चाहिये जिनसे जहां चाहे वहां उन यानों को थांभे इसी प्रकार उन में सैकड़ह कल बंधन और थांभने के साधन रचने चाहिये इस प्रकार के यानों से (तस्थिवांसम्) स्थिर भोग को मनुष्य लोग प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ (यमश्विना) जो अश्वि अर्थात् अग्नि और जल हैं उन के संयोग से (श्वेतमश्वं) भाफरूप अश्व अत्यंत वेग देने वाला होता है जिस से कारीगर लोग सवारियों को (अघाशवाय) शीघ्र गमन के लिये वेगयुक्त करदेते हैं जिस वेग की हानि नहीं हो सकती उस को जितना बढ़ाया चाहे उतना बढ़ सकता है (शश्वदित्स्वस्ति०) जिन यानों में बैठ के समुद्र और अंतरिक्ष में निरंतर स्वस्ति अर्थात् नित्य सुख बढ़ता है (ददधुः) जो कि वायु अग्नि और जल आदि से वेग गुण उत्पन्न होता है उस को मनुष्य लोग सुविचार से ग्रहण करें (वाम्) यह सामर्थ्य पूर्वाक्त अश्वि संयुक्त पदार्थों में है (तत्) सो सामर्थ्य कैसा है कि (दात्रम्) जो दान करने के योग्य (महि) अर्थात् बड़े २ शुभ गुणों से युक्त (कीर्तिन्यम्) अत्यंत प्रशंसा करने के योग्य और सब मनुष्यों को उपकार करने वाला (भूत्) है क्योंकि वही (पैदुः) अश्व मार्ग में शीघ्र चलाने वाला है । (सदमित्) अर्थात् जो अत्यंत वेग से युक्त है (हव्यः) वह ग्रहण और दान देने के योग्य है (अर्यः) वैश्य लोग तथा शिल्प विद्या का स्वामी इस को अवश्य ग्रहण करे क्योंकि इन यानों के बिना द्वीपांतर में जाना आना कठिन है । ४ । यह यान किस प्रकार का बनाना चाहिये कि (त्रयः पययो मधु०) जिस में तीन पहिये हों जिन से वह जल और पृथिवी के ऊपर चलाया जाय और मधुर वेगवाला हो उस के सब अंग वज्र के समान दृढ़ हों जिन में कलायंत्र भी दृढ़ हों जिन से शीघ्र गमन होवे (त्रयः स्कंधासः) उन में तीन २ थंभे ऐसे बनाने चाहिये कि जिन के आधार सब कलायंत्र लगे रहें तथा (स्कंधितासः) वे थंभे भी दूसरे काष्ठ वा लोहे के साथ लगे रहें (आरा) जो कि नाभि के समान मध्यकाष्ठ होता है उसी में सब कलायंत्र जुड़े रहते हैं । (विश्वे) सब शिल्प विद्वान् लोग ऐसे यानों को सिद्ध करना अवश्य जानें (सामस्यवेनाम्) जिन से सुन्दर सुख की कामना सिद्ध होती है (रथे) जिस रथ में सब क्रीड़ा सुखों की प्राप्ति होती है (आरम्भे) उस के आरंभ में अश्वि अर्थात् अग्नि और जल ही मुख्य हैं (त्रिनक्तं यायस्त्रिर्वाश्विना दिवा) जिन यानों से तीन दिन और तीन रात में द्वीप द्वीपांतर में जा सकते हैं ॥ ५ ॥

चिन्ता अश्विना यजुता दिवेदिवे परं चिन्धातुं पृथिवी मंशा-
यतम् । त्रिभानासत्या रथ्या परावतं आत्मेव वातः स्वसंराणि गच्छ-
तम् ॥ ६ ॥ अष्ट० १ अ० ३ व० ५ मं० ॥ ७ ॥ अरिचं वादिव-

स्पृथु तीर्थे सिंधूनां रथः । धियोयुयुज्ज इन्दवः ॥ ७ ॥ ऋ० अष्ट०
१ अ० ३ व० ३४ मं० ८ ॥ विधे आजंते सुमंखास ऋष्टिभिः
प्रच्यावयंतो अच्युता चिदोजसा । मनो जुवो यन्मरुतो रथेषा वृष
व्रातासुः पृषती रयुग्ध्वम् ८ ॥ ऋ० अ० १ अ० ६ व० ९ मं० ४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

यत्पूर्वाक्तं भूमिसमुद्रांतरिक्षेषु गमनार्थं यानमुक्तं तत् पुनः कीदृशं
कर्तव्यमित्यत्राह ॥ (परिचिधातु) अयस्ताम्ररजतादि धातुत्रयेण रच-
नीयम् । इदं कीदृग्वेगं भवतीत्यत्राह । (आत्मेव वातः०) आगमनागमने ।
यथात्मा मनश्च शीघ्रं गच्छत्यागच्छति तथैव कला प्रेरितो वायव्मनी अश्विनो
तद्यानं त्वरितं गमयत आगमयतश्चेति विज्ञेयमिति संक्षेपतः ॥ ६ ॥ तच्च
कीदृशं यानमित्यत्राह (अरिचं) स्वप्ननार्थसाधनयुक्तं (पृथु) अति-
विस्तीर्णं । ईदृशः स रथः अग्न्यश्वयुक्तः (सिंधूनाम्) महासमु-
द्राणां (तीर्थे) तरणे कर्तव्ये ऽलं वेगवान् भवन्तीति बोध्यम् (धियोयु०)
तत्र त्रिविधेरथे (इन्दवः) जलानि बाष्पवेगार्थं (युयुज्जे) यथावद्युक्तानि
कार्याणि । येनातीव शीघ्रगामी स रथः स्यादिति (इन्दवः) इति जलना-
मसु निघण्टौ खण्डे १२ पठितम् (उन्दे रिच्चादेः) । उणादौ प्रथमे पादे
सूचम् ॥ ७ ॥ हे मनुष्याः (मनोजुवः) मनोवद्गतयो वायवो यंचकलाचाल-
नैस्तेषु रथेषु पूर्वाक्तेषु त्रिविधयानेषु यूयम् (अयुग्ध्वम्) तान् यथावदो
जयत । कथंभूता अग्निवाय्वादयः । (आवृष व्रातासः) जलसेवनयुक्ताः
येषां संयोगे बाष्पजन्यवेगोत्पत्त्या वेगवन्ति तानि यानानि सिद्धन्तीत्युप-
दिश्यते ॥ ८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

फिर वह सवारी कैसी बनाना चाहिये कि (जिर्ना अश्विनाय०)
(पृथिवीमशायतम्) जिन सवारियों से हमारा भूमि जल और आकाश में
प्रतिदिन आनंद से जाना आना बनता है (परिचिधातुजि०) वे जोहा तांबा
चांदी आदि तीन धातुओं से बनती हैं । और जैसे (रथ्या परावतः०) नगर
वा याम की गलियों में झट पट जाना आना बनता है वैसे दूर देश में भी
उन सवारियों से शीघ्र २ जाना आना होता है ॥ (नासत्या०) इसी प्रकार
विद्या के निमित्त पूर्वाक्त जो अश्व है उन से बड़े २ कठिन मार्ग में भी
सहज से जाना आना करें जैसे (आत्मेव वातः स्व०) मन के वेग के समान
शीघ्र गमन के लिये सवारियों से प्रतिदिन सुख से सब भूगोल के बीच जावें

आर्वे ॥ ६ ॥ (अरिचं वाम्) जो पूर्वोक्त अरिच युक्त यान बनते हैं वे (तार्थ सिंधू-
नां रथः) जो रथ बड़े २ समुद्रों के मध्य से भी पार पहुंचाने में श्रेष्ठ होते हैं
(दिवस्पृथु) जो विस्तृत और आकाश तथा समुद्र में जाने आने के लिये
अत्यंत उत्तम होते हैं जो मनुष्य उन रथों में यंत्र मिट्ट करतें हैं । वे सुखों को
प्राप्त होते हैं (धिया युयुत्र) उन तीन प्रकार के यानों में (इंद्रवः) वाष्प वेग
के लिये एक जलाशय बनाके उस में जल सेचन करना चाहिये जिससे वह
अत्यंत वेग से चलने वाला यान मिट्ट हो ॥ ७ ॥ (विषे भ्राजते०) हे मनुष्य
लोगो (मनोजवः) अर्थात् जैसा मन का वेग है वैसे वेग वाले यान मिट्ट करो
(यन्मरुतो रथेषु) उन रथों में (मरुत्) अर्थात् वायु और अग्नि को मनोवेग के
समान चलाओ और (आ वृषत्रातामः) उन के याग में जलों का भी स्थापन
करो (पृषतीरयुध्वम्) जैसे जल के वाष्प घूमने की कलाओं को वेग वाली कर
देते हैं वैसे ही तुम भी उन को सब प्रकार से युक्त करो जो इस प्रकार से प्रयत्न करके
सवारी मिट्ट करतें हैं वे (विभ्राजते) अर्थात् विविध प्रकार भागों से प्रकाशमान
होते हैं और (सुमखास ऋष्टिभिः) जो इस प्रकार से इन शिल्प विद्या रूप
श्रेष्ठ यज्ञ करने वाले सब भागों से युक्त होते हैं (अच्युता चिद्राजमा०) वे कभी
दुखी होके नष्ट नहीं होते और सदा पराक्रम से बढ़ते जाते हैं क्योंकि कला-
कौशलता से युक्त वायु और अग्नि आदि पदार्थों को (ऋष्टि) अर्थात् कलाओं से
(प्रच्या०) पूर्व स्थान को छोड़ के मनोवेग यानों से जाते आते हैं उन ही से
मनुष्यों को सुख भी बढ़ता है इसलिये इन उत्तम यानों को अवश्य मिट्ट करें ॥ ८ ॥

आनो नावामतीनां यतं पाराय गंतवे । युञ्जाथामश्विना रथम्
॥ ९ ॥ ऋ० अष्ट० १ अ० ३ व० ३४ मं० ७ ॥ कृष्णं नियानं
हरयः सुपर्णा अपोवसाना दिवमुत्पतन्ति । तत्रावृष्टचन्त्सर्दना हत-
स्यादिद् दृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥ १० ॥ द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं चीणि
नभ्यानि कउतच्चिकेत । तस्मिन्त्साकं चिंशतानशंकवोऽर्पिताः षष्टि-
र्नचलाचलासः ॥ ११ ॥ ऋ० अष्ट० २ अ० ३ व० २३ । २४ ।
मं० ४७ । ४८ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

समुद्रे भूमौ अंतरिक्षे गमनयोग्यमार्गस्य (पाराय) (गंतवे) गंतुं
यानानि रचनीयानि (नावामतीनाम्) यथा समुद्रगमनवृत्तीनां मेधाविनां
नावा नौकया पारं गच्छन्ति तथैव (नः) अस्माकमपि नौस्तमा भवेत्
(आयुञ्जाथाम०) यथा मेधाविभिरग्निजले आसमंताद्यानेषु युज्यते ।

तथास्माभिरपि योजनीये भवतः । एवं सर्वैर्मनुष्यैः समुद्रादीनां पारा-
 धारगमनाय पूर्वोक्त यानरचने प्रयत्नः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ मेधाविनामसु
 निघंटौ १५ खण्डे मतय इति पठितम् ॥ ६ ॥ हे मनुष्याः (सुपर्णाः)
 शोभनपतनशीलाः (हरयः) अग्न्यादयोऽश्वाः । (अपोवसानाः) जल-
 पाषाच्छादिता अधस्ताज्ज्वालारूपाः काष्ठेन्धनैः प्रज्वालिताः कलाकौशल
 भ्रमणयुक्ताः कृताश्चेतदा (कृष्णं) पृथिवीविकारमयं (नियानं) निश्चितं
 यानं (दिवमुत्प०) द्योतनात्मकमाकाशमुत्पतन्ति । ऊर्द्धं गमयन्तीत्यर्थः
 ॥ १० ॥ (द्वादशप्रधयः) तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानामराणां
 धारणार्थाद्वादशकर्तव्याः ॥ (चक्रमेकम्) तन्मध्ये सर्वकलाभ्रामणार्थमेकं
 चक्रं रचनीयम् (चीणि नभ्यानि) मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि
 चीणियन्त्राणि रचनीयानि तैः (साकं विशता) चीणि शतानि (शंकवोऽ-
 पिताः) यन्त्रकलारचयित्वा स्थापनीयाः (चलाचलासः) ताः कलाः
 चलाः चालनार्हाः । अचलाः स्थित्यर्हाः (षष्टिः) षष्टिसंख्याकानि कला-
 यंत्राणि स्थापनीयानि । तस्मिन्याने । एतदादिविधानं सर्वं कर्तव्यम् ।
 (कउतन्त्रिकेत) इत्येतत्कृत्यं को विजानाति (न) नहि सर्वं । इत्यादय
 एतद्विषया बेदेषु बह्वोमंत्रास्सन्त्य प्रसंगादत्र सर्वं नोल्लिख्यन्ते ॥ ११ ॥

॥ भाषार्थ ॥

हे मनुष्यो (आनोनावामतीनाम्) जैसे बुद्धिमान् मनुष्यों के बनाये नाव
 आदि यानों से (पाराय) समुद्र के पाराधार जाने के लिये सुगमता होती है
 वैसे ही (आ०) (युंजायाम्) पूर्वोक्त वायु आदि अश्विका योग यथावत् करो
 (रथम्) जिस प्रकार उन यानों से समुद्र के पार और धार में जा सका (नः)
 हे मनुष्यो आओ आपस में मिल के इस प्रकार के यानों को रचें जिन से सब देश
 देशांतर में हमारा जाना आना बने ॥ ८ ॥ (कृष्णं नि०) अग्नि जलयुक्त (कृष्णं)
 अर्थात् खेंचने वाला । जो (नियानं) निश्चित यान है उस के (हरयः) वेगादि
 गुण रूप (सुपर्णाः) अच्छी प्रकार गमन कराने वाले जो पूर्वोक्त अग्न्यादि अश्व
 हैं वे (अपोवसानाः) जल सेचन युक्त वाष्प को प्राप्त होके (दिवमुत्पतन्ति०)
 उस काष्ठ लोहा आदि से बने हुए विमान को आकाश में उड़ा चलते हैं
 (तत्राववृ०) वे जब चारों ओर से सदन अर्थात् जल से वेग युक्त होते हैं तब
 (उत्तस्य) अर्थात् यथार्थ सुख के देने वाले होते हैं (पृथिवी घृ०) जब जल कलाओं
 के द्वारा पृथिवी जल से युक्त किई जाती है तब उससे उत्तम २ भोग प्राप्त होते
 हैं ॥ १० ॥ (द्वादश प्रधयः) इन यानों के बाहर भी थंभे रचने चाहिये जिन
 में सब कलायंत्र लगाये जायें (चक्रमेकम्) उन में एक चक्र बनाना चाहिये

जिस के घुमाने से सब कला घूमें (त्रीणि नभ्यानि०) फिर उस के मध्य में तीन चक्र रचने चाहिये कि एक के चलाने से सब रुक जायें दूसरे के चलाने से आगे चलें और तीसरे के चलाने से पीछे चलें (तस्मिन् साकं त्रिशता०) उन में तीन २ सौ (शंकवः) बड़ी २ कोलें अर्थात् पेंच लगाने चाहिये कि जिन से उन के सब अंग जुड़ जायें और उन के निकालने से सब अलग २ हो जायें (षष्टिर्नचला चलासः) उन में ६० साठ कलायंत्र रचने चाहिये कई एक चलते रहें और कुछ बंद रहें अर्थात् जब विमान को ऊपर चढ़ाना हो तब भाफ घर के ऊपर के मुख बंद रखने चाहिये और जब ऊपर से नीचे उतारना हो तब ऊपर के मुख अनुमान से खोल देना चाहिये ऐसे ही जब पूर्व को चलाना हो तो पूर्व के बंद करके पश्चिम के खोलने चाहिये और जो पश्चिम को चलाना हो तो पश्चिम के बंद करके पूर्व के खोल देने चाहिये इसी प्रकार उत्तर दक्षिण में भी जान लेना (न) उन में किसी प्रकार की भूल न रहनी चाहिये (कउतच्चिकेत) इस महा गंभीर शिल्प विद्या को सब साधारण लोग नहीं जान सकते किंतु जो महा विद्वान् हस्त क्रिया में चतुर और पुरुषार्थी लोग हैं वेही मिट्ट कर सकते हैं इस विषय के वेदों में बहुत शंख हैं परंतु यहां थोड़ा ही लिखने में बुद्धिमान् लोग बहुत समझ लेंगे ॥ ११ ॥ इति नैविमानादिविद्याविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ तारविद्यामूलं संक्षेपतः ॥

युवं पेद्वे पुरुवारंमश्विना स्पृधां श्वेतं तरुतारं दुवस्यथः ।
शयैरभिद्युं पृतनासुदुष्टरं चर्कृत्यमिन्द्रमिव चर्षणीसहम् ॥ ८ ॥ ऋ०
अष्ट० १ अ० ८ व० २१ मं० १० ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(अस्याभि०) अस्मिन् मंत्रे तारविद्याबीजं प्रकाशयत इति हे मनुष्या (अश्विना०) अश्विनोर्गुणयुक्तं (पुरुवारं) बहुभिर्विद्वद्भिः स्वीकर्तव्यम् बहून्मगुणयुक्तम् ॥ (श्वेतं) अग्निगुणविद्युन्मयं शुद्धधातुनिर्मितम् । (अभिद्युं) प्राप विद्युत्प्रकाशम् । (पृतनासुदुष्टरं) राजसेनाकार्येषु दुस्तरं प्लवितुमशक्यं (चर्कृत्यं) वारंवारं सर्वक्रियासु योजनीयम् । (तरुतारं०) ताराख्यं यंत्रं यूयं कुरुत । कथंभूतेर्गुणैर्युक्तं (शयैः) पुनः पुनर्हृन्नप्रेरणगुणैर्युक्तम् । कस्मै प्रयोजनाय (पेद्वे) परमोत्तमव्यवहारसिद्धिप्रापणाय । पुनः कथंभूतं (स्पृधां) स्पृष्टमानानां शत्रूणां पराजयाय स्वकीयानां वीराणां विजयाय च परमोत्तमम् । पुनः कथंभूतं (चर्षणीसहम्०) मनुष्यसेनायाः कार्यसहनशीलम् पुनः कथंभूतं (इन्द्रमिव०) सूर्यवत्

दूरस्थमपि व्यवहारप्रकाशनसमर्थं (युवं) युवामश्विनौ (दुवस्यथः) पुरुषव्यत्ययेन पृथिवीविद्युदाग्न्यावश्विनौ सम्यक् साधयित्वा तताराख्यं यंच नित्यंसेवध्वमिति बोध्यम् ॥ ८ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(युवं पेदवे०) अभि प्रा० इस मंत्र से तारविद्या का मूल जाना जाता है पृथिवी से उत्पन्न धातु तथा काष्ठादि के यंत्र और विद्युत् अर्थात् बिजली इन दोनों के प्रयोग से तारविद्या सिद्ध होती है क्योंकि (द्यावापृथिव्यारित्येके०) इस निरुक्त के प्रमाण से इन का अश्वि नाम जान लेना चाहिये (पेदवे) अर्थात् वह अत्यंत शीघ्र गमनागमन का हेतु होता है (पुरुवारम्) अर्थात् इस तारविद्या से बहुत उत्तम व्यवहारों के फलों का मनुष्य लाभ प्राप्त करते हैं (स्पृधाम्) अर्थात् लड़ाई करने वाले जो राजपुरुष हैं उन के लिये यह तारविद्या अत्यंत हितकारी है (श्वेत०) वह तार शुद्ध धातुओं का होना चाहिये (अभिद्युम्) और विद्युत् प्रकाश से युक्त करना चाहिये (पृतनासु दुष्टम्) सब सेनाओं के बीच में जिस का दुःमह प्रकाश होता और उलंघन करना अशक्य है (चक्रंत्यम्) जो मय क्रियाओं के बारंबार चलाने के लिये योग्य होता है (शर्यैः) अनेक प्रकार कलाओं के चलाने से अनेक उत्तम व्यवहारों का सिद्ध करने के लिये विद्युत् की उत्पत्ति करके उस का ताड़न करना चाहिये (तस्तारम्) जो इस प्रकार का ताराख्य यंत्र है उस का सिद्ध करके प्रीति से सेवन करो जिस प्रयोजन के लिये (पेदवे०) परम उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये तथा दुष्ट शत्रुओं के पराजय और श्रेष्ठ पुरुषों के विजय के लिये तारविद्या सिद्ध करनी चाहिये (चर्षणांसहं०) जो मनुष्यों की सेना के युद्धादि अनेक कार्यों को सहन करने वाला है (इन्द्रमिव०) जैसे समीप और दूरस्थ पदार्थों का प्रकाश सूर्य करता है वैसे तार यंत्र से भी दूर और समीप के सब व्यवहारों का प्रकाश होता है (युवं०) (दुवस्यथः) यह तारयंत्र पूर्वाक्त अश्वि के गुणों ही से सिद्ध होता है इस को बड़े प्रयत्न से सिद्ध करके सेवन करना चाहिये इस मंत्र में पुरुष व्यत्यय पूर्वाक्त नियम से हुआ है अर्थात् मध्यम पुरुष के स्थान में प्रथम पुरुष समझना चाहिये ॥ १ ॥ इति तारविद्यामूलं संक्षेपतः ॥

॥ अथ वैदकशास्त्रश्रुल्लोद्देशः संक्षेपतः ॥

सुमित्रियान् आप ओषधयः सन्तु । दुर्मित्रियास्तस्मै
सन्तु योऽस्मान्देष्टि यंच वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ यं अ० ६ मं० २२ ॥

॥ भाष्यम् ॥

अस्याभिप्रायार्थः । इदं वैदकशास्त्रस्यायुर्वेदस्य मूलमस्ति । हे

परमवैदोश्वर भवत्कृपया (नः) अस्मभ्यं (औषधयः) सोमादयः (सुमित्रिया) अत्र (इया, डियाजीकाराणामुपसंख्यानम्) इति वार्तिकेन जसः-स्थाने (डियाच्) इत्यादेशः सुमित्राः सुखप्रदारोगनाशकाः सन्तु यथा-वद्विज्ञाताश्च । तथैव (आपः) प्राणाः सुमित्राः सन्तु । तथा (यो-स्मान्द्वेष्टृ) योऽधर्मात्मा कामक्रोधादिर्वा रोगश्च विरोधी भवति (यंच वयं द्विष्मः) यमधर्मात्मानं रोगं च वयं द्विष्मः (तस्मै०) दुर्मित्रिया दुःख-प्रदा विरोधिनीः सन्तु । अर्थात् ये सुपथ्यकारिणस्तेभ्य औषधयोमित्र-वत् दुःखनाशिका भवन्ति । तथैव कुपथ्यकारिभ्यो मनुष्येभ्यश्च शत्रुवत् दुःखाय भवन्तीति । एवं वैद्यकशास्त्रस्य मूलार्थविधायकावेदेषु बहवो मन्त्राः सन्ति प्रसंगाभावात्ताव लिख्यन्ते । यत्र यत्र ते मन्त्राः सन्ति तत्र तत्रैव तेषामर्थान्यथायदुदा हरिष्यामः ॥

॥ भाषार्थ ॥

(सुमित्रियान०) हे परमेश्वर आप की कृपा से (आपः) अर्थात् जो प्राण और जल आदि पदार्थ तथा (औषधयः) सोममत्ता आदि मंत्र औषधों (नः) हमारे लिये (सुमित्रियाः) (सन्तु सुखकारक हो तथा (दुर्मित्रिया) जो दुष्ट, प्रमादी, हमारे द्वेषी लोग हैं और हम जिन दुष्टों से द्वेष करते हैं उन के लिये विरोधिनी हों ॥ क्योंकि जो धर्मात्मा और पथ्य के करने वाले मनुष्य हैं उन को ईश्वर के रत्ने मंत्र पदार्थ सुख देने वाले होते हैं और जो कुपथ्य करने वाले तथा पापी हैं उन के लिये मन्त्र दुःख देने वाले होते हैं इत्यादि मंत्र वैद्यक विद्या के मूल के प्रकाश करनेवाले हैं ॥ इति वैद्यक विद्याविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः ॥

असुनीते पुनरस्मासु चतुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमतेमृडयानः स्वस्ति ॥ १ ॥ पुनर्नो
असुं पृथिवी ददातु पुनर्योर्देवी पुनरन्तरिक्षम् । पुनर्नः सोम-
स्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां देया स्वस्तिः ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८
अ० १ व० २३ मं० ६ । ७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

एतेषामभि० । एतदादिमन्त्रेष्वत्र पूर्वजन्मानि पुनर्जन्मानि च प्रकाशयन्ति इति (असुनीते०) असवः प्राणा नीयन्ते येन सोऽसुनीतिस्तत्सं-बुद्धौ हे असुनीते ईश्वर मरणानन्तरं द्वितीयशरीरधारणे वयं सदा सुखिनो भवेम (पुनरस्मा०) अर्थादादा वयं पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा द्वितीयशरीरधारणं

कुर्मस्तदा (चक्षुः) चक्षुरित्युपलक्षणमिन्द्रियाणाम् ॥ पुनर्जन्मनि सर्वा-
णीन्द्रियाण्यस्मासु धेहि (पुनः प्राणमि०) प्राणमिति घायोरन्तःकरणस्यो-
पलक्षणम् । पुनर्द्वितीयजन्मनि प्राणमन्तःकरणं च धेहि । एवं हे भगव-
न्पुनर्जन्मसु (नः) अस्माकं (भोगं) भोगपदार्थान् (ज्योक्) निरन्तरम-
स्मासु धेहि । यतो वयं सर्वेषु जन्मसु (उच्चरन्तं) सूर्य्य श्वासप्रश्वासात्मकं
प्राणं प्रकाशमयं सूर्य्यलोकं च निरन्तरं पश्येम (अनुमते) हे अनुमन्तः
परमेश्वर (नः) अस्मान्सर्वेषु जन्मसु (मृडय) सुखय भवत्कृपया पुनर्ज-
न्मसु (स्वस्ति) सुखमेव भवेदिति प्रार्थ्यते ॥ १ ॥ (पुनर्नो) हे भगवन्
भवदनुग्रहेण (नः) अस्मभ्यं (असुं) प्राणमन्नमयं बलं च (पृथिवी पुनर्द-
दातु) तथा (पुनर्दोः०) पुनर्जन्मनि दौर्देवीद्योतमाना सूर्य्यज्योतिरसुं
ददातु (पुनरन्तरिक्षं) तथाऽन्तरिक्षं पुनर्जन्मन्यसुं जीवनं ददातु (पुनर्नः
सोमस्त०) तथा सोमऋषधिसमूहजन्योरसः पुनर्जन्मनि तन्वं शरीरं ददातु
(पुनः पूषा०) हे परमेश्वर पुष्टिकर्ता भवान् (पथ्यां) पुनर्जन्मनि धर्म-
मार्गं ददातु तथा सर्वेषु जन्मसु (यास्वस्तिः) सा भवत्कृपया नोऽस्मभ्यं
सदैव भवत्विति प्रार्थ्यते भवान् ॥ १ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(असुनीते) हे सुखदायक परमेश्वर आप (पुनरस्मासु चक्षुः) कृपा
करके पुनर्जन्म में हमारे बीच में उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियास्थापन कीजिये
तथा (पुनः प्राणं०) प्राण अर्थात् मन बुद्धि चित्त अहंकार बल पराक्रम आदि
युक्त शरीर पुनर्जन्म में कीजिये (इह नो धेहि भोगं०) हे जगदीश्वर इस संसार
अर्थात् इस जन्म और परजन्म में हम लोग उत्तम २ भोगों को प्राप्त हों तथा
(ज्योक् पश्येम सूर्य्यमुच्चरन्तम्) हे भगवन् आप की कृपा से सूर्य्यलोक, प्राण, और
आप को विज्ञान तथा प्रेम से सदा देखते रहें (अनुमते मृडयानः स्वस्ति)
हे अनुमते सब को मान देने हारे सब जन्मों में हम लोगों को मृडय सुखी
रखिये जिस से हम लोगों को स्वस्ति अर्थात् कल्याण हो ॥ १ ॥ (पुनर्नो असुं
पृथिवी ददातु पु०) हे सर्वशक्तिमान आप के अनुग्रह से हमारे लिये धारंवार
पृथिवी प्राण को प्रकाश चक्षु को और अंतरित स्थानादि अवकाशों को देते
रहें (पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु) पुनर्जन्म में सोम अर्थात् ऋषधियों का रस
हम को उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे तथा (पूषा०) पुष्टि करने वाला
परमेश्वर कृपा करके सब जन्मों में हम को सब दुःख निवारण करने वाली
पथ्य रूप स्वस्ति को देवे ॥ २ ॥

पुनर्मेनः पुनरायुर्मे आग्न्युनः प्राणः पुनरात्मां आग्न्युन-
श्चक्षुः पुनः श्रोत्रं आगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनू पा अग्निर्नः

पातु दुरितादवद्यात् ॥ ३ ॥ यजु० अ० ४ मं० १५ ॥ पुनर्मैत्विन्द्रियं
पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च । पुनरग्नयो धिषण्या यथास्थाम कल्प-
न्तामिहैव ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० ७ अनु० ६ व० ६७ मं० १ ॥
आयो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषेपुह्णिं । घास्यु-
र्योनिं प्रथम आविवेशायो वाचमनुदितां चिकेत ॥ ५ ॥ अथर्व०
कां० ५ अनु० १ व० १ मं० २ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(पुनर्जनःपु०) हे जगदीश्वर भवदनयहेण विद्यादिश्रेष्ठगुणयुक्तं
मन आयुश्च (मे) मह्यमागन्तुनः पुनर्जन्मसु प्राप्नुयात् (पुनरात्मा) पुनर्जन्म-
नि मदात्मा विचारः शुद्धः सन् प्राप्नुयात् (पुनश्चक्षुः) चक्षुः श्रोत्रं च मह्यं प्राप्नु-
यात् (वैश्वानरः) यः सकलस्य जगतो नयनकर्ता (अदब्धः) दम्भादि-
दोषरहितः (तनूपाः) शरीरादिरक्षकः (अग्निः) विज्ञानानन्दस्वरूपः
परमेश्वरः (पातु दुरि०) जन्मजन्मान्तरे दुष्टकर्मभ्योऽस्मान् पृथक्कृत्य
पातु रक्षतु येन वयं निष्पापा भूत्वा सर्वेषु जन्मसु सुखिनो भवेम ॥ ३ ॥ (पुन-
म०) हे भगवन्पुनर्जन्मनीन्द्रियमर्थात्सर्वाणीन्द्रियागयात्मा प्राणधारको ब-
ल्लाघ्यः (द्रविणं) विद्यादिश्रेष्ठधनं (ब्राह्मणं च) ब्रह्मनिष्ठात्वं (पुनरग्नयः)
मनुष्यशरीरं धारयित्वा ऽऽहवनीयाद्यग्न्याधानकरणं (मैतु) पुनः पुन-
र्जन्मस्वेतानि मामाप्नुवन्तु (धिषण्यायथास्थाम) हे जगदीश्वर वयं यथा
येन प्रकारेण पूर्वेषु जन्मसु धिषण्या धारणवत्याधिया सोतमशरीरेन्द्रिया आ-
स्थाम तथैवेहास्मिन्संसारे पुनर्जन्मनि बुध्या सह स्वस्वकार्यकरणे समर्था
भवेम येन वयं केनापि करणेन न कदाचिद्विकला भवेम ॥ ४ ॥ (आयो-
ध०) यो जीवः (प्रथमः) पूर्वजन्मनि (धर्माणि) यादृशानि धर्मका-
र्याणि (आससाद) कृतवानस्ति स (ततो वपूंषि०) तस्माद्धर्मकरणादु-
हून्युत्तमानिशरीराणि पुनर्जन्मनि कृणुषे धारयति । एवं यश्चाधर्मकृत्यानि
चकार स नैव पुनः पुनर्मनुष्यशरीराणि प्राप्नोति किं तु पश्वादीनि हि शरी-
राणि धारयित्वा दुःखानि भुङ्क्ते ॥ इदमेव मन्त्रार्थनेश्वरो ज्ञापयति (घास्यु-
र्योनिं०) घास्यतीति घास्युरर्थात् पूर्वजन्मकृतपापपुण्यफलभोगशीला-
जीवात्मा (प्रथमः) पूर्वं देहं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिपदार्थान् (आविवेश)
प्रविश्य पुनः कृतपापपुण्यानुसारिणीं योनिमाविवेश प्रविशतीत्यर्थः । (यो
वाचम०) यो जीवोऽनुदितामीश्वरोक्तां वेदवाणीं आसमंताद् विदित्वा

धर्ममाचरति स पूर्ववद्विद्वच्छरीरं धृत्वा सुखमेव भुङ्क्ते । तद्विपरीता चर-
णस्तिर्यग्देहं धृत्वा दुःखभागी भवतीति विज्ञेयम् ॥ ५ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(पुनर्मनः पुनरात्मा) हे सर्वज्ञ ईश्वर जब २ हम जन्म लेवें तब २ हम
को शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चतु-
आर आत्र, प्राप्त हों (वैश्वानरोऽदब्धः) जो विश्व में विराजमान ईश्वर है वह
सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करे (अग्निर्नः) सब पापों के नाश करने
वाले आप हम को (पातु दुरितादवद्यात्) बुरे कामों और सब दुखों से पुन-
र्जन्म में अलग रखें ॥ ३ ॥ (पुनर्मैत्विन्द्रियम्) हे जगदीश्वर आप की कृपा से
पुनर्जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रिय मुझ को प्राप्त हों अर्थात् सर्वदा मनु-
ष्यदेह ही प्राप्त होता रहे (पुनरात्मा) अर्थात् प्राणों को धारण करने द्वारा
सामर्थ्य मुझ को प्राप्त होता रहे जिस से दूसरे जन्म में भी हम लोग सौ
वर्ष वा अच्छे आचरण से अधिक भी जीवें (द्विविणं) तथा सत्यविद्यादि श्रेष्ठ
धन भी पुनर्जन्म में प्राप्त होते रहें (ब्राह्मणं च०) और सदा के लिये ब्रह्म जो
वेद है उस का व्याख्यानमहित विज्ञान तथा आपही में हमारी निष्ठा बनी रहे
(पुनरग्नयः) तथा सब जगत् के उपकार के अर्थ हम लोग अग्निहोत्रादि यज्ञ
को करते रहें (धिषया यथास्याम) हे जगदीश्वर हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में
शुभ गुण धारण करनेवाली बुद्धि से उत्तम शरीर और इन्द्रिय सहित ये वैसे ही
इस संसार में पुनर्जन्म में भी बुद्धि के साथ मनुष्यदेह के कृत्य करने में समर्थ हों
ये सब शुद्ध बुद्धि के साथ (मैतु) मुझ को यथावत् प्राप्त हों (इहैव) जिन
से हम लोग इस सार में मनुष्यजन्म को धारण करके धर्म अर्थ काम और
मोक्ष को सदा मिट्ट करें और इस सामर्थ्य से आप की भक्ति को प्रेम से सदा
किया करें जिस कर के किमी जन्म में हम को कभी दुःख प्राप्त न हो ॥ ४ ॥
(आयो धर्माणि०) जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है (ततो वपुषि
कृणुषे पुच्छाणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता
और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है (धाम्युर्यानि०) जो
पूर्वजन्म में किए हुए पाप पुण्य के फलों को भोग करने के स्वभाव युक्त जीवा-
त्मा है वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है (पुनः०) जल
आर्षाधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है तदनन्तर
योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है (यो वाचमनुदितां
चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर ने वेदों में सत्यभाषण
करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जान के बोलता है
और धर्म ही में (समाद) यथावत् स्थित रहता है वह मनुष्ययोनि में
उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण
करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट पतंग पशु आदि को धारण
करके अनेक दुःखों को भोगता है ॥ ५ ॥

दे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुतमर्त्यानाम् । ताभ्या-
मिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ६ ॥ य० अ० १९
मं० ४७ ॥ मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः । नानायेनि सह-
स्राणि मयोषितानि यानिवै ॥ १ ॥ आहारा विविधा भुक्ताः पीता
नानाविधास्तनाः । मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥ २ ॥
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥ निरु० अ० १३
खं० १९ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(दे सृती०) अस्मिन्संसारे पापपुण्यफलभोगाय द्वौ मार्गौ स्तः । एकः
पितृणां ज्ञानिनां देवानां विदुषां च द्वितीयः (मर्त्यानां) विद्याविज्ञानरहि-
तानां मनुष्याणाम् । तयोरेकः पितृयानोद्वितीयोदेवयानश्चेति यच्च जीवो-
मातापितृभ्यां देहं धृत्वा पापपुण्यफले सुखदुःखे पुनः पुनर्भुङ्क्ते । अर्थात्
पूर्वापरजन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या सृतिरस्ति । तथा यच्च मोक्षा-
ख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात्मसंसारोद्विमुच्यते सा द्वितीया सृतिर्भवति ।
तच्च प्रथमायां सृती पुण्यसंचयफलं भुङ्क्ता पुनर्जायते म्रियते च । द्वितीयायां
च सृती पुनर्न जायते न म्रियते चेत्यहमेवंभूते द्वे सृती (अशृणवं) श्रुत-
वानस्मि । (ताभ्यामिदं विश्व०) पूर्वाक्ताभ्यां द्वाभ्यां मार्गाभ्यां सर्वं जगत्
(एजत्समेति०) कम्पमानं गमनागमने समेति सम्यक् प्राप्नोति (यदन्तरा
पितरं मातरं च) यदा जीवः पूर्वं शरीरं त्यक्त्वा वायुजलौषध्यादिषु
भ्रमित्वा पितृशरीरं मातृशरीरं वा प्रविश्य पुनर्जन्म प्राप्नोति तदा ससशरीरा
जीवो भवतीति विज्ञेयम् ॥ ६ ॥ अत्र मृतश्चाहं पुनर्जात इत्यादि निरुक्त-
कारैरपि पुनर्जन्मधारणमुक्तमिति बोध्यम् ॥ ७ ॥

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा ऽभिहृष्टोऽभिनिवेशः ॥ ८ ॥ पातं०
अ० १ पा० २ सू० ९ ॥ पुनरुत्पत्तिः प्रत्यभावः ॥ ९ ॥ न्या० अ०
१ आ० १ सू० १९ ॥

(स्वरस०) योगशास्त्रे पतञ्जलिमहामुनिना तदुपरि भाष्यकर्त्तृवेद-
व्यासेन च पुनर्जन्म सद्भावः प्रतिपादितः । या सर्वेषु प्राणिषु जन्मारभ्यमरण-
चासाख्याप्रवृत्तिर्दृश्यते तथा पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति विज्ञायते । कुतः ।
जातमाचकृमिरपि मरणवासमनुभवति । तथा विदुषोऽप्यनुभवे भवती-

त्यतः । जीवेनानेकानिशरीराणि धार्यन्ते । यदि पूर्वजन्मनि मरणानुभवो न भवेत्तेर्ताहं तत्संस्कारोपि न स्यान्नैव संस्कारेणविना स्मृतिर्भवति स्मृत्याविना मरणवासः कथं जायेत । कुतः । प्राणिमात्रस्य मरणभयदर्शनात्पूर्वापरजन्मानि भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ ८ ॥ (पुनरु०) तथा महाविदुषा गोतमेनर्षिणा न्यायदर्शने तद्भाष्यकर्त्ता चात्स्यायनेनापि पुनर्जन्मभावोमतः यत्पूर्वशरीरं त्यक्त्वा पुनर्द्वितीयशरीरधारणं भवति तत्प्रेत्यभावाख्यः पदार्थो भवतीति विज्ञेयम् । प्रेत्यर्थान्मरणं प्राप्यभावोऽर्थात्पुनर्जन्मधृत्वा जीवो देहधान् भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(द्वे सृती०) इस संसार में हम दो प्रकार के जन्मों को (अष्टणवम्) सुनते हैं एक मनुष्य शरीर का धारण करना और दूसरा नीचगति से पशु, पक्षि कीट, पतंग, वृत्त, आदिका होना इन में मनुष्य शरीर के तीन भेद हैं एक पितृ अर्थात् ज्ञानी होना दूसरा देव अर्थात् सब विद्याओं को पढ़के विद्वान् होना तीसरा मर्त्य अर्थात् साधारण मनुष्य शरीर का धारण करना इन में प्रथम गति अर्थात् मनुष्य शरीर पुण्यात्माओं और पुण्य पाप तुल्यबालों को होता है और दूसरा जो जीव अधिक पाप करते हैं उन के लिये है (ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति०) इन्हीं भेदों से सब जगत् के जीव अपने २ पुण्य और पापों के फल भोग रहे हैं (यदन्तरा पितरं मातरं च) जीवों को माता और पिता के शरीर में प्रवेश करके जन्मधारण करना, पुनः शरीर का छोड़ना, फिर जन्म को प्राप्त होना, बारंबार होता है ॥ जैसा घेदों में पूर्वापर जन्म के धारण करने का विधान किया है वैसा ही निरुक्तकार ने भी प्रतिपादन किया है जब मनुष्य को ज्ञान होता है तब वह ठीक २ जानता है कि (मृतश्चाहं पु०) मैंने अनेक बार जन्म मरण को प्राप्त होकर नाना प्रकार के हजारहूँ गर्भाशयों का सेवन किया ॥ १ ॥ (आहारावि०) अनेक प्रकार के भोजन किये अनेक माताओं के स्तनों का दुग्ध पिया अनेक माता पिता और सुहृदों को देखा ॥ २ ॥ (अवाह्मुखः) मैंने गर्भ में नीचे मुख ऊपर पग इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये परंतु अब इन महा दुःखों से तभी कूटूंगा कि जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उस की आज्ञा का पालन करूंगा नहीं तो इस जन्ममरणरूप दुःखसागर के पार जाना कभी नहीं होसक्ता ॥ तथा योगशास्त्र में भी पुनर्जन्म का विधान किया है (स्वरस०) (सर्वस्य प्रा०) हर एक प्राणियों की यह इच्छा नित्य देखने में आती है कि (भूयासमिति) अर्थात् मैं सदैव सुखी बनारहूँ मरूँ नहीं यह इच्छा कोई भी नहीं करता कि (मानभूवं) अर्थात् मैं न होऊँ ऐसी इच्छा पूर्वजन्म के अभाव से कभी नहीं हो सकती यह अभिनिवेश केश कहलाता है जो कि क्रमि पर्यंत को भी मरण का भय बराबर होता है यह व्यवहार

पूर्वजन्म की सिद्धि को जनाता है ॥ तथा न्यायदर्शन के (पुनरु०) सू० । और उसी के वात्स्या० भा० । में भी कहा है कि जो उत्पन्न अर्थात् किसी शरीर को धारण करता है वह मरण अर्थात् शरीर को छोड़ के पुनस्तत्पक्ष दूसरे शरीर को भी अवश्य प्राप्त होता है इस प्रकार मरके पुनर्जन्म लेने का प्रेत्यभाव कहते हैं ॥ ९ ॥ भाष्यम् ॥

अत्र केचिदेकजन्मवादिनो वदन्ति यदि पूर्वजन्मासीत्तर्हि तत्स्मरणं कुतो न भवतीत्यत्र ब्रूमः । भो ज्ञाननेत्रमुद्घाट्य द्रष्टव्यमस्मिन्नेव शरीरे जन्मतः पञ्चवर्षपर्यन्तं यद्यत्सुखं दुःखं च भवति यच्च जागरितावस्थास्थानां सर्वव्यवहाराणां सुपुण्यवस्थायांच ॥ तदनुभूतस्मरणं न भवति पूर्वजन्मवृत्तस्मरणस्य तु का कथा । (प्रश्नः) यदि पूर्वजन्मकृतयोः पापपुण्ययोः सुखदुःखफलेहीश्वरो ऽस्मिन् जन्मनि ददाति तयोश्चास्माकं साक्षात्काराभावात्सो ऽन्यायकारी भवति नातो ऽस्माकं शुद्धिश्चेति । अत्र ब्रूमः । द्विविधं ज्ञानं भवत्येकं प्रत्यक्षं द्वितीयमानुमानिकं च । यथाकस्यचिद्वैद्यावैद्यस्य च शरीरे ज्वरावेशो भवेत्तत्र खलु वैद्यस्तु विद्याया कार्य्यकारणसंगत्यानुमानतो ज्वरनिदानं जानाति नापरश्च परंतु वैद्यकविद्यारहितस्यापि ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात् किमपि मया कुपय्यं पूर्वं कृतमिति जानाति विनाकारणेन कार्य्यं नैव भवतीति दर्शनात् । तथैव न्यायकारीश्वरोपि विना पापपुण्याभ्यां न कस्मैचित्सुखं दुःखं च दातुं शक्नोति संसारे नीचोच्चसुखदुःखिदर्शनाद् विज्ञायते पूर्वजन्मकृते पापपुण्ये बभूवतुरिति । अत्रैकजन्मवादिनामन्यो ऽपी दृशाः प्रश्नाः सन्ति तेषां विचारेणोत्तराणि देयानि किंचनबुद्धिमतः प्रत्यखिललेखनं योग्यं भवति तेह्युद्देश्यमात्रेणाधिकं जानन्ति मन्योपि भूयान्न भवेदिति मत्वा ऽत्राधिकं नोल्लिख्यते ॥ ॥ भाषार्थ ॥

इस में अनेक मनुष्य ऐसा प्रश्न करते हैं कि जो पूर्व जन्म होता है तो हम को उस का ज्ञान इस जन्म में क्यों नहीं होता (उत्तर) आंख खोल के देखो कि जब इसी जन्म में जो २ सुख दुःख तुमने बाल्यावस्था में अर्थात् जन्म से पांचवर्ष पर्यंत पाये हैं उन का ज्ञान नहीं रहता अथवा जोकि नित्य पठन पाठन और व्यवहार करते हैं उनमें से भी कितनी ही बातें भूल जाते हैं तथा निद्रा में भी यही हाल हो जाता है कि अब के किये का भी ज्ञान नहीं रहता जब इसी जन्म के व्यवहारों को इसी शरीर में भूल जाते हैं तो पूर्व शरीर के व्यवहारों का कब ज्ञान रह सकता है तथा ऐसा भी प्रश्न करते हैं कि जब हम को पूर्व जन्म के पाप पुण्य का ज्ञान नहीं होता और ईश्वर उन का फल सुख वा दुःख देता है इस से ईश्वर का न्याय वा जीवों का सुधारक भी नहीं हो सकता (उत्तर) ज्ञान दो प्रकार का होता है एक प्रत्यक्ष दूसरा

अनुमानादि से जैसे एक वैद्य और दूसरा अवैद्य इन दोनों को ज्वर आने से वैद्य तो इस का पूर्व निदान जान लेता है और दूसरा नहीं जान सकता परंतु उस पूर्व कुपथ्य का कार्य जो ज्वर है वह दोनों को प्रत्यक्ष होने से वे जान लेते हैं कि किसी कुपथ्य से ही यह ज्वर हुआ है अन्यथा नहीं इसमें इतना विशेष है कि विद्वान् ठीक २ रोग के कारण और कार्य को निश्चय करके जानता है और वह अविद्वान् कार्य को तो ठीक २ जानता है परंतु कारण में उस को यथावत् निश्चय नहीं होता वैसे ही ईश्वर न्यायकारी होने से किसी को बिना कारण से सुख वा दुःख कभी नहीं देता जब हमको पुण्य पाप का कार्य सुख और दुःख प्रत्यक्ष है तब हमको ठीक निश्चय होता है कि पूर्व जन्म के पाप पुण्यां के बिना उत्तम मध्यम और नीच शरीर तथा बुद्ध्यादि पदार्थ कभी नहीं मिल सकते इसमें हम लोग निश्चय करके जानते हैं कि ईश्वर का न्याय और हमारा सुधार ये दोनों काम यथावत् बनते हैं इत्यादि प्रश्नात्तर बुद्धिमान् लोग अपने विचार से यथावत् जानलेखें मैं यहां इस विषय के बढाने की आवश्यकता नहीं देखता ॥ इति पुनर्जन्मविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ विवाहविषयः संक्षेपतः ॥

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदृष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यंत्वा दुर्गाहपत्या देवाः ॥ १ ॥
इहैव हस्तं माविद्यैष्टं विश्वमायुर्व्यंशुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मो-
दमानौस्वेष्टहे ॥ २ ॥ ऋ० अ० ८ अ० ३ व० २७।२८ मं० १।२ ॥

॥ भाष्यम् ॥

अनयोरभि० अथ विवाहविधानं क्रियतइति । हे कुमारि युवते कन्ये (सौभगत्वाय) सन्तानोत्पत्त्यादिप्रयोजनसिद्धये (ते) तव हस्तं (गृभ्णामि) गृह्णामि त्वया सहाहं विवाहं करोमि त्वं च मया सह हे स्त्रि (यथा) येन प्रकारेण (मया पत्या) सह (जरदृष्टिः) (आसः) जरावस्थां प्राप्नुयास्तथैव त्वया स्त्रिया सह जरदृष्टिरहं भवेयं वृद्धावस्थां प्राप्नुयाम् । एवमावां संप्रीत्या परस्परं धर्ममानन्दं कुर्यावहि । (भगः) सकलैश्वर्यसंपन्नः (अर्यमा) न्यायव्यवस्थाकर्ता (सविता) सर्वजगदुत्पादकः (पुरंधिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यं गार्हपत्याय) गृहकार्याय त्वां मदर्थं दत्तवान् तथा (देवाः) अथ सर्वे विद्वांसः साक्षिणः सन्ति यद्यावां प्रतिज्ञोल्लंघनं

कुर्याद्विहा तर्हि परमेश्वरदराद्धौ विद्वद्राद्धौ च भवेवेति ॥ १ ॥ विवाहं कृत्वा परस्परं स्त्रीपुरुषौ कीदृशवर्तमानौ भवेतामेतदर्थमेश्वरआज्ञां ददाति (इहैवम्तं०) हे स्त्रीपुरुषौ युवां द्वाविहास्मिल्लोके गृहाश्रमे सुखेनैव सदा (वस्तम्) निवासं कुर्याताम् (माविधौष्टं) तथा कदाचिद्विरोधेन देशान्तरगमनेन वा वियुक्तौ वियोगं प्राप्नौ मा भवेताम् । एवं मदाशीर्वादेन धर्मं कुर्वाणौ सर्वोपकारिणौ मत्प्रतिमाचरन्तौ (विश्वमायुर्व्यश्नुतम्) विविधसुखरूपमायुः प्राप्नुतम् । पुनः (स्वे गृहे) स्वकीयेगृहे पुनर्नृप्रभिवच सह मोदमानौ सर्वानन्दं प्राप्नुवन्तौ (क्रीडन्तौ) सत्प्रमक्रियां कुर्वन्तौ सदैव भवन्तम् । इत्यनेनाप्येकस्याः स्त्रियागक्रमणं पतिर्भवत्वैकस्य पुरुषस्यैकैवस्त्री चेति । अर्थादनेकस्त्र्याभिः सह विवाहनिषेधो नरस्य तथा ऽनेकैः पुरुषैः सहैकस्याः स्त्रियाश्चेति सर्वेषु वेदमन्त्रेष्वेकवचनस्यैव निर्देशात् । एवं विवाहविधायकावेदेष्वनेकं मन्त्राः सन्तीति विज्ञेयम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(गृह्यसामिते०) (सौभाग्यत्वाय हस्तं) हे स्त्री मैं सौभाग्य अर्थात् गृहाश्रम में सुखके लिये तेरा हस्त ग्रहण करती हूँ और इस बात का प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो काम तुझ को अप्रिय होगा उस को मैं कभी न करूँगा ऐसे ही स्त्री भी पुरुष से कहे कि जो व्यवहार आप को अप्रिय होगा उस को मैं भी कभी न करूँगी और हम दोनों व्यभिचारादि दोष रहित होके गृहाश्रम्या पर्यन्त परस्पर आनन्द के व्यवहारों को करेंगे हमारी इस प्रतिज्ञा को सब लोग मत्स्य जानें कि इस से उलटा काम कभी न किया जायगा । (भग) जो ऐश्वर्यवान् (अर्थमा) सब जगत् के पाप पुण्य के फलों को यथावत् देने वाला (सविता) सब जगत् का उत्पन्न करने और सब ऐश्वर्य का देने वाला तथा (पुरंधि) सब जगत् का धारण करने वाला परमेश्वर है वही हमारे दोनों के बीच में साक्षी है तथा (मह्यं त्वा०) परमेश्वर और विद्वानों ने मुझ को तेरे लिये और तुझ को मेरे लिये दिया है कि हम दोनों परस्पर प्रीति करेंगे तथा उद्योगों होकर घर का काम अच्छी तरह से करेंगे और मिथ्या भाषणादि से बच कर सदा धर्मही में वर्तेंगे सब जगत् का उपकार करने के लिये सत्य विद्या का प्रचार करेंगे और धर्मसे पुत्रों को उत्पन्न करके उन को सुशिक्षित करेंगे इत्यादि प्रतिज्ञा हम ईश्वर की साक्षी से करते हैं कि इन नियमों का ठीकर पालन करेंगे दूसरी स्त्री और दूसरे पुरुष से मनसे भी व्यभिचार न करेंगे (देवाः) हे विद्वान् जागो तुम भी हमारे साक्षी रहो कि हम दोनों गृहाश्रम के लिये विवाह करते हैं फिर स्त्री कहे कि मैं इस पति को छोड़ के मन वचन और कर्म से भी दूसरे पुरुष को पति न मानूँगी तथा

पुरुष भी प्रतिज्ञा करे कि मैं इस के सिवाय दूसरी स्त्री को अपने मन कर्म और वचन से कभी न चाहूंगा ॥ १ ॥ (इहैवस्तं०) विवाहित स्त्री पुरुषों के लिये परमेश्वर की आज्ञा है कि तुम दोनों गृहाश्रम के शुभ व्यवहारों में रहे (माधियौष्टं) अर्थात् विरोध करके अलग कभी मत हो और व्यभिचार भी किसी प्रकार का मत करो ऋतुगामित्व से संतानों की उत्पत्ति, उन का पालन और सुशिक्षा, गर्भस्थिति के पीछे एक वर्ष पर्यंत ब्रह्मचर्य और लड़कों को प्रसूता स्त्री का दुग्ध बहुत दिन न पिलाना इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहारों से (विश्वमा०) सौ १०० वा १२५ वर्ष पर्यंत आयु को सुख से भोगो (क्रीडन्तो०) अपने घरमें आनन्दित होके पुत्र और पौत्रों के साथ नित्य धर्म पूर्वक क्रीडा करो इस से विपरीत व्यवहार कभी न करो और सदा मेरी आज्ञा में वर्तमान करो इत्यादि विवाह विधायक वेदों में बहुत मंत्र हैं । उन में से कई एक मंत्र संस्कारविधि में भी लिखे हैं वहां देख लेना ॥ इति संक्षेपतो विवाह विषयः ॥

॥ अथ नियोगविषयः संक्षेपतः ॥

कुहंस्विट्रोषा कुहवस्तोरश्विना कुहामिपित्वं करतः कुहो-
पतुः । कोवां शयुचा विधवेव देवरं मर्य्यनयोषां कृणुते सधस्यत्रा ॥
१ ॥ ऋ० अ० ७ अ० ८ व० १८ मं० २ ॥ इयं नारी पतिलोकं
वृणानानिपद्यत उपत्वा मर्य्यं प्रेतम् । धर्मं पुराणमनुपालयन्ती
तस्यै प्रजां द्रविणं चेहधेहि ॥ २ ॥ अथर्व० कां० १८ अनु० ३ व० १
मं० १ ॥ उदीर्घनार्य्यमि जीवलोकं गतासु मेतमुपशेष एहि । हस्त-
ग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ ॥ ३ ॥ ऋ० मंडल
१० सू० १८ मं० ८ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

एषामभि० अत्र विधवाविस्त्रीकनियोगव्यवस्थाविधीयतइति (कुह-
स्विट्रोषा) हे विवाहितौ स्त्रीपुरुषौ युवां (कुह) कस्मिन्स्थाने (ट्रोषा)
राशौ (वस्तोः) वसथः (कुह०) अश्विनादिवसे च क्व वासं कुरुथः (कुहा-
भि०) क्वाभिपित्वं प्राप्तिं करतः कुरुतः (कुहोपतुः) क्व युवयोर्निजस्थान-
वासोऽस्ति (कोवां शयुचा) शयनस्थानं युवयोः क्वास्ति । इति स्त्रीपुरुषौ
प्रतिप्रश्नेन द्विवचनोच्चारणेन चैकस्य पुरुषस्यैव स्त्रीकर्तुं योग्यास्ति । तथै-
कस्याः स्त्रिया एक एव पुरुषश्च द्वयोः परस्परं सदैव प्रीतिर्भवेन्न कदा-

चिद्वियोगव्यभिचारौ भवेतामिति द्योत्यते (विधवेव देवरं) कं केव यथा देवरं द्वितीयं वरं नियोगेन प्राप्तं विधवाइव । अत्र प्रमाणम् । देवरः कस्माद्वितीयोवर उच्यते । निरु० अ० ३ खं० १५ । विधवाया द्वितीय-पुरुषेण सह नियोगकरणे आज्ञास्ति तथा पुरुषस्य च विधवया सह । विधवास्त्री मृतस्त्रीकपुरुषेण सहैव संतानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह तथा कुमारस्य विधवया सह च । अर्थात्कुमारयोः स्त्रीपुरुषयोरैक-वारमेव विवाहः स्यात् । पुनरेवं नियोगश्च नैव द्विजेषु द्वितीयवारं वि-वाहे विधीयते । पुनर्विवाहस्तु खलु शूद्रवर्णेष्वेव विधीयते तस्य विद्या-व्यवहाररहितत्वात् । नियोजितौ स्त्रीपुरुषौ कथं परस्परं वर्तेतामित्यत्राह । (मर्येनयोषा) यथा विवाहितं मनुष्यं (सधस्ये) समानस्थाने संतानार्थं योषा विवाहितास्त्री (कृणुते) आकृणुते । तथैव विधवा विगतस्त्रीकश्च संतानोत्पत्तिकरणार्थं परस्परं नियोगं कृत्वा विवाहितस्त्रीपुरुषवद्वर्तेताताम् ॥ १ ॥ (इयं नारी०) इयं विधवानारी (प्रेतं) मृतं पतिं विहाय (पतिलोकं) पतिसुखं (वृणाना) स्वीकर्तुमिच्छन्ती सती (मर्त्यं) हे मनुष्य (त्वा) त्वामुपनिषद्यते त्वां पतिं प्रप्राप्ति तव समीपं नियोगविधानेनागच्छतितां त्वं गृहाणा ऽस्यां सन्तानान्युत्पादय । कथंभूता सा (धर्मं पुराणं) वेद-प्रतिपाद्यं सनातनं धर्ममनुपालयन्ती सती त्वां नियोगेन पतिं वृणुते । त्वमपी मां वृणु (तस्यै) विधवायै (इह) अस्मिन्समये लोके वा (प्रजां धेहि) त्व-मस्या प्रजात्पत्तिं कुरु (द्रविणं) द्रव्यं वीर्यं (च) अस्यां धेहि अर्थाद्गर्भा-धानं कुरु ॥ २ ॥ (उदीर्ष्वना०) हे विधवे नारि (गन्तं) (गतासुं) गत-प्राणं मृतं विवाहितं पतिं त्यक्त्वा (अभिजीवलोकं) जीवन्तं देवरं द्वितीय-वरं पतिं (गहि) प्राप्नुहि (उपशेषे) तस्यैवोपशेषे संतानोत्पादनाय वर्तस्व तत्संतानं (हस्तयाभस्य) विवाहे संगृहीतहस्तस्य पत्युः स्यात् । यदि नि-युक्तपत्यर्थोनियोगः कृतस्तर्हि (दिधिषोः) तस्यैव संतानं भवेत् (तवेदं) इदमेव विधवायास्तव (जानित्वं) संतानं भवति । हे विधवे विगत-विवाहितस्त्रीकस्य पत्युश्चैतन्नियोगकरणार्थं त्वं (उदीर्ष्व) विवाहितपति-मरणानन्तरमिमं नियोगमिच्छ तथा (अभिसंबभूथ) संतानोत्पत्तिं कृत्वा सुखसंयुक्ता भव ॥ ३ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

नियोग उस को कहते हैं जिस से विधवा स्त्री और जिस पुरुष की स्त्री मर गई हो वह पुरुष ये दोनों परस्पर नियोग करके संतानों को उत्पन्न करते हैं नियोग करने में ऐसा नियम है कि जिस स्त्री का पुरुष वा किसी पुरुष की

स्त्री मरजाय अथवा उन में किसी प्रकार का स्थिर रोग हो जाय वा नपुंसक
 वंध्यादोष पड़जाय और उन की युवावस्था हो तथा संतानोत्पत्ति की इच्छा
 हो तो उस अवस्था में उन का नियोग होना अवश्य चाहिये इस का नियम
 आगे लिखते हैं (कुहस्थित्०) अर्थात् तुम दोनों विवाहित स्त्री पुरुषों ने
 (दोषा) रात्रि में कहां निवास किया था (कुहवस्तारश्चना) तथा दिन में
 कहां बसे थे (कुहाभिपित्वं करतः) तुमने अन्न वस्त्र धन आदि की प्राप्ति
 कहां की थी (कुहोपतुः) तुम्हारा निवासस्थान कहां है (कोवां शयुत्रा) रात्रि
 में तुम कहां शयन करते हो वेदों में पुरुष और स्त्री के विवाह विषय में एक ही
 वचन के प्रायोग करने से यह निश्चित हुआ कि वेदोतीति से एक पुरुष के लिये
 एक ही स्त्री और एक स्त्री के लिये एक ही पुरुष होना चाहिये अधिक नहीं और
 न कभी इन द्विजों का पुनर्विवाह वा वियोग होना चाहिये (विधवेव देवरम्)
 जैसे विधवा स्त्री देवर के साथ संतानोत्पत्ति करती है वैसे तुम भी करो विधवा
 का जो दूसरा पति होता है उस को देवर कहते हैं इस से यह नियम होना
 चाहिये कि द्विजों अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों में दो २ सन्तानों के लिये
 नियोग होना और शूद्र कुल में पुनर्विवाह मरण पर्यन्त के लिये होना चाहिये
 परंतु माता गुरुपत्नी भगिनी कन्या पुत्र बधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा
 निषेध है यह नियोग शिष्ट पुरुषों की सम्मति और दोनों की प्रसन्नता से हो
 सकता है जब दूसरा गर्भ रहे तब नियोग छूट जाय और जो कोई इस नियम को
 तोड़े उस को द्विज कुल में से अलग कर के शूद्र कुल में रख दिया जाय ॥ १ ॥
 (इयं नारी पतिलोकं) जो विधवा नारी पतिलोक अर्थात् पति सुख की इच्छा
 कर के नियोग किया चाहे तो (प्रेतम्) अर्थात् वह पति मर जाने के अनन्तर
 दूसरे पति को प्राप्त हो (उपत्वामत्यं) इस मंत्र में स्त्री और पुरुष को पर-
 मेश्वर आज्ञा देता है कि हे पुरुष (धर्म पुराणमनुपालयन्ती) जो इस मनातन
 नियोग धर्म की रक्षा करने वाली स्त्री है उस के संतानोत्पत्ति के लिये (तस्यै प्रजां
 द्रविणं चेह धेहि) धर्म से वीर्यदान कर जिस से वह प्रजा से युक्त होके
 आनंद में रहे तथा स्त्री के लिये भी आज्ञा है कि जब किसी पुरुष की स्त्री
 मरजाय और वह संतानोत्पत्ति किया चाहे तब स्त्री भी उस पुरुष के साथ नियोग
 कर के उस को प्रजायुक्त कर दे इस लिये मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम मन कर्म और
 शरीर से व्यभिचार कभी मत करो किंतु धर्मपूर्वक विवाह और नियोग से संता-
 नोत्पत्ति करते रहो ॥ २ ॥ (उद्रीर्ष्वनारी) हे स्त्री अपने मृतक पति को छोड़
 के (अभिजीव लोकं) इस जीवलोक में (एतमुपशेष एहि) जो तेरी इच्छा
 हो तो दूसरे पुरुष के साथ नियोग कर के संतानों को प्राप्त हो नहीं तो
 ब्रह्मचर्याश्रम में स्थिर होकर कन्या और स्त्रियों को पढ़ाया कर ॥ और जो

नियोगधर्म में स्थित हो तो जवतक मरण न हो तवतक ईश्वर का ध्यान और सत्य धर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त होकर (हन्तयाभस्य दिधियोः) जो कि तेरा हन्त ग्रहण करने वाला दूसरा पति है उस की सेवा किया कर वह तेरी सेवा किया करे और उस का नाम दिधिषु है (तवेदं) वह तेरे सन्तान को उत्पत्ति करने वाला हो और जो तेरे लिये नियोग किया गया हो तो वह तेरा संतान हो (पत्युर्जनित्वम०) और जो नियुक्त पति के लिये नियोग हुआ हो तो वह संतान पुरुष का हो इस प्रकार नियोग से अपने २ संतानों को उत्पन्न कर के दोनों सदा सुखी रहे ॥ ३ ॥

इमां त्वमिन्द्रमीदृः सुपुत्रां सुभगां कृणु । दशास्यां पुत्राना
धेहि पतिमेकादशं कंधि ॥ ४ ॥ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद
उत्तरः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ५ ॥ ऋ०
अ० ८ अ० ३ व० २८ । २७ । मं० ५ । ५ ॥ अदेष्टुघ्न्यपतिघ्नीहैधि
शिवापशुभ्यः सुभगां सुवर्चाः । प्रजावती वीरसूदेवकामास्येनेम-
मग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य ॥ ६ ॥ अथर्व० । कां० १४ अनु० २ मं० १८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

इदानीं नियोगस्य सन्तानोत्पत्तेश्च परिगणनं क्रियते । कतिवारं
नियोगः कर्तव्यः क्रियन्ति संतानानि चोत्पाद्यानांति । तद्यथा (इमां
त्वमिन्द्र०) हे इन्द्र विवाहितपते (मीदृः) हे वीर्यदानकर्तृस्त्वमिमां
विवाहितस्त्रियं वीर्यसेकेन गर्भयुक्तां कुरु । तां (सुपुत्रां) श्रेष्ठपुत्रवतीं
(सुभगां) अनुत्तमसुखयुक्तां (कृणु) कुरु (दशास्यां) अस्यां विवा-
हितस्त्रियां दशपुत्रानाधेहि उत्पादय नातिऽधिकमिति । ईश्वरेण दशम-
न्तानोत्पादनस्यैवाज्ञा पुरुषाय दत्तेति विज्ञेयम् । तथा (पतिमेकादशं कंधि)
हे स्त्रि त्वं विवाहितपतिं गृहोत्त्वैकादशपतिपर्य्यन्तं नियोगं कुरु । अर्थात्
कस्यां विदापत्कालावस्थयां प्राप्तायामैकैकस्याभावे सन्तानोत्पत्त्यर्थं दश-
मपुरुषपर्य्यन्तं नियोगं कुर्यात् । तथा पुरुषोऽपि विवाहितस्त्रियां मृत्यां
सत्यां सन्तानाभावे एकैकस्या अभावे दशम्या विधवया सह नियोगं करो-
त्विति चेन्नानास्ति चेन्मा कुरुताम् ॥ ४ ॥ अथोत्तरोत्तरं पतीनां संज्ञा विधीयते
(सोमः प्रथमः) हे स्त्रियस्त्वां प्रथमं (विविदे) विवाहितः पतिः प्राप्नोति
स सौकुमार्यादिगुणयुक्तत्वात्सोमसंज्ञो भवति । (गन्धर्वो वि०) यस्तु

(उत्तरः) द्वितीयो नियुक्तः पतिर्विधवां त्वां विविदे प्राप्नोति स गन्धर्वसंज्ञां लभते कुतस्तस्य भोगाभिज्ञत्वात् । (तृतीयो अ०) येन सह त्वं तृतीयवारं नियोगं करोषि सोऽग्निसंज्ञो जायते । कुतः । द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां भुक्त-भोगया त्वया सह नियुक्तत्वादग्निदाहवतस्य शरीरस्यधातवो दह्यन्त इत्यतः । (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) हे स्त्रिचतुर्थमारभ्य दशमपर्यन्तास्तत्र पतयः । साधारणबलवीर्यत्वान्मनुष्यसंज्ञा भवन्तीति बोध्यम् । तथैव स्त्रीणामपि सोम्या गंधर्व्याग्नायी मनुष्यजाः संज्ञास्तत्तद्गुणयुक्तत्वाद्ववन्तीति ॥५॥ (अदेवृद्धयपतिघ्न) हे अदे वृद्धि देवरसेविके हे अपतिघ्न विवाहितपतिसेविके स्त्रि त्वं शिवा कल्याणगुणयुक्ता (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) गृहकृत्येषु शोभननियमयुक्ता गृहसंबन्धिपशुभ्योहिता श्रेष्ठक्रांतिविद्यासहिता तथा (प्रजावतीवीरसूः) प्रजापालनतत्परा वीरसंतानोत्पादिका (देवृकामा) नियोगेन द्वितीयवरस्य कामनावती (स्येना) सम्यक् सुखयुक्ता सुखकारिणी सती (इममग्निं गार्हपत्यं) गृहसंबन्धिनमाहवनीयादिमग्निं सर्वं गृहसंबन्धिव्यवहारं च (सपर्य्य) प्रीत्या सम्यक् सेवय । अत्र स्त्रियाः पुरुषस्य चापत्काले नियोगव्यवस्था प्रतिपादितास्तीति वेदितव्यम् । इति ॥ ६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(इमां०) ईश्वर मनुष्यों को आज्ञा देता है कि हे इन्द्रपते ऐश्वर्य्य युक्त तू इस स्त्री को वीर्य्य दान देके सुपुत्र और सौभाग्य युक्त कर हे वीर्य्यप्रद (दशास्यां पुत्रानाधेहि) पुरुष के प्रति वेद की यह आज्ञा है कि इस विवाहित वा नियोजित स्त्री में दश संतान पर्य्यंत उत्पन्न कर अधिक नहीं (पतिमेकादशं ब्रूधि०) तथा हे स्त्री तू नियोग में ग्यारह पति तक कर अर्थात् एक तो उन में प्रथम विवाहित और दश पर्य्यंत नियोग के पति कर अधिक नहीं इस की यह व्यवस्था है कि विवाहित पति के मरने वा रोगी होने से दूसरे पुरुष वा स्त्री के साथ संतानों के अभाव में नियोग करे तथा दूसरे को भी मरण वा रोगी होने के अनन्तर तीसरे के साथ कर ले इसी प्रकार दशवें तक करने की आज्ञा है परंतु एक काल में एकही वीर्य्यदाता पति रहे दूसरा नहीं इसी प्रकार पुरुष के लिये भी विवाहित स्त्री के मरजाने पर विधवा के साथ नियोग करने की आज्ञा है और जब वह भी रोगी हो वा मरजाय तो संतानोत्पत्ति के लिये दशम स्त्री पर्य्यंत नियोग कर लेवे ॥ ४ ॥ अब पतियों की संज्ञा कहते हैं (सोमः प्रथमो विविदे) उनमें से जो विवाहित पति होता है उस की सोम संज्ञा है क्योंकि वह सुकुमार होने से मृदु आदि गुण युक्त होता है (गंधर्वा विविद उत्तरः) दूसरा पति जो नियोग से होता है सो गंधर्व संज्ञक अर्थात् भोग में अभिज्ञ होता है

(तृतीयो अग्निष्टेपतिः०) तीसरा पति जो नियोग से होता है वह अग्नि संज्ञक अर्थात् तेजस्वी अधिक उमर वाला होता है (तुरीयस्ते मनुष्यजाः) और चौथे से लेकर दशम पर्यंत जो नियुक्त पति होते हैं वे सब मनुष्य संज्ञक कहते हैं क्योंकि वे मध्यम होते हैं ॥ ५ ॥ (अष्टे वृष्यपतिष्ठी) हे विधवा स्त्रि तू देवर और विवाहित पति को सुख देने वाली हो किंतु उन का अप्रिय किसी प्रकार से मत कर और वे भी तेरा अप्रिय न करें (एधि शिवा०) इसी प्रकार मंगल कार्यों को करके सदा सुख बठाते रहो (पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः) घर के पशु आदि सब प्राणियों की रक्षा करके जितेन्द्रिय होके धर्म युक्त श्रेष्ठ कार्यों को करती रहो तथा सब प्रकार के विद्यारूप उत्तम तेज को बढाती जा (प्रजावती वीरसूः) तू श्रेष्ठ प्रजा युक्त हो बड़े २ वीर पुरुषों को उत्पन्न कर (देवकामा) जो तू देवर की कामना करने वाली है तो जब तेरा विवाहित पति न रहे वा रोगी तथा नपुंसक हो जाय तब दूसरे पुरुष से नियोग करके संतानोत्पत्ति कर (स्येनेमग्निं गार्हपत्यं सपर्य्य) और तू इस अग्निहोत्रादि घर के कामों को सुखरूप होके सदा प्रीति से सेवन कर ॥ ६ ॥ इसी प्रकार से विधवा और पुरुष तुम दोनों आपत् काल में धर्म करके संतानोत्पत्ति करो और उत्तम २ व्यवहारों को सिद्ध करते जाओ गर्भहत्या वा व्यभिचार कभी मत करो किंतु नियोग ही करलो यही व्यवस्था सब से उत्तम है ॥ इति नियोगविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ राजप्रजाधर्मविषयः संक्षेपतः ॥

चीणिं राजाना विदधे पुरुणिं परिविश्वानिभूषयः सदांसि ।
अपश्यमचमनंसा जगन्वान्त्रते गन्धर्वा अपि वायुकेशान् ॥ १ ॥
ॐ अ० ३ अ० २ व० २४ मं० ६ ॥ ज्ञचस्योनिंरसि ज्ञचस्यना-
भिरसि । मात्वाहिंसीन्मा माहिंसीः ॥ २ ॥ य० अ० २० मं० १ ॥
यच्च ब्रह्मच ज्ञचंच सम्यञ्चौ चरंतः सह । तं लोकं पुण्यं यज्ञेपं
यच्च देवाः सहाग्निना ॥ ३ ॥ य० अ० २० मं० २५ ॥ भाष्यम् ॥

एषामभि० अच मंचेषु राजधर्मो विधीयतइति । यथा सूर्यचन्द्रौ राजानौ सर्वमूर्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतस्तथा सूर्यचन्द्रगुणशीलौ प्रकाशन्याय-युक्तौ व्यवहारौ चीणि सदांसि (भूषयः) भूषयतो ऽलं कुरुतः (विदधे) ताभिः सभाभिरेव युद्धे (पुरुणि) बहूनि विजयादीनि सुखानि मनुष्याः प्राप्नुवन्ति तथा (परिविश्वानि) राजधर्मादियुक्ताभिस्सभाभिर्विश्वस्थानि

सर्वाणि वस्तूनि प्राणिजातानि च भूषयन्ति सुखयन्ति । इदमत्र बोध्यम् ।
 एका राजार्यसभा तत्र विशेषतो राजकार्यार्ययेव भवेयुः । द्वितीयाऽऽर्य-
 विद्यासभा तत्र विशेषतो विद्याप्रचारोन्नतीष्वकार्यं भवतः । तृतीयाऽऽर्य-
 धर्मसभा तत्र विशेषतो धर्मान्नतिरधर्महानिश्चापदेशे न कर्तव्यापरन्त्वे ता-
 स्तिस्रसभाः सामान्यकार्यं मिलित्वैव सर्वानुत्तमान्यवहारान्प्रजासुप्रचारये-
 युगिति । यच्चैतासुसभासु धर्मात्मभिर्विद्वद्भिः सारासारविचारेण कर्तव्याकर्त-
 व्यस्य प्रचारोनिरोधश्च क्रियते । तत्र सर्वाः प्रजाः सदैव सुखयुक्ता भवन्ति ।
 यच्चै कोमनुष्यो राजा भवति तत्र पीडिताश्चेति निश्चयः (अपश्यमत्र)
 इदमत्राहमपश्यम् । ईश्वरोभिवर्द्धति यत्र सभया राजप्रबन्धो भवति तच्चैव
 सर्वाभ्यः प्रजाभ्योहितं जायतइति । (व्रते) यो मनुष्यः सत्याचरणे (म-
 नसा) विज्ञानेन सत्यंन्यायं (जगन्वान्) विज्ञातवान् स राजसभामर्हति ने-
 तरश्च (गंधर्वां) पूर्वोक्तासु सभासु गंधर्वान् पृथिवीराजपालनादिव्यवहारेषु
 कुशलान् (अपि वायुः केशान्) वायुऽद्भुतप्रचारेण विदितसर्वव्यवहारान्सभा
 सदः कुर्यात् । केशास्सूर्यरश्मयस्तद्वत्सत्यन्यायप्रकाशकान्सर्वहितं चिकीर्षन्
 धर्मात्मनः सभासदस्थापयितुमहमाज्ञापयामि नेतरांश्चेतीश्वरोपदेशः स-
 र्वैर्मन्तव्य इति ॥ १ ॥ (क्षत्रस्य योनिरसि) हे परमेश्वर त्वं यथा क्षत्रस्य
 राजव्यवहारस्य योनिर्निमित्तमसि । तथा (क्षत्रस्य नाभिरसि) गवं राजध-
 र्मस्य त्वं प्रबन्धकर्त्तासि तथैव नोऽस्मानपि कृपया राज्यपालननिमित्तान्
 क्षत्रधर्मप्रबन्धकर्तृन्च कुम्भ (मात्वाहिंसीन्मा माहिंसीः) तथास्माकं मध्या-
 त्कोपि जनस्त्वामाहिंसीदर्थोद्भवन्तं तिरस्कृत्य नांस्तको मा भवतु तथा त्वं
 मां माहिंसीरथान्मम तिरस्कारं कदाचिन्माकुर्याः । यतोवयं भवत्सृष्टौ राज्य-
 धिकारिणस्सदा भवेम ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च) यत्र देशे ब्रह्म पर-
 मेश्वरो वेदो वा ब्राह्मणो ब्रह्मविद्वैतत्सर्वं ब्रह्म तथा (क्षत्रं) शौर्यधैर्यादि-
 गुणवन्तो मनुष्याश्चैतौ द्वौ (सम्यङ्मौ) यथावद्विज्ञानयुक्तावविरुद्धौ (चरतः
 सह) तं लोकं तं देशं पुण्यं पुण्ययुक्तं (यज्ञेषं) यज्ञकरणेच्छाविशिष्टं
 विजानीमः (यत्र देवाः सहाग्निना) यस्मिन्देसे विद्वांसः परमेश्वरेणा-
 ग्निहोत्रादि यज्ञानुष्ठानेन च सह वर्तन्ते तच्चैव प्रजाः सुखिन्यो भवन्तीति
 विज्ञेयम् ॥ ३ ॥

॥ भाषार्थ ॥

सब जगत् का राजा एक परमेश्वरही है और सब संसार उस की प्रजा
 है इस में यह यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के २९ वे मंत्र के वचन का प्रमाण है

(वयं प्रजापतेः प्रजाग्रभूम) अर्थात् सब मनुष्य लोगों को निश्चय करके जानना चाहिये कि हम लोग परमेश्वर की प्रजा हैं और वही एक हमारा राजा है (त्राणि-राजाना) तीन प्रकार की सभाही को राजा मानना चाहिये एक मनुष्य को कभी नहीं वे तीनों ये हैं प्रथम राज्यखंड के लिये एक आर्य्य राजसभा कि जिससे विशेष करके सब राज्यकार्य ही सिद्ध किये जावें, दूसरी आर्य्य विद्या सभा कि जिससे सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार होता जाय, तीसरी आर्य्य धर्म सभा कि जिससे धर्म का प्रचार और अधर्म की हानि होती रहे इन तीन सभाओं से (विदथे) अर्थात् युद्ध में (पुरुणि परिविश्वानि भूषयः) सब शत्रुओं को जीत के नाना प्रकार के सुखों में विश्व को परिपूर्ण करना चाहिये ॥ १ ॥ (तत्रस्य योनिरसि) हे राज्य के देनेवाले परमेश्वर आप ही राज्य सुखके परम कारण हैं (तत्रस्य नाभिरसि) आप ही राज्य के जीवन हेतु हैं तथा तत्रियवर्ण के राज्य का कारण और जीवन सभा ही है (मात्वा हिष्मीन्मामाहिष्मीः) हे जगदीश्वर सब प्रजा आप को छोड़ के किसी दूसरे को अपना राजा कभी न मानें और आप भी हम लोगों को कभी मत छोड़िये किंतु आप और हम लोग परस्पर सदा अनकून वर्त्ते ॥ २ ॥ (यत्र ब्रह्म च तत्र च) जिस देश में उत्तम विद्वान् ब्राह्मण विद्यासभा और राजसभा विद्वान् शूरवीर तत्रिय लोग ये सब मिलके राजकामों को सिद्ध करते हैं वही देश धर्म और शुभ क्रियाओं से संयुक्त हो के सुख को प्राप्त होता है (यत्र देवाः महाग्निना०) जिस देश में परमेश्वर की आज्ञा पालन और अग्निहोत्रादि मत्क्रियाओं से वर्त्तमान विद्वान् होते हैं वही देश सब उपद्रवों से रहित होके अखंड राज्य को नित्य भोगता है ॥ ३ ॥

देवस्यत्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनैर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्तभ्यम् ।
अश्विनैर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसा दामिषि चामि ॥ इन्द्रस्येन्द्रियेण
बलायश्रियै यशसे ऽभिषि चामि ॥ ४ ॥ के।सि कतमोसि कस्मै-
त्वाकार्यत्वा । सुस्त्रोक् सुमंगल सत्यराजन् ॥ ५ ॥ शिरो।मे
श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ॥ राजा मे प्राणो अमृत-
सुखाद् चतुर्विराट् आचम ॥ ६ ॥ य० अ० २० मं० ३ । ४ । ५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(देवस्यत्वा सवितुः) हे सभाध्यक्ष स्वप्रकाशमानस्य सर्वस्य जगतउत्पादकस्य परमेश्वरस्य (प्रसवे) अस्यां प्रजायां (अश्विनैर्बाहुभ्यां) सूर्याचन्द्रमसोर्बाहुभ्यां बलवीर्याभ्यां (पूष्णो हस्तभ्यां) पुष्टिकर्तुः प्राणस्य

यहणदानाभ्यां (अश्विनोर्भेषज्येन) पृथिव्यन्तरिक्षौषधिसमूहेन सर्वरोग-
निवारकेण सह वर्तमानं त्वां (तेजसे) न्यायादिसद्गुणप्रकाशाय (ब्रह्म-
वर्चसाय) पूर्णविद्याप्रचाराय (अभिषिंचामि) सुगन्धजलैर्मूर्द्धनि मार्जयामि
तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वरस्य परमैश्वर्येण विज्ञानेन च (बलाय)
उत्तमबलार्थं (श्रियै) चक्रवर्तिराज्यलक्ष्मीप्राप्त्यर्थं त्वां (यशसे) अतिश्रेष्ठ-
कीर्त्यर्थं च (अभिषिंचामि) राजधर्मपालनार्थं स्थापयामीतीश्वरोपदेशः ॥

४ ॥ (कोसि) हे परमात्मन् त्वं सुखस्वरूपोसि भवानस्मानपि सुराज्येन
सुखयुक्तान् करोतु (कतमोसि) त्वमत्यन्तानन्दयुक्तोसि । अस्मानपि राज-
सभाप्रबंधेनात्यन्तानन्दयुक्तान्संपादय (कस्मैत्वा) अतो नित्यसुखाय त्वा-
माश्रयामः । तथा (कायत्वा) सुखरूपराज्यप्रदाय त्वामुपास्महे (सु-
श्लोक) हे सत्यकीर्ति (सुमंगल) हे सुप्रमंगलमयसुमंगलकारक (सत्य-
राजन्) हे सत्यप्रकाशक सत्यराज्यप्रदेश्वरास्मद्वाजसभाया भवानेव महा-
राजाधिराजोऽस्तीति वयं मन्यामहे ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष एवं मन्येत (शिरो-
मेश्रीः) राज्यश्रीर्मे मम शिरोवत् (यशो मुखं) उत्तमकीर्तिमुखवत् (त्विषिः
केशाश्च श्मश्रूणि) सत्यन्यायदीप्तिः मम केशश्मश्रुवत् (राजामेप्राणः)
परमेश्वरः शरीरस्थो जीवनहेतुर्वायुश्च मम राजवत् (अमृतं सम्राट्)
मोक्षार्थं सुखं ब्रह्म वेदश्च सम्राट् चक्रवर्तिराजवत् (चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्)
सत्यविद्यादिगुणानां विविधप्रकाशकरणं श्रोत्रं चक्षुर्वत् । एवं सभासदोपि
मन्येरन् । एतानि सभाध्यक्षस्य सभासदां चाङ्गानि सन्तीति सर्वे विज्ञा-
नीयः ॥ ६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(देवस्यत्वा सवितुः) जो कोई राजा सभाध्यक्ष होने के योग्य हो उस
का हम लोग अभिषेक करें और उस से कहें कि हे सभाध्यक्ष आप सब जगत्
को प्रकाशित और उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर की (प्रसवे) सृष्टि में प्रजापालन
के लिये (अश्विनोर्बाहुभ्यां) सूर्य चन्द्रमा के बल और वीर्य से (पूष्णो हस्ता-
भ्यां) पृथि करनेवाले प्राण को यहण और दान की शक्तिरूप हाथों से आप
को सभाध्यक्ष होने में स्वीकार करते हैं (अश्विनोर्भेषज्येन) परमेश्वर कहता
है कि पृथिवीस्थ और शुद्धवायु इन ओषधियों से दिनरात में सब रोगों से
तुम्हें निवारण कर के (तेजसे) सत्यन्याय के प्रकाश, (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्म
के ज्ञान और विद्या की वृद्धि के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियेण) परमेश्वर के
परमैश्वर्य और आज्ञा के विज्ञान से (बलाय) उत्तम सेना, (श्रियै) सर्वोत्तम
लक्ष्मी और (यशसे) सर्वोत्तम कीर्ति की प्राप्ति के लिये मैं तुम लोगों को
सभा करने की आज्ञा देता हूँ कि यह आज्ञा राजा और प्रजा के प्रबंध के

अर्थ है इस से सब मनुष्य लोग इस का यथावत् प्रचार करें ॥ ४ ॥ हे महा-
राजेश्वर आप (कोमि कतमोसि) सुखस्वरूप अत्यंत आनन्दकारक हैं हम
लोगों को भी सब आनन्द से युक्त कीजिये (सुश्लोक) हे सर्वोत्तम कीर्ति
के देने वाले तथा (सुमंगल) शोभनमंगलरूप आनन्द के करने वाले
जगदीश्वर (सत्यराजन्) सत्यस्वरूप और सत्य के प्रकाश करने वाले
हम लोगों के राजा तथा सब सुखों के देने वाले आप ही हैं (कस्मै-
त्वाक्रायत्वा) उसी अत्यंत सुख, श्रेष्ठ विचार, और आनन्द के लिये हम
लोगों ने आप को शरण लिया है क्योंकि इसी से हम को पूर्ण राज्य
और सुख निस्संदेह होगा ॥ ५ ॥ सभाध्यक्ष सभासद और प्रजा को ऐसा
निश्चय करना चाहिये कि (शिरामे श्राः) श्री मेरा शिरस्थानी (यशो
मुखं) उत्तम कीर्ति मेरा मुखवत् (त्वितिः केशाश्चश्मश्रूणि) सत्यगुणों का
प्रकाश मेरे केश और डाढ़ों मूँह के समान तथा (राजामे प्राणः) जो ईश्वर
सब का आधार और जीवन हेतु है वही प्राणप्रिय मेरा राजा (अमृत-
सम्राट्) अमृतस्वरूप जो ब्रह्म और मोक्षमुख है वही मेरा चक्रवर्ती राजा
तथा (चतुर्विंशट् श्रात्रम्) जो अनेक सत्यविद्याओं के प्रकाशयुक्त मेरा श्रात्र
है वही मेरी आश्रय है ॥ ६ ॥

बाहू मे बलमिन्द्रियहस्तौ मे कर्मवीर्यम् । आत्मा चचमुरो
मम ॥ ७ ॥ पृष्ठीमे राष्ट्रमुदरमशौ ग्रीवाश्च श्रोणी । ऊरु अरत्नी
जानुनी विशो मे ऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥ य० अ० २० मं० ७ । ८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(बाहूमेबलं) यदुत्तमं बलं तन्मम बाहु वदस्ति (इन्द्रियहस्तौ
मे) शुद्धं विद्यायुक्तं मनः श्रोत्रादिकं च मम ग्रहणसाधनवत् (कर्मवीर्यं)
यदुत्तमपराक्रमधारणं तन्मम कर्मवत् (आत्मा चचमुरो मम) यन्मम
हृदयं तत् चचवत् ॥ ७ ॥ (पृष्ठीमे राष्ट्रम्) यद्राष्ट्रं तन्मम पृष्ठभागवत्
(उदरमशौ) यो सेनाकोशोस्तत्कर्म मम हस्त मूलोदरवत् (ग्रीवाश्च
श्रोणी) यत्प्रजायाः सुखेन भूषितपुरुषार्थिकरणं तत्कर्म मम नितंबांगवत्
(ऊरु अरत्नी) यत्प्रजाया व्यापारे गणितविद्यायां च निपुणीकरणं तन्म-
मोर्ध्वरव्यंगवदस्ति (जानुनी विशो मे ऽङ्गानि सर्वतः) यत्प्रजाराजसभयोः
सर्वथा मे लक्षणं तन्मम कर्म जानुवत् । एवं पूर्वोक्तानि सर्वाणि कर्माणि
ममावयववत् सन्ति । यथा स्वाङ्गेषु प्रीतिस्तत्पालने पुरुषस्य श्रद्धा भवति
तथा प्रजापालने च स्वकीयाबुद्धिस्सर्वैः कार्य्येति ॥ ८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(बाहू मे बल) जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा (इन्द्रिय हस्तौ) जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है वे मेरे हाथों के समान (आत्मा तत्रमुरो मम) जो राजधर्म शौर्य धैर्य और हृदय का ज्ञान है यही सब मेरे आत्मा के समान है ॥ ७ ॥ (पृष्ठीर्मे राष्ट्रं) जो उत्तम राज्य है सो मेरी पीठ के समतुल्य (उदरमसौ) जो राज्य सेना और कोश है वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान तथा (यीवाश्च श्रोणी) जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थी करना है सो मेरे कंठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य (ऊरु अरवी) जो प्रजा को व्यापार और गणित विद्या में निपुण करना है सोही अरवी और ऊरु अंग के समान तथा (जानुनी) जो प्रजा और राजमभा का मेल रखना यह मेरी जानु के समान है (विशो मेऽङ्गानि सर्वतः) जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म करते हैं ये सब मेरे अंगों के समान हैं ॥ ८ ॥

प्रतिक्षेपे प्रतिनिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रतिनिष्ठामि गोषु । प्रत्यङ्गेषु प्रतिनिष्ठास्यात्मन्प्रतिप्राणेषु प्रतिनिष्ठामि पुष्टे प्रतिद्यावापृथिव्योः प्रतिनिष्ठामि यज्ञे ॥ १० ॥ चातारमिन्द्रं वितारमिन्द्रं च वेदे सुहवश्शूरमिन्द्रं । हवामिशक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रं ॥ ११ ॥ यं अ० २० मं० १० । ५० ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(प्रतिक्षेपे प्रतिनिष्ठामि राष्ट्रे) अहं परमेश्वरो धर्मेण प्रतीतिक्षेपे प्रतिष्ठितो भवामि विद्याधर्मप्रचारितेदेशे च (प्रत्यश्वेषु) प्रत्यश्वं प्रतिगां च तिष्ठामि (प्रत्यङ्गेषु) सर्वस्य जगतोऽङ्गमङ्गं प्रतिनिष्ठामि तथा चात्मानमात्मानं प्रतिनिष्ठामि (प्रतिप्राणेषु) प्रणं प्राणं प्रत्येवं पुष्टं पुष्टं पदार्थं प्रतिनिष्ठामि (प्रति द्यावापृथिव्योः) दिवं दिवं प्रति पृथिवीं पृथिवीं प्रति च तिष्ठामि (यज्ञे) तथा यज्ञं यज्ञं प्रतिनिष्ठाम्यहमेव सर्वत्र व्यापकोऽस्मीति । मामिष्टदेवं समाश्रित्य ये राजधर्ममनुसरन्ति तेषां सदैव विजयाभ्युदयो भवतः । एवं राजपुरुषैश्चापि प्रजापालने सर्वत्र न्यायविज्ञानप्रकाशो रक्षणो यो यतोऽन्यायाविद्या विनाशः स्यादिति ॥ १० ॥ (चातारमिन्द्रं) यं विश्वस्य चातारं रक्षकं परमेश्वर्यवन्तं (सुहवश्शूरमिन्द्रं) सुहवं शोभनयुद्धकारिणमत्यंतशूरम् जगतो राजानमनन्तबलवन्तं (शक्रं) शक्तिमंतं शक्तिप्रदं च (पुरुहूतं) बहुभिः शूरैः सुसेवितं (इन्द्रं) न्यायेन राज्यपालकं (इन्द्र-

हवेहवे) युद्धेयुद्धे स्वविजयार्थं । इन्द्रं परमात्मानं (हूयामि) आहूयामि
आश्रयामि (स्वस्तिनोमघवाधात्विन्द्रः) स परमधनप्रदातेन्द्रः सर्वशक्ति-
मानीश्वरः सर्वेषुराज्यकार्येषु नो ऽस्मभ्यं स्वस्ति (धातु) निरन्तरं विजय
सुखं दधातु ॥ ११ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(प्रतिज्ञे प्रतिष्ठामि राष्ट्र) जो मनुष्य इस प्रकार के उत्तम पुरुषों की
सभा से न्याय पूर्वक राज्य करते हैं उन के लिये परमेश्वर प्रतिज्ञा करता है
कि हे मनुष्यो तुम लोग धर्मात्मा होके न्याय से राज्य करो क्योंकि जो
धर्मात्मा पुरुष है मैं उन के तत्रधर्म और सब राज्य में प्रकाशित रहता हूँ
और वे सदा मेरे समीप रहते हैं (प्रत्यश्वेषु प्रतिष्ठामि गोषु) उन की सेना
के अश्व और गौ आदि पशुओं में भी मैं स्वसत्ता से प्रतिष्ठित रहता हूँ (प्रत्य-
ह्नेषु प्रतिष्ठाम्यात्मन्) तथा सब सेना राजा के अंगों और उन के आत्माओं के
बीच में भी सदा प्रतिष्ठित रहता हूँ (प्रतिप्राणेषु प्रतिष्ठामि पुष्टे) उन के प्राण
और पुष्ट व्यवहारों में भी सदा व्यापक रहता हूँ (प्रतिद्यावापृथिव्याः प्रति-
ष्ठामि यज्ञे) जितना सूर्यादि प्रकाशरूप और पृथिव्यादि अप्रकाशरूप जगत् तथा
जो अश्वमेधादि यज्ञ हैं इन सब के बीच में भी मैं सर्वदा व्यापक होने से
प्रतिष्ठित रहता हूँ इस प्रकार से तुम लोग मुझ को सब स्थानों में परिपूर्ण
देखो ॥ १० ॥ जिन लोगों की ऐसी निष्ठा है उन का राज्य सदा बढता रहता
है (ज्ञातारमिन्द्रं) जिन मनुष्यों को ऐसा निश्चय है कि केवल परमेश्वर्यवान्
परमात्माही हमारा रक्षक है (अविता) जो ज्ञान और आनन्द का देने वाला
है (सहवःशूरमिन्द्रहवेहवे) वही इन्द्र परमात्मा प्रति युद्ध में जो उत्तम
युद्ध करानेवाला शूरवीर और हमारा राजा है (हूयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं) जो
अनन्त पराक्रम युक्त ईश्वर है जिस का सब विद्वान् वेदादि शास्त्रों से प्रति-
पादन और दृष्ट करने हैं वही हमारा सब प्रकार से राजा है (स्वस्तिनो
मघवा धात्विन्द्रः) जो इन्द्र परमेश्वर मघवा अर्थात् परम विद्यारूप धनी
और हमारे लिये विजय आदि सब सुखों का देनेवाला है जिन मनुष्यों को
ऐसा निश्चय है उन का पराजय कभी नहीं होता ॥

इमं देवा असपत्नस्सुवर्ध्वं म॒ह॒ते ल॒वायं म॒ह॒ते ज्यै॒ष्ठाय म॒ह॒-
तेजानं॑रा॒ज्यायेन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय ॥ इ॒मम॑मु॒धं पु॒त्रम॑मु॒धै पु॒त्रम॑स्यै वि॒श
॒ष्वोमो॑ रा॒जा सोमो॑ ऽस्माकं ब्राह्म॒णाना॑रा॒जा ॥ १२ ॥ य० अ०
८ सं० ४० ॥ इन्द्रो॑ जयाति॒न परा॑जयाता अधि॒राजो॑ राज॒सु राज॑यातै ।
च॒र्कत्य॑ई॒ष्टो ब॒न्ध्य॑श्चे॒पस॑द्यो नम॒स्यो भ॒वे॒ह ॥ १३ ॥ त्वमिन्द्राधि॑-

राजः श्रवस्युत्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् । त्वं दैवीर्विशं इमा विराजा
युष्मत्पुत्रमजरंते अस्तु ॥ १४ ॥ अथर्व० कां० ६ अनु० १० व० ८८ ।

मं० । १ । २ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(देवाः) हे देवा विद्वांसः सभासदः (महते क्षत्राय) अतुल-
राजधर्माय (महते ज्येष्ठाय) अत्यंतज्ञानवृद्धव्यवहारस्थापनाय (महते-
जानराज्याय) जनानां विदुषां मध्ये परमराज्यकरणाय (इन्द्रस्येन्द्रियाय)
सूर्यस्य प्रकाशवज्रायव्यवहारप्रकाशनायान्यायान्यकारविनाशाय (अस्यै
विशे) वर्तमानायै प्रजायै यथावत्सुखप्रदानाय (इमं) (असपत्नः सुवध्वम्)
इमं प्रत्यक्षं शूद्रवरहितं निष्कण्टकमुत्तमराजधर्मं सुवध्वमीशिध्वमैश्वर्य-
सहितं कुरुत यूयमप्येवं जानीत (सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा) वेद-
विदां सभासदां मध्ये यो मनुष्यः सोम्यगुणसंपन्नः सकलविद्यायुक्तोऽस्ति स
एव सभाध्यक्षत्वेन स्वीकृतः सन् राजास्तु । हे सभासदः (अमी) ये
प्रजास्थामनुष्याः सन्ति तान्प्रत्यप्येवमाज्ञाश्राव्या (एषवो राजा) अस्माकं
वो युष्माकंचससभासत् कायं राजसभाव्यवहार एव राजास्तीति । एत-
दर्थं वयं (इमममुष्यपुत्रममुष्यै पुत्रं) प्रख्यातनाम्नः पुरुषस्य प्रख्यातना-
म्न्याः स्त्रियाश्च संतानमभिषिच्याध्यक्षत्वे स्वीकुर्महेति ॥ १२ ॥ (इन्द्रो
जयाति) स एवेन्द्रः परमेश्वरः सभाप्रबन्धो वा जयाति विजयेत्यर्थं सदा
प्राप्नोतु (न पराजयाते) समाकृदाचित्पराजयं प्राप्नोतु (अधिराजो राजसु
राजयाते) स राजाधिराजोविश्वस्येश्वरः सर्वेषु चक्रवर्तिराजसु माण्डलिकेषु
वा स्वकीयसत्यप्रकाशन्यायेन सहास्माकं मध्ये सदा प्रसिध्यताम् । (च-
कृत्यः) यो जगदीश्वरः सर्वैर्मनुष्यैः पुनः पुनरुपासनायोग्योऽस्ति (ईड्यः)
अस्माभिः स एवैकः स्तोतुं योग्यः (वन्द्यश्च) पूजनीयः (उपसद्यः)
समाश्रयितुं योग्यः (नमस्यः) नमस्कर्तुं योग्योऽस्ति (भवेह) हे महारा-
जेश्वर त्वमुत्तमप्रकारेणास्मिन् राज्ये सत्कृतो भव (भवत्सत्कारेण सह वर्-
तमानावयमप्यस्मिन् चक्रवर्तिराज्ये सदा सत्कृता भवेम) ॥ १३ ॥ (त्वमि-
न्द्राधिराजः अवस्युः) हे इन्द्र परमेश्वर त्वं सर्वस्य जगताधिराजोऽसि
अवइवाचरतीति सर्वस्य श्रोता च स्वकृपया मामपि तादृशं कुरु (त्वं
भूरभिभूतिर्जनानाम्) हे भगवन् त्वं भूः सदा भवसि यथा जनानामभिभू-
तिरभीष्टस्यैश्वर्यस्य दातासि तथा मामप्यनुग्रहेण करोतु (त्वं दैवीर्विशं
इमा विराजाः) हे जगदीश्वर यथा त्वं दिव्यगुणसंपन्ना विविधोत्तमराजपा-

लिताः प्रत्यक्षविषया प्रजाः सत्यन्यायेन पालयसि तथा मामपि कुरु (युष्मत्तन्त्रमजरं ते अस्तु) हे महाराजाधिराजेश्वर तव यदिदं सनातनं राजधर्मयुक्तं नाशरहितं विश्वरूपं राष्ट्रमस्ति तदिदं भवद्गतमस्माकमस्त्विति याचितः सन्नाशीर्ददातीदं मदचितं भूगोलाख्यं राष्ट्रं युष्मदधीनमस्तु ॥ १४ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(इमं देवा असपत्न०) अब ईश्वर सब मनुष्यों को राज्यव्यवस्था के विषय में आज्ञा देता है कि हे विद्वान् लोगो तुम इस राज धर्म को यथावत् जानकर अपने राज्य का ऐसा प्रबंध करो कि जिससे तुम्हारे देश पर कोई शत्रु न आजाय (महते तन्नाप०) हे शूरवीर लोगो अपने क्षत्रिय धर्म चक्रवर्ति राज्य श्रेष्ठ कीर्ति सर्वोत्तम राज्य प्रबंध के अर्थ (महतेजान राज्याय) सब प्रजा को विद्वान् करके ठीक २ राज्यव्यवस्था में चलाने के लिये तथा (इन्द्रस्येन्द्रियाय) बड़े ऐश्वर्य्य सत्य न्याय के प्रकाश करने के अर्थ (सुवध्वं) अच्छे २ राज्य संबंधी प्रबंध करो कि जिनसे सब मनुष्यों को उत्तम सुख बढ़ता जाय ॥ १२ ॥ (इन्द्रो जयाति) हे बंधु लोगो जो परमात्मा अपने लोगों का विजय कराने वाला (न पराजयाता) जो हम को दूसरों से कभी हारने नहीं देता (अधिराजो) जो महाराजाधिराज (राजसु राजयातै) सब राजाओं के बीच में प्रकाशमान होकर हमको भी भूगोल में प्रकाशमान करने वाला है (चर्कृत्यः) जो आनन्द स्वरूप परमात्मा सब जगत् को सुखों से पूर्ण करने हारा तथा (ईदो वन्द्यश्च) सब मनुष्यों को स्तुति और वंदना करने के योग्य (उपसन्नो नमस्यः) सबको शरण लेने और नमस्कार करने के योग्य है (भवेह) सोही जगदीश्वर हमारा विजय कराने वाला रक्त न्यायाधीश और राजा है इसलिये हमारी यह प्रार्थना है कि हे परमेश्वर आप कृपा करके हम सबों के राजा हूजिये और हम लोग आप के पुत्र और भृत्य के समान राज्याधिकारी हो कर आप के राज्य को सत्यन्याय से सुशोभित करें ॥ १३ ॥ (त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युः) हे परमेश्वर आप ही सब संसार के अधिराज और आप्तों के समान सत्यन्याय के उपदेशक (त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम्) आप ही सदा नित्यस्वरूप और सज्जन मनुष्यों को राज्य ऐश्वर्य्य के देने वाले (त्वं देवीर्विश इमा विराजाः) आप ही इन विविध प्रजाओं को सुधारने और दुष्ट राजाओं का युद्ध में पराजय कराने वाले हैं (युष्मत्तन्त्रमजरं ते अस्तु) हे जगदीश्वर आप का राज्य नित्य तरुण बना रहे कि जिससे सब संसार को विविध प्रकार का सुख मिले इस प्रकार जो मनुष्य अपने सत्य प्रेम और पुरुषार्थ से ईश्वर की भक्ति और उसकी आज्ञा पालन करते हैं उन को वह आशीर्वाद देता है कि मेरे रहे हुए भूगोल का राज्य तुम्हारे आधीन हो ॥ १४ ॥

स्थिरावः सन्त्वायुधापराणुदेवीळ् उतप्रतिष्कभे । युष्माकं-
 मस्तु तविषीपर्नायसीमा मर्त्यस्य मायिनः ॥ १५ ॥ ऋ० अ० १ अ०
 ३ व० १८ मं० २ ॥ तं सभाच समितिश्च सेनाच ॥ १६ ॥ अथर्व०
 कां० १५ अनु० २ व० ८ मं० २ ॥ इमं वीरमनुर्ध्वध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो
 अनुसंरभध्वम् । ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्मप्रमृणन्त-
 मोजसा ॥ १७ ॥ अथर्व० कां० ६ अनु० १० व० ८७ मं० ३ ॥
 सभ्यंभामं मे पाहि येच सभ्याः सभासदः । त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायु-
 र्यद्भवम् ॥ १८ ॥ अ० कां० १८ अनु० ७ व० ५५ मं० ६ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(स्थिरावः०) अस्यार्थप्रार्थेनाविषयउक्तः ॥ १५ ॥ (तं सभा च)
 राजसभा प्रजाच तं पूर्वाक्तं सर्वराजाधिराजं परमेश्वरं तथा सभाध्यक्ष-
 मभिषिच्य राजानं मन्येत (समितिश्च) तमनुश्रित्यैव समितिर्युद्धमाचरणीयम्
 (सेनाच) तथा वीरपुरुषाणां या सेना सऽपि परमेश्वरं स सभाध्यक्षां सभां
 स्वसेनानां चानुश्रित्य युद्धं कुर्यात् ॥ १६ ॥ ईश्वरः सर्वान्मनुष्यान्प्रत्युप-
 दिशति (सखायः) हेसखायः (इमं वीरमुग्रमिन्द्रं) शशणां हन्तारं युद्ध-
 कुशलं निर्भयं तेजस्विनं प्रतिराजपुरुषं तथेन्द्रं परमैश्वर्य्यदन्तं परमेश्वरं
 (अनुहर्षध्वं) सर्वेयूयमनुमोदध्वमेवं कृत्वैव दुष्टशत्रूणां पराजयार्थं (अनु-
 संरभध्वं) युद्धारम्भं कुरुत कथंभूतं तं (ग्रामजितं) येन पूर्वं शत्रूणां समूहा
 जिताः (गोजितं) येनेन्द्रियाणि पृथिव्यादिकं च जितं (वज्रबाहुं) वज्रः
 प्राणोबलं बाहुर्यस्य (जयन्तं) जयं प्राप्नुवन्तं (प्रमृणन्तमोजसा) ओजसा
 बलेन शत्रून् प्रवृष्टतया हिंसन्तं (अज्म) वयं तमाश्रित्य सदा विजयं
 प्राप्नुमः ॥ १७ ॥ (सभ्यसभामं मे पाहि) हे सभायां साथो परमेश्वर मे मम
 सभां यथावत् पालय । मइत्यस्मच्छब्दनिर्देशात्सर्वान्मनुष्यानिदंवाक्यं गृह्णा-
 तीति (ये च सभ्याः सभासदः) ये सभाकर्मसु साधवश्चतुराः सभायां
 सीदन्ति ते ऽस्माकं पूर्वाक्तां विविधां सभां पान्तु यथावद्वदन्तु (त्वयेद्गाः-
 पुरुहूत) हे बहुभिः पूजित परमात्मन् त्वया सहये सभाध्यक्षाः सभा-
 सदद्गादृतं राजधर्मज्ञानं गच्छन्ति तथैव सुखं प्राप्नुवन्ति ॥ (विश्वमा-

युर्व्यश्नवम्) एवं सभापालितोऽहं सर्वजानः शतवार्षिकं सुखयुक्तमायुः प्राप्नुयाम् ॥ १८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(स्थिरावः सन्त्वायुधा०) इस मंत्र का अर्थ प्रार्थनादि विषय में कर दिया है ॥ १५ ॥ (तं सभा च) प्रजा तथा सब सभासद् सब राजाओं के राजा परमेश्वर को जान के सब सभाओं में सभाध्यक्ष का अभिषेक करें (समितिश्च) सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और सर्वोपकारक धर्म का ही आश्रय करके युद्ध करें तथा (सेना च) जो सेना सेनापति और सभाध्यक्ष हैं वे सब सभा के आश्रय से विचारपूर्वक उत्तम सेना को बना के सदैव प्रजापालन और युद्ध करें ॥ १६ ॥ ईश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि (सखायः) हे बन्धु लोगो (इमं वीरं) हे शूरवीर लोगो न्याय और दृढ़ भक्ति से अनंत बलवान् परमेश्वर को इष्ट करके (अनुहर्षध्वं) शूरवीर लोगों को सदा आनन्द में रक्खो (उद्यमिन्द्रं) तुमलोग अत्यंत उद्य परमेश्वर के सहाय से एक संमति होकर (अनुसरभध्वं) दुष्टों को युद्ध में जीतने का उपाय रत्ना करो (ग्रामजितं) जिसने सब भूगोल तथा (गोजितं) सब के मन और इन्द्रियों को जीत रक्खा है (वज्रबाहुं) प्राण जिस के बाहु और (जयन्तं) जो हम सब को जिताने वाला है (अजम्) उसी को इष्ट जान के हम लोग अपना राजा मानें (ऽमृणतमोजसा) जो अपने अनंत पराक्रम से दुष्टों का पराजय करके हम को सुख देता है ॥ १७ ॥ (सभ्यसभां मे पाहि) हे सभा के योग्य परमेश्वर आप हम लोगों की राजसभा की रक्षा कीजिये (ये च मभ्याः सभामदः) हम लोग जो सभा के सभासद् हैं सो आप की कृपा से सभ्यता युक्त होकर अच्छी प्रकार से सत्य न्याय की रक्षा करें (त्वयेद्वाः पुरुहूत०) हे सबके उपाम्य देव (विश्वमायुश्ववम्) हम लोग आप ही के सहाय से आप की आज्ञा को पालन करते रहें जिससे संपूर्ण आयु को सुख से भोगें ॥ १८ ॥

जनिष्ठा उग्रः सृष्टे तुरायेति सूक्तमुग्रवत्सह स्वत्तत्त्वस्य रूपं मन्द्र ओजिष्ठ इत्योजस्वत्तत्त्वस्य रूपम् ॥ १ ॥ वृहत्पृष्ठं भवति त्वचं वै वृहत्त्वचेणैव तत्त्वचं समर्ध यत्यथोत्तचं वै वृहदात्मा यजमानस्य निष्केवल्यं तद्यद्वृहत्पृष्ठं भवति ॥ २ ॥ ब्रह्म वै रथन्तरं त्वचं वृहद्ब्रह्माणि खलु वै त्वचं प्रतिष्ठितं त्वचे ब्रह्म ॥ ३ ॥ ओजोवा इन्द्रियं वीर्यं पंचदश ओजः त्वचं वीर्यं राजन्यस्तदेनमोजसा त्वचेण वीर्येण समर्धयति तद्भारद्वाजं भारद्वाजं वै वृहत् ॥ ४ ॥ ऐ० पं० ८ कं० २ । ३ । तानाह मनुराज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वा-

राज्याय वैराज्याय पारमेष्ठाय राज्याय माह्वाराज्यायाधिपत्याय
स्वावश्यायातिष्ठायां रोक्षामीति ॥ ५ ॥ नमो ब्रह्मणे नमो ब्रह्मणे
नमो ब्रह्मणे इति त्रिष्कृत्यो ब्रह्मणे नमस्करोति । ब्रह्मण एव तत्त्वचं
वशमेति तद्यच्च वै ब्रह्मणः त्वचं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तदीरव-
दाक्षास्मिन् वीरो जायते ॥ ६ ॥ ऐ० पंचि० ८ । कं० ६ । ७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

इयं राजधर्मव्याख्या वेदरीत्या संचेपेण लिखिता ऽतो ऽयं ऐतरेय
शतपथब्राह्मणादिग्रन्थरीत्या संचेपतो लिख्यते । तद्यथा । (जनिष्ठा उयः०)
राजसभायां जनिष्ठा अतिशयेन जना विद्वांसो धर्मात्मानः श्रेष्ठप्रकृतीन्
मनुष्यान्प्रति सदा सुखदास्सेभ्या भवेयुः । तथा दुष्टान्प्रत्युद्योव्यवहारो
धार्य्यइति कृतो यद्राजकर्मस्ति तद्विविधं भवत्येकं सहस्वद्वितीयमुय-
वदर्थः त्वक्चिद्वेशकालवस्त्वनुसारेण सहनं कर्तव्यम् । क्वचित्तद्विषय्ये
राजपुरुषैर्दुष्टेषूप्येदंडो निपातनीयश्चेतत्त्वचस्य धर्मस्य स्वरूपं भवति तथा
(मन्द्र ओजिष्ठः०) उतमकर्मकारिभ्य आनन्दकरो दुष्टेभ्यो दुःखप्रदश्चात्यु-
तमवीरपुरुषसेनादिपदार्थसामग्र्यासहितो यो राजधर्मोस्ति सच त्वचस्य
स्वरूपमस्ति ॥ १ ॥ (बृहत्पृष्ठ०) यत्त्वचं कर्म तत्सर्वेभ्यः कृत्येभ्यो बृह-
न्महदस्ति तथा पृष्ठमर्थान्निर्बलानां रक्षकं सत् पुनस्तमसुखकारकं भवति ।
एतेनोक्तेन च त्वचराजकर्मणा मनुष्यो राजकर्मं वर्द्धयति नातो ऽन्यथा
त्वचधर्मस्य वृद्धिर्भवितुमर्हति । तस्मात्त्वचं सर्वस्मात्कर्मणो बृहद्यजमानस्य
प्रजास्थस्य जनस्य राजपुरुषस्य वात्मात्मवदानन्दप्रदं भवति तथा सर्वस्य
संसारस्य निष्केवल्यं निरंतरं केवलसुखं संपादयितुं यतः समर्थं भवति त-
स्मात्त्वचकर्म सर्वेभ्यो महतरं भवतीति ॥ २ ॥ (ब्रह्मवै रथन्तरं०) ब्रह्म-
शब्देन सर्वविद्यायुक्तो ब्राह्मणवर्णो गृह्यते तस्मिन् खलु त्वचधर्मः
प्रतिष्ठितो भवति नैव कदाचित्सत्यविद्याया विना त्वचधर्मस्य वृद्धिरक्षणे
भवतः तथा (त्वचे ब्रह्म) राजन्ये ब्रह्मा ऽर्थात् सत्यविद्याप्रतिष्ठिता
भवति । नैवास्माद्विना कदाचिद्विद्याया वृद्धिरक्षणे संभवतस्तस्माद्विद्या
राजव्यहारो मिलित्वैव राष्ट्रसुखोन्नतिं कर्तुं शक्नुतइति ॥ ३ ॥ (ओजो
वा इन्द्रियं०) राजपुरुषैर्बलपराक्रमवन्तीन्द्रियाणि सदैव रक्षणीयान्यर्था-
ज्जितेन्द्रियतयेव सदैव वर्तिष्यम् । कुत ओजएव त्वचं वीर्य्यमेव

राजन्यइत्यु क्त्वात् । ततस्मादोजसा क्षत्रेण वीर्येण राजन्येनेन राज-
धर्मं मनुष्यः समर्द्धयति सर्वसुखैरेधमानं करोतीदमेव भारद्वाजं भर-
णीयं बृहदर्थान्महत्कर्मस्तीति ॥ ४ ॥ (तानाह मनुराज्याय०) सर्वे
मनुष्या एवमिच्छां कृत्वा पुरुषार्थं कुर्युः । परमेश्वरानुग्रहेणाहमनुरा-
ज्याय सभाध्यक्षत्वप्राप्तये तथा माण्डलिकानां राज्ञामुपरि राजसत्ताप्राप्तये
(साम्राज्याय) सार्वभौमराज्यकरणाय (भौज्याय) धर्मन्यायेन राज्यपाल-
नायोनमभोगाय च (स्वाराज्याय) स्वस्मै राज्यप्राप्तये (वैराज्याय) विवि-
धानां राज्ञामध्ये महत्त्वेन प्रकाशाय (पारमेष्ठ्याय) परमराज्यस्थितये
(माहाराज्याय) महाराज्यसुखभोगाय तथा (आधिपत्याय) अधिपतित्व-
करणाय (स्वावश्याय) स्वार्थप्रजावशत्वकरणाय च । (अतिष्ठायां)
अत्युत्तमा विद्वांसस्तिष्ठन्ति यस्यां सा अतिष्ठासभातस्यां सर्वैर्गुणैः सुखैश्च
रोहामि वर्द्धमानो भवामीति ॥ ५ ॥ (नमो ब्रह्मणे०) परमेश्वराय त्रिवारं
चतुर्वारं वा नमस्कृत्य राजकर्मरम्यं कुर्यात् । यत् क्षत्रं ब्रह्मणः परमेश्व-
रस्य वशमेति तद्वाष्ट्रं समृद्धं सम्यक् ऋद्धियुक्तं वीरवद् भवति । तस्मिन्नेव
राष्ट्रे वीरपुरुषो जायते नान्यचेत्याह परमेश्वरः ॥ ६ ॥ ॥ भाषार्थः ॥

इस प्रकार वेदरीति से राजा और प्रजा के धर्म संक्षेप से कह चुके
इस के आगे वेद की मनातन व्याख्या जो ऐतरेय और शतपथब्राह्मणादि
ग्रंथ हैं उन की सारी भी यहां लिखते हैं (जनिष्ठा उच्यते) राजाओं की सेना
और सभा में जो पुरुष हैं, वे सब दुष्टों पर तेजधारी श्रेष्ठों पर शान्तरूप
सुख दुःख के सहन करने वाले और धन के लिये अत्यंत पुरुषार्थी हैं क्योंकि
दुष्टों पर क्रुद्ध स्वभाव और श्रेष्ठों पर सहनशील होना यही राज्य का स्वरूप
है ॥ १ ॥ (मन्द्र आजिष्ठ०) जो आनंदित और पराक्रम युक्त होना है वही
राज्य का स्वरूप है क्योंकि राज्यव्यवहार सब से बड़ा है इस में शूर वीर
आदि गुणयुक्त पुरुषों की सभा और सेना रख कर अच्छी प्रकार राज्य को
बढ़ाना चाहिये ॥ २ ॥ (ब्रह्मवै रथन्तरं०) ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेदविद्या
से युक्त जो पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण है वही राज्य के प्रबंधों में सुख प्राप्ति का
हेतु होता है इस लिये अच्छे राज्य के होने से ही सत्यविद्या प्रकाश को प्राप्त
होती है । उत्तम विद्या और न्याय युक्त राज्य का नाम आज है जिस को दंड के
भय से उलंघन वा अन्यथा कोई नहीं कर सकता क्योंकि आज अर्थात् बल
का नाम क्षत्र और पराक्रम का नाम राजन्य है ये दोनों जब परस्पर मिलते
हैं तभी संसार की उन्नति होती है इस के होने और परमेश्वर की कृपा
से मनुष्य के राजकर्म चक्रवर्त्ति राज्य, भोग का राज्य, अपना राज्य, विविध
राज्य, परमेश्ठि राज्य, प्रकाशरूप राज्य, महा राज्य, राजों का अधिपतिरूप

राज्य, और अपने वश का राज्य इत्यादि उत्तम २ सुख बढ़ते हैं इस लिये उस परमात्मा को मेरा वारंवार नमस्कार है कि जिस के अनुग्रह से हम लोग इन राज्यों के अधिकारी होते हैं ॥ ८ ॥

स प्रजापतिका अयं वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सद्भिष्टः सत्तमः
पारयिष्णुतम इममेवाभिषिंचा महा इति तथेति तद्वैतदिन्द्रमेव ॥ ७ ॥
सम्राजं साम्राज्यं भोजं भोजपितरं स्वराजं स्वाराज्यं विराजं
वैराज्यं राजानं राजपितरं परमेष्ठिनं पारमेष्ठ्यं क्षत्रमजनि क्षत्रियो
ऽजनि विश्वस्य भूतस्याधिपति रजनि विश्वमत्ता जनि पुरांभेत्ता
जन्मसुराणां हन्ता जनि ब्रह्मणो गोप्ता जनि धर्मस्य गोप्ता
जनीति । ऐ० पं० ८ कं० १२ ॥ स परमेष्ठी प्राजापत्यो ऽभवत् ॥ ८ ॥
ऐत० पं० ८ कं० १४ ॥ स एतेनैन्द्रेण महाभिषेकेणाभिषिक्तः
क्षत्रियः सर्वा जितीर्जयति सर्वान् लोकान् विंदति सर्वेषां राज्ञां श्रे-
ष्ठप्रतिष्ठां परमतां गच्छति साम्राज्यं भौराज्यं स्वाराज्यं वै राज्यं
पारमेष्ठ्यं राज्यं माह्वाराज्यमाधिपत्यं जित्वास्मिंल्लोके स्वयंभूः
स्वराडमृतो ऽमुस्मिन्त्वर्गलोके सर्वान् कामानाप्तामृतः संभवति
यमेतेनैन्द्रेण महाभिषेकेण क्षत्रियं शापयित्वा ऽभिषिंचति ॥ ९ ॥
ऐत० पं० ८ कं० १९ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(स प्रजापतिका०) सर्वे सभासदः प्रजास्यमनुष्याः स्वामिने-
ष्ट्रेण पूज्यतमेन परमेश्वरेणैव सह वर्तमाना भवेयुः । सर्वे मिलित्वैवं विचारं
कुर्युर्यतो न कदाचित्सुबह्वनिपराजयो स्याताम् । यो देवानां विदुषांमध्ये
(ओजिष्ठः) पराक्रमवत्तमः (बलिष्ठः) सर्वोत्कृष्टबलसहितः (सद्भिष्ठः)
अतिशयेन सहनशीलः (सत्तमः) सर्वैर्गुणैरत्यन्तश्रेष्ठः (पारयिष्णुतमः)
सर्वेभ्यो युद्धादिदुःखेभ्यो ऽतिशयेन सर्वास्तारयितृ तमे विजयकारक-
तमोऽस्माकं मध्ये श्रेष्ठतमोस्तीति वयं निश्चित्य तमेव पुरुषमभिषि-
ंचाम इतीच्छेयुः । तथैव खल्वस्त्विति सर्वे प्रति जानीयुरेवं भूतस्यो-
त्तमपुरुषस्याभिषेककरणं सर्वैश्चर्य्यप्रापकत्वादिन्द्रमित्याहुः ॥ ७ ॥ (समा-

जं०) एवंभूतं सार्वभौमराजानं (साम्राज्यं) सार्वभौमराज्यं (भोजं) उत्तमभोगसाधकं (भोजपितरं) उत्तमभोगानां रत्नकं (स्वराजं) राज-
कर्मसु प्रकाशमानं सद्ब्रिद्यादिगुणैस्त्वहृदये देदीप्यमानं (स्वाराज्यं) स्वकी-
यराज्यपालनं (विराजं) विविधानां राज्ञां प्रकाशकं (वैराज्यं) विविधरा-
ज्यप्राप्तिकरं (राजानं) श्रेष्ठैश्वर्येण प्रकाशमानं (राजपितरं) राज्ञां रत्नकं
(परमेष्ठिनं) परमोत्कृष्टराज्ये स्थापयितुं योग्यं (पारमेष्ठ्यं) परमेष्ठि
संपादितं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं वयमभिषिचामहे । एवमभिषिक्तस्य पुरुषस्य
सुखयुक्तं क्षत्रमजनि प्रादुर्भवतीति । अजनीति रुन्दसिलुङ् लङ्लिट
इति वर्तमानकाले लुङ् (क्षत्रियो जनि) तथा क्षत्रियो वीरपुरुषः
(विश्व०) सर्वस्य प्राणिमात्रस्याधिपतिः सभाध्यक्षः (विशामन्ता०)
दुष्टप्रजानामन्ता विनाशकः (पुरांभे०) शत्रुनगराणां विनाशकः (असुरणां
हन्ता) दुष्टानां हन्ता हननकर्ता (ब्रह्मणे०) वेदस्य रत्नकः (धर्मस्य
गो०) धर्मस्य च रत्नको जनि प्रादुर्भवतीति (स परमेष्ठी प्रा०) स राजधर्मः
सभाध्यक्षादिमनुष्यैः (प्राजापत्यः) अर्थात् परमेश्वरद्वष्टः करणीयः । न
तद्विज्ञेऽर्थः केन चिन्मनुष्येणैष्टः कर्तुं योग्योऽस्त्यतः सर्वे मनुष्याः परमे-
श्वरपूजकाः वेद्युः ॥ ८ ॥ यो मनुष्यो राज्यं कर्तुमिच्छेत्स (एतेनैन्द्रेण०)
पूर्वाक्तेन सर्वैश्वर्यप्राप्तिनिमित्तेन (महाभिषेकेणा०) अभिषिक्तः स्वीकृतः
(क्षत्रियः) क्षत्रधर्मवान् (सर्व०) सर्वेषु युद्धेषु जयति सर्वत्र विजयं
तथा सर्वानुत्तमालोकांश्च विन्दति प्राप्नोति सर्वेषां राज्ञां मध्ये श्रेष्ठ्यं
सर्वान्तमत्वं पूर्वाक्तामतिष्ठां या परेषु शत्रुषु विजयेन हर्षनिमिता तथा परेषां
शत्रूणां दीनत्वनिमिता सा परमतासभा तां वा गच्छति प्राप्नोति तथा
सभया पूर्वाक्तं साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं महाराज्यमाधि-
पत्यं राज्यं च जित्वाऽस्मिन् लोके चक्रवर्ति सार्वभौमो महाराजाधिराजो
भवति तथा शरीरं त्यक्त्वाऽमुष्मिन्स्वर्गे सुखस्वरूपे लोके परब्रह्मणि स्वयंभूः
स्वाधीनः (स्वराट्) स्वप्रकाशः (अमृतः) प्राप्नोति सुखः सन्सर्वान्कामा-
नाप्नोति (आप्राप्नोति) पूर्णकामोऽजरामरः संभवति (परमेनैन्द्रेण) एते-
नोक्तेन सर्वैश्वर्येण (शापयित्वा) प्रतिज्ञां कारयित्वायं सकलगुणोत्कृष्टं
क्षत्रियं (महाभिषे०) अभिषिचति सभासदः सभायां स्वीकुर्वति तस्य राष्ट्रं
कदाचिदनिष्टं न प्रसज्यत इति विज्ञेयम् ॥ ९ ॥

॥ भाषार्थ ॥

जो क्षत्र अर्थात् राज्य परमेश्वर आधीन और विद्वानों के प्रबन्ध में होता है वह सब सुखकारक पदार्थ और वीरपुरुषों से अत्यंत प्रकाशित होता

है (स प्रजापतिका०) और वे विद्वान् एक अद्वितीय परमेश्वर के ही उपासक होते हैं क्योंकि वही एक परमात्मा सब देवों के बीच में अनन्त विद्यायुक्त और अपार बलवान् है तथा अत्यन्त सहन स्वभाव और सब से उत्तम है वही हम को सब दुःखों के पार उतार के सब सुखों को प्राप्त करानेवाला है उसी परमात्मा को हम लोग अपने राज्य और सभा में अभिषेक करके अपना न्यायकारी राजा सदा के लिये मानते हैं तथा जिस का नाम इन्द्र अर्थात् परमेश्वर्य्य युक्त है वही हमारा सम्राट् अर्थात् चक्रवर्त्ती राजा और वही हम को भी चक्रवर्त्ति राज्य देनेवाला है जो पिता के सदृश सब प्रकार से हमारा पालन करनेवाला स्वराट् अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप और प्रकाश-रूप राज्य का देनेवाला है तथा जो विराट् अर्थात् सबका प्रकाशक विविध राज्य का देने वाला है उसी को हम राजा और सब राजाओं का पिता मानते हैं क्योंकि वही परमेश्वरी सर्वोत्तम राज्य का भी देनेवाला है ॥ उसी की ह्वासे मैं ने राज्य को प्रसिद्ध किया अर्थात् मैं तत्रिय और सब प्राणियों का अधिपति हुआ तथा प्रजाओं का संघट्ट दुष्टों के नगरों का भेदन असुर अर्थात् चोर डाकुओं का ताड़न ब्रह्म अर्थात् वेद विद्या का पालन और धर्म की रक्षा करनेवाला हुआ हूँ । जो तत्रिय इस प्रकार के गुण और सत्य कर्मों से अभिषिक्त अर्थात् युक्त होता है वह सब युद्धों को जीत लेता है तथा सब उत्तम सुख और लोकों का अधिकारी बन कर सब राजाओं के बीच में अत्यन्त उत्तमता को प्राप्त होता है जिस से इस लोक में चक्रवर्त्ति राज्य और लक्ष्मी को भोग के मरणान्तर परमेश्वर के समीप सब सुखों को भोगता है क्योंकि ऐन्द्र अर्थात् महा ऐश्वर्य्ययुक्त अभिषेक से तत्रिय को प्रतिज्ञापूर्वक राज्याधिकार मिलता है इसलिये जिस देश में इस प्रकार का राज्यप्रबंध किया जाता है वह देश अत्यन्त सुख को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

क्षत्रं वै स्त्रिष्टुत् ॥ क्षत्रं वै साम ॥ साम्राज्यं वै साम ॥

श० का० १२ अ० ८ ॥ ब्रा० २ ॥ ब्रह्म वै ब्राह्मणः क्षत्रं राजन्यस्तदस्य ब्रह्मणा च क्षत्रेण चोभयतः श्रीः परिगृहीता भवति । युद्धं वै राजन्यस्य वीर्य्यम् श० का० १३ । अ० १ । ब्रा० ५ ॥ राष्ट्रं वा अश्वमेधः ॥

श० का० १३ । अ० १ । ब्रा० ६ ॥ राजन्य एव शौर्य्यं महिमानं दधाति तस्मात्पुरा राजन्यः शूर इष्येति व्याधी महारथो जज्ञे ।

श० का० १३ अ० १ ॥ ब्रा० ८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(क्षत्रं वै०) क्षत्रमर्थाद्वाजसभाप्रबंधे यद्यथावत्प्रजापालनं क्रियते

तदेव स्वितृकृदर्थान्निष्ठसुखकारि (तत्र वै साम०) यद्वै दुष्टकर्मणामन्तकारि
तथा सर्वस्याः प्रजायाः सांत्वप्रयोगकर्तृ च भवति (साम्राज्यं वै०) तदेव
श्रेष्ठं राज्यं वर्णयन्ति (ब्रह्म वै०) ब्रह्मार्थाद्वेदं परमेश्वरं च वेत्ति स
एव ब्राह्मणो भवितुमर्हति । (तत्र२०) यो जितेन्द्रियो विद्वान् शौर्यादि-
गुणयुक्तो महावीरपुरुषः तत्रधर्मं स्वीकरोति स राजन्यो भवितुमर्हति ।
(तदस्य ब्रह्मणा०) तादृशैर्ब्राह्मणै राजन्यैश्च सहास्य राष्ट्रस्य सकाशादु-
भयतः श्रीराज्यलक्ष्मीः परितः सर्वतो गृहीता भवति नैवं राजधर्मानुष्ठा-
नेनास्याः श्रियः कदाचित्प्राप्तमभवत् । (युद्धं वै०) अचेदं
बोध्यं युद्धकरणमेव राजन्यस्य वीर्यं बलं भवति नानेन विना महाधनमुखयोः
कदाचित्प्राप्तिर्भवति । कुतः । निघंटु अ० २ खं० १० । संयामस्यैव महाधन-
संचत्वात् । महान्ति धनानि प्राप्नानि भवन्ति यस्मिन्स महाधनः संयामो ना-
स्माद्विना कदाचिन् महती प्रतिष्ठा महाधनं च प्राप्नुतः । (राष्ट्रं वा अश्वमेधः)
राष्ट्रपालनमेव तत्रियाणामश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति नः श्वं हत्वा तदङ्गानां
होमकरणं चेति ॥ (राजन्य एव०) पुरा पूर्वोक्तैर्गुणैर्युक्तो राजन्यो यदा शौर्यं
महिमानं दधाति तदा सार्वभौमं राज्यं कर्तुं समर्था भवति तस्मात्कारणाद्वा-
जन्यः शूरो युद्धोत्सुको निर्भयः (इष्यः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणो कुशलः (अति-
व्याधी) अत्यन्ताव्याधाः शत्रूणां हिंसकायोद्गारो यस्य (महारथः) महान्तो
भूजलान्तरिक्षगमनाय रथा यस्येति । यस्मिन् राष्ट्रे ईदृशो राजन्यो जज्ञे
जातोस्ति नैव कदाचित्तिस्मिन्भयदुःखे संभवतः ॥ १३ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(तत्र वै०) राजसभाप्रबंध मे जो यथावत् प्रजा का पालन किया जाता
है वही स्वितृकृत् अर्थात् अच्छी प्रकार चाहे हुए सुख का करनेवाला
होता है (तत्र वै सा०) जो राजकर्म दुष्टों का नाश और श्रेष्ठों का पालन
करनेवाला है वही साम्राज्यकारी अर्थात् राजसुख कारक होता है (ब्रह्म वै०)
जो मनुष्य ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर और वेद का जाननेवाला है वही ब्राह्मण
होने के योग्य है (तत्र२०) जो इन्द्रियों का जीतनेवाला पण्डित शूरतादि
गुणयुक्त श्रेष्ठ वीरपुरुष तत्रधर्म को स्वीकार करता है सो तत्रिय होने के
योग्य है (तदस्य ब्रह्मणा०) ऐसे ब्राह्मण और तत्रियों के साथ न्यायपालक
राजा को अनेक प्रकार से लक्ष्मी प्राप्त होती है और उस के खजाने की
हानि कभी नहीं होती । (युद्धं वै०) यहां इस बात को जानना चाहिये कि
जो राजा को युद्ध करना है वही उस का बल होता है उस के बिना
बहुत धन और सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती क्योंकि निघंटु में संयाम
ही का नाम महाधन है सो उसको महाधन इस लिये कहते हैं कि उस से

बड़े २ उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं क्योंकि विना संयाम के अत्यंत प्रतिष्ठा और धन कभी नहीं प्राप्त होता और जो न्याय से राज्य का पालन करना है वही क्षत्रियों का अश्वमेध कहाता है किंतु घोड़े को मार के उस के अंगों का होम करना यह अश्वमेध नहीं है (राजन्यएव०) पूर्वोक्त राजा जब शूरतारूप कीर्ति को धारण करता है तभी संपूर्ण पृथिवी के राज्य करने को समर्थ होता है इस लिये जिस देश में युद्ध को अत्यंत चाहनेवाला निर्भय शस्त्र अस्त्र चलाने में अति चतुर और जिस का रथ पृथिवी समुद्र और अंतरिक्ष में जाने आनेवाला हो ऐसा राजा होता है वहां भय और दुःख नहीं होते ॥

श्रीर्वै राष्ट्रम् ॥ श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम् ॥ क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम् ॥ विद्वैगभेराष्ट्रं पसेराष्ट्रमेव विश्वा हन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः ॥ विशमेव राष्ट्रा याद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमन्ति न पुष्टं पशुमन्यत इति । श० कां० १३ अ० २ ॥ ब्रा० ३ ॥

(श्रीर्वै राष्ट्रम्) या विद्याद्युत्तमगुणरूपा नीतिः सैव राष्ट्रं भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) सैव राज्यश्रीराष्ट्रस्य संभारो भवति (श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यम्) राष्ट्रस्य मध्यभागोऽपि श्रीरेवास्ति (क्षेमो वै रा०) क्षेमो यद्वक्ष्यं तदेव राष्ट्रस्य शयनवस्त्ररूपद्वयं सुखं भवति (विद्वैगभे०) विद्या प्रजा सा गभाख्यास्ति (राष्ट्रं पसे०) दद्राष्ट्रं तत्पसाख्यं भवति तस्माद्राष्ट्रसंबन्धिकर्म तद्विशिष्टप्रजायामाविश्यतामाहन्त्यासमन्तात्करग्रहणेन प्रजाया उत्तमपदार्थानां हरणं करोति (तस्माद्राष्ट्रीवि०) यस्मात्सभया विनैकाकी पुरुषो भवति तच्च प्रजा सदा पीडिता भवति तस्मादेकः पुरुषो राजा नैव कर्तव्यो नैकस्य पुरुषस्य राजधर्मानुष्ठाने यथावत् सामर्थ्यं भवति तस्मात्सभयेव राज्यप्रबंधः कर्तुं शक्योस्ति (विशमेव राष्ट्राया०) यच्चैको राजास्ति तच्च राष्ट्राय विशं प्रजामाद्यां भक्षणीयां भोज्यवताडितां करोति । यस्मात्स्वसुखार्थं प्रजाया उत्तमान्यदार्थान् गृह्णन् प्रजाये पीडां ददाति तस्मादेको राष्ट्री विशमन्ति (न पुष्टं पशुम०) यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा हन्तुमिच्छति तथैको राजा न मनः कश्चिदधिको भवेदिति ध्यानेन प्रजास्थस्य कस्य चिन्मनुष्यस्योत्कर्षं सहते तस्मात्समाप्रबंधयुक्तेन राज्यव्यवहारेणैव भद्रमित्येवं राजधर्मव्यवहारप्रतिपादकामन्त्रा बहवः सन्तीति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(श्रीर्वै राष्ट्रं) श्री जो है लक्ष्मी वही राज्य का स्वरूप सामग्री और मध्य है तथा राज्य का जो रक्षण करना है वही शोभा अर्थात् श्रेष्ठ भाग कहाता है राज्य के लिये एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहां सब प्रजा दुःखी और उस के उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है इसी से किसी की उन्नति नहीं होती इसी प्रकार सभा करके राज्य का प्रबंध आर्यों में श्रीमन्महाराज युधिष्ठिर पर्यंत बराबर चला आया है कि जिस की साती महाभारत के राजधर्म आदि ग्रंथ तथा मनुस्मृत्यादि धर्मशास्त्रों में यथावत् लिखी है उन में जो कुछ प्रतिपत्त किया है उस को छोड़ के बाकी सब अच्छा है क्योंकि वह वेदों के अनुकूल है और आर्यों की यह एक बात बड़ी उत्तम थी कि जिस सभा वा न्यायाधीश के सामने अन्याय हो वह प्रजा का दोष नहीं मानते थे किंतु वह दोष सभाध्यक्ष सभामद और न्यायाधीश का ही गिना जाता था इस लिये वे लोग सत्यन्याय करने में अत्यंत पुरुषार्थ करते थे कि जिस से आर्यावर्त के न्यायघर में कभी अन्याय नहीं होता था और जहां होता था वहां उन्होंने न्यायाधीशों को दोष देते थे यही सब आर्यों का सिद्धांत है अर्थात् इन्होंने वेदादि शास्त्रों की रीति से आर्यों ने भूगोल में करोड़ों वर्ष राज्य किया है इस में कुछ संदेह नहीं ॥ इति संक्षेपतो राजप्रजाधर्मविषयः ॥

॥ अथ वर्णाश्रमविषयः संक्षेपतः ॥

तत्र वर्णविषयो मन्त्रो ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीदित्युक्तस्तदर्थश्च तस्यायं शेषः ॥ वर्णो वृणोतेः ॥ १ ॥ नि० अ० २ खं० ३ । ब्रह्म हि ब्राह्मणः ॥ क्षत्रं क्षीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः ॥ २ ॥ शं० कां० ५ अ० १ ॥ ब्रा० १ ॥ बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः ॥ वीर्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहूवीर्यं वा एतदपांसुः ॥ शं० कां० ५ । अ० ४ । ब्रा० ३ ॥ इषवो वै रिवः ॥ ३ ॥ शं० कां० ५ अ० ४ ॥ ब्रा० ४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

वर्णोऽवृणोतेरिति निरुक्तप्रामाण्याद्वर्णीया धरीतुमर्हा गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं त्रियन्ते येने वर्णाः ॥ १ ॥ (ब्रह्म हि ब्राह्मणः) ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्तमानो विद्याद्युत्तमगुणयुक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति । तथैव (क्षत्रं क्षीन्द्रः) क्षत्रं क्षत्रिय-

कुलम् । यः पुरुषइन्द्रः परमेश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुक-
त्वाच्च प्रजापालनतत्परः (राजन्यः) क्षत्रियो भवितुमर्हति ॥ २ ॥
(मित्रः) सर्वभ्यः सुखदाता (वरुणः) उत्तमगुणकर्मधारणेन श्रेष्ठः ।
इमावेव क्षत्रियस्य द्वा बाहुवद् भवेताम् (वा) अथवा वीर्यं पराक्रमो
बलं चैतदुभयं राजन्यस्य क्षत्रियस्य बाहू भवतः । अपां प्राणानां यो
रस आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्यं वर्धते तस्य (इषवः)
बाणाः शस्त्रास्त्राणामुपलक्षणमेतत् । (दिद्यवः) प्रकाशकाः सदा
भवेयुः ॥ ३ ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब वर्णोश्रम विषय लिखा जाता है, इस में यह विशेष जानना
चाहिये कि प्रथम मनुष्यजाति सब की एक है सोभी वेदों से सिद्ध है इस
विषय का प्रमाण सृष्टिविषय में लिखदिया है तथा (ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीत्)
यह मंत्र सृष्टिविषय में लिख चुके हैं वर्णों के प्रतिपादन करनेवाले वेद
मंत्रों की जो व्याख्या ब्राह्मण और निरुक्तादि ग्रंथों में लिखी है वह कुछ
यहां भी लिखते हैं मनुष्यजाति के ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये वर्ण कहाते
हैं वेदरीति से इन के दो भेद हैं एक आर्य्य और दूसरा दस्यु इस विषय में
यह प्रमाण है कि (विज्ञानीह्यार्य्यान्ये च दस्यवो०) अर्थात् इस मंत्र से परमेश्वर
उपदेश करता है कि हे जीव तू आर्य्य अर्थात् श्रेष्ठ और दस्यु अर्थात् दुष्ट
स्वभाव युक्त डांकू आदि नामों से प्रसिद्ध मनुष्यों के ये दो भेद जानले तथा
(उत शूद्रे उत आर्य्ये) इस मंत्र से भी आर्य्य ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और अनार्य्य
अर्थात् अनाड़ी जो कि शूद्र कहाते हैं ये दो भेद जाने गये हैं तथा (असुर्या-
नामते लोका०) इस मंत्र से भी देव और असुर अर्थात् विद्वान् और मूर्ख ये दो
हो भेद जाने जाते हैं और इन्हीं दोनों के विरोध को देवासुर संशाम कहते
हैं ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार भेद गुण कर्मों से किये गये हैं
(वर्णो०) इन का नाम वर्ण इसलिए है कि जैसे जिस के गुण कर्म हो वैसेही
उस को अधिकार देना चाहिये (ब्रह्महि ब्रा०) ब्रह्म अर्थात् उत्तम कर्म करने
से उत्तम विद्वान् ब्राह्मणवर्ण होता है (क्षत्रहि०) परमेश्वर्य्य (बाहू०)
बल वीर्य्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण होता है जैसा कि राजधर्म में
लिख आये हैं ॥

आश्रमा अपि चत्वारः सन्ति । ब्रह्मचर्य्य गृहस्थ वानप्रस्थ संन्या-
समेदात् । ब्रह्मचर्य्येण सद्भिद्या शिवा च ग्राह्या । गृहाश्रमेणोत्तमाचरणानां
श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्य्या । वानप्रस्थेनैकांतसेवनं ब्रह्मोपासनं
विद्याफलविचारणादि च कार्य्यम् । संन्यासेन परब्रह्ममोक्षपरमानन्दप्रा-
प्यं क्रियते सदुपदेशेन सर्वस्मा आनन्ददानं चेत्यादि चतुर्भिराश्रमैर्धर्मा-

र्थकाममोक्षाणां सम्यक् सिद्धिः संपादनीया । एतेषां मुख्यतया ब्रह्मचर्य्येण
सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग्ग्राह्याः ॥ अत्र ब्रह्मचर्य्याश्रमे प्रमाणम् ॥

आचार्य्यं उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ॥ तं
राचींस्तिस्त्र उदरं विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ १ ॥
इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीया तान्तरिक्षं समिधा पृणाति ॥ ब्रह्मचारी
समिधा मेखलया अग्नेण लोकां स्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥ पूर्वा
जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ॥ तस्माज्जातं
ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ३ ॥ अथर्व०
का० ११ अनु० ३ व० ५ मं० । ३ । ४ । ५ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(आचार्य्य उ०) आचार्य्यो विद्याध्यापको ब्रह्मचारिणमुपनयमानो
विद्यापठनार्थमुपवीतं दृढव्रतमुपदिशन्नन्तर्गर्भमिव कृणुते करोति । तं
तिस्रो राचींस्तिदिनपर्य्यन्तमुदरे विभर्ति । अर्थात् सर्वां शिक्षां करोति
पठनस्यचरीतिमुपदिशति । यदा विद्यायुक्तो विद्वान् जायते तदा तं
विद्यासु जातं प्रादुर्भूतं देवा विद्वांसो द्रष्टुमभिसंयन्ति प्रसन्नतया तस्य
मान्यं कुर्वन्ति । अस्माकं मध्ये महाभाग्योदयेनेश्वरानुग्रहेण च सर्वमनुष्यो-
पकारार्थं त्वं विद्वान् जातइति प्रशंसन्ति ॥ १ ॥ (इयं समित्०) इयं पृथि-
वी द्यौः प्रकाशेन्तरिक्षं चानया समिधा स ब्रह्मचारी पृणाति तत्रस्थान्स-
र्वान्प्राणिनो विद्याया हेमेन च प्रसन्नान् करोति (समिधा) अग्निहोत्रादिना
मेखलया ब्रह्मचर्य्यचिन्हधारणेन च (अग्नेण) परिश्रमेण (तपसा) धर्मा-
नुष्ठानेनाध्यापनेनोपदेशेन च (लोकां०) सर्वान्प्राणिनः पिपर्ति पुष्टान्प्रसन्ना-
न्करोति ॥ २ ॥ (पूर्वा जातो ब्रह्म०) ब्रह्मणि वेदे चरितुं शीलं यस्य स
ब्रह्मचारी (घर्मं वसानः) अत्यन्तं तपश्चरन् । ब्राह्मणोऽर्थाद्वेदं परमेश्वरं
च विदन् पूर्वः सर्वेषामाश्रमाणामादिमः सर्वाश्रमभूषकः (तपसा) धर्मा-
नुष्ठानेन (उदतिष्ठत्) ऊर्ध्वं उत्कृष्टबोधे व्यवहारे च तिष्ठति तस्मात्कारणात्
(ब्रह्म ज्येष्ठं) ब्रह्मैव परमेश्वरोविद्या वा ज्येष्ठा सर्वोत्कृष्ठा यस्य तं ब्रह्म
ज्येष्ठम् । अमृतेन परमेश्वरमोक्षबोधेन परमानन्देन साकं सहवर्तमानं
(ब्राह्मणं) । ब्रह्मविदं (जातं) प्रसिद्धं (देवाः) सर्वे विद्वांसः प्रशं-
सन्ति ॥ ३ ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब आगे चार आश्रमों का वर्णन किया जाता है ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम कहाते हैं इन में से पांच वा आठ वर्ष की उमर से अड़तालीस वर्ष पर्यंत प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम का समय है इस के विभाग पितृयज्ञ में कहेंगे वह सुशिक्षा और सत्यविद्यादि गुण ग्रहण करने के लिये होता है दूसरा गृहाश्रम जो कि उत्तम गुणों के प्रचार और श्रेष्ठ पदार्थों की उच्चति से सन्तानों की उत्पत्ति और उन को सुशिक्षित करने के लिये किया जाता है तीसरा वानप्रस्थ जिस से ब्रह्मविद्यादि साक्षात् साधन करने के लिये एकांत में परमेश्वर का सेवन किया जाता है चौथा संन्यास जो कि परमेश्वर अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति और सत्यापदेश से सब संसार के उपकार के अर्थ किया जाता है । धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्ति के लिये इन चार आश्रमों का सेवन करना सब मनुष्यों को उचित है इन में से प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है उस के ठीक २ सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं इस आश्रम के विषय में वेदों के अनेक प्रमाण हैं उन में से कुछ यहां भी लिखते हैं (आचार्य्य उ०) अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के संबंध से मनुष्य का जन्म होता है वह प्रथम जन्म कहाता है और दूसरा यह है कि जिस में आचार्य्य पिता और विद्या माता होती है इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता इस लिये उस को प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये । जब आठवे वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य्य अर्थात् विद्या पढ़ानेवाले के समीप रहते हैं तभी से उन का नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है क्योंकि वे ब्रह्म वेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं उन को आचार्य्य तीन रात्रि पर्यंत गर्भ में रखता है अर्थात् ईश्वर की उपासना धर्म परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य २ बातें हैं वे सब तीन दिन में उन को सिखाई जाती हैं । तीन दिन के उपरांत उन को देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं ॥ १ ॥ (इयं समित्०) फिर उस दिन होम कर के उन को प्रतिज्ञा कराते हैं कि जो ब्रह्मचारी पृथिवी सूर्य्य और अंतरिक्ष इन तीनों प्रकार की विद्याओं का पालन और पूर्ण करने की इच्छा करता है । सो इन समिधाओं से पुरुषार्थ कर के सब लोकों को धर्मानुष्ठान से पूर्ण अनंदित कर देता है ॥ २ ॥ (पूर्वा जाता ब्र०) जो ब्रह्मचारी पूर्व पढ़ के ब्राह्मण होता है वह धर्मानुष्ठान से अत्यंत पुरुषार्थी होकर सब मनुष्यों का कल्याण करता है (ब्रह्म ज्येष्ठ) फिर उस पूर्ण विद्वान् ब्राह्मण को जो कि अमृत अर्थात् परमेश्वर की पूर्ण भक्ति और धर्मानुष्ठान से युक्त होता है देखने के लिये सब विद्वान् आते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्णौ वसानो दीक्षितो दीर्घ-
श्रमश्रुः । स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्तसंगृह्य मुहुःरा-
चरिं क्रतुः ॥ ४ ॥ ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमे-
ष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वा मृतस्य योनाविन्दो ह भूत्वा ऽसुरां-
स्ततर्ह ॥ ५ ॥ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति । आचा-
र्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्येण कन्या इ-
श्वरानं विन्दते पतिम् । अनङ्गान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगी-
षति ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाप्नत । इन्द्रो ह ब्रह्म-
चर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ ८ ॥ अथर्व० कां० ११ अनु० ३
मं० ६ । ७ । १७ । १८ । १९ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(ब्रह्मचार्येति०) स ब्रह्मचारी पूर्वाक्तया (समिधा) विद्याया
(समिद्धः) प्रकाशितः (कार्णौ) मृगचर्मदिकं (वसानः) आच्छादयन्
(दीर्घश्रमश्रुः) दीर्घकालपर्यन्तं केशश्रमश्रणि धारितानि येन स (दीक्षितः)
प्राप्रदीक्षः (एति) परमानन्दं प्राप्नोति । तथा (पूर्वस्मात्) ब्रह्मचर्यानु-
ष्ठानभूतान्समुद्रात् (उत्तरं) गृहाश्रमं समुद्रं (सद्य एति) शीघ्रं प्राप्नोति ।
एवं निवासयोग्यान्सर्वान् (लोकान्तसंगृह्य) संगृह्य मुहुर्वारंवारं (आचरिं क्रतुः)
धर्मोपदेशमेव करोति ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी०) स ब्रह्मचारी (ब्रह्म) वेद-
विद्यां पठन् (अपः) प्राणान् (लोकं) दर्शनं (परमेष्ठिनं) प्रजापतिं
(विराजं) विविधप्रकाशकं परमेश्वरं (जनयन्) प्रकटयन् (अमृतस्य)
मोक्षस्य (योनौ) विद्यायां (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्निग्रमेन स्थित्वा यथा-
वद्विद्यां गृहीत्वा (इन्द्रो ह भूत्वा) सूर्यवत्प्रकाशकः सन् (असुरान्)
दुष्टकर्मकारिणो मूर्खान्पाखण्डिनो जनान्दैत्यरक्षःस्वभावान् (ततर्ह) तिर-
स्करोति सर्वान्निवारयति यथेन्द्रः सूर्योऽसुरान्मेघान् राशिं च निवारयति
तथैव ब्रह्मचारी सर्वशुभगुणप्रकाशको ऽशुभगुणनाशकश्च भवतीति ॥ ५ ॥
(ब्रह्मचर्येण०) तपसा ब्रह्मचर्येण कृतेन राजा राष्ट्रं विरक्षति विशिष्टतया
प्रजा रक्षितुं योग्यो भवति । आचार्योऽपि कृतेन ब्रह्मचर्येणैव विद्यां प्राप्य
ब्रह्मचारिणमिच्छते स्वीकुर्यान्नान्यथेति ॥ ६ ॥ अथ प्रमाणम् । आचार्यः

कस्मादाचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा । निरुक्त अ० १ ख० ४ ॥ ब्रह्मचर्येण०) एवमेव कृतेन ब्रह्मचर्येणैव कन्या युवतिः सती युवानं स्वसदृशं पतिं दिन्दते नान्यथा न चातः पूर्वमसदृशं वा । अनङ्गानित्युपलक्षणं वेगवतां पशूनां ते पशवो ऽश्वश्च घासं यथा तथा कृतेन ब्रह्मचर्येण स्वविरोधिनः पशून् जिगीषन्ति युद्धेन जेतुमिच्छन्ति । अतो मनुष्यैस्त्ववश्यं ब्रह्मचर्यं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ७ ॥ (ब्रह्मचर्येण तपसा देवा०) देवा विद्वांसो ब्रह्मचर्येण वेदाध्ययनेन ब्रह्मविज्ञानेन तपसा धर्मानुष्ठानेन च मृत्युं जन्ममृत्युप्रभवदुःखमुपाधृत नित्यं घ्नन्ति नान्यथा । ब्रह्मचर्येण सुनियमेन (हेति किलार्थे) यथा इन्द्रः सूर्यो देवेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वः सुखं प्रकाशं चाभरद्भारयति । तथा विना ब्रह्मचर्येण कस्यपि नैव विद्यासुखं च यथावद्भवति । अतो ब्रह्मचर्यानुष्ठानपूर्वका एव गृहाश्रमादयस्त्रय आश्रमाः सुखमेधन्ते । अन्यथा मूलाभावे कुतः शाखाः किंतु मूले दृढे शाखापुष्पफलच्छायादयः सिद्धा भवन्त्येवेति ॥ ८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(ब्रह्मचार्येति०) जो ब्रह्मचारी होता है वही ज्ञान से प्रकाशित तप और बड़े २ केश श्मश्रुओं से युक्त दीक्षा को प्राप्त होके विद्या को प्राप्त होता है तथा जो कि शीघ्र ही विद्या को ग्रहण करके पूर्व समुद्र जो ब्रह्मचर्याश्रम का अनुष्ठान है उस के पार उतर के उत्तर समुद्र स्वरूप गृहाश्रम को प्राप्त होता है और अच्छी प्रकार विद्या का संग्रह करके विचारपूर्वक अपने उपदेश का सौभाग्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥ (ब्रह्मचारी ज०) वह ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथार्थ ज्ञान के प्राण विद्या लोक विद्या तथा प्रजापति परमेश्वर जो कि सब से बड़ा और सब का प्रकाशक है उस का जानना इन विद्याओं में गर्भ रूप और इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्य युक्त होके असुर अर्थात् मूर्खों की अविद्या का छेदन कर देता है ॥ ५ ॥ (ब्रह्मचर्येण त०) पूर्ण ब्रह्मचर्य से विद्या पढ़ के और सत्य धर्म के अनुष्ठान से राजा राज्य करने को और आचार्य विद्या पढ़ाने को समर्थ होता है आचार्य उसको कहते हैं कि जो असत्याचार को कुड़ा के सत्याचार का और अनर्थों को कुड़ाके अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है ॥ ६ ॥ (ब्रह्मचर्येण क०) अर्थात् जब वह कन्या ब्रह्मचर्याश्रम से पूर्ण विद्या पढ़ चुके तब अपनी युवावस्था में पूर्ण ज्ञान पुरुष को अपना पति करे इसी प्रकार पुरुष भी सुशील धर्मात्मा स्त्री के साथ प्रसन्नता से विवाह करके दोनों परस्पर सुख दुःख में सहायकारी हों क्योंकि अनङ्गान् अर्थात् पशु भी जो पूरी जवानों पर्यंत ब्रह्मचर्य अर्थात् सुनियम में रक्खा जाय तो अत्यंत बलवान् हो के निर्बल जीवों को जीत लेता है ॥ ७ ॥

(ब्रह्मचर्येण त०) ब्रह्मचर्य और धर्मानुष्ठान से ही विद्वान् लोग जन्म मरण को जीत के मोक्ष सुख को प्राप्त हो जाते हैं जैसे इंद्र अर्थात् सूर्य परमेश्वर के नियम में स्थित होके सब लोकों का प्रकाश करनेवाला हुआ है वैसे ही मनुष्य का आत्मा ब्रह्मचर्य से प्रकाशित होके सब को प्रकाशित कर देता है इस से ब्रह्मचर्याश्रम ही सब आश्रमों से उत्तम है ॥ इति ब्रह्मचर्याश्रमविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ गृहाश्रमविषयः ॥

यद्यगमे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये । यदेनश्चक्रमा वय-
मिदं तद्वं यजामहे स्वाहा ॥ ८ ॥ देहि मे ददामि ते निमै धेहि
नितै दधे । निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥
१० ॥ गृहामाबिभीतमावेषध्वम्बूर्जं विश्रंत एमसि । उर्जं विश्रद्धः ।
सुमनाः सुमेधागृहा नैमि मनसा मोदमानः ॥ ११ ॥ येषां मध्येति
प्रवसन्धेषु सौमनसोबहुः । गृहानुपह्वयामहे तेनो जानन्तु जानतः ॥
१२ ॥ उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः । अथो अन्नस्य कीलाल-
उपहूतो गृहेषु नः ॥ क्षेमं यवः शान्त्यै प्रपद्ये शिवः शुग्मशुंयोः
शुंयोः ॥ १३ ॥ य० अ० ३ म० ४५ । ५० । ४१ । ४२ । ४३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(एषामभि०) एतेषु गृहाश्रमविधानं क्रियत इति । (यद्यगमे०)
यद्यगमे गृहाश्रमे वसन्ते। वयं पुण्यं विद्याप्रचारं सन्तानोत्पत्तिमत्युत्तमसा-
माजिकनियमं सर्वोपकारकं तथैवारण्ये वानप्रस्थाश्रमे ब्रह्मविचारं विद्याध्ययनं
तपश्चरणं सभासंबन्धे यच्छ्रेष्ठं इन्द्रिये मानसव्यवहारे च यदुत्तमं कर्म च
कुर्मस्तत्सर्वमीश्वरमोक्षप्राप्त्यर्थमस्तु । यच्च भ्रमेणैव पापं च कृतं तत्सर्वमिदं
पापमवयजामह आश्रमानुष्ठानेन नाशयामः ॥ ६ ॥ (देहि मे०) परमेश्वर
आज्ञापयति हे जीव त्वमेव वद मे मह्यं देहि मत्सुखार्थं विद्यां द्रव्यादिकं
च त्वं देहि । अहमपि ते तुभ्यं ददामि मे मह्यं मदर्थं त्वमुत्तमस्वभाव-
दानमुदारतां सुशीलतां च धेहि धारय । ते तुभ्यं त्वदर्थमहमप्येवं च
दधे । तथैव धर्मव्यवहारं क्रयदानादानाख्यं च हरासि प्रयच्छ । तथै-
वाहमपि ते तुभ्यं त्वदर्थं निहराणि नित्यं प्रयच्छानि ददानि । स्वाहेति

सत्यभाषणं सत्यमानं सत्याचरणं सत्यवचनश्रवणं च सर्वेष्वयं मिलित्वा कुर्या-
मेति सत्येनैव सर्वं व्यवहारं कुर्यात् ॥ १० ॥ (गृहा०) हे गृहाश्रममिच्छन्तो
मनुष्याः स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत गृहाश्रमानुष्ठाने (मा
बिभीत) भयं मा प्राप्नुत तथा (मावेपथ्वं) माकंपथ्वं (ऊर्जं बिभ्रत एमसि)
ऊर्जं बलं पराक्रमं च बिभ्रतः पदार्थानेमसि वयं प्राप्नुम इतीच्छत (ऊर्ज-
बिभ्रद्वः) वो युष्माकं मध्येह मूर्जं बिभ्रत्सन् (सुमनाः) शुद्धमनाः सुमे-
धोतमबुद्धियुक्तः (मनसा मोदमानः) प्राप्नानन्दः (गृहानैमि) गृहाणि प्राप्नो-
मि ॥ ११ ॥ (येषामध्येति प्र०) येषु गृहेषु प्रवसतो मनुष्यस्य (बहुः)
अधिकः (सौमनसः) आनन्दो भवति । तत्र प्रवसन् येषां यान्यदार्थान्सु-
खकारकान्स (अध्येति) स्मरति (गृहानुपहृयामहे) वयं गृहेषु विवाहा-
दिषु सत्कारार्थं तान् गृहसंबन्धिनः सखिवन्ध्याचार्यादीन्निमंत्रयामहे ।
(तेनः) विवाहनियमेषु कृतप्रतिज्ञानस्मान् (जानतः) प्रौढज्ञानान् युवाव-
स्थास्थानस्वेच्छया कृतविवाहान् ते (जानन्तु) अस्माकं साक्षिणः सन्तिव-
ति ॥ १२ ॥ (उपहूता इह०) हे परमेश्वर भवत्कृपया इहास्मिन् गृहाश्रमे
(गावः) पशुपृथिवीन्द्रियविद्याप्रकाशान्हादादयः (उपहूताः) अर्थात्स-
म्यक् प्राप्ता भवन्तु तथा (अजावयः) उपहूता अस्मदनुकूला भवन्तु
(अथो अन्नस्य की०) अथो इति पूर्वाक्तपदार्थप्राप्यनन्तरं नोऽस्माकं गृहे-
ष्वन्नस्य भोक्तव्यपदार्थसमूहस्य कीलालो विशेषेणोत्तमरस उपहूतः सम्यक्
प्राप्तो भवतु (क्षेमाय वः शान्त्यै०) वो युष्मानव पुरुषव्यत्ययोस्ति तान्य-
र्वाक्ताग्रत्यक्षान्यदार्थान् (क्षेमाय) रक्षणाय (शान्त्यै) सुखाय प्रपद्ये प्रा-
प्नोमि तत्प्राप्या (शिवं) निश्श्रेयसंकल्याणं पारमार्थिकसुखं (शमं) सां-
सारिकमाभ्युदयिकसुखं च प्राप्नुयाम् । शंयोः शमिति निघटौ पदनामा-
स्ति । परोपकाराय गृहाश्रमे स्थित्वा पूर्वाक्तस्य द्विविधस्य सुखस्योन्नतिं
कुर्मः ॥ १३ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(यद्गामे०) गृहाश्रमी को उचित है कि जब वह पूर्ण विद्या को पढ़ चुके
तब अपने तुल्य स्त्री से स्वयंवर करे और वे दोनों यथावत् उन विवाह के
नियमों में चलें जो कि विवाह और नियोग के प्रकरणों में लिख आये हैं
परंतु उन से जो विशेष कहना है सो यहां लिखते हैं रहस्य स्त्री पुरुषों को
धर्म उन्नति और गामवासियों के हित के लिये जो २ काम करना है तथा
(यदरथ्ये) वनवासियों के साथ हित और (यत्सभायाम्) सभा के बीच में
सत्य विचार और अपने सामर्थ्य से संसार को सुख देने के लिये (यदिन्द्रिये०)

जितेन्द्रियता से ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये सो २ सब काम अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ यथावत् करें और (यदेनश्च कृ०) पाप करने की बुद्धि को हम लोग मन वचन और कर्म से छोड़ कर सर्वथा सब के हितकारी बनें ॥ ८ ॥ परमेश्वर उपदेश करता है कि (देहि मे०) जो सामाजिक नियमों की व्यवस्था के अनुसार ठीक २ चलना है यही गृहस्थ की परम उन्नति का कारण है जो वस्तु किसी से लेवे अथवा देवे सो भी सत्यव्यवहार के साथ करें (निमे धेहि निते दधे) अर्थात् मैं तेरे साथ यह काम करूंगा और तू मेरे साथ ऐसा करना ऐसे व्यवहार को भी सत्यता से करना चाहिये (निहारं च हरासि मे नि०) यह वस्तु मेरे लिये तू दे वा तेरे लिये मैं दूंगा इस को भी यथावत् पूरा करें अर्थात् किसी प्रकार का मिथ्या व्यवहार किसी से न करें इस प्रकार गृहस्थ लोगों के सब व्यवहार सिद्ध होते हैं क्योंकि जो गृहस्थ विचार पूर्वक सब के हितकारी काम करते हैं उन की सदा उन्नति होती है ॥ १० ॥ (गृहामाविभीत०) हे गृहाश्रम की इच्छा करनेवाले मनुष्य लोगो तुम लोग स्वयं-श्र अर्थात् अपनी इच्छा के अनुकूल विवाह करके गृहाश्रम को प्राप्त हो और उससे डरो वा कंपो मत किंतु उससे बल पराक्रम करनेवाले पदार्थों को प्राप्त होने की इच्छा करो तथा गृहाश्रमी पुरुषों से ऐसा कहे कि मैं परमात्मा की कृपा से आप लोगों के बीच पराक्रम, शुद्ध मन, उत्तम बुद्धि और आनन्द को प्राप्त हो कर गृहाश्रम करूँ ॥ ११ ॥ (येषामध्येति०) जिन घरों में बसते हुए मनुष्यों को अधिक आनन्द होता है उन में वे मनुष्य अपने संबंधि मित्र बंधु और आचार्य आदि का स्मरण करते हैं और उन्हीं लोगों का विवाहादि शुभ कार्यों में सत्कार से बुला कर उन से यह इच्छा करते हैं कि ये सब हम को युवा वस्यायुक्त और विवाहादि नियमों में ठीक २ प्रतिज्ञा करनेवाले जानें अर्थात् हमारे साती हो ॥ १२ ॥ (उपहू०) हे परमेश्वर आप की कृपा से हम लोगों को गृहाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, प्रकाश, आनंद, बकरी, और भेड़, आदि पदार्थ अच्छी प्रकार से प्राप्त हों तथा हमारे घरों में उत्तम रस युक्त खाने, पीने, के योग्य पदार्थ सदा बने रहें (वः) यह पद पुरुष व्यत्यय से मित्र होता है हम लोग उक्त पदार्थों को उनकी रक्षा और अपने सुख के लिये प्राप्त हों फिर उस प्राप्ति से हम को परमार्थ और संसार का सुख मिले (शंयाः) यह निघंटु में प्रतिष्ठा अर्थात् सांसारिक सुख का नाम है ॥ १३ ॥ इति गृहाश्रमविषयः संचेपतः ॥

॥ अथ वनप्रस्थविषयः संचेपतः ॥

चयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वि-
तीयो ब्रह्मचर्या चार्यकुलवासी तृतीयोऽन्यन्तमात्मानमाचार्यकुले-
ऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ॥ कान्दोग्य० प्र० २ खं० २३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(त्रयो धर्मः) अत्र सर्वं ब्रह्माश्रमेषु धर्मस्य स्कन्धा अवयवास्तयः सन्ति । अध्ययनं यज्ञः क्रियाकाण्डं दानं च । तत्र प्रथमे ब्रह्मचारी तपः सुशिक्षा धर्मानुष्ठानेनाचार्यकुले वसति । द्वितीयो गृह्याश्रमी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन्नेकांतदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चि-
नुयात्स वानप्रस्थाश्रमी ॥ एते सर्वं ब्रह्मचर्यादयस्तय आश्रमाः पुण्यलोकाः सुखनिवासाः सुखयुक्ता भवन्ति पुण्यानुष्ठानादेशाश्रमसंख्या जायते ॥ ब्रह्मचर्याश्रमेण गृहीतविद्यो धर्मेश्वरादिसम्यङ्निश्चित्य गृह्याश्रमेण तद-
नुष्ठानं तद्विज्ञानवृद्धिं च कृत्वा ततो वनमेकान्तं गत्वा सम्यक् सत्यास-
त्यवस्तुव्यवहारान्निश्चित्य वानप्रस्थाश्रमं समाप्य संन्यासी भवेत् । अर्थाद् ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत् गृहीभूत्वा घनीभवेद्वनीभूत्वा प्रव्रजेद्वि-
त्येकः पक्षः । (यदहरेव विरजेत तदहरेव प्राव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा) अस्मि-
न्यत्र वानप्रस्थाश्रममकृत्वा गृह्याश्रमानंतरं संन्यासं गृहीयादिति द्वितीयः पक्षः । ब्रह्मचर्यादेशं प्रव्रजेत्सम्यग्ब्रह्मचर्याश्रमं कृत्वा गृहस्थवानप्रस्थाश्रमाव
कृत्वा संन्यासाश्रमं गृहीयादिति तृतीयः पक्षः । सर्वान्याश्रमविकल्प उक्तः परंतु ब्रह्मचर्याश्रममनुष्ठानं नित्यमेव कर्तव्यमित्यायाति । कुतः । ब्रह्मच-
र्याश्रमेणविनाऽन्याश्रमानुत्पत्तेः ॥

॥ भाषार्थ ॥

(त्रयो धर्मः) धर्म के तीन स्कंध हैं एक विद्या का अध्ययन दूसरा यज्ञ अर्थात् उत्तम क्रियाओं का करना । तीसरा दान अर्थात् विद्यादि उत्तम गुणों का देना तथा प्रथम तप अर्थात् वेदाक्तधर्म के अनुष्ठानपूर्वक विद्या पढ़ाना दूसरा आचार्यकुल में वस के विद्या पढ़ना और तीसरा परमेश्वर का ठीकर विचार करके सब विद्याओं को जानलेना इन बातों से सब प्रकार की उचित करना अनुष्ठानों का धर्म है तथा संन्यासाश्रम के तीन पक्ष हैं उन में एक यह है कि जो विषय भोग किया चाहे वह ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन आश्रमों को करके संन्यास ग्रहण करे दूसरा (यदहरेव प्र०) जिस समय वैराग्य अर्थात् बुरे कामों से चित्त हठ कर ठीकर सत्य मार्ग में निश्चित होजाय उस समय गृह्याश्रम से भी संन्यास हो सकता है और ती-
सरा जो पूर्ण विद्वान् होकर सब प्राणियों का शीघ्र उपकार किया चाहे तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ग्रहण करले ॥

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । ब्रान्दे० प्रपा० २ खं० २३ ॥ तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति । ब्रह्मचर्येण तपसा अथवा यज्ञेनामा-

शकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः
प्रव्रजन्ति । एतद्ब्रह्मचैतत्पूर्वं ब्राह्मणाः । अनूचाना विद्वांसः प्रजां न
कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति ते
हस्मपुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिचा-
चर्य्य वरन्ति याच्चेव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकै-
षणोभेच्छते एषणो एव भवतः । श० कां० १४ अ० ७ ॥ ब्रा० २

॥ भाष्यम् ॥

(ब्रह्मसंस्थः०) चतुर्थो ब्रह्मसंस्थः संन्यासी (अमृतत्वं) एति
प्राप्नोति (तमेतं वेदा०) सर्वआश्रमिणो विशेषतः संन्यासिमतमेतं परमेश्वरं
सर्वभूताधिपतिं वेदानुवचनेन तदध्ययनेन तच्छ्रवणेन तदुक्तानुष्ठानेन च
वेतुमिच्छन्ति । (ब्रह्मचर्य्येण०) ब्रह्मचर्य्येण तपसा धर्मानुष्ठानेन श्रद्धया-
ऽन्यन्तप्रेम्णा यत्नेन नाशरहितेन विज्ञानेन धर्मक्रियाकाण्डेन चैतं परमेश्वरं
विदित्वैव मुनिर्भवति ॥ प्रव्राजिनः संन्यासि न एनं यथोक्तं लोकं द्रष्टव्यं
परमेश्वरमेवेष्मन्तः प्रव्रजन्ति संन्यासाश्रमं गृह्णन्ति (एतद्ब्रह्म०) ये एत-
दिच्छन्तः सन्तः पूर्वं अत्युत्तमा ब्रह्मणा ब्रह्मविदोऽनूचाना निश्शङ्काः
पूर्णेज्ञानिनोऽन्येषां शंकानिवारका विद्वांसः प्रजां गृहाश्रमं न कामयन्ते नेच्छ-
न्ति (ते हस्म०) हेति स्फुटे स्मेति स्मये ते प्रात्फुल्लाः प्रकाशमाना वदन्ति वयं
प्रजया किं करिष्यामः किमपि नेत्यर्थः । येषां नोऽस्माकमयमात्मा परमेश्वरः
प्राप्यलोको दर्शनीयश्चास्ति । एवं ते (पुत्रैषणायाश्च) पुत्रोत्पादनेच्छायाः
(वित्तैषणायाश्च) जडधनप्राप्त्यनुष्ठानेच्छायाः (लोकैषणायाश्च) लोके स्वस्य
प्रतिष्ठास्तुतिनिन्देच्छायाश्च (व्युत्थाय) विरज्य (भिक्षाचर्य्यं च०) संन्या-
साश्रमानुष्ठानं कुर्वन्ति । यस्य पुत्रैषणा पुत्रप्राप्येष्टेच्छा भवति तस्यावश्यं
वित्तैषणापि भवति यस्य वित्तैषणा तस्य निश्चयेन लोकैषणा भवति ति
विज्ञायते । तथा यस्यैका लोकैषणा भवति तस्योभे पूर्वं पुत्रैषणालोकैषणे
भवतः । यस्य च परमेश्वरमोक्षप्राप्येष्टेच्छास्ति तस्यैतास्तिष्ठेति च निश्चितं । नैव
ब्रह्मानन्दचित्तेन तुल्यं लोकचित्तं कदाचिद् भवितुमर्हति । यस्य परमेश्वरे
प्रतिष्ठास्ति तस्यान्याः सर्वाः प्रतिष्ठानेव हृत्वा भवन्ति । सर्वान्मनुष्यान्-
नुगृह्णन् सर्वदा सत्योपदेशेन सुखयति । तस्य केवलं परोपकारमात्रं
सत्यप्रवर्तनं प्रयोजनं भवतीति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(तमेतं) जो कि वेद को पढ़ के परमेश्वर को जानने की इच्छा करते हैं । (ब्रह्मसंस्थ) वे संन्यासी लोग मोक्ष मार्ग को प्राप्त होते हैं तथा (ब्रह्मच०) जो सत्यगुण ब्रह्मचर्य, धर्मानुष्ठान श्रद्धायुक्त और ज्ञान से परमेश्वर को ज्ञान के मुनि अर्थात् विचारशील होते हैं वेही ब्रह्मलोक अर्थात् संन्यासियों के प्राप्तिस्थान को प्राप्त होने के लिये संन्यास लेते हैं जो उन में उत्तम पूर्ण विद्वान् हैं वे गृहाश्रम और वानप्रस्थ के विना ब्रह्मचर्य आश्रम से ही संन्यासी हो जाते हैं और उन के उपदेश से जो पुत्र होते हैं उन्हीं को सब से उत्तम मानकर (पुत्रैषणा) अर्थात् संतानोत्पत्ति की इच्छा (वित्तैषणा) अर्थात् धन का लाभ (लोकैषणा) अर्थात् लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करना इस तीन प्रकार की इच्छा को छोड़ के वे भित्ताचरण करते हैं अर्थात् सर्व गुरु सब के अतिथि होके बिचरते हुए संसार को अज्ञानरूपी अंधकार से छुड़ा के सत्यविद्या के उपदेशरूप प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं ॥

प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा ब्राह्मणः
प्रव्रजेदिति शतपथे श्रुत्यक्षराणि ॥ यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जायते तांश्च कामा-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १ ॥ मुंडकोपनि० मुण्डके ३ ख०
१ मं० १० ॥

॥ भाष्यम् ॥

(प्राजापत्या०) सच संन्यासी प्राजापत्यां परमेश्वरदेवता कामिष्टिं कृत्वा हृदये सर्वमेतन्निश्चित्य तस्यां (सर्ववेदसं) शिखासूचादिकं हुत्वा मुनिर्मननशीलः सन्प्रव्रजति संन्यासं गृह्णाति । परंत्वयं पूर्णविद्यावतां रागद्वेषरहितानां सर्वमनुष्योपकारबुद्धीनां संन्यासगृहणाधिकारो भवति नाल्पविद्यानामिति । तेषां संन्यासिनां प्राणापानहोमो दोषेभ्य इन्द्रियाणां मनसश्च सदा निवर्तनं सत्यधर्मानुष्ठानं चैवाग्निहोचम् । किंतु पूर्वेषां चयाणामेवाश्रमिणामनुष्ठातुं योग्यं यद्वा ह्यक्रियामयमस्ति संन्यासिनां तन्न । सत्योपदेश एव संन्यासिनां ब्रह्मयज्ञः । देवयज्ञो ब्रह्मोपासनम् । विज्ञानिनां प्रतिष्ठाकरणं पितृयज्ञः । ह्यज्ञेभ्यो ज्ञानदानं सर्वेषां भूतानामुपय्यनुग्रहोऽपीडनं च भूतयज्ञः । सर्वमनुष्योपकारार्थं भ्रमणमभिमानशून्यतासत्योपदेशकरणेन सर्वमनुष्याणां सत्कारानुष्ठानं चातिथियज्ञः । एवं लक्षणाः पंचमहायज्ञा विज्ञानधर्मानुष्ठानमया भवन्तीति विज्ञेयम् । परं त्वेकस्याद्वितीयस्य सर्वशक्तिमदादिविशेषणयुक्तस्य परब्रह्मणोपासनासत्यधर्मानुष्ठानं च

सर्वेषामाश्रमिणामेकमेव भवतीत्ययं विशेषः ॥ (विशुद्धस०) शुद्धान्तः-
करणो मनुष्यः (यं यं लोकं मनसा) ध्यानेन संविभाति इच्छति (काम-
यते यांश्च कामान्) यांश्च मनोरथानिच्छति तं तं लोकं तांश्च कामान्
(जायते) प्राप्नोति तस्मात्कारणाद् (भूतिकामः) ऐश्वर्यकामो मनुष्यः
(आत्मज्ञं) आत्मानं परमेश्वरं जानाति तं संन्यासिनमेव सर्वदार्चयेत्स-
त्कुर्यात् । तस्यैव संगेन सत्कारेण च मनुष्याणां सुखप्रदालोकाः कामाश्च
सिद्धा भवन्तीति । तदभिज्ञानं मिथ्योपदेशकान् स्वार्थसाधनतत्परान्याखं-
डिनः कोपि नैवार्चयेत् । कुतः । तेषां सत्कारस्य निष्फलत्वादुःखफल-
त्वाच्चेति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(प्राज्ञापन्या०) अर्थात् इस दृष्टि में शिखा सूत्रादि का होम करके
एहस्य आश्रम को छोड़ के विरक्त होकर संन्यास ग्रहण करें । (यं यं लोकं०)
वह शुद्ध मन से जिस २ लोक और कामना की इच्छा करता है वे सब उस
को सिद्ध हो जाती हैं इस लिये जिस को ऐश्वर्य की इच्छा हो वह आत्मज्ञ
अर्थात् ब्रह्मवेत्ता संन्यासी की सेवा करे ये चारों आश्रम वेदों और युक्तियों
से मिद्ध हैं क्योंकि सब मनुष्यों को अपनी आयु का प्रथम भाग विद्या पढ़ने
में व्यतीत करना चाहिये और पूर्ण विद्या को पढ़ कर उस से संसार की
उत्पत्ति करने के लिये एहाश्रम भी अवश्य करें तथा विद्या और संसार के
उपकार के लिये एकांत में बैठकर सब जगत् का अधिष्ठाता जो ईश्वर है
उस का ज्ञान अच्छी प्रकार करें और मनुष्यों को सब व्यवहारों का उपदेश
करे फिर उन के सब संदेहों का छेदन और सत्य बातों के निश्चय कराने के
लिये संन्यास आश्रम भी अवश्य ग्रहण करें क्योंकि इस के बिना संपूर्ण पञ्च-
पात छूटना बहुत कठिन है ॥ इत्याश्रमविषयः संक्षेपतः ॥

॥ अथ पंचमहायज्ञविषयः संक्षेपतः ॥

ये पंचमहायज्ञा मनुष्यैर्नित्यं कर्तव्याः सन्ति तेषां विधानं संक्षेपतो
ऽत्र लिखामः । तत्र ब्रह्मयज्ञस्यायं प्रकारः साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्य-
गध्ययनमध्यापनं संध्योपासनं च सर्वैः कर्तव्यम् । तत्राध्ययनाध्यापन-
क्रमो यादृशः पठनपाठनविषयउक्तस्तादृशो ग्राह्यः । संध्योपासनविधिश्च
पंचमहायज्ञविधाने यादृशउक्तस्तादृशः कर्तव्यः । तथाग्निहोत्रविधिश्च
यादृशस्ततोक्तस्तादृश एव कर्तव्यः । अत्र ब्रह्मयज्ञाग्निहोत्रप्रमाणं लिख्यते ॥

समिधाग्निं दुर्वस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आसिन्धुव्या
जुहोतन ॥ १ ॥ य० अ० ३ मं० १ ॥ अग्निं द्रुतं पुरोदधे हव्यवाह-

मुपब्रुवे ॥ देवां २ ॥ आसादयादिह ॥ २ ॥ य० अ० २२ मं० १७ ॥
 सायं सायं गृहपतिर्ना अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्यं दाता । वसो-
 र्वसोर्वसुदानं एधि वयं त्वेन्ध्यानास्तन्वं पुषेम ॥ ३ ॥ प्रातः प्रातर्गृ-
 पतिर्ना अग्निः सायं सायं सौमनस्यं दाता । वसोर्वसोर्वसुदानं एधि-
 न्ध्यानास्त्वा शनर्हिमा ऋधेम ॥ ४ ॥ अथर्व० कां० १८ अनु० ७ मं०
 ३ । ४ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(समिधानि०) हेमनुष्या वाय्वोषधि वृष्टिजलशुद्ध्या परोपकाराय
 (घृतेः) घृतादिभिश्शोधितैर्द्रव्यैः समिधा चातिथिमग्निं यूयं बोधयत
 नित्यं प्रदीपयत (अस्मिन्) अग्ने (हव्या) हेतुमर्हाणि पुष्टिमधुरसुगं-
 धरोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानि सम्यक् शोधितानि द्रव्याणि (आ जुहोतन)
 आसमन्ताज्जुहुत । एवमग्निहोत्रं नित्यं (दुवस्यत) परिचरत । अनेन क-
 र्मेणा सर्वोपकारं कुरुत ॥ १ ॥ (अग्निं दूतं०) अग्निहोत्रकर्तैर्वमिच्छेदहं
 वायो मेघमंडले च भूतद्रव्यस्य प्रापणार्थमग्निं दूतं भृत्यवत् (पुरोदधे)
 सन्मुखतः स्थपये कथंभूतमग्निं (हव्यवाहं) हव्यं द्रव्यं देशान्तरं प्रापयती-
 तिहव्यवाट् तं (उपब्रुवे) अन्यान् जिज्ञासून्प्रत्युपदिशानि (देवां २ ॥ ०)
 सोग्निरेतदग्निहोत्रकर्मणा देवान् दिव्यगुणान् वायुवृष्टिजलशुद्धिद्वारेहास्मि-
 न्संसारआसादयादासमन्तात्प्रापयति यद्वा हेपरमेश्वर (दूतं सर्वेभ्यः स-
 त्योपदेशकं (अग्निं) अग्निसंज्ञकं त्वां (पुरोदधे) इष्टत्वेनापास्यं मन्ये
 तथा (हव्यवाहं) गृहीतुं योग्यं शुभगुणमयं विज्ञानं हव्यं तद् वहति प्रा-
 पयतीति तं त्वां (उपब्रुवे) उपदिशानि स भवान् कृपया (इह) अस्मिन्सं-
 सारे (देवान्) दिव्यगुणान् (आसादयात्) आसमन्तात्प्रापयतु ॥ २ ॥
 (नः) अस्माकमयं (अग्निः) भौतिकः परमेश्वरश्च गृहपतिर्गृहात्म-
 पालकः प्रातः सायं परिचरितः सूपसितश्च । (सौमनस्य दाता) आरोग्य-
 स्यान्नन्दस्य च दातास्ति तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च दातास्ति ।
 अतएव परमेश्वरः (वसुदानः) इति नाम्नाख्यायते हे परमेश्वरैवं भूतस्त्व-
 मस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्नो भव । तथा भौतिकोऽप्य-
 ग्निरपि याज्ञः (वयं त्वे०) हेपरमेश्वर एवं (त्वा) त्वामिन्ध्यानाः प्रकाश-
 माना वयं (तन्वं) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्याम । तथाग्निहोत्रादिकर्मणा
 भौतिकमग्निमिन्ध्यानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुण्यामः ॥ ३ ॥ (प्रा-

तः प्रातर्गृहपतिनो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः । अथ विशेषस्तथं । एव-
मग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतहिमाः०) शतं हिमा हेमंत-
र्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतहिमा यावत्स्युस्तवत् (ऋधेम)
वर्धेमहि । एवं कृतेन कर्मणा नोऽस्माकं कदाचिद्भानिर्न भवेदितिच्छामः
॥ ४ ॥ अग्निहोत्रकरणार्थं ताम्रस्य मृत्तिकायावैकां वेदिं संपाद्य काष्ठस्य
रजतसुवर्णयोर्वा चमसमाज्यस्थालीं च संगृह्य तत्र वेदां पलाशमादिस-
मिधः संस्थाप्याग्निं प्रज्वाल्य तत्र पूर्वाक्तद्रव्यस्य प्रातः सायंकालयोः प्रात-
रेव वात्तमर्चैर्नित्यं होमं कुर्यात् ॥ ॥ भाषार्थ ॥

अत्र पंचमहायज्ञ अर्थात् जो कर्म मनुष्यों को नित्य करने चाहिये उन
का विधान संक्षेप से लिखते हैं उन में से प्रथम एक ब्रह्मयज्ञ कहाता है जिस में
अंगों के सहित वेदादि शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना तथा संध्योपासन अर्थात्
प्रातःकाल और सायंकाल में ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना सब म-
नुष्यों को करनी चाहिये इन में पठन पाठन की व्यवस्था तो जैसी पठन पाठन
विषय में विस्तारपूर्वक कह आये हैं वहां देख लेना तथा संध्योपासन और
अग्निहोत्र का विधान जैसा पंचमहायज्ञविधि पुस्तक में लिख चुके हैं वैसा ज्ञान
अब आगे ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का प्रमाण लिखते हैं (समिधाग्निः०) हे
मनुष्यो तुम लोग वायु और पृथ्वी और वर्षा जल की शुद्धि से सब के उपकार
के अर्थ घृतादि शुद्ध वस्तुओं और समिधा अर्थात् आम्रवाठाक आदि काष्ठों
से अतिथिरूप अग्नि को नित्य प्रकाशमान करो फिर उस अग्नि में होम
करने के योग्य पुष्ट मधुर सुगंधित अर्थात् दुग्ध घृत शर्करा गुड़ केशरि कस्तूरी
आदि और रोग नाशक जो सोमलता आदि सब प्रकार से शुद्ध द्रव्य हैं उन
का अच्छी प्रकार नित्य अग्निहोत्र करके सब का उपकार करो ॥ १ ॥ (अग्निं
दूतं०) अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य ऐसी इच्छा करे कि मैं प्राणियों के उप-
कार करनेवाले पदार्थों को पवन और मेघमंडल में पहुंचाने के लिये अग्नि
को सेवक की नाई अपने सामने स्थापन करता हूं क्योंकि वह अग्नि हव्य अ-
र्थात् होम करने के योग्य वस्तुओं को अन्य देश में पहुंचानेवाला है इसी से
उस का नाम हव्यवाट है जो उस अग्निहोत्र को जाना चाहें उन को मैं उपदेश
करता हूं कि वह अग्नि उस अग्निहोत्र कर्म में पवन और वर्षा जल की
शुद्धि से (इह) इस संसार में (देवां २ ॥ ०) श्रेष्ठ गुणों को पहुंचाता है
दूमरा अर्थ है सब प्राणियों को सत्य उपदेश कारक परमेश्वर जो कि आप
अग्नि नाम से प्रसिद्ध हैं मैं इच्छापूर्वक आप को उपासना करने के योग्य मानता हूं
ऐसी कृपा करो कि और आप को जानने की इच्छा करनेवालों के लिये भी मैं
आप का शुभगुणयुक्त विशेष ज्ञानदायक उपदेश करूं तथा आप भी कृपा कर के
इस संसार में श्रेष्ठ गुणों को पहुंचावें ॥ २ ॥ (सायं सायं०) प्रतिदिन प्रातःकाल

श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त यह एहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्त भौतिक अग्नि और परमेश्वर (सौमनस्य दा०) आरोग्य, आनन्द, और वसु अर्थात् धन का देनेवाला है इसी से परमेश्वर (वसुदानः) अर्थात् धनदाता प्रसिद्ध है हे परमेश्वर आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में सदा प्रकाशित रहो यहां भौतिक अग्नि भी यहण करने के योग्य है (वयं त्वे०) हे परमेश्वर जैसे पूर्वाक्त प्रकार से हम आप को मान करते हुए अपने शरीर से (पुषेम) पुष्ट होते हैं वैसे ही भौतिक अग्नि को भी प्रज्वलित करते हुए पुष्ट हों ॥ ३ ॥ (प्रातः प्रातरुहपतिर्नो०) इस मंत्र का अर्थ पूर्व मंत्र के तुल्य जाने परन्तु इस में इतना विशेष भी है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हमलोग (शतहिमाः) सौ हेमंत ऋतु व्यतीत हो जाने पर्यंत अर्थात् सौ वर्ष तक धनादि पदार्थों से (अधेम) वृद्धि को प्राप्त हों ॥ ४ ॥ अग्निहोत्र करने के लिये ताम्र वा मिट्टी की वेदी बना के काष्ठ चांदी वा सोने का चमसा अर्थात् अग्नि में पदार्थ डालने का पात्र और आल्यस्थाली अर्थात् घृतादि पदार्थ रखने का पात्र लेके उस वेदी में ठांक वा आम्र आदि वृक्षों की समिधा स्थापन करके अग्नि को प्रज्वलित करके पूर्वाक्त पदार्थों का प्रातःकाल और सायंकाल अथवा प्रातःकाल ही नित्य होम करें ॥

॥ अथाग्निहोत्रे होमकरणमंचाः ॥

सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा । सूर्यो वच्चे ज्योतिर्वच्चेः स्वाहा ॥ ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा । सजूर्देवेन सविचा सजूरुषसेन्द्रवत्या ॥ जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ इति प्रातःकालमंचाः ॥ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ अग्निर्वच्चे ज्योतिर्वच्चेः स्वाहा ॥ अग्निर्ज्योतिरिति मंचं मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिदया ॥ सजूर्देवेन सविचा सजुराच्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा ॥ य० अ० ३ मं० ८ ॥ १० ॥ इति सायंकालमंचाः ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(सूर्यो०) यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानां ज्योतिः प्रकाशकः सूर्यः सर्वप्राणः परमेश्वरोस्ति तस्मै स्वाहा उर्थात् तदाज्ञापालनेन सर्वजगदुपकारायैकाहुतिं ददमः ॥ १ ॥ (सूर्यो व०) यो वच्चेः सर्वविदां ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानां वच्चेः उन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्यः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥ (ज्योतिः सू०) यः स्वयंप्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोस्ति तस्मै० ॥ ३ ॥ (सजूर्०) यो देवेन

द्योतकेन सवित्रा सूर्यलोकेन जीवेन च सह तथा (इन्द्रवत्या) सूर्यप्र-
काशवत्याऽस्यैव जीववत्या मानसवत्या (सज्जः) सह वर्तमानः परमे-
श्वरोस्ति सः (जुषाणः) संप्रीत्या वर्तमानः सन् (सूर्यः) सर्वात्मा कृपा-
कटाक्षेणास्मान् वेतु विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करातु तस्मै० ॥ ४ ॥

हमा चतस्रआहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्ति ॥ अथ सायंकालाहुतयः
(अग्निर्ज्योतिः०) यो ज्ञानस्वरूपो ज्योतिषां ज्योतिरग्निः परमेश्वरोस्ति
तस्मै० ॥ १ ॥ (अग्निर्वर्द्धो०) यः पूर्वोक्तेऽग्निः परमेश्वरोस्ति तस्मै० ॥ २ ॥
अग्निर्ज्योतिरित्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया तदर्थश्च पूर्ववत् ३ ॥ (सज्जर्दे०)
यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सज्जरस्ति । यश्चेन्द्रवत्या वा-
युचन्द्रवत्याराच्या सह वर्तते सोऽग्निः (जुषाणः) संप्रीतोऽस्मान् वेतु नि-
त्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पू-
र्ववत् ॥ ४ ॥ एताभिः सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुहुति । एकस्मिन्काले सर्वा-
भिर्वा (सर्वैरे०) हे जगदीश्वर यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते
तद्भवत्कृपयाऽलं भवत्विति हेतोरेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते तथैतरेयब्राह्मणे
पंचमपंचकायामेकविंशतमायां कंडिकायां च सायं प्रातरग्निहोत्रमंत्रा भूर्भुवः
स्वरोमित्यादयो दर्शिताः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(सूर्योऽज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्योऽग्नि
प्रकाशक लोकों का भी प्रकाशकरनेवाला है उस की प्रसन्नता के लिये हम
लोग होम करते हैं ॥ १ ॥ सूर्योऽवर्द्धो०) सूर्य जो परमेश्वर है वह हम
लोगों को सब विद्याओं का देनेवाला और हम से उन का प्रचार कराने
वाला है उसी के अनुग्रह से हमलोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥ (ज्योतिः
सू०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाशकरनेवाला सूर्य अर्थात्
संसार का ईश्वर है उस की प्रसन्नता के अर्थ हमलोग होम करते हैं ॥ ३ ॥
(सज्जर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्योऽग्नि लोकों में व्याप्त वायु और दिन के साथ
संसार का परम हितकारक है वह हमलोगों को विदित होकर हमारे किये
हुए होम को ग्रहण करे इन चार आहुतियों से प्रातःकाल अग्निहोत्री लोग
होम करते हैं ॥ ४ ॥ अब सायंकाल की आहुति के मंत्र कहते हैं (अग्निर्ज्यो०)
अग्नि जो ज्योतिस्वरूप परमेश्वर है उस की आज्ञा से हमलोग परोपकार के लिये
होम करते हैं और उस का रक्षा हुआ यह भौतिक अग्नि इस लिये है कि
वह उन द्रव्यों को परमाणुरूप करके वायु और वर्षा जल के साथ मिला के
सुदृढ़ करदे जिस से सब संसार को सुख और आरोग्यता की वृद्धि हो ॥ १ ॥
(अग्निर्वर्द्धो०) अग्नि परमेश्वर सर्व्व अर्थात् सब विद्याओं का देनेवाला

और भौतिक अग्नि आरोग्यता और बुद्धि का बढ़ानेवाला है इस लिये हम लोग होम से परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं यह दूसरी आहुति है तीसरी मौन होके प्रथम मंत्र से करनी । और चौथी (सज्जुर्देवन०) जो अग्नि परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्याप्त, वायु और रात्रि के साथ संसार का परम हितकारक है वह हम को विदित होकर हमारे किये हुए होम का ग्रहण करे ॥

अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थाः समानमंत्राः ॥

ओम्भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥ ओम्भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा २
ओं स्वरादिच्याय व्यानाय स्वाहा ३ ॥ ओम्भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादि-
त्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ४ ॥ ओमापोज्योतीरसोमृतं
ब्रह्मभूर्भुवःस्वरोः स्वाहा ५ ॥ ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ६ ॥ इति सर्वे-
चास्तैत्तिरीयोऽग्निषदाशयेनैकीकृताः ॥ ॥ भाष्यम् ॥

एषु मंत्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यनिष्ठा-
मर्था गायत्र्यर्थे द्रव्याः । अग्नये परमेश्वर इयं जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं
हवन् दानं यस्मिन्कर्मणि क्रियते तदग्निहोत्रम् । ईश्वराज्ञापालनार्थं वा ।
सुगन्धि, पुष्टि, मिष्ट, बुद्धिवृद्धि, शौर्य्यं, धैर्य्यं, बल, रोगनाशकरैर्गुणैर्युक्तानां
द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां
शुद्धवायुजलयोगात्सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मक-
र्तृणां जनानां तदुपकारेणात्यन्तसुखमंश्वरानुग्रहश्च भवत्येतदाद्यर्थमग्नि-
होत्रकरणम् ॥ ॥ भाषार्थ ॥

इन मंत्रों में जो भूः इत्यादि नाम हैं वे सब ईश्वर के ही जाने गा-
यत्री मंत्र के अर्थ में इन के अर्थ कर दिये हैं इस प्रकार प्रातःकाल और
सायंकाल संध्येपासन के पीछे उक्त मंत्रों से होम कर के अधिक होम करने
की इच्छा हो तो स्वाहा शब्द अन्य में पठ कर गायत्री मंत्र से कर जिस कर्म
में अग्नि वा परमेश्वर के लिये जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञा-
पालन के अर्थ होत्र हवन अर्थात् दान करते हैं उसे अग्निहोत्र कहते हैं
जो = केशरि कस्तूरी आदि सुगन्धि घृत दुग्ध आदि पुष्ट गुड शर्करा आदि
मिष्ट बुद्धि बल तथा धैर्य्यवर्धक और रोगनाशक पदार्थ हैं उन का होम
करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि से पृथिवी के सब पदार्थों की जो
अत्यंत उत्तमता होती है उन्हीं से सब जंतुओं का परम सुख होता है इस
कारण अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यों को उस उपकार से अत्यंत सुख का

लाभ होता है और ईश्वर उन पर अनुग्रह करता है ऐसे २ लाभों के अर्थ अग्निहोत्र का करना अवश्य उचित है ॥ इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः ॥

॥ अथ तृतीयः पितृयज्ञः ॥

तस्य द्वौ भेदोऽस्त्येकस्तरपणाख्यो द्वितीयः आहुताख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम् । तथा यत्तेषां अद्भुता सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम् । तत्र विद्वत्सु विद्यमानेष्वेतत्कर्म संघट्यते नैव मृतकेषु । कुतः । तेषां प्राप्यभावेन सेवनाशक्यत्वात् । तदर्थकृतकर्मणः प्राप्यभावइति व्यर्थतापत्तेश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत्कर्मापदिश्यते । सेव्यसेवकसंनिकर्षात्सर्वमेतत्कर्तुं शक्यतइति । तत्र सत्कर्तव्यास्त्रयः सन्ति । देवाः ऋषयः पितरश्च तत्र देवेषु प्रमाणम् ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः । पुनन्तु विश्वा-
भूतानि जातवेदः पुनर्हि मा ॥ १ ॥ य० अ० १८ । मं० ३८ द्वयं
वा इदं न तृतीयमस्ति । सत्यं चैवानृतं च सत्यमेव देवा अनृतं
मनुष्या इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥ स
वै सत्यमेव वदेत् । एतद्वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । तस्मात्ते
यज्ञो यज्ञोऽहं भवति य एवं विद्वान्सत्यं वदति ॥ श० कां० १ अ० १
ब्रा० १ ॥ विद्वांसो हि देवाः श० कां० ३ अ० ७ ब्रा० ६ ॥
अथर्षिप्रमाणम् ॥ तं यज्ञं बर्हिषिप्रौक्त्यनुरुषं जातमग्रतः ॥ तेन
देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्चये ॥ २ ॥ य० अ० ३१ मं० ८ । अथ
यदेवानुब्रवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते तद्भ्य एतत् करोत्यृषीणां
निधिगोपइति ह्यनूचानमाहुः । श० कां० १ अ० ७ ब्रा० ५ ॥ कंडि-
का ३ । अथर्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं
महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति तस्मादर्षेयं प्रवृणीते । श० कां० १
अ० ४ ब्रा० ५ कां० ३ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(जातवेदः) हेपरमेश्वर (मा) मां पुनीहि सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठाभवटाज्ञापलिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु तथा (पुनन्तु मन०) भवद्भुतविज्ञानेन भवद्विषयकध्यानेन वा ऽस्माकं बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । तथा (पुनन्तु विश्वाभूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया सुखानन्दयुक्तानि पवित्राणि भवन्तु ॥ (द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः । देवो मनुष्यश्चेति तत्र (सत्यं चेवानृतं च) कारणेस्तः (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यकर्म तदेव देवा आश्रयन्ति । तथैव नृतवचनमनृतमानमनृतकर्म चेति मनुष्याश्चेति । अत एव यो ऽनृतं त्यक्त्वा सत्यमुपैति सदेवः परिगण्यते । यश्च सत्यं त्यक्त्वा ऽनृतमुपैति स मनुष्यश्च अतः सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याद्ब्रह्म यः सत्यव्रते देवोस्ति स एव यशस्विनां मध्ये यशस्वी भवति तद्विपरोतो मनुष्यश्च तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः सन्ति ॥ तं यज्ञमिति सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः । (अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं सर्वविद्यां पठित्वा यदनुषचनमध्यापनं कर्मानुष्ठानमस्ति तदृषिकृत्यं विज्ञायते । तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणैर्वर्षयः सेवनीया जायन्ते । यत्तेषां प्रियमाचरन्ति तदेतत्तेभ्यः सेवा कर्तव्या एव सुखकारी भवति । यः सर्वविद्याविदुत्वाऽध्यापयति तमेवानुचानमृषिमाहुः । (अथार्षेयं प्रवृ०) यो मनुष्यः पाठनं कर्म प्रवृणीते तदार्षेयं कर्म कथ्यते य ऋषिभ्यो देवेभ्यो विद्यार्थिभ्यश्च प्रियं वस्तु निवेदयित्वा नित्यं विद्यामध्याते स विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं उस के दो भेद हैं एक तर्पण और दूसरा आहु उन में से जिस कर्म करके विद्वानरूप देव ऋषि और पितरों को सुख युक्त करते हैं सो तर्पण कहा जाता है तथा जो उन लोगों की अहुपूर्वक सेवा करना है उसी को आहु जानना चाहिये यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं उन्हीं में घटता है मरे हुएों में नहीं क्योंकि मृतकों का प्रत्यक्ष होना असंभव है इस लिये उन की सेवा नहीं हो सकती तथा जो उन के लिये कोई पदार्थ दिया जावे वह भी उन को नहीं मिल सकता इस से केवल विद्यमानों की ही अहुपूर्वक सेवा करने का नाम तर्पण और आहु वेदों में कहा है क्योंकि सेवा करने योग्य और सेवा करने वाले इन दोनों ही के प्रत्यक्ष होने से यह सब काम हो सकता है दूसरे

प्रकार से नहीं सो तर्पण आदि कर्म से सत्कार करने योग्य तैने हैं देव ऋषि और पितर देवों में प्रमाण (पुनन्तु०) हे जातवेद परमेश्वर आप सब प्रकार से मुझे पवित्र कीजिये और जो आप के उपासक आप की आज्ञा पालते हैं अथवा जोकि विद्वान् ज्ञानी पुरुष कहाने हैं वे मुझको विद्यादान से पवित्र करें और आप के दिये विशेष ज्ञान वा आप के विषय के ध्यान से हमारी बुद्धियां पवित्र हों तथा (पुनन्तु विश्वाभूतानि) सब संसारी जीव आप की कृपा से पवित्र होकर आनंद में रहें (द्वयं वा०) दो लक्षणों के पाये जाने से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं अर्थात् एक देव और दूसरी मनुष्य उन में भेद होने के सत्य और भ्रूंत दो कारण हैं (सत्यमेव) जो कोई सत्यभाषण सत्यस्वीकार और सत्यकर्म करते हैं वे देव तथा जो भ्रूंत बोलते भ्रूंत मानते और भ्रूंत कर्म करते हैं वे मनुष्य कहाने हैं इस लिये भ्रूंत को छेड़कर सत्य को प्राप्त होना सब को उचित है इस कारण से बुद्धिमान लोग निरंतर सत्य ही कहें मानें और करें क्योंकि सत्यव्रत आचरण करनेवाले जो देव हैं वे तो कीर्त्तिमानों में भी कीर्त्तिमान होके सदा आनंद में रहते हैं परंतु उन से विपरीत चलनेवाले मनुष्य दुःख को प्राप्त होकर सब दिन पीड़ित ही रहते हैं इस से सत्यधारी विद्वान् ही देव कहाने हैं ॥ (तं यज्ञं०) इस मंत्र का व्याख्यान सृष्टिविद्याविषय में कर दिया है ॥ (अथ यदेवा०) जो सब विद्याओं को पढ़ के औरों को पढ़ाना है यह ऋषिकर्म कहाना है और उस में जितना मनुष्यों पर ऋषियों का ऋण होता है उस सब को निवृत्ति उन की सेवा करने से होती है । इस से जो निर्य विद्यादान यज्ञ और सेवा-कर्म करना है । वही परस्पर आनन्दकारक है और यही व्यवहार (निधि गोप०) अर्थात् विद्याकोश का रक्षक है ॥ (अथार्षेयं प्रवृ०) विद्या पढ़ के सबों को पढ़ानेवाले ऋषियों और देवों की प्रिय पदार्थों से सेवा करनेवाला विद्वान् वह पराक्रमयुक्त होकर विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है इस से आर्षेय अर्थात् ऋषि कर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥

॥ अथ पितृषु प्रमाणम् ॥

ऊर्जे वहन्तीरमृतं घृतं पर्यः कीर्त्तलं परिस्तरम् । स्वधा-
स्थं तर्पयन्ते मे पितॄन् ॥ १ ॥ यजु० अ० २ मं० ३४ ॥ आयन्तु नः पि-
तरः सोम्यासौ ऽग्निश्चात्ताः पृथिभिर्देवयानैः । अस्मिन् यज्ञे स्व-
धया मदन्तो ऽधि ब्रुवन्तु ते ऽवन्त्वस्मान् ॥ २ ॥ य० अ० १९ मं० ५८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(ऊर्जे वहन्ती०) सर्वे मनुष्याः सर्वान्प्रत्येवं जानीयुश्चक्षुष्युः

(मे पितृन्) मम पितृपितामहादीनाचार्यादींश्च सर्वं यूयं तर्पयत सेवया प्रसन्नान् कुस्तेति तथा (स्वधास्य) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीयास्तानाह (ऊर्जे०) पराक्रमं प्रापिकाः सुगंधिताः प्रिया हृद्या अपः (अमृतं) अमृतात्मकमनेकविधं रसं (घृतं) आज्यं (पयः) दुग्धं (कीलालं) संस्कारैः संपादितमनेकविधमन्नं (परिसृतम्) माक्षिकं मधुकालप्लवं फलादिकं च निवेद्य पितृन् प्र प्रन्कुय्यात् ॥ १ ॥ ये (सोम्यासः) सोमगुणाः शान्ताः सोमबल्यादिरसनिष्पादने चतुराः (अग्निष्वाताः) अग्निः परमेश्वरो ऽभ्युदयाय सुष्ठुतया ऽऽतो गृहीतो येस्ते ऽग्निष्वाताः । तथा होमकरणार्थं शिल्पविद्यासिद्धये च भौतिकोग्निरातो गृहीतो येस्ते पितरो विज्ञानवन्तः पालकाः सन्ति (आयन्त नः) ते अस्मत्समीपमागच्छन्तु । दयं च तत्सामीप्यं नित्यं गच्छेम । (पथिभिर्द०) तान् विद्वन्मार्गैर्दृष्टिपथमागतान् दृष्ट्वा ऽभ्युत्थाय हे पितरो भवन्त आयन्त्वित्युक्त्वा प्रीत्या ऽऽसनादिकं निवेद्य नित्यं सत्कुर्याम (अस्मिन्०) हे पितरो ऽस्मिन्सत्काररूपे यज्ञे (स्वधया) अमृतरूपया सेवया (मदन्तो) हन्तो ऽस्मान्नक्षितारः सन्तः सत्यविद्यामधिब्रुवंतूपदिशन्तु ॥ २ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(ऊर्जे वह०) पिता वा स्वामी अग्ने पुत्र पौत्र स्त्री और नौकाओं को इस प्रकार आज्ञा देवें कि (तर्पयत मे०) जो २ हमारे मान्य पिता पिता-महादि माता मातामहादि और आचार्य्य तथा इन से भिन्न भी विद्वान् लोग जो अवस्था वा ज्ञान में बड़े और मान्य करने योग्य हैं तुमलोग उन की (ऊर्जे०) उत्तम २ जल (अमृतं) रोग नाश करनेवाले उत्तम अन्न (परिसृतं) सब प्रकार के उत्तम फलों के रस आदि पदार्थों से नित्य सेवा किया करो कि जिस से वे प्रसन्न होके तुमलोगों को सदा विद्या देते रहें क्योंकि ऐसा करने से तुमलोग भी सदा प्रसन्न रहोगे (स्वधास्य०) और ऐसा विनय सदा रखो कि हे पूर्वोक्त पितर लोगो आप हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से तृप्त कीजिये और हमलोग जो २ पदार्थ आप लोगो की इच्छा के अनुकूल निवेदन कर सकें उन २ की आज्ञा किया कीजिये हमलोग मन वचन और कर्म से आप के सुख करने में स्थित हैं आप किसी प्रकार का दुःख न पोंछें जैसे आपलोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्याश्रम में हमलोगों को सुख दिया है वैसे ही हम को भी आपलोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये कि जिस से हमलोगों को ज्ञानवृत्ता दीक्ष न प्राप्त हो ॥ १ ॥ (आयन्त नः) पितृ शब्द से सब के रक्षक अष्ट स्वभाववाले ज्ञानियों का बहण होता

हे क्योंकि जैसी रत्ता मनुष्यों की सुशिक्षा और विद्या से हो सकती है वैसी किसी दूसरे प्रकार से नहीं इसी लिये जो विद्वान् लोग मनुष्यों को ज्ञान-चतु देकर उन के अविद्यारूपी अंधकार के नाश करनेवाले हैं उन को पितर कहते हैं उन के सत्कार के लिये मनुष्यमात्र को ईश्वर की यह आज्ञा है कि वे उन आते हुए पितरलोगों को देख कर अभ्युत्थान अर्थात् उठ के प्रीतिपूर्वक कहें कि आइये बैठिये कुछ जलपान कीजिये और खाने पाने की आज्ञा दीजिये पश्चात् जो २ बातें उपदेश करने के योग्य हैं सो २ प्रीतिपूर्वक समझाइये कि जिस से हमलोग भी सत्यविद्या युक्त होके सब मनुष्यों के पितर कहावें और सदा ऐसी प्रार्थना करें कि हे परमेश्वर आप के अनुग्रह से (सोम्यासः) जो शील स्वभाव और सब को सुख देनेवाले विद्वान् लोग (अग्निष्वात्ताः) अग्नि नाम परमेश्वर और रूप गुण वाले भौतिक अग्नि की अलग २ करने वाली विद्युत् रूप विद्या को यथावत् जाननेवाले हैं वे इस विद्या और सेवा यज्ञ में (स्वधया मदन्तः) अपनी शिक्षा विद्या के दान और प्रकाश से अत्यंत हर्षित होके (अवन्त्वम्मान्) हमारी सदा रत्ता करें तथा उन विद्यार्थियों और सेवकों के लिये भी ईश्वर की आज्ञा है कि जब २ वे आवें वा जावें तब २ उन को उत्थान नमस्कार और प्रियवचन आदि से संतुष्ट रक्वें तथा फिर वे लोग भी अपने सत्यभाषण से निर्वैरता और अनुग्रह आदि सद्गुणों से युक्त होकर अन्य मनुष्यों को उसी मार्ग में चलावें और आप भी दृढ़ता के साथ उसी में चलें ऐसे सब लोग कुल और लोभादि रहित होकर परो-प्रकार के अर्थ अपना सत्य व्यवहार रक्वें (पणिभिर्देवयानैः) उक्त भेद से विद्वानों के दो मार्ग होते हैं एक देवयान और दूसरा पितृयान अर्थात् जो विद्यामार्ग है वह देवयान और जो कर्मापासनामार्ग है वह पितृयान कहाता है सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थ को सदा करते रहें ॥

अचं पितरो मादयध्वं यथा भागमाहुंषायध्वम् । अग्नी-
मदन्तपितरो यथा भागमाहुंषायिषत ॥ ३ ॥ नमो वः पितरो रसाय
नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः
स्वधायै । नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो
वः पितरः पितरो नमो वः । गृध्राक्षः पितरो दत्त सुतो वः पितरो
देष्मै तद्वः पितरो वास आर्धत्त ॥ ४ ॥ आर्धत्त पितरो गभै कु-
मारं पुष्करस्तजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥ ५ ॥ य० अ० २
मं० ३१ । ३२ । ३३ ।

॥ भाष्यम् ॥

(अत्र पितरोऽ०) हे पितरोऽवास्यां सभायां पाठशालायां वा ऽस्मान् विद्याविज्ञानदानेनानन्दयुक्तान् कुरुत (यथा भाग०) भजनीयं स्वं स्वं विद्यारूपं भागं (आधृषायध्वं) विद्वद्वत्स्वीकृत्य (अमीमदन्त) अस्मिन्सत्योपदेशे विद्यादानकर्मणि हर्षेण सदात्सहवन्तो भवत । (यथा भागमा०) तथा यथायोग्यं सत्कारं प्राप्य श्रेष्ठाचारेण प्रसन्नाः सन्तो विचरत ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितरः । रसाय सोमलतादिरसविज्ञानानन्दग्रहणाय (नमो वः पितरः०) शोषायाग्निवायुविद्या प्राप्त्रये (नमो वः पितरो जी०) जीवनार्थं विद्याजीविकाप्राप्त्रये (नमो वः पितरः स्व०) मोक्षविद्याप्राप्त्रये (नमो वः०) आपत्कालनिवारणाय (नमो वः०) दुष्टनामुपरि क्रोधधारणाय क्रोधस्य निवारणाय च (नमो वः पितरः०) सर्वविद्याप्राप्त्रये च युष्मभ्यं वारं-वारं नमोस्तु (गृहान्नः०) हे पितरो गृहान् गृहसंबन्धिष्यवहारबोधाच्चेऽस्मभ्यं यूयं दत्त (सतो वः०) हे पितरो येऽस्माकमधिकारे विद्यमानाः पदार्थाः सन्ति तान् वयं वो युष्मभ्यं दद्मो यतो वयं (द्वेष्यः) कदाविद्वद्वद्भ्यो विद्यां प्राप्य क्षीणा न भवेम (एतद्वः पितरः) हे पितरोऽस्माभिर्यद्वा सो वस्त्रादिकं वस्तुयुष्मभ्यं दीयते एतद्वयं प्रीत्या गृह्णीत ॥ ४ ॥ (आधत पितरो०) हे पितरो यूयं मनुष्येषु विद्यागर्भमाधत धारयत । तथा विद्यादानार्थं (पुष्करस्रजं) पुष्पमालाधारिणं कुमरं ब्रह्मचारिणं यूयं धारयत (यथेह०) येन प्रकारेणेहास्मिन्संसारे विद्यासु शिक्षायुक्तः पुरुषोऽसत्स्यात् । येन च मनुष्येषूत्तमविद्योन्नतिर्भवेत्तथैव प्रयतध्वम् ॥ ५ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अत्र पितरो मा०) हे पितरलोगो आप यहाँ हमारे स्थान में आनन्द कीजिये (यथा भागमावृ०) अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन वस्त्रादि भोग से आनंदित हूजिये (अमीमदन्त पितरः०) आप यहाँ विद्या के प्रचार से सब को आनंदयुक्त कीजिये (यथा भागमा०) हमलोगों से यथायोग्य सत्कार के प्राप्ति होकर अपनी प्रसन्नता के प्रकाश में हमको भी आनंदित कीजिये ॥ ३ ॥ (नमो वः) हे पितरलोगो हमलोग आप को नमस्कार करते हैं इस लिये कि आप के द्वारा हमको रस अर्थात् विद्यानंद ओषधि और जल विद्या का यथावत् ज्ञान हो तथा (नमो वः०) शोष अर्थात् अग्नि और वायु की विद्या कि जिससे ओषधि और जल सूख जाते हैं उस के बोध होने के लिये भी हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हे पितरलोगो आप की सत्यशिक्षा से हमलोग प्रमादरहित और जिनेन्द्रिय होके पूर्ण उमर को भोगें इसलिये हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हे विद्वान् लोगो अमृत

रूप मोक्षविद्या की प्राप्ति के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हे पितरो घोर विपत्त अर्थात् आपत्काल में निर्वाह करने की विद्याओं को जानने की इच्छा से दुःखों के पार उतरने के लिये हमलोग आप की सेवा करते हैं (नमो वः०) हे पितरो दुष्ट जीव और दुष्ट कर्मों पर नित्य अप्रीति करने की विद्या सीखने के लिये हम आप को नमस्कार करते हैं (नमो वः०) हम आपलोगों को वारंवार नमस्कार इस लिये करते हैं कि श्वाश्रम आदि करने के लिये जो २ विद्या अवश्य हैं सो २ सब आपलोग हम को दें (सतो वः०) हे पितरलोग आप सब गुणों और सब संसारी सुखों के देनेवाले हैं इस लिये हम लोग आप को उत्तम २ पदार्थ देते हैं इन को आप प्रीति से लीजिये तथा प्रतिष्ठा के लिये उत्तम २ वस्त्र भी देते हैं इन को आप धारण कीजिये और प्रसन्न होके मन्त्र के मुख के अर्थ संसार में सत्यविद्या का प्रचार कीजिये ॥ ४ ॥ (आधत्त पितरो०) हे विद्या के देनेवाले पितरलोग इस कुमार ब्रह्मचारी की गर्भ के समान रत्ना करके उत्तम विद्या दीजिये कि जिस से वह विद्वान् होके (पुष्कर०) जैसे पुष्पों की माला धारण करके मनुष्य शोभा को प्राप्त होता है वैसीही यह भी विद्या पाकर सुन्दरतायुक्त होवे । (यथेह पुरुषोऽमत्) अर्थात् जिस प्रकार इस संसार में मनुष्यों की विद्यादि मनुष्यों में उत्तम कीर्ति और सब मनुष्यों को सुख प्राप्त हो सके वैसेही प्रयत्न आपलोग मदा कीजिये यह ईश्वर की आज्ञा विद्वानों के प्रति है इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस का पालन सदा करते रहें ॥ ५ ॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः । तेषां श्रीर्मयि कल्पताम् । स्मं लोके शतं समाः ॥ ६ ॥ य० अ० १८ मं० ४६ । उदीरतामवर उत्परांस उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः । असुयईयुरवृका ऋतज्ञास्तेनो वन्तु पितरो हवेषु ॥ ७ ॥ अङ्गिरसो नः पितरो नवगवा अथवाणो अगवः सोम्यासः । तेषां वयं सुमनौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसेस्थाम ॥ ८ ॥ य० अ० १८ मं० ४८ । ५० ॥ ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये । तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ ९ ॥ य० अ० १८ । मं० ४५ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(ये समानाः) ये मामका मदीया आचार्यादयः (जीवाः) विद्यमानजीवनाः (समनसः) धर्मेश्वरसर्वमनुष्यहितकरणेकनिष्ठाः (समानाः) धर्मेश्वरसत्यविद्यादिशुभगुणेषु समानत्वेन वर्तमानाः (जीवेषु) उपदेश्येषु

शिष्येषु सत्यविद्यादानाय कृत्वादिदोषराहित्येन वर्त्तमानाविद्वांसः सन्ति (तेषां०) विदुषां या श्रीः सत्यविद्यादिगुणाढ्या शोभास्ति (अस्मिं लोके शतं०) सामयिकी लक्ष्मीः शतवर्षपर्यन्तं (कल्पतां) स्थिरा भवतु यतो वयं नित्यं सुखिनः स्याम ॥ ६ ॥ (उदीरतामवरे०) ये पितरो ऽवकृष्टगुणाः (उत्परासः) उत्कृष्टगुणाः (उन्मध्यमाः) मध्यस्थगुणाः (सोम्यासः) सोम्यगुणाः (अवृकाः) अजातशत्रवः (कृतज्ञाः) ब्रह्मविदो वेदविदश्च ते ज्ञानिनः पितरो हवेषु देय ग्राह्यव्यवहारेषु विज्ञानदानेन (नोऽवन्तु) अस्मान् सदा रक्षन्तु तथा (असुंयर्ह्युः) येऽसुं प्राणमीयुः प्राप्नुयुरर्थाद् द्वाभ्यां जन्मभ्यां विद्वांसो भूत्वा विद्यमानजीवनास्म्यस्तस्य सर्वैः सेवनीया नैव मृताश्चेति कुतस्तेषां देशान्तरप्राप्या संनिकषाभावात् सेवाग्रहणेऽसमर्थाः सेवितुमशक्याश्च ॥ ७ ॥ (आङ्गिरसो नः) ये ऽङ्गेषु रसभूतस्य प्राणाख्यस्य परमेश्वरस्य ज्ञातारः (नवगवः) सर्वासु विद्यासूतमकर्मसु च नवोनागतयो येषां ते (अथर्वणः) अथर्ववेदविदो धनुर्वेदविदश्च (भृगवः) परिष्कृज्ज्ञानाः शुद्धाः (सोम्यासः) शान्ताः सन्ति (तेषां वयं० सुमतौ) वयं तेषां यज्ञानां यज्ञादिसत्कर्मसु कुशलानामपीति निश्चयेन सुमतौ विद्यादिशुभगुणग्रहणे (भद्रे) कल्याणकरे व्यवहारे (सौमनसे) यच्च विद्यानन्दयुक्तं मनो भवति तस्मिन् (स्याम) अर्थाद्वृत्तां सकाशादुपदेशं गृहीत्वा धर्मार्थकाममोक्षप्राप्ता भवेम ॥ ८ ॥ (ये समानाः) (समनसः) अनयोरर्थोक्तः । ये(यमराज्ये) राजसभायां न्यायाधीशत्वेनाधिकृताः (पितरः) विद्वांसः सन्ति (तेषां लोकः) यो न्यायदर्शनं स्वधा अमृतात्मको लोको भवतीति (यज्ञो०) यश्च प्रजापालनाख्यो राजधर्मव्यवहारो देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धोऽस्ति । सोऽस्माकं मध्ये (कल्पतां) समर्थतां प्रसिद्धो भवतु । य एवं सत्यन्यायकारिणः सन्ति तेभ्यो (नमः) नमोस्तु अर्थाद्ये सत्यन्यायाधीशस्ते सदैवास्माकं मध्ये तिष्ठन्तु ॥ ६ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(ये समानाः) जो आचार्य्य (जीवाः) जीते हुए (समनसः) धर्म ईश्वर और सर्वहित करने में उद्यत (समानाः) सत्यविद्यादि शुभगुणों के प्रचार में ठीक २ विचार और (जीवेषु) उपदेश करने योग्य शिष्यों में सर्व विद्यादान के लिये कुल कपटादि दोषरहित होकर प्रीति करनेवाले विद्वान् हैं (तेषां) उन की जो श्री अर्थात् सत्यविद्यादि श्रेष्ठ गुणयुक्त शोभा और राज्यलक्ष्मी है सो मेरे लिये (अस्मिंलोके शतं समाः) इस लोक में १०० सौ वर्ष पर्यन्त स्थिर रहें जिस से हमलोग नित्य सुख संयुक्त होके पुरुषार्थ करते रहें ॥ ६ ॥

(उदीरताम०) जो विद्वान् लोग (अखरे) कनिष्ठ (उन्मध्यमाः) मध्यम और (उत्प-
रासः) उत्तम (पितरः सोम्यासः) चन्द्रमा के समान सब प्रजाओं को आ-
नन्द करानेवाले (असुं यद्वयुः) प्राणाविद्यानिधान, (अवृकाः) शत्रु रहित अर्थात्
सब के प्रिय । पतप्रात छोड़ के सत्यमार्ग में चलनेवाले तथा (अतज्ञाः)
जो कि अत अर्थात् ब्रह्म, यथार्थ धर्म, और सत्यविद्या के जाननेवाले हैं
(तेनोवन्तु पितरो हवेषु) वे पितरलोग युद्धादि व्यवहारों में हमारे साथ
होके अथवा उन की विद्या दे के हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥ (अगिरसा नः)
जो ब्रह्माण्ड भर के पृथिव्यादि सब अंगों की मर्म विद्या के जाननेवाले
(नवावा) नवीन २ विद्याओं के ग्रहण करने और करानेवाले (अथर्वाणः) अथर्व-
वेद और धनुर्वेद विद्या में चतुर तथा दुष्ट शत्रु और दोषों के निवारण करने में
प्रवीण (भृगवः) परिष्कृत ज्ञानी और तेजस्वी (सोम्यासः) जो परमेश्वर की
उपासना और अपनी विद्या के गुणों में शान्ति स्वरूप (तेषां वयस्सुमते०)
तथा यज्ञ के जानने और करनेवाले (पितरः) जो पितर हैं तथा जिम कल्याण-
कारक विद्या से उन की सुमति, (भद्रे) कल्याण और (सौमनसे) मन की
शुद्धि होती है उस में (अपिस्याम) हमलोग भी स्थिर हों कि जिस के
बोध से व्यवहार और परमार्थ के सुखों का प्राप्त होके मदा आनंदित
रहें ॥ ८ ॥ (ये समा०) जो पितर अर्थात् विद्वान् लोग यमराज्य अर्थात् पर-
मेश्वर के इस राज्य में सभासद वा न्यायाधीश हो के न्याय करनेवाले और
(समनसः पितरः०) सब सृष्टि के हित करने में ममान बुद्धि हैं (तेषां लोकः
स्वधा०) जिन का लोक अर्थात् देश सत्यन्याय का प्राप्त होके सुखी रहता
है (नमः) उन को हमलोग नमस्कार करते हैं क्योंकि वे पतप्रात रहित
होके सत्य व्यवस्था में चल के अपने द्रष्टांत से औरों को भी उसी मार्ग में
चलानेवाले हैं (यज्ञो देवेषु कल्पता) यह सत्यधर्मसंबन्धी प्रजापालनरूप
जो अश्वमेध यज्ञ है सो परमात्मा की कृपा से विद्वानों के बीच में सत्य
व्यवस्था की उन्नति के लिये सदा समर्थ अर्थात् प्रकाशमान बना रहे ॥

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपोथं वसिष्ठाः ।
तेर्भिर्यमः संश्रराणो हवींष्युशन्नशङ्गिः प्रतिकाममन्तु ॥ १० ॥
वर्हिषदः पितर ऊत्यृवागिमात्रेह्व्या चक्रमा जुषध्वम् । तआगता-
वसाशतमेनाथानः शयेररपो दधात ॥ ११ ॥ आहं पितृन्सुं विद-
चां २ ॥ अविस्तिनपातं च विक्रमणं च विष्णोः । वर्हिषदो ये
स्वधया सुतस्य भजंत पित्वस्त इहार्गमिष्ठाः ॥ १२ ॥ य० अ०
१८ मं० ५१ । ५५ । ५६ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(ये) (सोम्यासः) सोमविद्यासंपादिनः (वसिष्ठाः) सर्वविद्या-
द्युत्तमगुणेष्वतिशयेन रममाणाः (सोमपीथं) सोमविद्यारक्षकं (अनूहिरे)
पूर्वं सर्वविद्याः पठित्वाऽध्याप्य तांस्ता अनुप्रापयन्ति ते (नः पूर्वं पि-
तरः) ये ऽस्माकं पूर्वं पितरः सन्ति (तेभिः) तैः (उशद्विः) परमेश्वरं
धर्मं च कामयमानैः पितृभिः सह समागमेनैव (सश्रराणः) सत्यवि-
द्यायाः सम्यग्दानकर्ता (यमः) सत्यविद्याव्यवस्थास्थापकः परमेश्वरो
विदितो भवति किं कुर्वन् । (हवींशसि०) विज्ञानादीन्युशन् सर्वेभ्यो दातुं
कामयन् सन् । अतः सर्वजनश्रवमाचरन् सन् । (प्रतिकाममत्तु)
सर्वान् कामान्प्राप्नोतु ॥ १० ॥ (बर्हिषदः) ये बर्हिषे सर्वान्तमे ब्रह्मण
विद्यायां च निषण्णास्ते (पितरः) विद्वांसः (अवसा शंतमेन) अतिश-
येन कल्याणरूपेण रक्षणेन सह वर्तमानाः (आगत) अस्माकं समीपमा-
गच्छन्तु आगतान् तान्प्रत्येवं वयं ब्रूमहे हे विद्वांसः यूयमागत्य (अर्वाक्)
पश्चात् (इमा) इमानि हव्यानि ग्राह्यदेयानि वस्तूनि (जुषध्वं) संग्रह्य
सेवध्वम् । हे पितरः वयं (उत्या) भवद्रक्षणेन वो युष्माकं सेवां (चकृम)
नित्यं कुर्याम । (अथानः शं०) अथेति सेवाप्राप्तेऽनन्तरं यूयं नोऽस्माकं
शंयोर्विज्ञानरूपं सुखं दधात । किंत्वविद्यारूपं पापं दूरीकृत्वा (अरपः)
निष्पापतां दधात । येन वयमपि निष्पापा भवेमेति ॥ ११ ॥ (आहं
पितृन्सु विद्वँ०] ये बर्हिषदः स्वधयाऽन्नेन सुतस्य सोमवल्यादिभ्यो नि-
ष्पादितस्य रसस्य भाशनं (भजन्ते) सेवन्ते (पित्वः) तत्पानं कृत्वा
(तइहाग०) अस्मिन्नस्मत्सं निहितदेशे ते पितरआगच्छन्तु । यद्वदृशाः
पितरः सन्ति तान् विद्यादिशुभगुणानां दानकर्तृनहं (आ अविंसि) आस-
मन्ताद्वेद्मि । अथ व्यत्ययेनात्मनेपदमिडभावश्च । तान् विदित्वा संगम्य
च (विष्णोः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (प्रक्रमणं च) विविधक्रमेण
जगद्रचनं तथा (न पातं च) न विद्यते पातो विनाशो यस्य तन्मोहाख्यं
पदं च वेद्मि यत्प्राप्य मुक्तानां सदाः पातो न विद्यते तदेतच्च विदुषांसंगे-
नेव प्राप्तं भवति । तस्मात्सर्वविदुषां समागमः सदा कर्तव्यमिति ॥ १२ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(येनः पूर्वं पितरः०) जो कि हमारे पूर्व पितर अर्थात् पिता पितामह
और अध्यापकनाग शांतात्मा तथा (अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः) जो सोमपान
के करने कराने और वसिष्ठ अर्थात् सब विद्या में रमण करनेवाले हैं (तेभि-

यमः सः) ऐसे महात्माओं के साथ समागम करके विद्या होने से यम अर्थात् न्यायकारी अन्तर्यामी परमेश्वर निस्सन्देह जाना जाता है (हविः) जो सत्यभक्ति आदि पदार्थों की कामना और (उशद्भिः प्रतिका०) सब कामों के बीच में सत्यसेवन करनेवाले तथा जिन का आधारभूत परमेश्वरही है। हे मनुष्यलोगो ऐसे धर्मात्मा पुरुषों के सत्संग से तुम भी उसी परमात्मा के आनन्द से तृप्त हो इस में निरुक्तकार का प्रमाण अ० ११ ख० १९ निरुक्त में लिखा है (आगरसो नवगतयो इत्यादि) वहां देख लेना ॥ १० ॥ (बर्हिः पदः पि०) जो ब्रह्म और सत्यविद्या में स्थित पितरलोग हैं वे हमारी रक्षा के लिये सदा तत्पर रहें इस प्रकार से कि हमलोग तो उन की सेवा करें और वे लोग हम को प्रीतिपूर्वक विद्यादि दान से प्रसन्न करदेवें (त आगतावमा०) हे पितरलोगो हम कांता करते हैं कि जब २ आप हमारे वा हम आप के पास आवें जावें तब २ (इमा हव्या०) हमलोग उत्तम २ पदार्थों से आपलोगों की सेवा करें और आपलोग भी उन को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करें (अवृ०) अर्थात् हमलोग तो अवादि पदार्थों से और आपलोग (शत०) हमारे कल्याणकारी गुणों के उपदेश से (अथानः शंयो०) इस के पीछे हमारे कल्याण के विधान से (अरपः) अर्थात् जिस से हमलोग पाप न करें ऐसी बातों का धारण कराइये ॥ ११ ॥ (अहं पितृन्०) मैं जानता हूं कि पितर लोग अपनी उत्तम विद्या और उपदेश से सुख देनेवाले हैं (न पातं च विक्रम-क्रमणं च विष्णोः) जो मैं सब में व्यापक परमेश्वर का विक्रमण अर्थात् सृष्टि का रचन और न पात अर्थात् उस के अविनाशी पद को भी (आ) (अवित्सि) ठीक २ जानता हूं (बर्हिषदो ये०) यह ज्ञान मुझ को उन्हीं पितरलोगों की कृपा से हुआ है जिन को देवयान कहते हैं और जिस की प्राप्ति से जीव पुनर्दुःख में कभी नहीं गिरता तथा जिस में पूर्ण सुख प्राप्त होता है उन दोनों मार्गों को भी मैं विद्वानों के ही संग से जानता हूं (स्वधा०) जो विद्वान अपने अमृत रूप उपदेश से पुत्र की भावना के साथ विद्यादान करते हैं। तथा उस में आप भी (पितृवः) आनंदित होकर संसार में सब सुखों के देनेवाले होते हैं वे सर्व हितकारी पुरुष हमारे पास भी सदा आया करें कि जिस से हमलोगों में नित्य ज्ञान की उन्नति हुआ करे ॥ १२ ॥

उपहूताः पितरः सोम्यासौ बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु॥ तआगं-
मंतु तद्दृष्टुं वन्त्वधि ब्रुवन्तु तृप्सवन्त्वस्मान् ॥ १३ ॥ अग्निष्वात्ताः
पितर एहगच्छत सदःसदः सदतसुप्रणीतयः । अत्ताहवीश्वि प्रयं-
तानि बर्हिष्यथा रयिःसर्ववीरं दधातन ॥ १४ ॥ ये अग्निष्वात्ता ये
अग्निष्वात्ता मध्येदिवः स्वधया मादयन्ते । तेभ्यः स्वराडसु

नीतिमेतां यथा वृशन्तन्वृक्कल्पयाति ॥ १५ ॥ य० अ० १८ मं०
५७ । ५८ । ६० ॥ ॥ भाष्यम् ॥

(सोम्यासः) ये प्रतिग्राह्याः पितरस्ते (बर्हिष्येषु) प्रकृष्टेषु (निधिषु) उत्तमवस्तुप्रापनाह्नेषु (प्रियेषु) प्रीत्युत्पादकेषु आसनेषु (उपहूताः) निमंत्रिताः सन्तः सीदन्तु (आगमन्तु) सत्कारं प्राप्यास्मत्समीपं वारंवारमागच्छन्तु (तद्वह) तद्वहागत्यास्मत्प्रश्नान् (श्रुवन्तु) श्रुश्रुवन्तु श्रुत्वा तदुत्तराणि (अधिब्रुवन्तु) कथयन्तु । एवं विद्यादानेन व्यवहारोपदेशेन च (तेऽवन्त्वस्मान्) सदाऽस्मान् रक्षन्तु ॥ १३ ॥ (अग्निष्वाताः पितर एव गच्छत) हे पूर्वोक्ता अग्निष्वाताः पितरः अस्मत्सन्निधौ प्रीत्या आगच्छत आगत्य (सुप्रणीतयः) शोभना प्रकृष्टा नीतिर्येषां तत्त्वभूता भवन्तः पूज्याः सन्तः (सदः सदः सदत) प्रतिगृहं प्रति सभाचोपदेशार्थं स्थितिं भ्रमणं च कुरुत (अताहवीर्येषु) प्रयत्नयुक्तानि कर्माणि देययोग्यान् यन्तमज्ञानि वा यूयं स्वीकुरुत (बर्हिष्यथा०) अथेत्यनन्तरं बर्हिषि सदसि गृहे वा स्थित्वा (रयि० सर्ववीरं) सर्ववीरैर्युक्तं विद्यादिधनं यूयं दधातन यतोऽस्मासु बुद्धिशरीरबलयुक्तावीराः स्थिरा भवेयुः सत्यविद्याकोशश्च ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वाता०) ये अग्निविद्यायुक्ताः (अग्निष्वाताः) ये वायुजलभूगर्भादि-विद्यानिष्ठाः (मध्ये दिवः) द्योतनात्मकस्य परमेश्वरस्य सद्विद्याप्रकाशकस्य च मध्ये (स्वधया) अन्नविद्यया शरीरबुद्धिबलधारणेन च (मादयन्ते) आनन्दिता भूत्वा अस्मान्सर्वान् जनानानन्दयन्ति (तेभ्यः) तेभ्यो विद्वद्भ्यो वयं नित्यं सद्विद्यां । तथा (असुनीतिमेतां) सत्यन्याययुक्तामेतां प्राणनीतिं च गृहीयाम (यथा वृशं) ते विद्वामो वयं च विद्याविज्ञानप्राप्या सर्वापकारेषु नियमेषु स्वतन्त्राः प्रत्येकप्रियेषु च परतन्त्रा भवन्तु यतः । (स्वराट्) स्वयं राजते प्रकाशते स्वान् राजयति प्रकाशयति वा स स्वराट् परमेश्वरः (तन्वं कल्पयाति) तन्वं विद्वच्छरीरमस्मदर्थं कृपया कल्पयाति कल्पयतु निष्पादयतु यतोऽस्माकं मध्ये बहवो विद्वामो भवेयुः ॥ १५ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(उपहूताः पितरः) उन पितरों को हम लोग निमंत्रण देते हैं कि वे हमारे समीप आके (बर्हिष्येषु) उत्तम आसनों पर बैठकर जो कि बहुमूल्य और देखने में प्रिय हों हम को उपदेश करें (तथागमन्तु०) जब वे पितर आते तब सब लोग उन का इस प्रकार से सन्मान करें कि आप आइये

उत्तम आसन पर बैठिये (इह श्रुवन्तु) यहां हमारी विद्या की बातें और प्रश्न सुनिये (आधि श्रुवन्तु) इन प्रश्नों के उत्तर दीजिये और मनुष्यों का ज्ञान देके उन की रक्षा कीजिये ॥ १३ (अग्निष्वाताः पितरण०) हे अग्निविद्या के जाननेवाले पितरलागो आप उपदेशक होकर हमारे घरो में आकर उपदेश और निवास कीजिये फिर वे पितर कैसे जाने चाहिये कि (सुप्रणीतयः) उत्तम २ गुणयुक्त होके (बर्हपि०) सभा के बीच में सत्य २ न्याय करने के योग्य हों तथा (हविः) वेही दान और ग्रहण के योग्य विद्यादि गुणों का दान और ग्रहण करानेवाले हों (रयि० मर्ववीरं दधातन) विद्यादि जो उत्तम धन है कि जिस से धीर पुरुष युक्त सेना की प्राप्ति होती है उस के उपदेश से हम को पुष्ट करें ऐसे ही उन विद्वानों के प्रति भी ईश्वर का यह उपदेश है कि वे लोग देश २ और घर २ में जाके सब मनुष्यों को सत्याविद्या का उपदेश करें ॥ १४ ॥ (ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ताः) जो पितर अग्नि विद्या और सोम विद्या के जाननेवाले तथा (मध्यं दिवः स्वधया मादयन्ते) जो कि दिव अर्थात् विज्ञानरूप प्रकाश के बीच में सुख भोग से आनन्दित रहतेहैं (तेभ्यः स्वराडसु०) उन के हितार्थ स्वराट् जो स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर है वह (असुनीति) अर्थात् प्राणविद्या का प्रकाश कर देता है इस लिये हम प्रार्थना करते हैं कि (यथाव शंतन्वं कल्पयाति) हे परमेश्वर आप अपनी कृपा से उन के शरीर सदा सुखी तेजस्वी और रोगरहित रखिये कि जिस से हम को उन के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता रहे ॥ १५ ॥

अग्निष्वात्ता नृत्तुमतां हवामहे नाराशंसे सोमपीथं यआशुः । तेनो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयं स्थामपतयो रयीणाम् ॥ १६ ॥
ये चेह पितरो ये चने हयांश्च विद्वयां २ ॥ उचन प्रविद्म ॥ त्वं वेत्य
यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ॥ १७ ॥ इदं पितृभ्या
नमो अस्त्वद्यये पूर्वासाय उपरासईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता
येवानूनसुहृजनासुव्वित्तु ॥ १८ ॥ य० अ० १८ मं० ६१ । ६७ ।
६८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्निष्वात्ता०) हे मनुष्याः । यथा वयं ऋतुविद्यावतोऽर्थाद्यथा समयमुद्योगकारिणोऽग्निष्वाः पितरः सन्ति तान् (हवामहे) आह्वयामहे तथैव युष्माभिरपि तत्सेवनायाह्वानं नित्यं कार्यम् । (सोमपीथं यआशुः) ये सोम घानमश्नन्ति ये च (नाराशंसे) नरैः प्रशस्येऽनुष्ठातव्यक-

मणि कुशलाः सन्ति (तेनो विप्रासः) ते विप्रा मेधाविनो नोऽस्मान् (सु-
हवा०) सुष्ठुतया यहीतारो भवन्तु (सोमपीथं०) ये सोमविद्यादानग्रह-
णाभ्यां तृप्ताः । एषां संगेन । (वयंस्यामपतयो०) सत्यविद्याचक्रवर्ति-
राज्यश्रीणां पतयः पालकाः स्वामिनो भवेम ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०)
ये पितरो विद्वांस इहास्मत्सन्निधौ वर्तन्ते ये चेहास्मत्समन्तेन सन्त्यर्था-
द्वेशान्तरे तिष्ठन्ति (यांश्च विद्म) यान् वयं जानीमः (यां २॥ उचन०)
दूरदेशस्थित्यायांश्च वयं न जानीमस्तान्मर्वान् हे (जातवेदः) परमेश्वर
(त्वं वेत्थ) त्वं यथावज्जानास्यतो भव न तेषामस्माकं च संगं निष्पा-
दय (स्वधा०) योऽस्माभिस्सु कृतः सम्यगनुष्ठुतो यज्ञोस्ति त्वं स्वधाभि-
रन्नाद्याभिः सामग्रीभिः संपादितं यज्ञं सदा जुषस्व सेवस्व येनास्माकमभ्यु-
दयन्निःश्रेयसकरं क्रियाक्राण्डं सम्यक् सिध्येत् (यति ते) ये यावन्तः
परोक्षा विद्यमाना विद्वांसः सन्ति तानस्मान्प्रापय ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यः)
ये पितरोऽद्येदानीमस्मत्समीपेऽध्ययनाध्यापनेकर्मणि वर्तन्ते (पूर्वांसः)
पूर्वमधीत्य विद्वांसः सन्ति (ये पार्थिवे रजसि) ये पृथिवीसंबन्धिभूगर्भ-
विद्यायां (आनिषता) आसमन्तान्निषणाः सन्ति (ये वानूनःसु०) ये च
सुष्ठुबलयुक्तासु प्रजासभाध्यक्षाः सभासदो भूत्वा न्यायाधीशत्वादिकर्मणे
ऽधिकृताः सन्ति ते चास्मानीयुः प्राप्नुयुः इत्थंभूतेभ्यः पितृभ्योऽस्माक-
मिदं सततं नमोस्तु ॥ १८ ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निष्वत्ता नृत्तमते०) हे मनुमलोगो जैसे हमलोग अग्निविद्या
और समय विद्या के जाननेवाले पितरों को मान्य से बुलाते हैं वैसे ही तुम
लोग भी उन के पास जाते और उन को अपने पास सदा बुलाते रहो जिससे
तुम्हारी सब दिन विद्या बढ़ती रहै ॥ (नाराशंसे सोमपीथंय आशुः) जो
सोमलतादि ओषधियों के रस पान तथा रत्ता से मनुष्यों को श्रेष्ठ करनेवाले
हैं उन से हमलोग मत्स्य शिक्षा लेकर आनन्दित हों (तेनो विप्राः सुहवा०) वे
विद्वान् लोग हम को सत्य विद्या का ग्रहण प्रीतिपूर्वक सदा कराते रहें ।
(वयंस्यामपतयो रयाणाम्०) जिससे कि हमलोग सुविद्या से चक्रवर्त्ति राज्य
की श्री आदि उत्तम पदार्थों को प्राप्त तथा उन की रत्ता और उन्नति करने में
भी समर्थ हों ॥ १६ ॥ (ये चेह पितरो०) हे जातवेद परमेश्वर जो पितर
लोग हमारे समीप और दूर देश में हैं (यांश्च विद्म) जिन को समीप होने
से हमलोग जानते और (यां २॥ उचनप्रविद्म) जिनको दूर होने के कारण नहीं
भी जानते हैं (यति ते०) जो इस संसार के बीच में वर्तमान हैं (त्वं वेत्थ) उन
सब को आप यथावत् जानते हैं । कृपा करके उन का और हमारा परस्पर संबन्ध

सदा के लिये कीजिये (स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं) और आप अपनी धारणादि शक्तियों से व्यवहार और परमार्थरूप श्रेष्ठ यज्ञों को प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिये कि जिससे हमलोगों को सब सुख प्राप्त होते रहें ॥ १७ ॥ (इदं पितृभ्यो न०) हमलोग उन सब पितरों को नमस्कार करते हैं (अत्र पूर्वामोय उपरासर्दयुः) जो कि प्रथम आप विद्वान् होके हमलोगों को भी विद्या देते हैं अथवा जो कि विरक्त और संन्यासी होके सर्वत्र विचरते हुए उपदेश करते हैं तथा (ये पार्थिव रजस्यानिपत्ताः) जो कि पार्थिव अर्थात् भूगर्भ विद्या और सूर्यादिलोकों के ज्ञाननेवाले हैं तथा (येवानुन० सु०) जो कि निश्चय करके प्रजाओं के हित में उद्यत और उत्तम सेनार्यों के बीच में बड़े चतुर हैं उन सभी को हमलोग नमस्कार करते हैं इसलिये कि वे सब दिन हमारी उन्नति करते रहें ॥ १८ ॥

उशन्तस्त्वानिधीमह्युशन्तः समिधीमहि । उशन्नुशत आवह पितृन्हविषे अतवे ॥ १९ ॥ य० अ० १९ मं० ७० ॥ पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधानमः ॥ पितॄमहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधानमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधानमः । अक्षन् पितरोऽमीमदन्तपितरोऽतीतृपन्तपितरः पितरः शुन्यध्वम् ॥ २० ॥ पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पविचेण शतायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः पविचेण शतायुषा विश्वमायुर्वृश्वै ॥ २१ ॥ य० अ० १९ मं० ३६ । ३७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(उशन्तस्त्वानिधीमहि) हेपरमेश्वर वयं त्वां कामयमाना इष्टत्वेन हृदयाकाशे न्यायाधीशत्वेन राष्ट्रे सदा स्थापयामः (उशन्तः समिधीमहि) हे जगदीश्वर त्वां शश्वन्तः आशयन्तः सम्यक् प्रकाशयेमहि कस्मै प्रयोजनायेत्यत्राह (हविषे अतवे०) सद्विद्याग्रहणाय तेभ्यो धनद्युतमपदार्थदानाया नन्दभोगाय च (उशन्नुशत आवह पितृन्) सत्योपदेशविद्याकामयमानान् कामयमानस्संस्त्वमस्मानावहासमन्तात्प्रापय ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः) स्वां स्वकीयाममृताख्यां मोक्षविद्यां कर्तुं शीलं येषां तेभ्यो वसुसंज्ञकेभ्यो विद्याप्रदातृभ्यो जनकेभ्यश्च (स्वधा) अन्नद्युतमवस्तुददमः ये च चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यामधीत्याध्यापयन्ति ते वसु-

संज्ञकाः (पितामहेभ्यः) ये चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्यां पठित्वा पाठयन्ति ते पितामहाः (प्रपितामहेभ्यः) ये ऽष्टाश्चत्वारिंशद्वर्ष-
प्रमितेन ब्रह्मचर्येण विद्यापारावारं श्राप्याध्यापयन्ति त आदित्याख्या अर्थात् सत्यविद्याद्योतकाः (नमः) तेभ्योऽस्माकं सततं नमोस्तु । (अन्नं पितरः) हे पितरो भवन्तोऽन्नञ्चैव भोजनाच्छादनादिकं कुर्वीरन् । अमी-
मदन्तपितर इति पूर्वं व्याख्यातम् (अतीतृपंतपितरः) हे पितरोऽस्म-
त्सेवया ऽऽनन्दिता भूत्वा तृणा भवत (पितरः शुन्धध्वं) हेपितरो यूय-
मुपदेशेनाविद्यादिदोषविनाशादस्मान् शुन्धध्वं पवित्रान्कुरुत ॥ २० ॥
(पुनन्तु मा पितरः) भो पितरः पितामहाः प्रपितामहाश्च भवन्तो मां मनः
कर्मवचनद्वारा वारंवारं पुनन्तु पवित्रव्यवहाराकारिणं कुर्वन्तु केन पुनन्त्व-
त्याह (पवित्रेण०) पवित्रक्रमानुष्ठानकरणोपदेशेन (शतायुषा) शतवर्षप-
र्यन्तं जीवननिमित्तेन ब्रह्मचर्येण मां पुनन्तु अग्रे पुनन्त्विति क्रियात्रयं
योजनीयम् । येनाहं (विश्वमायुर्व्यश्नवै) संपूर्णमायुः प्राप्नुयाम् । अत्र
पुरुषोवाचयज्ञइत्याकारकेण छान्दोग्योपनिषत्प्रमाणेन विदुषां वसुरुद्रादि-
त्यसंज्ञा वेदितव्याः ॥ २१ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(उशंतश्त्वानिर्धामहि) हे अग्ने परमेश्वर हमलोग आप की प्राप्ति की कामना करके आप को अपने हृदय में निहित अर्थात् स्थापित और (उशन्तः समिधीमहि) आपका ही सर्वत्र प्रकाश करते रहें (उशन्नुशत आव-
हपितृन्) हे भगवन् आप हमारे कल्याण के अर्थ पूर्वाक्त पितरों को नित्य प्राप्त कीजिये कि (हविषे अत्तवे) हमलोग उन की सेवा में विद्या लेने के लिये स्थिर रहें ॥ १९ ॥ (पितृभ्यः स्वधा०) जो चौबीस वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़के सब को पढ़ाते हैं उन पितरों को हमारा नमस्कार है (पिता-
महेभ्यः०) जो चवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से वेदादि विद्याओं को पढ़ के सब के उपकारी और अमृतरूप ज्ञान के देने वाले होते हैं (प्रपि-
तामहेभ्यः०) जिन्होंने अड़तालीस वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रियता के साथ संपूर्ण विद्याओं को पढ़ के हस्तक्रियाओं से भी सब विद्या के दृष्टांत सत्तात् देख के दिखलाते । और जो सब के सुखी होने के लिये सदा प्रयत्न करते रहते हैं उन का मान भी सब लोगों का करना उचित है । पिताओं का नाम वसु है क्योंकि वे सब विद्याओं में धाम करने के लिये योग्य होते हैं । ऐसे ही पितामहों का नाम रुद्र है क्योंकि वे वसु संज्ञक पितरों से दूनी अथवा शतगुणी विद्या और धनवाने होते हैं । तथा प्रपितामहों का नाम आदित्य है क्योंकि वे सब विद्याओं और सब गुणों में सूर्य के समान प्रकाशमान होके सब विद्या और लोगों को प्रकाशमान करते हैं इन तीनों

का नाम वसु रुद्र और आदित्य इसलिये है कि वे किसी प्रकार की दुष्टता मनुष्यों में रहने नहीं देते। इस में (पुरुषो वा वयसः) यह छान्दोग्य उपनिषद् प्रमाण लिख दिया है सो देख लेना (अन्नं पितरः) हे पितर लोगो तुम विद्यारूप यज्ञ को फैलाके सुख भोगो तथा (अमीमदन्तपितरः) हमारी सेवा से अत्यंत प्रसन्न रहो (अतीतृपन्तपितरः) हमारी सेवा से तृप्त होकर हम को भी आनंदित और तृप्त करते रहो तथा जिस पदार्थ को तुम चाहो अथवा हम आप की सेवा में भूलें तो आप लोग हम को शिक्षा करो (पितरः शुन्यध्वम्) हे पितर लोगो आप हम को धर्मापदेश और सत्य विद्याओं से शुद्ध करें कि जिस में हम लोग आप के साथ मिल के मनातन परमात्मा की भक्ति अपनी शुद्धि के अर्थ प्रेम से करें ॥ २० ॥ (पुनन्तु मा पितरः) जो पितर लोग शान्तात्मा और दयालु हैं वे मुझ को विद्यादान से पवित्र करें (पुनन्तु मा पितामहाः) इसी प्रकार पितामह और प्रपितामह भी मुझ को अपनी उत्तम विद्या पढ़ा के पवित्र करें इस लिये कि उन की शिक्षा को मुन के ब्रह्मचर्य धारण करने से सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द युक्त उमर होती रहै इस मंत्र में दो बार पाठ केवल आदर के लिये है इत्यादि अन्य मंत्र भी इन्हीं विषयों के पुष्टिकारक हैं उन मंत्रों का अर्थ सर्वत्र इसी प्रकार से समझ लेना चाहिये तथा जहां कहीं अमावास्या में पितृयज्ञ करना लिखा है वहां भी इसी अभिप्राय से है कि जो कदाचित् नित्य उन की सेवा न बन सके तो महीने २ अर्थात् अमावास्या में मासेष्टि होती है उस में उन लोगों को बुला के अवश्य सत्कार करें ॥ २१ ॥ इति पितृयज्ञः समाप्तः ॥

॥ अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते ॥

यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्मकार्यम् ।
वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येणैव विधिपूर्वकम् ॥ आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यां
ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ १ ॥ मनुस्मृतौ अ० ३ श्लोकः ८४ ।

॥ अत्र बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम् ॥

अक्षरहर्षलिमित्ते हरन्तो ऽश्वयेव तिष्ठन्ते घृसमग्ने । राय-
स्पोषेण समिधामदन्तो माते अग्ने प्रतिवेशारिषाम ॥ १ ॥ अथर्व-
का० १८ अनु० ७ मं० ७ ॥ पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा-
धियः ॥ पुनन्तु विश्वभूतानि जातवेदः पुनीदि मा स्वाहा ॥ २ ॥
यः अ० १८ मं० ३८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्ने) हेपरमेश्वर (ते) तुभ्यं त्वदाज्ञापालनार्थं (इत्) एव (तिष्ठतेऽश्वाय) (घासं) यथाऽश्वस्याग्ने पुष्कलः पदार्थः स्थाप्यते तथैव (इव) (अहरहः) नित्यंप्रति (बलिं) (हरन्तः) भौतिकमग्निमतिथींश्च बलीन् प्रापयन्तः (समिषा) सम्यगिष्यते या सा समिदृतया अद्भुया (रायस्योषेण) चक्रवर्तिराज्यलक्ष्म्या (मदन्तः) हर्षन्तो वयं (अग्ने) हेपरमात्मन् (ते) तव (प्रतिवेशाः) प्रतिकूला भूत्वा सृष्टिस्थान्प्राणिनः (मारिषाम) मा पीडयेम किंतु भवत्कृपया सर्वजीवा अस्माकं मित्राणि सन्तु सर्वेषां च वयं सखायः स्म इति ज्ञात्वा परस्परं नित्यमुपकारं कुर्याम ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) अस्य मंत्रस्यार्थस्तर्पणविषयउक्तः ॥ भाषार्थ ॥

(अग्ने) हेपरमेश्वर जैसे खाने योग्य पुष्कल पदार्थ छोड़े के आगे रखते हैं वैसे ही आप को आज्ञा पालन के लिये (अह रहः) प्रति दिन भौतिक अग्नि में होम करते और अतिथियों को (बलिं) अर्थात् भोजन देते हुए हम लोग अच्छी प्रकार इच्छित चक्रवर्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त होके (अग्ने) हे परमात्मन् (प्रतिवेशाः) आप को आज्ञा से उलटे होके आप के उत्पन्न किये हुए प्राणियों को (मारिषाम) अन्याय से दुःख कभी न देवें किंतु आप की कृपा से सब जीव हमारे मित्र और हम सब जीवों के मित्र रहें ऐसा ज्ञान कर परस्पर उपकार सदा करते रहें ॥ १ ॥ (पुनन्तु मा०) इस मंत्र का अर्थ तर्पण विषय में कह दिया है ॥ २ ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥ ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुह्वे स्वाहा ॥ ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ओं सह्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ ओं स्वष्टकते स्वाहा ॥ भाष्यम् ॥

(ओम०) अन्यर्थउक्तः (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादकईश्वरः सोच ग्राह्यः (ओमग्नी०) प्राणापानाभ्यामनयोरर्थगायत्रीमंत्रार्थउक्तः (ओं वि०) विश्वेदेवा विश्वप्रकाशकाईश्वरगुणाः सर्वे विद्वांसो वा । (ओं ध०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते (ओं कु०) दर्शय्यथौयमारम्भः । अमावास्याष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा (ओम०) पौर्णमास्याष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा (ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामीरक्षकईश्वरः (ओं सह०) ईश्वरेण

प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादिताभ्यामग्निभूमिभ्यां सर्वोपकारा याच्याः । एतदर्थो
यमारम्भः ॥ (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठुशोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः ।
एतेर्मैत्रेहोमं कृत्वा ऽथ बलिप्रदानं कुर्यात् ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(ओम०) अग्नि शब्दका अर्थ पीछे कह आये हैं (ओं सो०) अर्थात्
सब पदार्थों को उत्पन्न पुष्ट करने और सुख देनेवाला (ओम०) जो सब
प्राणियों के जीवन का हेतु प्राण तथा जो दुःख नाश का हेतु अपान (ओं
वि०) संसार का प्रकाश करनेवाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोग (ओं
ध०) जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेवाला परमात्मा (ओं कु०) अमावा-
स्येष्टि का करना (ओम०) पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्र प्रतिपादित परमेश्वर
की चितिशक्ति (ओं प्र०) सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर (ओं स०)
मृत्युविद्या के प्रकाश के लिये पृथिवी का राज्य और अग्नि तथा भूमि से
अनेक उपकारों का ग्रहण । (ओं स्वि०) इष्ट सुख का करनेवाला परमेश्वर
इन दश मंत्रों के अर्थों से ये १० प्रयोजन जान लेना अब आगे बलिदान के
मंत्र लिखते हैं ॥

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ १ ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ २ ॥
ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ३ ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ४ ॥
ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ५ ॥ ओमद्भ्यो नमः ॥ ६ ॥ ओं वनस्पतिभ्यो
नमः ॥ ७ ॥ ओं अथै नमः ॥ ८ ॥ ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ९ ॥ ओं
ब्रह्मपतये नमः ॥ १० ॥ ओं वास्तुपतये नमः ॥ ११ ॥ ओं विश्वे-
भ्यो देवेभ्यो नमः ॥ १२ ॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ १३ ॥
ओं नक्तंचारिभ्यो नमः ॥ १४ ॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ १५ ॥
ओं पितृभ्यः स्वधादिभ्यः स्वधा नमः ॥ १६ ॥ इति नित्यश्राद्धम् ॥

॥ भाष्यम् ॥

(ओं सा०) णमप्रहृत्येशब्दे इत्यनेन मत्क्रियापुरस्सरविवारेण
मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यः । नित्यैर्गुणैः सहवर्तमानः पर-
मेश्वर्य्यवानोऽश्वरोऽत्र गृह्यते (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादि-
गुणयुक्तः परमात्माऽत्र वेद्यः (ओं सा०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्त-
मः परमेश्वरोऽत्र गृहीतव्यः (ओं सानुगाय०) अस्यार्थउक्तः (ओम०) य
ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्यन्ति च ते महतः (ओम०)

अस्यार्थः शन्नादेवीरित्युक्ताः (ओं वन०) वनानां लोकानां पतयईश्वरो-
वायुमेधादयः पदार्था अत्र ग्राह्याः । यद्वेत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो
महावृक्षेभ्यश्चेत्पकारग्रहणं सदा कार्यमिति बोध्यम् (ओं श्रि०) श्रियते
सेव्यते सर्वैर्जनैस्साग्रीरीश्वरः सर्वमुखगोभावन्वात् । यद्वेश्वरेणोत्पादिता
विश्वशोभा च (ओं भ०) या भद्रं कल्याणं सुखं कलयति । सा भद्रकाली-
श्वरशक्तिः (ओम्ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य
वा पतिरेश्वरः (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिं स्तद्वास्त्वाकाशं
तत्पतिरीश्वरः (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः (ओं दिवा०) (ओं नक्तं) ईश्वरकृ-
पयैवं भवेन्नः दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च तानि विघ्नं मा कुर्वन्तु तैः
सह्यविरोधोऽस्तु नः । एतदर्थो यमारम्भः (ओंस०) सर्वेषां जीवात्मनां
भूतिर्भवनं सत्तेश्वरोच ग्राह्यः । (ओं पि०) अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे ।
नमइत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः ॥

॥ भाषार्थ ॥

(ओं सानु०) सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और उस के गुण (ओं सा०) सत्य-
न्याय करनेवाला और उस की सृष्टि में सत्यन्याय के करनेवाले सभासद
(ओं सा०) सब से उत्तम परमात्मा और उस के धार्मिक भक्त जन । (ओं सा०)
पुण्यात्माओं की आनन्द करानेवाला परमात्मा और वे लोग (ओं मरुत्०)
अर्थात् प्राण जिन के रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है उन
की रक्षा करना (ओमद्भ्यो०) इस का अर्थ शिवदेवी इस मंत्र में लिख दिया है
(ओं व०) ईश्वर के उत्पन्न किये हुए वायु और मेघ आदि सब के पालन के हेतु
सब पदार्थ तथा जिन से अधिक वर्षा और जिन के फलों से जगत् का उप-
कार होता है उन की रक्षा करनी (ओं श्रि०) जो सेवा करने के योग्य पर-
मात्मा और पुरुषार्थ से राज्य श्रीकी प्राप्ति करने में सदा उद्योग करना ।
(ओं भ०) जो कल्याण करनेवाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है
उस का सदा आश्रय करना (ओं ब्र०) जो वेद के स्वामी ईश्वर की प्रार्थना
विद्या के लिये करना (ओं वा०) वास्तुपति अर्थात् जो रहसंबन्धी पदार्थों
का पालन करनेवाला ईश्वर (ओं ब्रह्म०) वेद शास्त्र का रक्षक जगदी-
श्वर । (ओं वि०) इस का अर्थ कह दिया है (ओं दि०) जो दिन में
और (ओं नक्तं०) रात्रि में विचरनेवाले प्राणि हैं उन से उपकार लेना
और उनको सुखदेना (सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को
सदा ध्यान में रखना (ओं पि०) माता पिता और आचार्य आदि को प्रथम
भोजनादि से सेवा करके पश्चात् स्वयं भोजनादि करना स्वाहा शब्द का अर्थ

पूर्व कर दिया है और नमः शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होना और दूसरे का मान्य करना । इस के पीछे ये कृः भाग करना चाहिये ॥

शुनां च पतितानां च स्वपचां पापरोगिणाम् ॥ वायसानां
कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद्भुवि ॥ १ ॥

अनेन षड् भागान् भूमौ दद्यात् । एवं सर्वप्राणिभ्यो भामान्
विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रमन्नतां संपादयेत् ॥ ॥ भाषार्थ ॥

कुत्तों कंगालों कुष्टों आदि रोगियों काक आदि पक्षियों और चीटी आदि कृमियों के लिये भी कृः भाग अलग-अलग बांट के दे देना और उन की प्रसन्नता करना अर्थात् सब प्राणियों को मनुष्यों से सुख होना चाहिये यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिबैश्वदेव पूजा हुआ ॥ इति बलिबैश्वदेवविधिः समाप्तः ॥

अथ पंचमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते । यचातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते । तत्र सर्वाणि सुखानि भवन्तीति अथ के अतिथयः ॥ ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणा जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्चलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्तानतिथय इति कथयन्ति । अचानेके प्रमाणभूता वैदिकमंत्राः सन्ति । परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः ॥

तद्यस्यैवं विद्वान् ब्राह्म्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य् ब्रूयाद्वात्य क्वावात्सीर्ब्राह्म्योदकं ब्राह्म्यं तर्पयन्तु ब्राह्म्यं यथा ते प्रियं तथास्तु ब्राह्म्यं यथा ते वशस्तथास्तु ब्राह्म्यं यथा ते निक्कामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ अथ० कां० १५ अनु० २ व० ११ मं० १।२ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(तद्य०) यः पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (ब्राह्म्यः) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियतातिथिः किं तु स्वेच्छया कस्मादागच्छेद्गच्छेच्च ॥ १ ॥ स यदा यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् (स्वयमेन म०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोऽथवा नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत् । ततो यथायोग्यं सेवां कृत्वा तदनन्तरं तं पृच्छेत् । (ब्राह्म्यं क्वावात्सीः) हेपुरुषोत्तम त्वं कुत्र निवासं कृतवान् (ब्राह्म्योदकं) हे अतिथे जलमेतद्गृहाण (ब्राह्म्यं तर्पयन्तु) यथा भवन्तः स्वकीयसत्योप-

देशेनास्मानस्माकं मित्रादींश्च तर्पयन्ति तथा ऽस्मदीया भवन्तं च (ब्रा-
त्य यथा०) हेविद्वन् यथा भवतः प्रसन्नतास्यात्तथा वयं कुर्याम ।
यद्वस्तु भवत् प्रियमस्ति तस्याच्चां कुरु (ब्रात्य यथा ते) हे अतिथे भवान्
यथेच्छति तथैव वयं तदनुकूलतया भवत्सेवाकरणे निश्चिनुयाम (ब्रात्य
यथा ते) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात्तथा सेवां वयं कुर्याम यतो भवान् वयं
च परस्परं सेवासत्संगपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदा सुखे तिष्ठेम ॥ भाषार्थ ॥

अब पांचवा अतिथियज्ञ अर्थात् जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा
करनी होती है उस को लिखते हैं जो मनुष्य पूर्ण विद्वान् परोपकारी जिते-
न्द्रिय धर्मात्मा सत्यवादी कल कपट रहित और नित्य भ्रमण कर के विद्या
धर्म का प्रचार और अविद्या अधर्म की निवृत्ति सदा करते रहते हैं उन को
अतिथि कहते हैं इस में वेदमंत्रों के अनेक प्रमाण हैं परंतु उन में से दो
मंत्र यहां भी लिखते हैं (तदस्यैवं विद्वान्) जिस के घर में पूर्वाक्त विशेषण
युक्त (ब्रात्य) उत्तम गुण सहित सेवा करने के योग्य विद्वान् आवे तो उस
की यथावत्सेवा करें और अतिथि वह कहता है कि जिस के आने जाने की
कोई तिथि दिन निश्चित न हो ॥ १ ॥ (स्वयमेनम०) यहस्य लोग ऐसे पुरुष
को आते देख कर बड़े प्रेम से उठ के नमस्कार करके उत्तम आसन पर बैठावें
पश्चात् पूछें कि आप को जल अथवा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो मा कहिये
और जब वे स्वस्य चित्त हो जावें तब पूछें कि (ब्रात्य काशत्सीः) हे ब्रात्य
अर्थात् उत्तम पुरुष आपने कल के दिन कहां वाम किया था (ब्रात्यादकं) हे
अतिथे यह जल लीजिये और (ब्रात्यतर्पयन्तु) हम को अपने सत्य उपदेश
से तृप्त कीजिये कि जिस से हमारे इष्ट मित्र लोग सब प्रसन्न हो के आप
को भी सेवा से संतुष्ट रक्खें ॥ (ब्रात्य यथा०) हे विद्वन् जिस प्रकार आप की
प्रसन्नता हो हमलोग वैसा ही काम करें तथा जो पदार्थ आप को प्रिय हो
उस की आज्ञा कीजिये और (ब्रात्य यथा०) जैसे आप की कम्ना पूर्ण हो
वैसी सेवा की जाय कि जिस से आप और हमलोग परस्पर प्रीति और
सत्संगपूर्वक विद्या वृद्धि करके सदा आनंद में रहें ॥ २ ॥ इति संक्षेपतः पंच-
महायज्ञविषयः ॥

॥ अथ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामा ण्यविषयः ॥

सृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं येषां येषां स्वतः परतः प्रमाणसिद्धानां य-
न्यानां पक्षपातरहितैरागद्वेषशून्यैः सत्यधर्मप्रियाचरणैः सर्वोपकारकैरायै-
र्विद्वद्विर्यथाङ्गीकारः कृतस्तथाऽचेच्यते । यद्देश्वरोक्तान्यास्ते स्वतः प्रमाणं
कर्तुं योग्याः सन्ति ये जीवोक्तास्ते परतः प्रमाणाहंश्च । ईश्वरोक्तत्वान्वत्वा-
रोवेदाः स्वतः प्रमाणम् । कुतः । तदुक्तौ भ्रमादिदोषाभावात् तस्य सर्व-

ज्ञत्वात्सर्वविद्यावत्त्वात्सर्वशक्तिमत्त्वाच्च । तच्च वेदेषु वेदानामेव प्रामाण्यं स्वीकार्यं सूर्य्यप्रदीपवत् । यथा सूर्य्यः प्रदीपश्च स्वप्रकाशेनैव प्रकाशितौ-
सन्तौ सर्वमूर्तद्रव्यप्रकाशकौ भवतः । तथैव वेदाः स्वप्रकाशेनैव प्रका-
शिताः सन्तः सर्वानन्यविद्याग्रन्थान् प्रकाशयन्ति । ये ग्रन्था वेदविरोधिने
वर्तन्ते नैव तेषां प्रामाण्यं स्वीकर्तुं योग्यमस्ति । वेदानां तु खलु अन्ये-
भ्यो ग्रन्थेभ्यो विरोधादप्य प्रामाण्यं न भवति तेषां स्वतःप्रामाण्यातद्विज्ञानां
ग्रन्थानां वेदाधीनप्रामाण्याच्च । ये स्वतः प्रमाणभूता मंत्रभागसंहिताख्याश्च-
त्वारोवेदा उक्तास्तद्विज्ञास्तद्व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रंथा वेदानुकूलतया प्रमा-
णमहन्ति तथैवैकादशशतानि सप्तविंशतिश्च वेदशाखावेदार्थव्याख्याना
अपि वेदानुकूलतयैव प्रमाणमहन्ति । एवमेव यानि शिवाकल्पोद्यव्याकरणं
निरुक्तं छन्दोज्योतिषमितिषडङ्गानि । तथाऽऽयुर्वेदो वैद्यकशास्त्रं । धनुर्वेदः
शस्त्रास्त्रराजविद्या । गांधर्ववेदोगानविद्या । अर्थवेदश्च शिल्पशास्त्रं चत्वार
उपवेदा अपि । तच्च चरकशुश्रुतनिघण्टुादय आयुर्वेदशास्त्राः । धनुर्वेदस्य
ग्रन्था प्रायेण लुप्ताः सन्ति । परं तु तस्य सर्वविद्याक्रियावयवैः सिद्धत्वादि-
दानीमपि साधयितुमर्हाः सन्ति अंगिरःप्रभृतिभिर्निर्मिता धनुर्वेदग्रन्था बहव
आसन्निति ॥ ग्रन्थर्ववेदश्च सामगानविद्यादिसिद्धः । अर्थवेदश्च विश्व-
कर्मत्वष्टृमयकृतश्चतसृसंहिताख्यो ग्राह्यः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

जो २ ग्रन्थ सृष्टि की आदि से लेके आजतक पक्षपान और रागद्वेष रहित
सत्यधर्मयुक्त सब लोगों के प्रिय प्राचीन विद्वान् आर्य्य लोगों ने (स्वतःप्रमाण)
अर्थात् अपने आपही प्रमाण परत प्रमाण अर्थात् वेद और ग्रन्थज्ञानमानादि
से प्रमाणभूत हैं जिन को जिस प्रकार करके जैसा कुछ माना है उन को आगे
कहते हैं इस विषय में उन लोगों का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर की कही
हुई जो चारों मंत्र संहिता हैं वेही स्वयंप्रमाण होने योग्य हैं अन्य नहीं परंतु
उन से भिन्न भी जो २ जीवों के रचे हुए ग्रंथ हैं वे भी वेदों के अनुकूल होने से
परतःप्रमाण के योग्य होते हैं क्योंकि वेद ईश्वर के रचे हुए हैं और ईश्वर
सर्वज्ञ सर्व विद्यायुक्त तथा सर्व शक्तिमान् है इस कारण से उस का कथन ही
निर्भ्रम और प्रमाण के योग्य है और जीवों के बनाए ग्रंथ स्वतःप्रमाण के योग्य
नहीं होते क्योंकि वे सर्व विद्या और सर्व शक्तिमान् नहीं होते इस लिये
उन का कहना स्वतःप्रमाण के योग्य नहीं हो सकता ऊपर के कथन से यह
बात सिद्ध होती है कि वेदविषय में जहां कहीं प्रमाण की आवश्यकता
हो वहां सूर्य्य और दीपक के समान वेदों का ही प्रमाण लेना उचित है
अर्थात् जैसे सूर्य्य और दीपक अपने ही प्रकाश से प्रकाशमान होके सब

क्रिया वाले द्रव्यों को प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही वेद भी अपने प्रकाश से प्रकाशित हो के अन्य ग्रंथों का भी प्रकाश करते हैं इस से यह सिद्ध हुआ कि जो २ ग्रंथ वेदों से विरुद्ध हैं वे कभी प्रमाण वा स्वीकार करने के योग्य नहीं होते और वेदों का अन्य ग्रंथों के साथ विरोध भी हो तब भी अप्रमाण के योग्य नहीं ठहर सकते क्योंकि वे तो अपने ही प्रमाण से प्रमाणयुक्त हैं इसी प्रकार ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथ जो वेदों के अर्थ और इतिहासादि से युक्त बनाये गये हैं वे भी परतः प्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल ही होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण हो सकते हैं । मंत्रभाग की चार संहिता कि जिन का नाम वेद है वे सब स्वतः प्रमाण कहे जाते हैं और उन से भिन्न ऐतरेयशतपथ आदि प्राचीन सत्य ग्रंथ हैं वे परतः प्रमाण के योग्य हैं तथा ग्यारह सौ सत्तर्दम (११२०) चार वेदों की शाखा भी वेदों के व्याख्यान होने से परतः प्रमाण तथा (आयुर्वेदः) अर्थात् जो वैद्यकशास्त्र चरक शुश्रुत और धन्वन्तरिभूत निघंटु आदि ये सब मिलकर ऋग्वेद का उप-वेद कहता है (धनुर्वेदः) अर्थात् जिस में शस्त्र अस्त्र विद्या के विधानयुक्त अंगिरा आदि ऋषियों के बनाये ग्रंथ जो कि अंगिराभरद्वाजादिकृत संहिता हैं जिन से राजविद्या मिद्ध होती है परंतु वे ग्रंथ प्रायः लुप्त से हो गये हैं । जो पुरुषार्थ से इस को मिद्ध किया चाहै तो वेदादि विद्या पुस्तकों से सा-क्षात् कर सकता है ॥ (गांधर्ववेदः) जो कि सामगान और नारदसंहिता आदि गानविद्या के ग्रन्थ हैं (अथर्ववेदः) अर्थात् शिल्पशास्त्र जिस के प्रति-पादन में विश्वकर्म, त्वष्टा देवता और मयकृत संहिता रची गई हैं ये चारों उपवेद कहाते हैं ॥

शिक्षा पाणिन्यादिमुनिकृता । कल्पोमानवकल्पसूत्रादिः । व्याक-रणमष्टाध्यायी महाभाष्य धातुपाठोणादिगण प्रातिपदिकगण पाठाख्यम् । निरुक्तं यास्कमुनिकृतं निघण्टुसहितं चतुर्थं वेदाङ्गं मन्तव्यम् । छन्दः पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रभाष्यम् । ज्योतिषं वसिष्ठादृष्युक्तं रेखाबीजगणितमयं चेति वेदानां षडङ्गानि सन्ति । तथा षडुपाङ्गानि । तत्राद्यं कर्मकाण्डविधायकं धर्मधर्मिव्याख्यामयं व्यासमुन्यादिकृतभाष्यसहितं जैमिनिमुनिकृतसूत्रं पूर्वमीमांसाशास्त्राख्यं ग्राह्यम् । द्वितीयं विशेषतया धर्मधर्मिविधा-यकं प्रशस्तपादकृतभाष्यसहितं कणादमुनिकृतं वैशेषिकशास्त्रं तृतीयं पदार्थविद्याविधायकं वात्स्यायनभाष्यसहितं गोतममुनिकृतं न्यायशास्त्रं । चतुर्थं यत्त्रिभिर्मीमांसावैशेषिकन्यायशास्त्रैः सर्वपदार्थानां श्रवणमननेनानु-मानिकं ज्ञानतया निश्चयो भवति । तेषां साक्षाज्ज्ञानसाधनमुपासना-विधायकं व्यासमुनिकृतभाष्यसहितं पतंजलिमुनिकृतं योगशास्त्रम् ।

तथा पंचमं तत्त्वपरिगणनविवेकार्थं भागुरिमुनिकृतभाष्यसहितं कपिलमु-
निकृतं सांख्यशास्त्रं षष्ठं बौद्धायन वृत्त्यादि व्याख्यानसहितं व्यासमुनिकृतं
वेदान्तशास्त्रम् । तथैव ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय
ऐतरेयछान्दोग्य बृहदारण्यकादशोपनिषदश्चोपांगानि च ग्राह्याणि ।
एवं चत्वारो वेदाः स शाखाव्याख्यानमहिताश्चत्वार उपवेदाः षड् वेदा-
ङ्गानि षट् च वेदाङ्गानि मिलित्वा षड् भवन्ति । एतैरेव चतुर्दशविद्या
मनुष्यैर्ग्राह्या भवन्तीति वेदम् ॥ ॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार मन्वादिर्कृत मानवकल्पसूत्रादि आश्वलायनादिकृत श्रौत-
सूत्रादि, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी धातुपाठ गणपाठ उणादिकादिकृत और
पतंजलिमुनिकृत महाभाष्यपर्यंत व्याकरण ॥ तथा यास्कमुनिकृत निरुक्त और
निघंटु वर्णमिष्टमुनि आदि कृत ज्योतिष सूर्य्यमिहान्त आदि और (कन्दः) पिंग-
लाचर्य्यकृत सूत्रभाष्य आदि ये वेदों के छः अंग भी परतः प्रमाण के योग्य
और ऐसेही वेदों के छः उपांग अर्थात् जिनका नाम षट्शास्त्र है उनमें से
एक व्यासमुनि आदि कृत भाष्यसहित जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा जिस में
कर्मकाण्ड का विधान और धर्म धर्मि दो पदार्थों से सब पदार्थों की व्याख्या
की है दूसरा वैजपिक शास्त्र जो कि कणादमुनिकृत सूत्र और गोतममुनि-
कृत प्रश्नस्तोत्र पाद भाष्यादिव्याख्या सहित तीसरा न्यायशास्त्र जो कि गोतम-
मुनि प्रणीत सूत्र और वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य सहित चौथा योगशास्त्र जो
कि पतंजलिमुनिकृत सूत्र और व्यासमुनिकृतभाष्य सहित पांचवा सांख्यशास्त्र
जो कि कपिलमुनिकृत सूत्र और भागुरिमुनिकृत भाष्य सहित और छठा
वेदान्तशास्त्र जो कि ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय
छान्दोग्य और बृहदारण्यक ये दश उपनिषद तथा व्यासमुनिकृत सूत्र जो कि
बौद्धायन वृत्त्यादि व्याख्या सहित वेदान्तशास्त्र है ये छः वेदों के उपांग कहाते
हैं इस का यह अभिप्राय है कि जो शाखा शाखांतरव्याख्यासहित चार वेद
चार उपवेद छः अंग और उपांग हैं ये सब मिलके चौदह विद्या के ग्रंथ हैं ॥

एतासां पठनाद्यथार्थं विदितत्त्वान्मानसबाह्यज्ञानक्रियाकाण्ड-
साक्षात्करणाच्च महाविद्वान् भवतीति निश्चेतव्यम् । एत ईश्वरोक्ता
वेदास्तद्वाख्यानमया ब्राह्मणादयोऽन्या आर्षा वेदानुकूलाः सत्यधर्मवि-
द्यायुक्ता युक्तिप्रमाणसिद्धा एव माननीयाः सन्ति । नैवेतैभ्यो भिन्नाः पक्षपा-
तक्षुद्रविचारस्वल्पविद्याऽधर्माचरणप्रतिपादना अनाप्रोक्ता वेदार्थविरुद्धा
युक्तिप्रमाणविरहाऽन्याः केनापि कदाचिदङ्गीकार्या इति । ते च संक्षेपतः
परिगण्यन्ते । रुद्रयामलादयस्तंत्रग्रन्थाः ॥ ब्रह्मवैवर्तादीनि पुराणानि च ।
प्रक्षिप्रश्लोकत्यागायामनुस्मृतैर्व्यतिरिक्ताः स्मृतयः । सारस्वतचन्द्रिका-

कौमुद्यादयो व्याकरणाभासयन्त्याः । मीमांसाशास्त्रादिविरुद्धनिर्णयसिन्ध्वा-
दयोयन्त्याः ॥ वैशेषिकन्यायशास्त्रविरुद्धास्तर्कसंग्रहमारभ्य जागदीशयन्ता-
न्यायाभासायन्त्याः ॥ योगशास्त्रविरुद्धा हठप्रदीपिकादयोयन्त्याः । सांख्य-
शास्त्रविरुद्धाः सांख्यतत्त्वकौमुद्यादयः । वेदान्तशास्त्रविरुद्धा वेदान्तसार-
पंचदशीयोगवासिष्ठादयोयन्त्याः । ज्योतिषशास्त्रविरुद्धा । मुहूर्तचिन्तामण्या-
दयो मुहूर्तजन्मपत्रफलादेशविधायकायन्त्याः । तथैव श्रौतसूत्रविरुद्धा ।
स्त्रिकण्डिकास्नानसूत्रपरिशिष्टादयोयन्त्याः । मार्गशीर्षैकादशीकाशीस्थलजल-
सेवनयात्राकरणदर्शननामस्मरणस्नानजडमूर्तिपूजाकरणमात्रेणैव मुक्तिभावन-
पापनिवारणमाहात्म्यविधायकाः सर्वे यन्त्याः । तथैव पाखण्डिसंप्रदायिनि-
र्मितानि सर्वाणि पुस्तकानि च नास्तिकत्वविधायकायन्त्याश्चापदेशाश्च ते
सर्वे वेदादिशास्त्रविरुद्धा युक्तिप्रमाणपरीक्षाहीनाः सन्त्यतः शिष्टैरग्राह्या
भवन्ति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इन ग्रंथों का तो पूर्वोक्त प्रकार से स्वतः परतः प्रमाण करना सुनना
और पढ़ना सब को उचित है इन से भिदों का नहीं क्योंकि जितने ग्रंथ
पत्रपातों तद्वर्तुद्धि कम विद्यावाले अधर्मात्मा असत्यवादियों के कहे वेदार्थ
से विरुद्ध और युक्ति प्रमाणरहित हैं उन को स्वीकार करना योग्य नहीं आगे
उन में से मुख्य २ मिथ्या ग्रंथों के नाम भी लिखते हैं जैसे रुद्रयामल आदि
तंत्र ग्रंथ, ब्रह्मवैवर्ते श्रीमत् भागवत आदि पुराण । सूर्यगाथा आदि उप-
पुराण । मनुस्मृति के प्रतिष्ठ श्लोक और उससे पृथक् सब स्मृति ग्रंथ । व्या-
करण विरुद्ध सारस्वतचन्द्रिका कौमुद्यादि ग्रंथ । धर्मशास्त्र विरुद्ध निर्णय-
सिन्धु आदि तथा वैशेषिक न्यायशास्त्र विरुद्ध तर्कसंग्रह मुक्तावल्यादि ग्रंथ ।
हठप्रदीपिका आदि ग्रंथ जो कि योगशास्त्र से विरुद्ध हैं । तथा सांख्यशास्त्र
विरुद्ध सांख्यतत्त्वकौमुदी आदि ग्रंथ, वेदान्तशास्त्र विरुद्ध वेदान्तसार पंचदशी
योगवासिष्ठादि ग्रंथ । तथा ज्योतिष शास्त्र से विरुद्ध मुहूर्तचिन्तामण्यादि
मुहूर्तजन्मपत्रफलादेशविधायक पुस्तक, ऐसे ही श्रौत सूत्रादि विरुद्ध त्रिकंडिका
स्नानविधायकादि सूत्र । तथा मार्गशीर्षैकादश्यादि व्रत काश्यादि स्थल
पुष्कर गंगादि जल यात्रा माहात्म्य विधायक पुस्तक तथा दर्शन नामस्मरण
जडमूर्तिपूजा करने से मुक्ति विधायक ग्रंथ । इसी प्रकार पाप निवारण विधा-
यक और ईश्वर के अवतार वा पुत्र अथवा दूत प्रतिपादक वेद विरुद्ध शैव
शाक्त गाणपत वेष्णवादि मत के ग्रंथ तथा नास्तिक मत के पुस्तक और उन
के उपदेश ये सब वेद युक्ति प्रमाण और परीक्षा से विरुद्ध ग्रंथ हैं । इस
लिये सब मनुष्यों को उक्त अशुद्ध ग्रंथ त्याग कर देने योग्य है ॥

प्र० तेषु बह्वृतभाषणेषु किं चित्सत्यमप्य ग्राह्यमभवितुमर्हति वि-
षयुक्ताज्ञवत् ३० यथा परोक्षकाविषयुक्तममृततुल्यमप्यन्नं परीक्ष्य त्यजन्ति
तद्वद प्रामाण्यं यथास्त्याज्या एव । कुतः । तेषां प्रचारेण वेदानां सत्या-
र्याप्रवृत्तेस्तदप्रवृत्त्याह्यसत्यार्थान्धकारापतेरविद्यान्धकारतया यथार्थज्ञाना-
नुत्पत्तेश्चेति । अथ तत्रग्रन्थानां मिथ्यात्वं प्रदर्श्यते । तत्र पंचम-
कारसेवनेनैव मुक्तिर्भवति नान्यथेति । तेषां मतं यत्रमे श्लोकाः सन्ति ॥
मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ॥ एते पंचमकाराश्च मोक्षदा
हि युगेयुगे ॥ १ ॥ पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले ॥
पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ २ ॥ प्रवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे
वर्णा द्विजातयः ॥ निवृत्ते भैरवीचक्रे सर्वे वर्णाः पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥
मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत्सर्वयोनिषु ॥ लिङ्गं योन्यां तु संस्थाप्य
जपेन्मन्त्रमतं द्वितः ॥ ४ ॥ मातरमपि न त्यजेत् । इत्याद्यनेकविधम-
ल्पबुद्ध्याधर्माश्रेयस्कर्मनार्याभिहितयुक्तिप्रमाणरहितं वेदादिभ्यो ऽत्यन्तवि-
रुद्धमनार्थमश्लीलमुक्तं तच्छिष्टैर्न कदापि ग्राह्यमिति । मद्यादिसेवनेन
बुद्ध्यादिभ्रंशान्मुक्तिस्तु न जायते किं तु नरकप्राप्तिरेव भवतीत्यन्यत्सुगमं
प्रसिद्धं च । एवमेव ब्रह्मवैवर्तादिषु मिथ्या पुराणसंज्ञासु किं च नवीनेषु
मिथ्याभूता बह्व्यः कथा लिखितास्तासां स्थालीपुलाकन्यायेन स्वल्पाः
प्रदर्श्यन्ते । तत्रैवमेका कथा लिखिता प्रजापतिर्ब्रह्मा चतुर्मुखो देहधारी
स्वां सरस्वतीं दुहितरं मैथुनाय जयाहेति । सा मिथ्यैवास्ति कुतः ।
अस्याः कथाया अलंकाराभिप्रायत्वात् । तद्यथा । ॥ भाषार्थ ॥

कदाचित् इन ग्रंथों के विषय में कोई ऐसा प्रश्न करे कि इन ग्रन्थ
ग्रंथों में भी जो २ सत्य बात हैं उन का ग्रहण करना चाहिये तो इस का
उत्तर यह है कि जैसे अमृत तुल्य अन्न में विष मिला हो तो उस को छोड़
देते हैं क्योंकि उन से सत्य ग्रहण की आशा करने से मत्पार्थप्रकाशक वे-
दादि ग्रंथों का लोप हो जाता है इस लिये इन सत्य ग्रंथों के प्रचार के अर्थ
उन मिथ्या ग्रंथों को छोड़ देना अवश्य चाहिये ॥ क्योंकि बिना सत्यविद्या
के ज्ञान कहाँ । बिना ज्ञान के उन्नति कैसी और उन्नति के न होने से मनुष्य
सदा दुःखसागर ही में डूबे रहते हैं । अब आगे उन पूर्व लिखित अप्रमाण
ग्रंथों के संक्षेप से पृथक् २ दोष भी दिखलाये जाते हैं देखो तंत्र ग्रंथों में
ऐसे २ श्लोक लिखे हुए हैं कि (मद्यं मांसं) मद्य पीना मांस मक्खी खाना
मुद्रा अर्थात् सब के साथ इकट्ठे बैठ के रोटी खड़े आदि उड़ाना कन्या बहिन
माता और पुत्रबधू आदि के साथ भी मैथुन कर लेना इन पांच प्रकारों के

सेवन से सब की मुक्ति होना ॥ १ ॥ (पीत्वा पीत्वा०) किसी मकान के चार आल्यों में मद्य के पात्र धर के एक कोने से खड़े २ मद्य पीने का आरम्भ कर के दूसरे में जाना दूसरे से पीते हुए तीसरे में और तीसरे से चौथे में जाकर पीना यहां तक कि जब पर्यन्त पीते २ बे होम होकर लकड़ी के समान भूमि में न गिर पड़े तब तक बराबर पीते ही चले जाना इस प्रकार बारंबार पीके अनेक बार उठ २ कर भूमि में गिर जाने से मनुष्य जन्म मरणादि दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ॥ २ ॥ (प्रवृत्ते भैरवी चक्र०) जब कभी वाममार्गी लोग रात्रि के समय किसी स्थान में इकट्ठे होते हैं तब उन में ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्यंत सब स्त्री पुरुष आते हैं फिर वे लोग एक स्त्री को नंगी कर के वहां उस की योनि की पूजा करते हैं सो केवल इतना ही नहीं किंतु कभी २ पुरुष को भी नंगा कर के स्त्री लोग भी उस के लिंग की पूजा करती हैं । तदनंतर मद्य के पात्र में से एक पात्र अर्थात् प्याना भर के उस स्त्री और पुरुष दोनों को पिलाते हैं फिर उसी पात्र से सब वाममार्गी लोग क्रम से मद्य पीते और अन्नमादिक खाते चले जाते हैं । यहां तक कि जब तक उन्मत्त न हो जायें तब तक खाना पीना बंद नहीं करते हैं फिर एक स्त्री के साथ एक पुरुष अथवा एक के साथ अनेक भी मैथुन कर लेते हैं जब उस स्थान में बाहर निकलते हैं तब कहते हैं कि अब हमलोग अलग २ वर्णवाले हो गये ॥ ३ ॥ (मातृयोनि०) उन के किसी २ श्लोक में तो ऐसा लिखा है कि माता को छोड़ के सब स्त्रियों से मैथुन कर लेवे इस में कुछ दोष नहीं और (मानरमपि न त्यजेत्) किसी २ का यह भी मत है कि माता को भी न छोड़ना तथा किसी में लिखा है कि योनि में लिंग प्रवेश करके आलस्य छोड़कर मंत्र को जपे तो वह शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है इत्यादि अनेक अनर्थ रूप कथा तंत्र ग्रंथों में लिखी हैं वे सब वेदादि शास्त्र । युक्ति प्रमाणां से विरुद्ध होने के कारण श्रेष्ठ पुरुषों के ग्रहण करने योग्य नहीं क्योंकि मद्यादि सेवन से मुक्ति तो कभी नहीं हो सकती परंतु ज्ञान का नाश और दुःखरूप नरक की प्राप्ति दीर्घकाल तक होती है ॥ ४ ॥ इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवतादि ग्रंथ जो कि व्यास जी के नाम से संप्रदायी लोगों ने रच लिये हैं उन का नाम पुराण कभी नहीं हो सकता किंतु उन को नर्वान कहना उचित है अब उन की मिथ्यात्व परीक्षा के लिये कुछ कथा यहां भी लिखते हैं ॥

प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरभ्यध्यायद्विमित्यन्य आधुरूपस-
मित्यन्देतामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यत् ॥ तस्य यद्रेतसः प्रथ-
ममुददीप्यत तदसावादित्यो भवत् ॥ ऐ० पं० ३ कांडि० ३३ । ३४ ॥

प्रजापतिर्वै सुपर्णो गरुत्मानेष सविता । शत० कां० १० अ० २
ब्रा० ७ कं० ४ ॥ तच्च पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः ।
निरु० अ० ४ खं० २१ । द्यौर्मै पिता जनितानाभिरत्र बन्धुर्मै माता
पृथिवी महीयम् ॥ उत्तानयौश्चम्वोर्व्योनिन्तरत्रो पिता दुहितुर्ग-
र्भमाधात् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १ सू० १६४ मं० ३३ ॥ शान्द्वन्द्दुहितुर्नस्य-
ङ्गाद्विद्वां ऋतस्य दीधितिं सपर्य्यन् ॥ पिता यच्च दुहितुः सेकमृजन्सं
शस्येन मनसा दधन्वे ॥ २ ॥ ऋ० मं० ३ सू० ३१ मं० १ ॥

॥ भाष्यम् ॥

सविता सूर्यः सूर्यलोकाः प्रजापतिसेक्तकोस्ति तस्य दुहिता कन्या
वद् दौरुषा चास्ति । यस्माद्यदुत्पद्यते ततस्यापत्यवत् स तस्य पितृवदिति
रूपकालंकारोक्तिः ॥ स च पिता तां रोहितां किं चिद्वक्तृगुणप्राप्तां स्वां दुहि-
तरं किरणैर्ऋष्यवच्छीघ्रमभ्यध्यायत् प्राप्नोति । एवं प्राप्नः प्रकाशाख्यमादित्यं
पुत्रमजीजनदुत्पादयति । अस्य पुत्रस्य मातृवदुपा पितृवत्सूर्यश्च । कुतः ।
तस्यामुषसि दुहितरि किरणरूपेण वीर्य्येण सूर्याद्विवसस्य पुत्रस्योत्पन्नत्वात्
यस्मिन् भूप्रदेशे प्रातः पंचघटिकायां रात्रौ स्थितायां किं चित्सूर्य्यप्रकाशेन
रक्ता भवति । तस्योषा इति संज्ञा । तयोः पितादुहित्रोः समागमादुत्कट-
दीप्तिः प्रकाशाख्य आदित्यपुत्रो जातः । यथा मातापितृभ्यां सन्तानोत्पत्ति-
र्भवति । तथैवात्रापि बोध्यम् । एवमेव पर्जन्यपृथिव्योः पितादुहितृवत् ।
कुतः पर्जन्यादद्भ्यः पृथिव्या उत्पत्तेः अतः पृथिवी तस्य दुहितृवदस्ति ।
स पर्जन्यो वृष्टिद्वारा तस्यां वीर्य्यवत् । जलप्रक्षेपणेन गर्भं दधाति तस्माद्गर्भा-
दोषध्यादयोऽपत्यानि जायन्ते । अयमपि रूपकालङ्कारः । अत्र वेदप्रमाणम्
(द्यौर्मै पिता०) प्रकाशो मम पिता पालयितास्ति (जनिता) सर्वव्यवहाराणा-
मुत्पादकः । अत्र द्वयोः संबंधत्वात् । तत्रेयं पृथिवी माता मानकर्वी द्वयो-
श्चम्वोः पर्जन्यपृथिव्योः सेनावदुत्तानयोर्ध्वतानयोस्तानस्थितयोरलं-
कारः । अत्र पिता पर्जन्यो दुहितुः पृथिव्या गर्भं जलसमूहमाधात् । आसम-
न्ताद्वारयतीति रूपकालङ्कारो मन्तव्यः ॥ १ ॥ (शान्द्वन्द्दुहितुः) अयमपि मंत्रो
ऽस्यैवालंकारस्य विधायकोस्ति । बन्द्दिशब्देन सूर्य्यो दुहिता ऽस्य पूर्वोक्तेव
स पिता स्वस्या उषसो दुहितुः सेकं किरणाख्यवीर्य्यस्यापनेन गर्भाधानं

कृत्वा दिवसपुषमजनयदिति ॥ २ ॥ अस्यां परमेतमायां रूपकालंकार-
विधायिन्यां निरुक्तब्राह्मणेषु व्याख्यातायां कथायां सत्यामपि ब्रह्मवैव
र्तादिषु भ्रान्त्यायाः कथा अन्यथा निरूपितास्तानैव कदाचित्केनापि सत्या
मन्तव्या इति ॥

॥ भाषार्थ ॥

नवीन ग्रंथकारों ने एक यह कथा भ्रान्ति से मिथ्या करके लिखी है
जो कि प्रथम रूपकालंकार की थी (प्रजापतिर्वै स्वांदुहितरम०) अर्थात् यहां
प्रजापति कहते हैं सूर्य को जिस की दो कन्या एक प्रकाश और दूसरी उषा
क्योंकि जो जिस से उत्पन्न होता है वह उस का ही संतान कहाता है
इस लिये उषा जो कि तीन चार घड़ी रात्रि शेष रहने पर पूर्व दिशा में
रक्ता दीख पड़ती है वह सूर्य की किरण से उत्पन्न होने के कारण उस की
कन्या कहाती है उन में से उषा के सन्मुख जो प्रथम सूर्य की किरण जाके
पड़ती है वही वीर्यस्थापन के समान है उन दोनों के समागम से पुत्र
अर्थात् दिवस उत्पन्न होता है प्रजापति और सविता ये शतपथ में सूर्य के
नाम हैं तथा निरुक्त में भी रूपकालंकार की कथा लिखी है कि पिता के
समान पर्जन्य अर्थात् जलरूप जो मेघ है उस की पृथिवी रूप दुहिता अर्थात्
कन्या है क्योंकि पृथिवी की उत्पत्ति जल सेही है जब वह उस कन्या में
वृष्टिद्वारा जलरूप वीर्य को धारण करता है तब उस से गर्भ रह कर
औषध्यादि अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं इस कथा का मूल ऋग्वेद है कि
(सद्यौर्मै पिता०) द्यौ जो सूर्य का प्रकाश है सो सब सुखों का हेतु होने से
मेरे पिता के समान और पृथिवी बड़ा स्थान और मान्य का हेतु होने से मेरी
माता के तुल्य है (उत्तान०) जैसे ऊपर नीचे वस्त्र की दो चांदनी तान देते
हैं अथवा आमने सामने दो सेना होती हैं इसी प्रकार सूर्य और पृथिवी
अर्थात् ऊपर की चांदनी के समान सूर्य और नीचे के बिछौने के समान
पृथिवी है तथा जैसे दो सेना आमने सामने खड़ी हों इसी प्रकार सब लोगों
का परस्पर संबन्ध है इस में योनि अर्थात् गर्भस्थापन का स्थान पृथिवी और
गर्भस्थापन करनेवाला पति के समान मेघ है वह अपने बिंदुरूप वीर्य के
स्थापन से उस को गर्भधारण कराने से औषध्यादि अनेक संतान उत्पन्न करता
है कि जिन से सब जगत् का पालन होता है ॥ १ ॥ (शंसदुहि०) सब का
वहन अर्थात् प्राप्ति कराने वाले परमेश्वर ने मनुष्यों की ज्ञानवृद्धि के लिये
रूपकालंकार कथाओं का उपदेश किया है । तथा वही (ऋतस्य) जल के
धारण करने वाला (नप्यङ्गा०) जगत् में पुत्र पौत्रादि का पालन और उपदेश
करता है (पिता यत्र दुहितुः०) जिस सुखरूप व्यवहार में स्थित होके पिता
दुहिता में वीर्यस्थापन करता है जैसा कि पूर्व लिख आये हैं इसी प्रकार
यहां भी ज्ञान लेना । जिस ने इस प्रकार के पदार्थ और उन के संबन्ध रखे

हैं उस को हम नमस्कार करते हैं ॥ २ ॥ जो यह रूपकालंकार को कथा
अच्छी प्रकार वेद ब्राह्मण और निरुक्तादि सत्यग्रंथों में प्रामाण्य है इस को ब्रह्म-
वैवर्त्त श्रीमद्भागवतादि मिथ्या ग्रंथों में भ्रान्ति से बिगाड़ के लिख दिया है
तथा ऐसी २ अन्य कथा भी लिखी हैं उन सब को विद्वान् लोग मन से त्याग
के सत्य कथाओं को कभी न भूलें ॥

तथा च कश्चिद्देहधारीन्द्रो देवराज असीत्स गोतमस्त्रिमां जारकर्म
कृतवान् तस्मै गोतमेन शापो दत्तस्त्वं सहस्रभगो भवेति । तस्यै अहल्य यै
शापो दत्तस्त्वं पापणमिला भवेति । तस्या रामपादरजःस्पर्शेन शापस्य
मोक्षणं जातमिति । तच्चेदृश्यो मिथ्येव कथाः सन्ति । कुतः । असाम-
प्यलङ्कारार्थत्वात् ॥ तद्वया

इन्द्रा गच्छेति । गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति । तद्यान्ये-
वास्त्य च रणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुषोदयिपति ॥ शत० कां० ३ अ० ३
ब्रा० १ कं० १८ ॥ रेतः सोमः । श० कां० ३ । अ० ३ । ब्रा० ५ ।
कं० १ ॥ रात्रिरादित्यस्यादित्योदये ऽन्तर्धीयते । निरु० अ० १२
खं० ११ । सूर्यरश्मिश्चन्द्रमागन्धर्व इत्यपि निगमो भवति होपि
गौरुच्यते । निरु० अ० २ खं० ६ । जार आभगः । जारइव भग-
मात्तिष्ठोच जार उच्यते रात्रेर्जरयिता । निरु० अ० ३ खं० ।
एष एवेन्द्रोय एष तपति । श० कां० १ अ० ६ । ब्रा० ३ कं० १८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

इन्द्रः सूर्यो य एष तपति भूमिस्थान्यदार्थैश्च प्रकाशयति । अस्ते-
न्द्रेति नाम परमेश्वर्य्यं प्रेर्हेतुत्वात् । स अहल्यया जारेस्ति । स
सोमस्य स्त्री तस्य गोतमेति नाम । गच्छेतीति गौतमिशयेन गौरिति गोत-
मश्चन्द्रः तयोः स्त्रीपुरुषवत् संबन्धोस्ति । रात्रिरहल्या कस्मादहर्दिन
लीयते ऽस्यां तस्माद्रात्रिरहल्योच्यते । स चन्द्रमाः सर्वाणि भूतानि प्रमोद-
यति स्वस्त्रिया ऽहल्यया सुखयति । अत्र स सूर्य इन्द्रो रात्रेरहल्यया गोत-
मस्य चन्द्रस्य स्त्रिया जार उच्यते । कुतः । अयं रात्रेर्जरयिता । जूपवयो-
द्धानाविति धात्वर्थोभिप्रेतोस्ति । रात्रेरायुषो विनाशकइन्द्रः सूर्य एवेति

मन्तव्यम् । एवं सद्विद्योपदेशार्थालंकारायां भूषणरूपायां सच्छास्त्रेषु प्रणी-
तायां कथायां सन्त्यां या नवं नगंधेषु पूर्वोक्ता मिथ्या कथा लिखितास्ति
सा केन चित्कदापि नैव मन्तव्या ह्येतादृश्योऽन्याश्चापि ॥ ॥ भाषार्थ ॥

अब जो दूसरी कथा इन्द्र और अहल्या की है कि जिसको मूठ लोगों
ने अनेक प्रकार बिगाड़ के लिखा है सो उस को ऐसे मान रक्खा है कि देवों
का राजा इन्द्र देवलोक में देहधारी देव था वह गोतम ऋषि की स्त्री
अहल्या के साथ जाकर कर्म किया करता था एक दिन जब उन दोनों को
गोतमने देखलिया तब इस प्रकार शाप दिया कि हे इन्द्र तू हजार भग
वाला होजा तथा अहल्या को शाप दिया कि तू पाशाणरूप होजा परंतु
जब उन्होंने ने गोतम की प्रार्थना की कि हमारे शाप का मोक्षण कैसे वा कब
होगा तब इन्द्र से तो कहा कि तुम्हारे हजार भगके स्थान में हजार नेत्र
हो जायें और अहल्या को वचन दिया कि जिस समय रामचन्द्र अवतार
लेकर तेरे पर अपना चरण लगावेंगे उस समय तू फिर अपने स्वरूप में आ-
जावेगी इस प्रकार पुराणों में यह कथा बिगाड़ कर लिखी है सत्य ग्रंथों में
ऐसे नहीं है तद्वया (इन्द्रा गच्छेति) अर्थात् उन में इस रीति से है कि ॥ सूर्य
की नाम इंद्र रात्रि का अहल्या तथा चन्द्रमा का गोतम है यहां रात्रि और
चन्द्रमा का स्त्री पुरुष के समान रूपकालंकार है चन्द्रमा अपनी स्त्री रात्रि
से सब प्राणियों का आनंद कराता है और उस रात्रि का जार आदित्य है
अर्थात् जिस के उदय होने से रात्रि अन्तर्धान हो जाती है और जार अर्थात्
यह सूर्यही रात्रि के वर्त्तमान रूप शृंगार को बिगाड़ने वाला है इसलिये यह
स्त्रीपुरुष का रूपकालंकार बांधा है कि जैसे स्त्रीपुरुष मिलकर रहते हैं
वैसेही चन्द्रमा और रात्रि भी साथ रहते हैं । चन्द्रमा का नाम गोतम
इसलिये है कि वह अत्यंत वेग से चलता है और रात्रि को अहल्या इसलिये
कहते हैं कि उस में दिन लय हो जाता है तथा सूर्य रात्रि को निवृत्त कर
देता है इसलिये वह उस का जार कहाता है इस उत्तम रूपकालंकार विद्या
को अल्प बुद्धि पुरुषों ने बिगाड़ के सब मनुष्यों में हानिकारक फल धर दिया
है इसलिये सब सज्जन लोग पुराणोक्त मिथ्या कथाओं का मून से ही त्याग कर दें ॥

एवमेवेन्द्रः कश्चिद्वेहधारी देवराज आसीत्स्य त्वष्टुरपत्येन वृषा-
सुरेण सह युद्धमभूत् । वृषासुरेणेन्द्रे निगलितोऽतो देवानां महद्द्वयम-
भूत् । ते विष्णुशरणं गता विष्णुरुपायं वर्णितवान् मया प्रविष्टेन समुद्रफे-
नेनायं हतो भविष्यतीति । ईदृश्यः प्रमत्तगीतवत् प्रलपिताः कथाः पुराणा
भासादिषु नवीनेषु ग्रंथेषु मिथ्यैव सन्तीति भद्रैर्वेद्वद्विर्मन्तव्यम् । कुतः ।
एतासामप्यलङ्कारवत्त्वात् । तद्वया ॥

इन्द्रस्य नुवीर्याणि प्रवोचंयानि चकार प्रथमानि वज्री ॥ अ-
हन्नहिमत्वपस्तं तर्द्ववत्तणा अभिनत्यर्वतानाम् ॥ १ ॥ अहन्नहिं
पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्ग्यं ततत्त ॥ वाश्राद्व धेनवः स्यन्द-
माना अजः समुद्रमव जग्मुरापः ॥ २ ॥ ऋ० मंडल १ सूक्त० ३२
मं० १ । २ । ॥ भाष्यम् ॥

इन्द्रस्य सूर्यस्य परमेश्वरस्य वातानि वीर्याणि पराक्रमानहं प्रवोचं
कथयामि यानि प्रथमानि पूर्वं (नु) इति वितर्कै वज्री चकार (वज्री) वज्रः
प्रकाशः प्रायोवास्यास्तांति । वीर्यं वै वज्रः । श० कां० ७ अ० ४ । स अहं
मेघमहन् हतवान् तं हत्वा पृथिव्यामनुपश्चादपस्ततर्द्विस्तारितवान् ।
ताभिरद्भिः प्रवत्तणा नदींस्ततर्द्वजलप्रवाहेण हिंसितवान् । तटादीनां च
भेदं कारितवानस्ति कीदृश्यस्ता नद्यः पर्वतानां मेघानां सकाशादुत्पद्य-
मानाः यज्जलमन्तरिक्षाद्भिः सित्वा निपात्यते तद्वृचस्य शरीरमेव विज्ञे-
यम् ॥ १ ॥ अग्रे मंत्राणां संक्षेपतो ऽर्थो वर्ण्यते । (त्वष्टा) सूर्यः (अह-
न्नहिं) तं मेघमहन् हतवान् । कथं हतवानित्यत्राह (अस्मै) अहये वृ-
चासुगय मेघाय (पर्वते शिश्रियाणं) मेघे श्रितं (स्वर्ग्यं) प्रकाशमयं (वज्रं)
स्वकिरणजन्य विद्युत् प्रक्षिपति । येन वृचासुरं मेघं (ततत्त) कर्णकृत्य
भूमौ पातयति । पुनर्भूमे गतमपि जलं कर्णकृत्याकाशं गमयति । ता आपः
समुद्रं (अवजग्मुः) गच्छन्ति कथंभूता आपः (अजः) व्यक्ताः (स्यन्द-
मानाः) चलन्त्यः । का इव वाश्रावत्समिच्छवो गाव इव । आप एव वृचा-
सुरस्य शरीरम् । यदिदं वृचशरीराख्यजलस्य भूमौ निपातनं तदिदं सूर्य-
स्य स्तोतुमर्हं कर्मास्ति ॥ २ ॥ ॥ भाष्यार्थ ॥

तीमरी इन्द्र और वृचासुर की कथा है इस को भी पुराण वालों ने
ऐसा धरके लौटा है कि वह प्रमाण और युक्ति इन दोनों से बहुत जा-
पड़ी है देखो कि त्वष्टा के पुत्र वृचासुर ने देवों के राजा इन्द्र को निगल
लिया तब सब देवता लोग बड़े भययुक्त होकर विष्णु के समीप गये और
विष्णु ने उस के मारने का उपाय बतलाया कि मैं समुद्र के फेन में प्रविष्ट
होऊंगा तुम लोग उस फेन को उठा के वृचासुर के मारना वह मर जायगा
यह पागलों की सी बनाई हुई पुराण ग्रंथों की कथा सब मिथ्या हैं श्रेष्ठ लोगों
को उचित है कि इन को कभी न मानें देवा सत्य ग्रंथों में यह कथा इस
प्रकार से लिखी है कि (इन्द्रस्य नु०) यहां सूर्य का इन्द्र नाम है उस के किये हुए

पराक्रमों को हम लोग कहते हैं । जो कि परमैश्वर्य होने का हेतु अर्थात् बड़ा तेजयारी है वह अपनी किरणों से वृच अर्थात् मेघ को मारता है जब वह मरके पृथिवी में गिर पड़ता है तब अपने जनरूप शरीर को सब पृथिवी में फैल देता है फिर उसमें अनेक बड़ी २ नदी परपूर्ण होके समुद्र में जा मिली हैं कैसी वे नदी हैं कि पर्वत अर्थात् मेघों से उत्पन्न होके जलही बहने के लिये जाता है जिस समय इन्द्र मेघरूप वृचसुर को मार के आकाश में पृथिवी में गिरा देता है तब वह पृथिवी में सा जाता है ॥ १ ॥ फिर वही मेघ आकाश में से नीचे गिरके पर्वत अर्थात् मेघमंडल का पुनः आग्रह लेता है जिस को सूर्य अपनी किरणों से फिर हनन करता है जैसे कोई लकड़ो को छीन के सूख कर देता है वैसी ही वह मेघ को भी बिंदु २ काके पृथिवी में गिरा देता है और उस के शरीररूप जल मिमट २ कर नदियों के द्वारा समुद्र को ऐसे प्राप्त होते हैं कि जैसे अपने बछड़ों को गाय दौड़के मिलती हैं ॥ २ ॥

अहन् वृचं वृचतरं व्यंमिन्द्रो वज्रेण मृता वधेन । स्कन्धां
सोव कुलिशेना विवृक्णाहिः शरत उपपृक् पृथिव्याः ॥ ३ ॥ उपादं
हृत्सो अटन्यदिन्द्रमास्य वज्रतधिसागं जघान । दृष्णो वध्रिः प्र-
तमानं बुभून्मुरुचवृवो अशयद्यस्तः ॥ ४ ॥ ऋ० म० १ सू०
३२ मं० ॥ भाष्यम् ॥

अहिरिति मेघनामसु पठितम् निबन्धं अ० १ खं० १० । इन्द्रशु-
मिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मादिन्द्रशचुस्तत्को वृचो मेघ इति
नैःस्त्वात्वात्प्राप्तसुर इत्येहिहासिकाः । वृचं जघ्रियानपववार तद्वृचो वृणोतेर्वा
वर्ततेर्वा वधेतेर्वा यद्वृणोतद्वृचस्य वृचत्वमिति विज्ञायते यद्वर्तते तद्वृ-
चस्य वृचत्वमिति विज्ञायते यद्वर्तते तद्वृचस्य वृचत्वमिति विज्ञायते निरु०
अ० २ खं० १० ॥ (इन्द्रः) सूर्यः (वज्रेण) विद्युन् किरणाख्येन (म-
हता व०) तोल्यानरेण (वृचं) मेघं (वृचतरं) अत्यन्तबलदन्तं (व्यंमिन्द्रो)
क्षिप्रस्कन्धं क्लेशितघनजनं यथास्यातथ (अहन्) हतवान् ॥ ३ ॥ स (अहिः)
मेघः (कुलिशेन) (विवृक्णाहिः) विविधक्लेशनसाधनेन वज्रेण (पृथिव्या
उपपृक्) यथा कस्य विन्मनुष्यादेरसिनः क्षिप्रं सडङ्गं पृथिव्या पतति तथैव
स मेघोऽपि (अशयत) छन्दसि लुङ् लङ् लिट् इति सामान्यकाले
लङ् पृथिव्यां शयान इवेन्द्रेण सूर्येणापादहस्तो व्यस्तो भिन्नः कृतो वृचो

मेघो भूमा वश्यत् शयनं करोतीति ॥ ४ ॥ निघण्टो वृत्र इति मेघस्य नाम ।
इन्द्रः शत्रुस्य स इन्द्रशत्रुन्द्रेऽस्य निवारकः । त्वष्टा सूर्यस्तस्यापत्यमसुरो
मेघः । कुतः । सूर्यकिरणद्वारैव रसजलसमुदायभेदेन यत् कणोभूतं जल-
मुपरि गच्छति । तत्पुनर्मिलित्वा मेघरूपं भवति तस्यैवासुर इति संज्ञा-
त्वत् । पुनश्च तं सूर्यो हत्वा भूमौ निगतयति । स च भूमिं प्रविशति
नदीगच्छति । तद्द्वारा समुद्रमयनं कृत्वा तिष्ठति पुनश्चापरि गच्छति ।
तं वृत्रमिन्द्रः सूर्यो जघ्नवानपघवार निवारितवान् । वृत्रार्थो वृणोतेः
स्वीकरणीयः । मेघस्य यद्वृत्रत्वमावरकत्वं तद्वर्तमानत्वद्वर्धमानत्वाच्च
सिद्धमिति विज्ञेयम् ॥ ॥ भाषार्थ ॥

जब सूर्य उभे अत्यंत गर्जित मेघ को छिन्न भिन्न करके पृथिवी में
ऐसे गिरा देता है कि जैसे कोई किसी मनुष्य आदि के शरीर को काट र
कर गिराता है तब वह वृत्रासुर भी पृथिवी पर गिरा हुआ मृतक के समान
शयन करने वाला होजाता है ॥ ३ ॥ निघंटु में मेघ का नाम वृत्र है ।
(इन्द्रशत्रु०) वृत्र का शत्रु अर्थात् निवारक सूर्य है सूर्य का नाम त्वष्टा है
उस का संतान मेघ है क्योंकि सूर्य की किरणों के द्वारा जल कण र होकर
ऊपर को जाकर वहां मिल के मेघरूप हो जाता है तथा मेघ का वृत्र नाम
इसलिये है कि (वृत्रो वृणोते०) वह स्वीकार करने योग्य और प्रकाश का
आवरण करने वाला है ॥

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निक्षिप्तं शरी-
रम् । वृत्रस्य निण्यं विचिन्त्यापो दीर्घं तम् आशयदिन्द्रशत्रुः
॥ ५ ॥ नास्मै विद्युन्नतन्यतुः सिद्धेधनयां मिहमकिरद्वादुर्नि च ॥
इन्द्रश्च यद्युधुधाते अहिंश्चेत्तापरीभ्यो मघवा विजिग्ये ॥ ८ ॥ ऋ०
मं० १ सू० ३२ मं० १० । १३ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवोऽमंवाः सन्ति । वृत्रोहवा इदं
सर्वं वृत्वा शिष्ये । यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी स यदिदं सर्वं वृत्वा शिष्ये
तस्माद्वृत्रो नाम ॥ ४ ॥ तमिन्द्रो जघान । सहतः पूतिः सर्वत एवापोभि
सुप्राव सर्वत इव ह्ययं समुद्रस्तस्मादुहैका आपोऽबोभत्सां चक्रिरेता उप-
र्युपर्यतिपुप्रविरेत इमे दर्भास्ताहेता अनापूयिता आपोस्ति वा इतरासुसं
सृष्टमिव यदेनावृत्रः पूतिरभिप्रास्रवतदेवासामेताभ्यामपहन्यथ मेध्या-

भिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति ॥ ५ ॥ श० कां० १ अ० १ ब्रा० ३ कडि० ४ । ५ ॥ तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रोवान्तरिक्षस्थानः सूर्योद्युस्थान इति । निरु० अ० ७ खं० ५ ॥ (अतिष्ठन्तीनाम्) वृचस्य शरीरमापो दीध तमश्चरन्ति । अत एवेन्द्रश्चवृचो मेघो भूमा वश्यत् । आसमन्ताच्छेते ॥ ५ ॥ (नास्मै विद्युत्) वृचेण मा-
यारूपप्रयुक्ता विद्युतन्यतुश्चास्मै सूर्यायेन्द्राय न सिषेध निषेद्धुं न शक्नो-
ति । अहिर्मेघो इन्द्रः सूर्यश्च द्वौ परस्परं युयुधाते । यदा वृचो वर्धते तदा सूर्यप्रकाशं निवारयति । यदा सूर्यस्य तापरूपसेना वर्धते तदा वृचं मेघं निवारयति । परंतु मयघा इन्द्रः सूर्यस्तं वृचं मेघं विजिग्ये जितवान् भवति । अन्ततोऽस्यैव विजयो भवति न मेघस्येति । ६ ॥ (वृचाहवा इति०) स वृच इदं सर्वं विश्वं वृत्वा ऽऽवृत्य शिष्ये शयनं करोति । तस्माद्वृचो नाम । तं वृचं मेघमिन्द्रः सूर्यो जघान हतवान् । सहतः सन् पृथिवीं प्राप्य सर्वतः कःष्ठनृणादिभिः संयुक्तः पूतिदुर्गंधो भवति । स पुरा काशस्थो भूत्वा सर्वतो ऽपोमिस्राव तासां वर्षणं करोति । अयं हतो वृचः समुद्रं प्राप्य तत्रापि भयं करो भवति । अत एव तत्रस्था आपो भयप्रदा भवन्ति । इत्थं पुनः पुनस्तास्ता नदी समुद्रपृथिवीगता आपः सूर्यद्वारेणोपय्युपर्यन्तरिक्षं पुप्रधरे गच्छन्ति ततोऽभिवर्षन्ति च । ताभ्य एवेमेदर्भाद्यौषधिसमूहा जायन्ते । यौ वा खिन्द्रौ सूर्यपवनावन्तरि-
क्षस्थानौ सूर्यश्च दुस्थाने अर्थात् प्रकाशस्थः । एवं सत्यशास्त्रेषु परमो-
त्तमायामलङ्कारयुक्तायां कथायां सत्यां ब्रह्मवैवर्तादिनवीनग्रन्थेषु पुराणा-
भासेष्वेता अन्यथा कथा उक्तास्ताः शिष्टैः कदाचिन्नैवाङ्गीकर्तव्या इति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अतिष्ठन्तीनाम्) वृच के इस जलरूप शरीर से बड़ी २ नदियां उत्पन्न होके अगाध समुद्र में जाकर मिलती हैं और जितना जल तलाव वा कूप आदि में रहजाता है वह मानो पृथिवी में शयन कर रहा है ॥ ५ ॥ (नास्मै) अर्थात् वह वृच अपने विजलां और गर्जनरूप भय से भी इन्द्र को कभी नहीं जीत सकता इस प्रकार अलंकाररूप वर्णन से इन्द्र और वृच ये दोनों परस्पर युद्ध के समान करते हैं अर्थात् जब मेघ बढ़ता है तब तो वह सूर्य के प्रकाश को हटाता है और जब सूर्य का ताप अर्थात् तेज बढ़ता है तब वह वृच नाम मेघ को हटा देता है परन्तु इस युद्ध के अन्त में इन्द्र नाम सूर्यही का विजय होता है ॥ ६ ॥ (वृचाहवा०) जब २ मेघ बृद्धि

को प्राप्त होकर पृथिवी और आकाश में विस्तृत होके फैलता है तब २ उस को सूर्य ज्वलन कर के पृथिवी में गिरा दिया करता है पश्चात् वह अशुद्ध भूमि । सड़े हुए वनस्पति । काष्ठ । तृण तथा मलमूत्रादि युक्त होने से कहीं २ दुर्गन्ध रूप भी हो जाता है फिर उसी मेघ का जल समुद्र में जाता है तब समुद्र का जल देखने में भयंकर मालूम पड़ने लगता है इसी प्रकार बारंबार मेघ वर्षता रहता है (उपर्युपर्यन्ति०) अर्थात् सब स्थानों से जल उड़ २ कर आकाश में बँटा है वहाँ इकट्ठा होकर फिर वर्षा किया करता है उसी जल और पृथिवी के संयोग से आपध्यादि अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं उसी मेघ को वृत्रासुर के नाम से बोलते हैं वायु और सूर्य का नाम इन्द्र है वायु अन्तरिक्ष में और सूर्य प्रकाश स्थान में स्थित हैं इन्हीं वृत्रासुर और इन्द्र का आकाश में युद्ध हुआ करता है कि जिस के अन्त में मेघ का पराजय और सूर्य का विजय निःसंदेह होता है इस सत्य यथों की अनंकाररूप कथा को छेड़ के छेड़कों के समान अल्प बुद्धि वाले लोगोंने ब्रह्मवैवर्त और श्रीमद्भागवतादि यथों में मिथ्या कथा लिख रक्की हैं उनको श्रेष्ठ पुरुष कभी न मानें ॥

यद्यमेव नवीनेषु ग्रंथेषूक्ता अनेकविधा देवासुरसंघामकथा अन्य-
थैव सन्ति ता अपि बुद्धिमद्भिर्मानुष्यैरितरैश्च नैव मन्तव्याः । कुतः । तासा-
मप्यलङ्कारयोगात् । तद्यथा । देवासुराः संघता आसन् । १ । श० कां०
१३ अ० ३ ब्रा० ६ कं १ ॥ असुरानभिभवेम देवा असुरा असुरता स्थानेष्वस्ताः
स्थानेभ्य इति वापि वासुरिति प्राणानामास्तः शरीरे भवति तेन तद्वन्तः । से-
द्वे-
वानसृजत तत्सुराणां सुरत्वमसुरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वं विज्ञायते ॥
निर्० अ० ३ खं० ८ ॥ देवानामसुरत्वमेकत्वं प्रज्ञावत्त्वं वा नवत्वं वापि
वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम् ॥
निर्० अ० १० खं० ३४ ॥ सोर्चङ्क्रम्यंश्चचार प्रजाकामः । स आत्मन्येव
प्रजापतिमधत्त स आस्येनैव देवानसृजत ते देवादिवमभिपद्या सृज्यन्त
तद्देवानां देवत्वं यद्विवमभिपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजाना यदि वेवासत-
देवदेवानां देवत्वं यदस्मै ससृजाना यदि वेवास । अथ योगमवाङ्मणः ।
तेनासुरानसृजतत इमामेव पृथिवीमभिसंपद्यासृज्यन्त तस्मै ससृजानाय
तमइवास । सोवेत् । पाप्मा नं वा असृद्वियस्मै मे ससृजानाय तम इवाभूदि-
तितां स्ततएव पाप्मना विध्यते तत एव पराभवं स्तस्मादाहुर्नैतदस्ति
यद्देवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यतइतिहासे त्वन्ततोह्येव तान् प्रजापतिः
पाप्मना विध्यते तत एव पराभवाविति । तस्मादेतदृषिणाभ्यनूक्तम् । नत्वं

युयुत्सेकतमच्च नाहर्नतेऽमिषो मघवन् कश्चनास्ति । मायेत्साते यानि युद्धा-
 न्याहुर्नाघशत्रुं ननु पुरा युयुत्स इति । स यदस्मै देवान्त्ससृजानाय दिवे वा-
 सतदहरकुन्ताय यदस्मा असुरान्त्ससृजानाय तमहवासताश्राविमकुरुत ते
 अहोरात्रे । स ऐक्षत प्रजापतिः । श० कां० ११ अ० १ ब्रा० ६ कं० ७ ।
 ८ । ६ । १० । ११ । १२ । देवाश्च वा असुराश्च । उभये प्राजापत्याः
 प्रजापतेः पितुर्दायमुपेयुः । श० कां० १ अ० ७ ब्रा० ५ क० २२ ॥ द्रयाह
 प्राजापत्याः । देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवाज्याग्रसा असुराः ।
 यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा । श० कां० १४ अ० ३ ब्रा० ४
 कं० १ । ४ । जर्गति देवामायेत्यसुराः । श० कां० १० अ० ७ ब्रा० ६ कं० २० ॥
 प्राणादेवाः । श० कां० ६ अ० २ ब्रा० ३ कं० १७ ॥ प्राणो वा असुस्तस्यै-
 षामाया । श० कां० ६ अ० ६ ब्रा० ४ कं० ६ । (देवासुराः०) देवा असु-
 राश्च संयन्ता सज्जायुद्धं कर्तुं तत्परा आसन् भवन्तीति शेषः । केते देवासुरा
 इत्येवाच्यते । विद्वांसो हि देवाः श० कां० ३ अ० ७ ब्रा० ६ कं० १० ।
 हीति निश्चयेन विद्वांसो देवास्तद्विपरीता अविद्वांसोऽसुराः । ये देवास्ते वि-
 द्यावत्त्वात्प्रकृश्वन्तो भवन्ति । येह्यविद्वांसस्ते खल्वविद्यावत्त्वाज् ज्ञान-
 रहितान्धकारिणो भवन्ति । एषामुभयेषां परस्परं युद्धमिव वर्तते ऽयमेव
 देवासुरसंग्रामः । द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च सत्य-
 मेव देवा अनृतं मनुष्याः । इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीनि तन्मनुष्येभ्यो
 देवानुपैति । स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्वै देवाः व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मात्ते
 यशोयशोह भवति । य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति मनोहवै देवा मनुष्यस्य ।
 श० कां० १ अ० १ ब्रा० १ कं० ४ । ५ । ७ । ये सत्यवादिनः सत्यमानिनः
 सत्यकारिणश्च ते देवाः । ये चानृतवादिनो ऽनृतकारिणो ऽनृतमानिनश्च
 ते मनुष्या असुरा एव । तयोरपि परस्परं विरोधो युद्धमिव भवत्येव ।
 मनुष्यस्य यन्मनस्तद्वैवाः प्राणा असुरा एतयोरपि विरोधो भवति ।
 मनसा विज्ञानबलेन प्राणानां नियहो भवति प्राणबलेन मनसश्चेति युद्ध-
 मिव प्रवर्तते । प्रकाशः ख्यात्सोर्देवान्मनः षष्ठानीन्द्रियाणीश्वरोऽसृजत ।
 अतस्ते प्रकाशकारकाः । असौरन्धकाराख्यात्पृथिव्यादेरसुरान्येवकमन्दि-
 याणि प्राणांश्चासृजत । एतयोरपि प्रकाशाप्रकाशसाधकतमत्वारोयेन सं-
 ग्रामवदनयोर्वर्तमानमस्तीति विज्ञेयम् (सोर्चोऽङ्गाम्यश्चचार०) प्रजाकामः
 परमेश्वर आस्येनाग्निपरमाणुमयात् कारणात् सूर्यादीन्प्रकाशवतो लोकान्
 मुख्यगुणकर्मभ्यो यानसृजत ते देवा द्योतमानादिवं प्रकाशं परमेश्वरप्रेरित-

मभिपद्य प्रकाशादिव्यवहागनसृज्यन्त । तदेव देवानां देवत्वं यतस्ते
दिवि प्रकाशे रमन्ते । अथेत्यनन्तरमर्वाचीनोपेयं प्राणोवायुः पृथिव्यादि-
लोकश्चेश्वरेण सृष्टस्तेनैवासुरान्प्रकाशरहितानसृजत सृष्टवानस्ति । ते
पृथिवीमभिपद्येष्टव्यादीन्यदार्थानसृज्यन्त । ते सर्वे स कार्याः प्रकाशरहिता-
स्तयोस्तमः प्रकाशवतोरन्योन्यं विरोधो युद्धमिव प्रवर्तते तस्मादिदमपि
देवासुरं युद्धमिति विज्ञेयम् । तथैव पुण्यात्मा मनुष्यो देवोस्ति । पापा-
त्मा ह्यसुश्च । एतयोरपि परस्परं विरुद्धस्वभावाद्युद्धमिव प्रतिदिनं भवति
तस्मादेतदपि देवासुरसंग्रामोस्तीति विज्ञेयम् । एवमेव दिनं देवोरात्रिसुरः ।
एतयोरपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्तते । तद्वमे उभये पूर्वोक्ताः प्रजापतेः
परमेश्वरस्य पुत्रा इव वर्तन्ते अत एव ते परमेश्वरस्य पदार्थानुपेताः
सन्ति । तेषां मध्येऽसुराः प्राणादयो ज्येष्ठाः सन्ति । वायोः पूर्वात्पञ्चत्वा-
त्प्राणानां तन्मयत्वाच्च । तथैव जन्मतो मनुष्याः सर्वे ऽविद्वांसो भवन्ति ।
पुनर्विद्वांसश्च । तथैव वायोः सकाशादग्नेरुत्पत्तिः प्रकृतेरिन्द्रियाणां
च तस्मादसुरा ज्येष्ठा देवाश्च कनिष्ठाः । एकव देवाः सूर्यादयो ज्येष्ठाः
पृथिव्यादयोऽसुराः कनिष्ठाश्च ते सर्वे प्रजापतेः सकाशादुत्पन्नत्वात्स्या-
पत्यानीवसन्तीति विज्ञेयम् । एवमपि परस्परं युद्धमिव प्रवर्तत इति
ज्ञातव्यम् । ये प्राणपेषकाः स्थाय्यसाधनतत्परामायाविनः कपटिनो मनु-
ष्यास्ते ह्यसुराः । ये च परोपकारकाः परदुःखभञ्जनानिष्कपटिनाध-
र्मिका मनुष्यास्ते देवाश्च विज्ञेयाः एतयोरपि परस्परं विरोधात्संग्राम
इव भवति । इत्यादिप्रकारकं देवासुरं युद्धमिति बोध्यम् । एवं परमात्मा-
मायां विद्याविज्ञापनार्थायां रूपकालंकारेणान्वितायां सत्यशाम्बेषूक्तायां क-
थायां सत्यां व्यर्थं पुराणसंज्ञकेषु नवीनेषु तत्रादिषु ग्रंथेषु च या मिथ्यैव
कथा वर्णिताः सन्ति विद्वद्भिर्नैवेताः कथाः कदाविदपि सत्या मन्तव्या इति ॥

॥ भाषार्थ ॥

जो चौथी देवासुर संग्राम की कथा रूपकालंकार की है इस को भी
बिना जाने प्रमाद्री लोगों ने बिगाड़ दिया है ॥ जैसे एक दैत्यों की सेना थी
कि जिन का शुक्राचार्य पुरोहित था और वे दक्षिण देश में रहे थे तथा दूसरी
देवों की सेना थी कि जिन का राजा इन्द्र । सेनापति अग्नि और पुरोहित
बृहस्पति था उन देवों के विजय कराने के लिये आर्यावर्त के राजा भी जाया
करते थे असुर लोग तप करके ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि से वर मांग
लेते थे और उन के मारने के लिये विष्णु अवतार धरण करके पृथिवी का

भार उतारा करते थे यह सब पुराणों की गण्ये व्यर्थ जान कर छोड़ देना और सत्य यंत्रों की कथा जो नीचे लिखते हैं उन का ग्रहण करना सब को उचित है तत्राथा (देवासुराः सं०) देव और असुर अपने २ बाने में सजकर सब दिन युद्ध किया करते हैं तथा इन्द्र और वृत्रासुर को जो कथा ऊपर लिख आये सो भी देवासुर संग्रामरूप जानो क्योंकि सूर्य की किरण देवयंजक और मेघ के अवयव अर्थात् बदल असुर संजक हैं उन का परस्पर युद्ध वर्णन पूर्व कर दिया है निघंटु आदि सत्य शास्त्रों में सूर्य देव और मेघ असुर का के प्रसिद्ध है इन सब वचनों का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग देवासुर संग्राम का स्वरूप यथावत् जाननेवें जैसे जो लोग विद्वान् सत्यवादी सत्य-मानी और सत्यकर्म करनेवाले हैं वे तो देव और जो अविद्वान् झूठ बोलने झूठ मानने और मिथ्याचर करनेवाले हैं वे असुर कहाते हैं उन का परस्पर नित्य विरोध होना यही उन के युद्ध के समान है । इसी प्रकार मनुष्य का मन और ज्ञान इन्द्रिय भी देव कहाते हैं उन में राजा मन और सेना इन्द्रिय हैं तथा सब प्राणों का नाम असुर है उन में राजा प्राण और अपानादि सेना है इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हुआ करता है मन के विज्ञान बढ़ने से प्राणों का जय और प्राणों के बढ़ने से मन का विजय हो जाता है (मो० १००) सु अर्थात् प्रकाश के परमाणुओं से मन और पांच जनेन्द्रिय उन के परस्पर संयोग तथा सूर्य आदि को ईश्वर रचना है और (अमो०) अंधकाररूप परमाणुओं से पांच कर्मेन्द्रिय दश प्राण और पृथिवी आदि की रचना है जो कि प्रकाश-रहित होने से असुर कहाते हैं प्रकाश और अप्रकाश के विरुद्ध गुण होने से इन की भी संग्राम संज्ञा मानी है । तथा पुण्यात्मा मनुष्य देव और पापात्मा दुष्ट-लोग असुर कहाते हैं उन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध नित्य होता रहता है तथा दिन का नाम देव और रात्रि का नाम असुर है इन का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है तथा शुक्लपक्ष का नाम देव और कृष्णपक्ष का नाम असुर है तथा उत्तायग की देवसंज्ञा और दक्षिणायन की असुरसंज्ञा है इन दोनों का भी परस्पर विरोधरूप युद्ध हो रहा है इसी प्रकार अन्यत्र भी जहां २ ऐसे लक्षण घट सकें वहां २ देवासुर संग्राम का रूपकालंकर जान लेना ये सब देव और असुर प्राज्ञापत्य अर्थात् ईश्वर के पुत्र के समान कहे जाते हैं और संसार के सब पदार्थ इन्हीं के अधिकार में रहते हैं इन में से जो २ असुर अर्थात् प्राण आदि हैं वे ल्येष्ट कहाते हैं क्योंकि वे प्रथम उत्पन्न हुए हैं तथा बाल्यावस्था में सब मनुष्य भी अविद्वान् होते हैं तथा सूर्य जनेन्द्रिय और विद्वान् आदि पश्चात् प्रकाश होने से कनिष्ठ बोले जाते हैं उनमें से जो २ मनुष्य स्वार्थी और अपने प्राण को पुष्ट करने वाले तथा कपट कल आदि दोषों से युक्त हैं वे असुर और जो लोग परोपकारी पर दुःख भंजन तथा धर्मात्मा हैं वे देव कहाते हैं इस सत्य विद्या के प्रकाश करने

वाली कथा को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करके सर्वत्र प्रचार करना और मिथ्या कथाओं का मन कर्म और वचन से त्याग कर देना सब को उचित है ॥

एवमेव कश्यपगणदितीर्थकथा अपि ब्रह्मवैवर्तनादिषु ग्रंथेषु वेदादिसत्यशास्त्रेष्वेव विरुद्धा उक्ताः सन्ति । तद्यथा । मरीचिपुत्रः कश्यप-
कृषिरासीतस्मै चयोदशकन्या दत्तप्रजापतिना विवाहविधानेन दत्ताः ।
तत्संगमे दितेर्दैत्या अदितेरादित्याः दनोर्दानवाः । एवमेव कद्ग्राः सर्पाः ।
विनतायाः पत्निः । तथा ऽन्यसं सकाशाद्गानरच्छृगघासादथ उत्पन्ना
इत्याद्या अन्यकारमय्यः प्रमाणयुक्तिविद्याविरुद्धा असंभवयस्ताः कथा
उक्तास्ता अपि मिथ्या एव सन्तीति विज्ञेयम् ॥ तद्यथा ॥

स यत्कूर्मो नाम । प्रजापतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरो-
त्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः
काश्यप्य इति ॥ श० कां० ७ अ० ५ ब्रा० १ कं० ५ ॥ भाष्यम् ॥

(स यत्कूर्मः) परमेश्वरेणैवं सकलं जगत् क्रियते तस्मात्तस्य
कूर्म इति संज्ञा । कश्यपो वै कूर्म इत्यनेन परमेश्वरस्यैव कश्यप इति
नामास्ति । तेनैवेमाः सर्वाः प्रजा उत्पादितास्तस्मात्सर्वा इमाः प्रजाः
काश्यप्य इत्युच्यन्ते । कश्यपः कस्मात्पश्यको भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति
पश्यः सर्वज्ञतया सकलं जगद्विजानाति स पश्यः पश्य एव निर्भ्रमतयाति-
सूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातः पश्यक इति । आद्यन्ताक्षरविपर्यय-
याद्विसेः सिंहः कृतेस्तर्कुरित्यादिवत्कश्यप इति हयवट् इत्येतस्योपरि
महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति । अतः सुष्ठु विज्ञायते काश्यप्यः प्रजा इति ॥

॥ भाषार्थ ॥

जो पांचवीं कश्यप और गया पुष्करतीर्थादि कथा लोगों ने बिगाड़ के
प्रसिद्ध की हैं जैसे देखो कि मरीचि के पुत्र एक कश्यप अपि हुए थे उन को
दत्तप्रजापति ने विवाहविधान से तेरह कन्या दीं कि जिन से सब संसार की
उत्पत्ति हुई अर्थात् दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, दनु से दानव, कद्ग्रा
से सर्प और विनता से पत्नी तथा औरों से बानर अछ घास आदि पदार्थ
भी उत्पन्न हुए इसी प्रकार चन्द्रमा को सत्ताईस कन्या दीं इत्यादि प्रमाण और
युक्ति से विरुद्ध अनेक असंभव कथा लिखि रक्की हैं उन को मानना किसी
मनुष्य को उचित नहीं देखिये येही कथा सत्य शास्त्रों में किस प्रकार की
वस्तु कथा लिखी हैं (स यत्कूर्मो) प्रजा को उत्पन्न करने से कूर्म तथा उस

को अपने ज्ञान से देखने के कारण परमेश्वर को कश्यप भी कहते हैं (कश्यप) यह शब्द (पश्यकः) इस शब्द के आद्यन्तात्तर विपर्यय से बनता है । इस प्रकार की उत्तम कथा को समझ के उन मिथ्या कथाओं को सब लोग छोड़ दें कि जिस से सब का कल्याण हो अब देखो गयातार्थी की कथाओं को ॥

प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलस्यत्यादोजीय इत्येवं
वेषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता ॥ साहैषा गयास्तत्रे ॥ प्राणा वै गयास्तत्प्राणां
स्तचेतदाद्गयांस्तचेतस्माद्गायत्रीनाम् । श० कां० १४ अ० ८ ब्रा० १ कं० ६ ।
० ॥ तीर्थमेष प्रायणीयो ऽतिरात्रस्तीर्थं नहि प्रस्नान्ति ॥ तीर्थमेवादयर्नयो
ऽतिरात्रस्तीर्थेन ह्युस्नान्ति । श० कां० १२ अ० २ ब्रा० ५ कं० १ । ५ ॥
गय इत्यपत्यनाम् सुपठितम् । निघं० अ० ३ खं० ४ ॥ अहिःसन्सर्वभू-
तान्यन्यत्र तीर्थेभ्य इति छान्दोग्योपनि० ॥ समानतीर्थेवासी । इत्यष्टाध्या-
य्याम् । अ० ४ पा० १४ सू० १०८ । स तीर्थो ब्रह्मचारीत्युदाहरणम् । ययः
स्नातका भवन्ति । विद्यास्नातको ब्रतस्नातको विद्याब्रतस्नातकश्चेति ॥ यो
विद्यां समाप्य ब्रतमसमाप्य समा वर्तते स ब्रतस्नातक इत्यादि पारस्करगृ-
ह्यसूत्रे । नमस्तीर्थ्याय च ॥ ये तीर्थानि प्रवरन्ति सृकाहस्तानिषड्गुणः । इति
शुक्लजुर्वेदसंहितायाम् ॥ अ० १६ । एवमेव गयायां आहुं कर्तव्यमि-
त्येवाच्यते । तद्यथा । प्राण एव बलमिति विज्ञायते बन्मोजीयः । तत्रैव
सत्यं प्राणोऽध्यात्मं प्रतिष्ठितं तत्र च परमेश्वरः प्रतिष्ठितस्तद्वाचकत्वात् ।
गायत्र्यपि ब्रह्मविद्यायामध्यात्मं प्रतिष्ठितातां गायत्रीं गयामाह । प्राणानां
गयेति संज्ञा । प्राणा वै गया इत्युक्तत्वात् । तत्र गयायां आहुं कर्तव्यम् ।
अर्थाद् गयाख्येषु प्राणेषु अद्गुया समाधिविधानेन परमेश्वरप्रावत्यन्त
अद्गुधानाजीवा अनुतिष्ठेयुरित्येकं गद्याद्गुविधानम् । गयान् प्राणान्
चायते सा गायत्री इत्यभिधीयते । एवमेव गृहस्यापत्यस्य प्रजायाश्च
गयेति नामास्ति । अत्रापि सर्वैर्मनुष्यैः अद्गुताव्यम् । गृहकृत्येषु अद्गुवश्यं
विधेया । मातुः पितुराचार्यस्यातिथेश्वान्येषां मान्यानां च अद्गुया सेवा-
करणं गयाआहुमित्युच्यते । तथैव स्वस्यापत्येषु प्रजायां चोत्तमशिक्षाकरणे
ह्युपकारे च अद्गुवश्यं सर्वैः कार्य्येति । अत्र अद्गुकरणेन विद्याप्राप्त्या
मोक्षाख्यं विष्णुपदं लभ्यत इति निश्चीयते । अत्रैव भ्रान्त्या विष्णुगयेति
च षट्द्वयोरर्थविज्ञानाभावात् । मागधदेशैकदेशे पाषाणस्योपरि शिल्पि-
द्वारा मनुष्यपादचिन्हं कारयित्वा तस्यैव कैश्चित्स्वार्थसाधनतत्परैरुदर-
भरैर्विष्णुपदमिति नाम रक्षितम् । तस्य स्थलस्य गयेति च तद्व्यर्थमेव ।

कुतः । विष्णुपदं मोक्षस्य नामास्ति प्राणवृद्धप्रजानां चातोऽप्येयं तेषां भ्रान्तिर्जातेति बोध्यम् । अत्र प्रमाणम् ॥

इदं विष्णुर्विचक्रमे चेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पां-
सुरे स्वर्गा ॥ १ ॥ यजु० अ० ५ मं० १५ ॥ यदिदं किंच तद्वि-
क्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् । चेधा भावाय पृथिव्यामन्त-
रिक्षे दिव्येति शाकपूर्णिः सप्तारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्ण-
वाभः । समूढमस्य पांसुरेप्यायनेन्तरिक्षे पदं न दृश्यते ऽयि वोप-
मार्थे स्यात् समूढमस्य पांसुल इव पदं न दृश्यतइति पांसवः
पादैः सूयंत इति वा पन्नाः शिरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा ।
निरु० अ० १२ खं० १८ ॥

अस्यार्थे यथावदविदित्वा भ्रमेणेयं कथा प्रचारिता । तद्यथा ।
विष्णुर्वायुः परमेश्वरः सर्वजगत्कर्ता तस्य पूषेति नाम । अत्राह
निरुक्तकारः ।

पूषेत्यथ यदिषितो भवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्य-
श्रोतेर्वा तस्यैषा भवति । इदं विष्णुरित्युक् । निरु० अ० १२
खं० १७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

वेवेष्टुविशितः प्रविष्टोस्ति चराचरं जगत् व्यश्नुते व्याप्नोति वा स
विष्णुर्निराकारत्वात्सर्वगतइश्वरोस्ति । एतदर्थेवाचिकेयमुक् । इदं सकलं
जगत्त्रेधा त्रिप्रकारकं विचक्रमे विक्रान्तवान् । क्रमुपादविच्छेपे । पादैः
प्रकृतिपरमाण्वादिभिः स्वसामर्थ्याशैर्जगदिदं पदं प्राप्नुव्यं सर्वं वस्तुजातं
त्रिषु स्थानेषु (निधत्ते) निदधे स्थापितवान् । अर्थात् यावद् गुरुत्वा
दियुक्तं प्रकाशरहितं तत्सर्वं जगत् पृथिव्याम् । यज्ञघुत्वादियुक्तं वायुप-
रमाण्वादिकं तत्सर्वमन्तरिक्षे । यच्च प्रकाशमयं सूर्य्यज्ञानेन्द्रियजीवादिकं
च तत्सर्वं दिवि द्योतनात्मके प्रकाशमये ऽग्नौ वेति विज्ञेयम् । एवं
त्रिविधं जगदीश्वरेण रचितमेषां मध्ये यत्समूहं मोहेन सह वर्त-
मानं ज्ञानवर्जितं जडं तत्पांसुरे ऽन्तरिक्षे परमाणुमयं रचितवान् । सर्वं

लोकाः अन्तरिक्षस्थाः सन्तीति बोध्यम् । तदिदमस्य परमेश्वरस्य धन्य-
वादाहं स्तोतव्यं कर्मास्तीति बोध्यम् । अयमेवार्थः (यदिदं किंच०)
इत्यनन यास्काचार्येण वर्णितः । यदिदं किञ्चिज्जगद्वर्तते तत्सर्वं विष्णु-
व्यापक ईश्वरो विक्रमते रचितवान् । (चिदा निधते पदं) चेथा भावाय
चिप्रकारकस्य जगतो भवनाय तदुक्तं पूर्वमेव तस्मिन् विष्णुपदे मोक्षाख्ये
समारोहणे समारोढमर्हं गयशिरसीति प्राणानां प्रजानां च तदुत्तमां प्रकृ-
त्यात्मकं शिरो यथा भवति तथैवेश्वरस्यापि सामर्थ्यं गयशिरः प्रजाप्राणयो-
रुपरिभागे वर्तते । यदीश्वरस्यानन्तं सामर्थ्यं वर्तते । तस्मिन् गयशिरसि
विष्णुपदे हीश्वरसामर्थ्यस्तीति । कुतः । व्याप्यस्य सर्वस्य जगतो व्यापके
परमेश्वरे वर्तमानत्वात् । पांसुरेण्यायने ऽन्तरिक्षे पदं पदनीयं परमा-
ख्याख्यं यज्जगतच्चक्षुषा न दृश्यते । ये च पांसवः परमाणुसंघाताः
पादैस्तद्द्रव्याशैः सूर्यत उत्पद्यन्ते । अत एवमुत्पन्नाः सर्वे पदार्था दृश्या
भूत्वेश्वरे शेरतइति विज्ञायते । इममर्थमविज्ञाय मिथ्याकथाव्यवहारः
पण्डिताभासैः प्रचारितइति बोद्धव्यम् । तथैव वेदाद्युक्तरीत्या ऽऽर्यै-
श्चानुष्ठितानि तीर्थान्यन्यान्येव सन्ति । यानि सर्वदुःखेभ्यः पृथक्त्वा
जीवेभ्यः सर्वसुखानि प्रापयन्ति तानि तीर्थानि मतानि । यानि च
भ्रान्तैरचितपुस्तकेषु जलस्थलमयानि तीर्थसंज्ञान्युक्तानि तानि वेदार्था-
धिप्रेतानि नैव सन्तीति मन्तव्यम् । तद्यथा । (तीर्थमेव प्राय०) यत्प्रा-
यणीययज्ञस्याङ्गमतिराखाख्यं व्रतं समाप्य स्नानं क्रियते तदेव तीर्थमिति
वेद्यम् । येन तीर्थेन मनुष्याः प्रक्षाय शुद्धा भवन्ति । तथैव यदुदय-
नीयाख्यं यज्ञसंबन्धिसर्वोपकारकं कर्म समाप्य स्नान्ति । तदेव दुःख-
समुद्रातारकत्वातीर्थमिति मन्तव्यम् । एवमेव (अहिंसन्०) मनुष्यः
सर्वाणि भूतान्याहिंसन् सर्वभूतैर्वैरमकुर्वाणः सन् वर्तते । परं तु तीर्थेभ्यो
वेदादिसत्यशास्त्रविहितेभ्यो ऽन्यथाहिंसाधर्मो मन्तव्यः । तद्यथा ।
यच्च यथापराधिनामुपरि हिंसनं विहितं तत्तु कर्तव्यमेव । ये पाण्डिडनो
वेदसत्यधर्मानुष्ठानशेषवश्चोरादयश्च ते तु यथापराधं हिंसनीया एव ।
अथ वेदादिसत्यशास्त्राणां तीर्थसंज्ञास्ति । तेषामध्ययनाध्यापनेन तदुक्त-
धर्मकर्मविज्ञानानुष्ठानेन च दुःखसमुद्रातरन्त्येव । तेषु सम्यक् स्नात्वा
मनुष्याः शुद्धा भवन्त्यतः ॥ तथैव समानतीर्थेदासीत्यनेन समानो द्वयो-
र्विद्यार्थिनोरेक आचार्यः समानमेकशास्त्राध्ययनं चाचार्यशास्त्रयोस्तीर्थ-
संज्ञास्ति । मातापितृतिथीनां सम्यक् सेवनेन सुशिक्षया विद्याप्राप्या

दुःखसमुद्रान्मनुष्यास्तरन्त्येवातस्तानि तीर्थानि दुःखात्तारकत्वादेव मन्त-
व्यानि । एतेष्वपि स्नात्वा मनुष्यैः शुद्धिः संपादनीयेति । (चयः स्ना०)
चय एव तीर्थेषु कृतस्नानाः शुद्धा भवन्ति । तद्यथा । यः सुनियमेन पूणां
विद्यां पठति स ब्रह्मचर्याश्रमसमाप्यापि विद्यार्तार्थे स्नाति स शुद्धो
भवति । यस्तु खलु द्वितीयः । यत्पूर्वाक्तं ब्रह्मचर्यं सुनियमाचरणेन समाप्य
विद्यामसमाप्य समावर्तते स व्रतस्नातको भवति । यश्च सुनियमेन
ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य वेदशास्त्रादिविद्यां च समावर्तते सोऽप्यस्मिन्नुत्तमतीर्थे
सम्यक् स्नात्वा यथावच्छुद्धात्मा शुद्धान्तःकरणः सत्यधर्माचारी परमविद्वान्
सर्वोपकारको भवतीति विज्ञातव्यम् । (नमस्तीर्थाय च) तेषु प्राणवेदवि-
ज्ञानतीर्थेषु पूर्वाक्तेषु भवः स तीर्थस्तस्मै तीर्थाय परमेश्वराय नमोस्तु ।
ये विद्वांसस्तीर्थानि वेदाध्ययनसत्यभाषणादीनि पूर्वाक्तानि प्रचरन्ति व्यव-
हरन्ति । ये च पूर्वाक्तब्रह्मचर्यसेविना रुद्रा महाबलाः (सृकाहस्ताः)
विद्याविज्ञाने हस्ता येषांते (निषङ्गिणः) निषंगः संशयच्छेदक उपदेशाख्यः
खड्गेऽप्येषांते सत्योऽपदेष्टारः । तं त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामीति ब्राह्मण-
वक्यात् । उपनिषत्सु भवं प्रतिपाद्यं विज्ञापनीयं परमेश्वरमाहुः । अत
एवोक्तस्तीर्थ इति । सर्वेषां तारकाणां तीर्थानामात्मकत्वात् परमतीर्थाख्यो
धर्मात्मनां स्वभक्तानां सद्यस्तारकत्वात् परमेश्वर एवास्ति एते नैतानि
तीर्थानि व्याख्यातानि (प्रश्नः) यैस्तरन्ति नरास्तानि जलस्थलार्दानि
तीर्थानि कुतो न भवन्ति । अत्रोच्यते । नैव जलं स्थलं च तारकं कदाचि
द्विनुमर्हति तत्र सामर्थ्याभावात् करणकारकव्युत्पत्त्यभावाच्च ॥ जलस्थ-
लार्दानि नौकादिभिर्योनैः पद्भ्यां बाहुभ्यां च जनास्तरन्ति । तानि च
कर्मकारकान्वितानि भवन्ति करणकारकान्वितानि तु नौकादीनि । यदि
पद्भ्यां गमनं बाहुवलं न कुर्यान्न च नौकादिषु तिष्ठेत्तर्ह्यवश्यं तत्र
मनुष्यो मज्जेन्महद्दुःखं च प्राप्नुयात् । तस्माद्वेदानुयायिनामार्याणां
मते काशीप्रयागपुष्करगंगायमुनादिनदीनां सागराणां च नैव तीर्थसंज्ञा
सिध्यति । किंतु वेदविज्ञानरहितैरुदरम्भरैः संप्रदायस्यैर्जीविकाधीनैर्वै-
दमार्गविरोधिभिरल्पज्ञैर्जीविकार्थं स्वकीयरचितग्रंथेषु तीर्थसंज्ञया प्रसिद्धी-
कृतानि सन्तीति । ननु । इमंमे गङ्गे यमुने सरस्वतीति गंगादिनदीनां
वेदेषु प्रतिपादनं कृतमस्ति त्वया कथं न मन्यते । अत्रोच्यते । मन्य-
ते तु मया तासां नदीसंज्ञेति ता गंगादयो नद्याः सन्ति । ताभ्यो यथायोग्यं
जलशुद्ध्यादिगुणैर्यावानुपकारो भवति तावतासां मान्यं करोमि । नच

पापनाशकत्वं दुःखातारकत्वं च । कुतः । जलस्थलादीनां तन्सामर्थ्या
भावात् । इदं सामर्थ्यं तु पूर्वोक्तेष्वेव तीर्थेषु गम्यते नान्यत्रेति । अन्यच्च ।
इडा पिंगला सुषुम्णा कूर्म नाड्यादीनां गंगादिसंज्ञास्तीति । तासां योगस-
माधौ परमेश्वरस्य ग्रहणात् । तस्य ध्यानं दुःखनाशकं मुक्तिप्रदं च भव-
त्येव । तासामिडादीनां धारणासिध्यर्थं चित्तस्य स्थिरीकरणार्थं स्वीकरण-
मस्तीति तच्च ग्रहणात् । एतन्मंत्रप्रकरणे परमेश्वरस्यानुवर्तनात् । एव-
मेव । (सितासिते यच्च संगथे तच्चाप्नुतासौ दिवमुत्पतन्ति०) एतेन परिशिष्टव-
चनेन केचिदङ्गगायमुनयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति । संगथे इतिपदेन गङ्गायमुनयोः संयो-
गस्य प्रयागतीर्थमिति संज्ञां कुर्वन्ति । तन्न संगच्छते । कुतः । नैव तच्चाप्नुत्य-
हानं कृत्वा दिवं द्योतनात्मकं परमेश्वरं सूर्य्यजेतुं वा ने त्यनन्ति । गच्छन्ति
किंतु पुनः स्वकीयं स्वकीयं गृहमागच्छन्त्यतः । अत्रापि सितगच्छे नेडाया ।
असितगच्छेन पिंगलायाश्च ग्रहणं यच्च तु खन्वेनयोर्नाड्योः सुषुम्णायां
समागमे मेजनं भवति तच्च कृतस्नानाः परमयोगिनो दिवं परमेश्वरं
प्रकाशमयं मोक्षाख्यं सत्यविज्ञानं चोत्पन्नन्ति सम्यगगच्छन्ति प्रप्नुवन्ति ।
अतोऽनयोरेवाच्च ग्रहणं नच तयोः ॥ अत्र प्रमाणम् । सितासितमिति
वर्णनाम तत्प्रतिषेधोऽसितम् । निरु० अ० ६ खं० २ ॥ सितं शुक्लवर्णमसितं
तस्य निषेधः । तयोः प्रकाशान्धकारयोः सूर्य्यदिपृथिव्यादिपदार्थयोर्ग्र-
हणसामर्थ्यं समागमेऽस्ति तच्च कृतस्नानास्तद्विज्ञानवन्ते दिवं पूर्वोक्तं
गच्छन्त्येव ॥

॥ भाषार्थ ॥

कठि यह कथा है कि जो गया को तीर्थ बना रक्खा है लोगोंने मगध देश
में एक स्थान है वहां फल्गु नदी के तीर प्राण परमनुष्य के पग का चिन्ह
बना के उस का विष्णुपद नाम रखदिया है और यह बात प्रसिद्ध करदी है
कि यहां आहु करने से पितरों की मुक्ति हो जाती है जो लोग आंख के अंधे
गांठ के पूरे उन के जाल में जा फसते हैं उन को गयावाले उगटे उस्तरे से
खूब हजामत बनाते हैं इत्यादि प्रमाद से उन के धन का नाश कराते हैं वह
परधन हरण पेटपालक ठगलीला केवल झूठही की गठरी है जैसा कि सत्य
शास्त्रों में लिखी हुई आगे की कथा देखने से सब को प्रगट हो जावेगा
(प्राणएव बलं०) इन वचनों का अभिप्राय यह है कि अत्यंत आहु से गया
संज्ञक प्राण आदि में परमेश्वर की उपासना करने से जीव की मुक्ति हो
जाती है प्राण में बल और सत्य प्रतिष्ठित है क्योंकि परमेश्वर प्राण का भी
प्राण है और उस का प्रतिपादन करने वाला मायजी मंत्र है कि जिस को गया
कहते हैं किसलिये कि उस का अर्थ जन के अहु सहित परमेश्वर की

भक्ति करने से जीव सब दुःखों से छूट कर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। तथा प्राण का भी नाम गया है उस को प्राणायाम की रीति से रोक के परमेश्वर की भक्ति के प्रताप से पितर अर्थात् जानी लोग सब दुःखों से रहित होकर मुक्त हो जाते हैं क्योंकि परमेश्वर प्राणों की रक्षा करने वाला है इसलिये ईश्वर का नाम गायत्री और गायत्री का नाम गया है तथा निघंटु में घर संनान और प्रजा इन तीनों का नाम भी गया है मनुष्यों को इन में अत्यंत श्रद्धा करनी चाहिये इसी प्रकार माता पिता आचार्य और अतिथि की सेवा तथा सब के उपकार और उन्नति के कामों की मिट्टि करने में जो अत्यंत श्रद्धा करनी है उस का नाम गयाश्राद्ध है तथा अपने संतानों को सुशिक्षा में विद्या देना और उन के पालन में अत्यंत प्रीति करनी इस का नाम भी गयाश्राद्ध है तथा धर्म से प्रजा का पालन मुख की उन्नति विद्या का प्रचार श्रेष्ठों की रक्षा दुष्टों को दण्ड देना और सत्य की उन्नति आदि धर्म के काम करना ये सब मिलकर अथवा पृथक् २ भी गयाश्राद्ध कहाने हैं इस अत्यंत श्रेष्ठ कथा को छोड़ के विद्याहीन पुरुषों ने जो मिथ्य कथा बना रक्की है उस को कभी न मानना और जो वहां पाषाण के ऊपर मनुष्य के पग का चिह्न बना कर उस का नाम विष्णुपद रक्खा है सो सब मूलमें ही मिथ्या है क्योंकि व्यापक परमेश्वर जो सब जगत् का करने वाला है उसी का नाम विष्णु है देखो यहां निरुक्तकार ने कहा है कि (पूरेत्यर्थः) विपलु धातु का अर्थ व्यापक होने अर्थात् सब चत्वार जगत् में प्रविष्ट रहना वा जगत् को अपने में स्थान करने का है इसलिये निरुक्तकार ईश्वर का नाम विष्णु है (क्रमपादवितेपे) यह धातु दूसरी वस्तु को पगों से दबाना वा स्थापन करना इस अर्थ को बतलाता है इस का अभिप्राय यह है कि भगवान् अपने पाद अर्थात् प्रकृति परमाणु आदि सामर्थ्य के अंशों से सब जगत् को तीन स्थानों में स्थापन करके धारण कर रहा है अर्थात् भार सहित और प्रकाश रहित जगत् को पृथिवी में, परमाणु आदि सूक्ष्म द्रव्यों को अन्तरित में तथा प्रकाशमान सूर्य और ज्ञानेन्द्रिय आदि को प्रकाश में इस रीति से तीन प्रकार के जगत् को ईश्वर ने रचा है फिर इन्हीं तीन भेदों में एक मूठ अर्थात् जनरहित जो जड़ जगत् है वह अन्तरित अर्थात् पोल के बीच में स्थित है सो यह केवल परमेश्वर ही का महिमा है कि जिमने ऐसे २ अद्भुत पदार्थ रच के सब को धारण कर रक्खा है (यदिदं किंच) इस विष्णुपद के विषय में यास्कमुनि ने भी इस प्रकार व्याख्यान किया है कि यह सब जगत् सर्व व्यापक परमेश्वर ने बनाकर (त्रिधा०) इस में तीन प्रकार की रचना दिखलाई है जिससे मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं वह समारोहण कहाता है सो विष्णुपद गयशिर अर्थात् प्राणों के परे है उसको मनुष्य लोग प्राण में स्थिर होके प्राण से प्रिय अन्तर्यामी परमेश्वर को प्राप्त होते हैं अन्य मार्ग से नहीं क्योंकि प्राण का भी प्राण और जीवात्मा में व्याप्त जो परमेश्वर है उससे दूर जीव वा जीव से दूर वह

कभी नहीं हो सकता उसमें से सूक्ष्म जो जगत् का भाग है सो आँख से देखने योग्य नहीं हो सकता किन्तु जब कोई पदार्थ परमाणुओं के संयोग से स्थूल हो जाता है तभी वह नेत्रों से देखने में आता है यह दोनों प्रकार का जगत् जिस के बीच में ठहर रहा है और जो उस में परिपूर्ण हो रहा है ऐसे परमात्मा को विष्णुपद कहते हैं इस सत्य अर्थ को न जान के अविद्वान् लोगों ने पाषाण पर जो मनुष्य के पग का चिन्ह बना कर उस का नाम विष्णुपद रख छोड़ा है सो सब मिथ्या बातें हैं तथा तीर्थ शब्द का अर्थ अन्यथा जानके अज्ञानियों ने जगत् के लूटने और अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये मिथ्याचार कर रक्खा है सो ठीक नहीं क्योंकि जो २ सत्य तीर्थ हैं वे सब नीचे लिखे जाते हैं देखो तीर्थ नाम उन का है कि जिन से जीव दुःखरूप समुद्र को तरके सुख को प्राप्त हो अर्थात् जो २ वेदादि शास्त्र प्रतिपादित तीर्थ हैं तथा जिन का आर्य्यों ने अनुष्ठान किया है जो कि जीवों के दुःखों से छुड़ाके उन के सुखों के साधन हैं उनही को तीर्थ कहते हैं वेदाक्त तीर्थ ये हैं (तीर्थमेव प्रायः) अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त किसी यज्ञ की समाप्ति करके जो स्नान किया जाता है उस को तीर्थ कहते हैं क्योंकि उस कर्म से वायु और वृष्टि जल की शुद्धिद्वारा सब मनुष्यों को सुख प्राप्त होता है इस कारण उन कर्मों के करने वाले मनुष्यों को भी सुख और शुद्धि प्राप्त होती है तथा (अहिंसन्) सब मनुष्यों को इस तीर्थ का सेवन करना उचित है कि अपने मनमें वैरभाव को छोड़ के सब के सुख करने में प्रवृत्त होना और किसी संसारी व्यवहार के वर्त्तमानों में दुःख न देना परंतु (अन्यत्र तीर्थेभ्यः) जो २ व्यवहार वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध माने हैं उन के करने में दण्ड का होना अवश्य है अर्थात् जो २ मनुष्य अपराधी पाखण्डी अर्थात् वेदशास्त्रोक्त धर्मानुष्ठान के शत्रु अपने सुख में प्रवृत्त और परपीड़ा में प्रवर्त्तमान हैं वे सदैव दण्ड पाने के योग्य हैं इस से वेदादि सत्य शास्त्रों का नाम तीर्थ है कि जिनके पढ़ने पढ़ाने और उन में कहे हुए मर्मों में चलने से मनुष्य लोग दुःख सागर को तरके सुखों को प्राप्त होते हैं (समानतीर्थे) इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेदादि शास्त्रों को पढ़ाने वाला जो आचार्य्य है उस का वेदादि शास्त्रों तथा माता पिता और अतिथि का भी नाम तीर्थ है क्योंकि उन की सेवा करने से जीवात्मा शुद्ध हो कर दुःखों से पार हो जाता है इस से इन का भी तीर्थ नाम है (त्रयः स्नातकाः) इन तीर्थों में स्नान करने के योग्य तीन पुरुष होते हैं एक तो वह कि जो उत्तम नियमों से वेदविद्या को पढ़ के ब्रह्मचर्य्य को बिना समाप्त करे भी विद्या का पढ़ना पूराकर के स्नान रूपी तीर्थ में स्नान करके शुद्ध हो जाता है दूसरा जो कि पच्चीस तीस छत्तीस चवालीस अथवा अड़तालीस वर्ष पर्यन्त नियम के साथ पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य्य को समाप्त करके और विद्या को बिना समाप्त किये भी विवाह

करता है वह ब्रतस्नानक अर्थात् उस ब्रह्मचर्य्यतीर्थ में स्नान करके शुद्ध हो जाता है और तीसरा यह है कि नियम से ब्रह्मचर्य्याश्रम तथा वेदादि शास्त्रविद्या को समाप्त करके समावर्त्तन अर्थात् उसीके फलरूपी उत्तम तीर्थ में भले प्रकार स्नान करके यथायोग्य पवित्र देह शुद्ध अन्तःकरण श्रेष्ठ विद्याबल और परोपकार को प्राप्त होता है (नमस्तीर्थ्याय०) उक्त तीर्थों से प्राप्त होने वाला परमेश्वर भी तीर्थ ही है उस तीर्थ को हमारा नमस्कार है जो विद्वान् लोग वेद का पढ़ना पढ़ाना और सत्य कथनरूप तीर्थों का प्रचार करते हैं तथा जो चंवालीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्याश्रम सेवन करते हैं वे बड़े बलवाले हो कर रुद्र कहाते हैं (सुकाहस्ता०) जिन के सुका अर्थात् विज्ञानरूप हस्त तथा निषंग संशय का काटनेवाली उपदेशरूप तलवार है वे सत्य के उपदेश कभी रुद्र कहाते हैं तथा उपनिषदों से प्रतिपादन किया हुआ उपदेश करने योग्य जो परमेश्वर है उस को परम तीर्थ कहते हैं क्योंकि उमी की कृपा और प्राप्ति से जीव सब दुःखों से तर जाते हैं (प्रश्न) जिन से मनुष्य लोग तर जाते हैं अर्थात् जल और स्थानविशेष वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते (उत्तर) नहीं क्योंकि उन में तारने का सामर्थ्य ही नहीं और तीर्थ शब्द करण कारक युक्त किया जाता है जो जल वा स्थानविशेष अधिकरण वा कर्मकारक होते हैं उन में नाव आदि अथवा हाथ और पग से तरते हैं इसमें जल वा स्थल तारने वाले कभी नहीं हो सकते किस लिये कि जो जल में हाथ वा पग न चलावे वा नौका आदि पर न बैठें तो कभी नहीं तर सकते इस युक्ति से भी काशी प्रयाग गंगा यमुना समुद्र आदि तीर्थ सिद्ध नहीं हो सकते इस कारण से सत्य शास्त्रोक्त जो तीर्थ हैं उन्हीं को मानना चाहिये जल और स्थानविशेष को नहीं (प्रश्न) (इमं मे गंगे०) यह मंत्र गंगा आदि नदियों को तीर्थविधान करने वाला है फिर इन को तीर्थ क्यों नहीं मानते (उत्तर) हम लोग उन को नदी मानते हैं और उन के जल में जो २ गुण हैं उन को भी मानते हैं परंतु पाप कुडाना और दुःखों से तारना यह उन का सामर्थ्य नहीं किंतु यह सामर्थ्य तो केवल पूर्वोक्त तीर्थों में ही है तथा इस मंत्र में गंगा आदि नाम इडा पिंगला सुषुम्णा कूर्म और जाठराग्नि की नाडियों के नाम हैं उन में योगाभ्यास से परमेश्वर को उपासना करने से मनुष्य लोग सब दुःखों से तर जाते हैं क्योंकि उपासना नाडियोंही के द्वारा धारण करनी होती है इस हेतु से इस मंत्र में उन की गणना की है इसलिये उक्त नामों से नाडियों का ही ग्रहण करना योग्य है (सितासिते०) सित इडा और असित पिंगला ये दोनों जहां मिली हैं उस को सुषुम्णा कहते हैं उस में योगाभ्यास से स्नान करके जीव शुद्ध हो जाते हैं फिर शुद्ध रूप परमेश्वर को प्राप्त हो के सदा आनन्द में रहते हैं इस में निरुक्तकार का भी प्रमाण है कि सित और असित शब्द शुक्ल और कृष्ण अर्थ के वाची हैं इस अभिप्राय से विस्तृत

मिथ्या अर्थ करके लोगों ने नदी आदियों का तीर्थ नाम से ग्रहण कर लिया है ॥

तथैव यतंचपुणादिग्रंथेषु मूर्तिपूजानामस्मरणादिविधानं कृतमस्ति तदपि मिथ्यैवास्तीति वेद्यम् । कुतः । वेदादिषु सत्येषु ग्रंथेषु तस्य विधानाभावात् । तत्र तु प्रत्युतनिषेधो वरीवर्तते । तद्यथा ।

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नामं महद्यशः । हिरण्यगर्भ इत्येषमामाहिंसीदित्येषा यस्मान्नजात इत्येषः ॥ १ यजुः० अ० ३२ मं० ३ ।

यस्य पूर्णस्य पुरुषस्याजस्य निराकारस्य परमेश्वरस्य (महद्यशः) यस्याज्ञापालनाख्यं महाकीर्तिकरं धर्म्यं सत्यभाषणदिकर्तुमर्हं कर्माचरणं नामस्मरणमस्ति (हिरण्यगर्भ०) यो हिरण्यानां सूर्यादीनां तेजस्विनां गर्भोत्पत्तिस्थानम् । यस्य सर्वैर्मनुष्यैर्मामाहिंसीदित्येषा प्रार्थना कार्य्यः । (यस्मान्न०) यो यतः कारणाद्भैषः कस्य चित्सकाशात्कदाचिदुत्पन्ने नैष कदाचिच्छीरधारणं करोति । नैव तस्य प्रतिमाऽर्थात् प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः प्रतिमानं तोलनसाधनं परिमाणं मूर्त्यादिकल्पनं किंचिदप्यस्ति परमेश्वरम्यानुष मेघ त्वदमूर्तत्वादपरि मेघ त्व त्रिराकात्वात्सर्वव्यापि व्याप्रत्वच्च । इत्यनेन प्रयोगेन मूर्तिपूजननिषेधः ॥

स रथ्यं गच्छुकमं कायमं ब्रणमं स विरः शुभमपापविहम् । कुर्विर्ननीषी परिभूः स्वयंभूर्धायातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ २ ॥ य० अ० ४० मं० ८ । ॥ भाष्यम् ॥

यः कविः सर्वज्ञः । मनीषी सर्वसाक्षी । परिभूः सर्वोपरिविराजमानः । स्वयंभूरनादिस्वरूपः परमेश्वरः । शाश्वतीभ्यो नित्याभ्यः सप्ताभ्यः प्रजाभ्यो वेदद्वाराऽन्तर्यामिन्या च यथा तथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् विहितवानस्ति सपर्य्ययात्सर्वव्यापकोऽस्ति । यत् (शुक्रं) वीर्यवतमं (अकायं) मूर्तिजन्मधारणरहितम् (अब्रणं) केशभेदरहितं (अस्रविरं) नाडीबंधनादिविरहं (शुद्धं) निर्दोषं (अपापविद्धं) पापात्पृग्भूतं यदीदृशलक्षणं ब्रह्म सर्वरूपासनीयमिति मन्यध्वम् । इत्यनेनापि शरीरजन्ममरणरहित ईश्वरः प्रतिपाद्यते तस्मादयं नैव केनापि मूर्तिपूजने योजयितुं शक्य इति । प्रश्नः ।

वेदेषु प्रतिमाशब्दोऽस्ति न वा । उतरम् । अस्ति । प्र० पुनः किमर्थो निषेधः ।
उ० नैव प्रतिमार्थं न मूर्तयो गृह्यन्ते । किं तर्हि परिमाणार्था गृह्यन्ते ।
अत्र प्रमाणानि ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्र्युपास्महे । सानुआयुष्मतीं
प्रजां रायस्पोषेण संसृज ॥ ३ ॥ अथर्व० कां० ३ व० १० मं० ३ ।
मुहूर्त्तानां प्रतिमा ता दश च सहस्राण्यष्टौ च शतानि भवन्त्येता-
वन्तोहि संवत्सरस्य मुहूर्त्ताः ॥ श० कां० १० प्र० ३ ब्रा० २ कां०
२० । यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युदयते तदेव ब्रह्म चं विद्धि नेदं
यदिदमुपसते ॥ १ ॥ सा.वेदीयतत्त्वकारोपनिषदि । खंड० १
मं० ४ । ॥ भाष्यम् ॥

इत्यादिमंत्रपंचकमूर्त्यादिनिषेधकमिति बोध्यम् । विद्वांसः संव-
त्सरस्य यां प्रतिमां परिमाणमुपसते वयमपि त्वां तामेवोपास्महे ।
अर्थे.द्याः संवत्सरस्य च णि शतानि पष्ठिश्च रात्रयो भवन्ति । यतः शताभिरेव
संवत्सरः परिमीयते तस्मादेताषां प्रतिमासंज्ञेति । यथा सेयं रात्रिर्नोऽस्माकं
रायस्पोषेण धनपुष्टिभ्यामायुष्मतीं प्रजां संसृज सम्यक् सृजेत् । तथैव सर्वै-
र्मनुष्यैरनुष्ठेयमिति । (मुहूर्त्ता०) तथा ये संवत्सरस्य दशसहस्राण्यष्टौ
शतानि घटिकाद्वयात्मकामुहूर्त्ताः सन्ति ते ऽपि प्रतिमाशब्दार्था विज्ञेयाः
(यद्वाचा०) यदस्मृतावाण्या अविषयं येन दाणीं विदितास्ति तद् ब्रह्म हे
मनुष्यत्वं विद्धि यत् इदं प्रत्यक्षं जगदस्ति नैवै तद् ब्रह्मास्ति । किन्तु विद्वांसो
यन्निराकारं सर्वव्यापकमजं सर्वनियन्तृसच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्मोपासते
त्वयापि तदेवोपासनीयं नेतरदिति । प्र० किंच भोः । मनुस्मृतौ । प्रतिमा-
नां च भेदकः । देवतान्यभिगच्छेत् । देवताऽभ्यर्चनं चैव । देवतानां च
कुत्सनम् । देवतायतनानि च । देवतानां ह्ययोर्लघननिषेधः । प्रदक्षिणानि
कुर्वीति । देवब्राह्मणसंनिधौ । देवताभारभेदकान् ॥ उक्तानामेतेषां वच-
नानां का गतिरिति । उ० अत्र प्रतिमाशब्देन रत्निकामाषसेटकादीनि
तोलनसाधनानि गृह्यन्ते । तद्यथा । तुलामानं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुन-
क्षितम् ॥ मनु० अ० ८ श्लोकः ४०३ । इत्यनया मूलोक्तरीत्यैव प्रतिमाप्र-
तीमानशब्दयोरेकार्थत्वात्तोलनसाधना गृह्यन्तइति बोध्यम् । अत एव

प्रतिमानामधिकन्यूनकारिणे दण्डो देय इत्युक्तः । विद्वांसो देवास्ते यथा धीयते ऽध्यापयन्ति निवसन्ति च तानि स्थानानि देवतानीत्युच्यन्ते देवा एव देवतास्तेषामिमानि स्थानानि देवतानि देवतायतनानि च सन्तीति बोध्यम् । त्रिदुषामेवाभ्यर्चनं सत्करणं कर्तव्यमिति । नैवेतेषां केन चिदपि निन्दाकायोल्लंघनं स्थानविनाशश्च कर्तव्यः । किंतु सवरेतेषां सामीप्य गमनं न्यायप्रापणं दक्षिणपार्श्वे स्थ पनं स्वेषां वामपार्श्वे स्थितिश्च कार्य्येति । एवमेव यच्च यच्चान्यथापि प्रतिमा देवदेवतायतनादिशब्दाः सन्ति तच्च तच्चैवमर्थः विज्ञेयाः । यंयभूयस्त्वभियानाच्च ते लेखितुं शक्या इति । एतावतेव मूर्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिनिषेधा बोध्याः ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब इस के आगे जो नवीन कल्पित तंत्र और पुराण ग्रंथ हैं उन में पत्थर आदि की मूर्ति पूजन तथा नाना प्रकार के नामस्मरण अर्थात् राम २ कृष्ण २ काष्ठादि माला तिलक इत्यादि का विधान करके उन को अत्यंत प्रीति के साथ जो मुक्ति पाने के साधन मान रखे हैं ये सब बातें भी मिथ्या ही ज्ञानना चाहिये क्योंकि वेदादि सत्य ग्रंथों में इन बातों का कहीं चिन्ह भी नहीं पाया जाता है किंतु उन का निषेध ही किया है जैसे (न तस्य०) (पूर्ण) जो किसी प्रकार से कम नहीं (अज) जो जन्म नहीं लेता और (निराकार) जिस की किसी प्रकार की मूर्ति नहीं इत्यादि लक्षण युक्त जो परमेश्वर है जिस की आज्ञा का ठाँक २ पालन और उत्तम कीर्तियों के हेतु जो सत्यभावणादि कर्म हैं उन का करना ही जिस का नामस्मरण कहाता है (हिरण्यगर्भ०) जो परमेश्वर तेज वाले सूर्यादि लोकों की उत्पत्ति का कारण है जिस की प्रार्थना इस प्रकार करनी होती है कि (मामाहिंसी०) हे परमात्मन् मह लोगों की सब प्रकार से रक्षा कीजिये कोई कहे कि इस निराकार सर्व व्यापक परमेश्वर की उपासना क्यों करनी चाहिये तो उत्तर यह है कि (यस्माच्च०) अर्थात् जो परमेश्वर किसी माता पिता के संयोग से कभी न उत्पन्न आहु न होता और न होगा और न वह कभी शरीर धारण करके बालक जवान् और वृद्ध होता है (न तस्य) उस परमेश्वर का प्रतिमा अर्थात् नाप का साधन तथा प्रतिजिब वा सदृश अर्थात् जिस को तसवीर कहते हैं सो किसी प्रकार नहीं है क्योंकि वह मूर्ति रहित, अनन्त सीमा रहित और सब में व्यापक है इससे निराकारही की उपासना सब मनुष्यों को करनी चाहिये कदाचित् कोई शंका करे कि शरीर धारी की उपासना करने में क्या दोष है तो यह बात समझना चाहिये कि जो प्रथम जन्म लेके शरीर धारण करेगा और फिर वह वृद्ध होकर मर जायगा तब किस की पूजा करोगे इस प्रकार मूर्तिपूजन का निषेध वेद से सिद्ध

होगया तथा (सपर्यगाच्छु०) जो परमेश्वर (कविः) सब का जानने वाला (मनीषी) सब के मन का साक्षी (परिभूः) सब के ऊपर विराजमान और (स्वयंभूः) अनादि स्वरूप है जो अपनी अनादि स्वरूप प्रजा को अन्तर्यामि रूप से और वेद के द्वारा सब व्यवहारों का उपदेश किया करता है (सपर्यगा३) सो सब में व्यापक (शुक्र) अत्यंत पराक्रम वाला (अक्रायं) सब प्रकार के शरीर से रहित (अन्नगं) कटना और सब रोगों से रहित (अस्त्रावरं) नाहि आदि के बंधन से पृथक् (शुद्धं) सब दोषों से अलग और (अपापविद्धं) सब पापों से न्यारा इत्यादि लक्षण युक्त परमात्मा है वही सब को उपासना के योग्य है ऐसा ही सब को मानना चाहिये क्योंकि इस मंत्र से भी शरीर धारण करके जन्म मरण होना इत्यादि बातों का निषेध परमेश्वर विषय में पाया ही गया इसमें इस की पत्थर आदि की मूर्ति बना के पूजना किसी प्रमाण वा युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता । (संवत्सरस्य०) विद्वान् लोग संवत्सर की जिम (प्रतिमां) लक्षण आदि काल के विभाग करने वाली रात्री की उपासना करते हैं हम लोग भी उसी का सेवन करें। जो एक वर्ष की ३६० तीन सौ साठ रात्रि होती हैं इतनी रात्रियों से संवत्सर का परिमाण किया है इसलिये इन रात्रियों की भी प्रतिमा संज्ञा है (मानग्रन्थ०) इन रात्रियों में परमात्मा की कृपा से हम लोग सत्कर्मों के अनुष्ठानपूर्वक संपूर्ण आयु युक्त संतानों को उत्पन्न करें। इसी मंत्र का भावार्थ कुछ शतपथब्राह्मण में भी है कि (मुहूर्त्त०) एक संवत्सर के १०८०० मुहूर्त्त होते हैं ये भी प्रतिमा शब्द के अर्थ में समझने चाहिये क्योंकि इनसे भी वर्ष का परिमाण होना है (यद्वाचा०) जो कि अविद्या युक्त वाणी से प्रसिद्ध नहीं हो सकता जो सब की वाणियों को जानता है हे मनुष्य! तुम लोग उसी को परमेश्वर जानो और न कि मूर्तिमान जगत् के पदार्थों को जो कि उस के रहे हुए हैं अर्थात् निराकार व्यापक सब पदार्थों का नियम करने वाला और सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त ब्रह्म है उसी की उपासना तुम लोग करो यह उपनिषद कारक ऋषियों का मत है (प्रश्न) क्यों जी मनुस्मृति में जो (प्रतिमानां०) इत्यादि वचन हैं उनमें तो यह बात मालूम होती है कि जो कोई प्रतिमा को तोड़े उस को राजा दंड देवे तथा देवताओं के पाप जाना उन की पूजा करना उन की छाया का उलंघन नहीं करना और उन की परिक्रमा करना इत्यादि प्रमाणों से तो मूर्तिपूजा बराबर सिद्ध होती है फिर आप कैसे नहीं मानते हैं (उत्तर) क्यों भ्रम में पड़े हुए हो होशमें आओ और आंख खोल कर देखो कि प्रतिमा शब्द से जो तुम लोग पत्थर की मूर्ति लेते हो सो यह केवल तुम्हारी अज्ञानता अर्थात् कम समझ है क्योंकि मनुस्मृति में तो प्रतिमाशब्द करके (तुलामानं०) रत्ति, छटांक, पाउ, सेर और पसेरी आदि तोलके साधनों का बहण किया है क्योंकि तुलामान अर्थात् तराजू और

प्रतीमनं वा प्रतिमा अर्थात् बाट इन की परीक्षा राजा लोग छठे २ मास अर्थात् छः २ महिने में एक बार किया करें कि जिससे उन में कोई व्यवहारी किसी प्रकार की छल से घटबुद्ध न कर सकें और कदाचित् कोई करे तो उस को दण्ड देवें फिर (देवताभ्यर्चनं) इत्यादि वचनों से यह बात समझ लेनी चाहिये कि शतपथ ब्राह्मण में विद्वान् मनुष्यों का नाम देव कहा है अर्थात् जिन स्थानों में विद्वान् नाग पढ़ते पढ़ाते और निवास करते हैं उन स्थानों को देवत कहते हैं वहां जाना बैठना और उन लोगों का सत्कार करना इत्यादि काम सब को अवश्य करने चाहिये (देवतानां च कुत्सनं) उन विद्वानों की निन्दा उन का अपमान और उन के स्थानों में किसी प्रकार का बिगाड़ वा उपद्रव आदि दोष की बातें कभी न करना चाहिये किंतु (देवतान्यभिः) सब मनुष्यों को उचित है कि उन के समीप जाकर अच्छी २ बातों को सीखा करें (प्रदक्षिणां) उन के मान्य के लिये दाहिनी दिशा में बैठाना क्योंकि यह नियम उन की प्रतिष्ठा के लिये बांधा गया है ऐमे ही अन्यत्र भी जहां कहीं प्रतिमा और देवता अथवा उन के स्थानों का वर्णन हो इसी प्रकार निर्भयता से वहां समझ लेना चाहिये यहां सब का संग्रह इसलिये नहीं किया कि संग्रह बहुत बड़ा होता ॥ ऐमे ही सत्य शास्त्रों से विरुद्ध कण्ठी और तिलकधारणादि मिथ्या कल्पित विषयों को भी समझ कर मन कर्म और वचन से त्याग कर देना अवश्य उचित है ॥

एवमेव सूर्यादियहपोडाशन्तये वालबुद्धिमिराकृष्णो न रजसेत्यादि मंत्रा गृह्यन्ते । अयमेषां भ्रमएवास्तीति । कुतस्तत्रतेषामर्थानामग्रहणात् । (तद्यथा) तत्राकृष्णो न रजसेति मंत्रस्यार्थ आकर्षणानुकर्षणप्रकरण उक्तः । इमं देवा असपत्नमित्यस्य राजधर्मविषये चेति ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या त्रयम् । अपाश्रेताः शसि जिन्वति ॥ १ ॥ य० अ० ३ मं० १२ ॥ उदुध्यस्वाग्ने प्रतिजा-
गृह्णित्वमिष्टापूर्तेसः सृजेथामयं च । अस्मिन्सधस्ये अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥ २ ॥ य० अ० १५ मं० ५४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(अयमग्निः) परमेश्वरो भौतिको वा (दिवः) प्रकाशवल्लोकस्य (पृथिव्याः) प्रकाशरहितस्य च (पतिः) पालयितास्ति (मूर्द्धा) सर्वोपरि विराजमानः (ककुत्) तथा ककुभां दिशां च मध्ये व्यापकतया सर्वपदार्थानां पालयितास्ति । व्यत्ययो बहुलमिति सूत्रेण भकारस्थाने तकारः । (अपाश्रे-

ताऽसि) अयमेव जगदीश्वरो भौतिकश्चापां प्राणानां जलानां च रतांसि वो-
र्याणि (जिन्वति) पुष्पाति । एवं चाग्निर्विद्युद्रूपेण सूर्यरूपेण च पूर्वाक्तस्य
रक्षकः पुष्टिर्कृता चास्ति ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) । हे अग्ने परमेश्वरास्माकं
हृदये त्वमुद्बुध्यस्व प्रकाशितो भव (प्रतिजागृहि) अविद्यान्धकारनिद्रात-
स्सर्वान् जीवान् पृथक् कृत्य विद्यार्कप्रकाशे जागृतान् कुरु । (त्वमिष्टापूर्ते०)
हे भगवन् अयं जीवो मनुष्यदेहधारी धर्मार्थकाममोक्षसामग्र्याः पूर्तिं
सृजेत् समुत्पादयेत् । त्वमस्येष्टं सुखं सृजेः । एवं परस्परं द्वयोः
सहायपुरुषार्थाभ्यामिष्टापूर्ते संसृष्टे भवेताम् (अस्मिन्सधस्ये) अस्मिन्
लोके शरीरे च (अध्युत्तरास्मिन्) परलोके द्वितीये जन्मनि च (विश्वेदेवा
यजमानश्च सीदत) सर्वे विद्वांसो यजमानो विद्वत्सेवाकर्ता च कृपया सदा
सीदन्तु वर्तन्ताम् । यतोऽस्माकं मध्ये सदैव सर्वा विद्याः प्रकाशिता भवेयु-
रिति । व्यत्ययो बहुलमित्यनेन सूत्रेण पुरुषव्यत्ययः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार से अल्पबुद्धि मनुष्यो ने आकृष्णो न रजसा० इत्यादि मंत्रों का
सूर्यादि ग्रहपीडा की शांति के लिये ग्रहण किया है सो उनको केवल भ्रम
मात्र हुआ है मूल अर्थ से कुछ संबन्ध नहीं क्योंकि उन मंत्रों में ग्रहपीडा नि-
वारण करना यह अर्थ ही नहीं है (आकृष्णो न०) इस मंत्र का अर्थ आकर्ष-
णानुर्कर्षण प्रकरण में तथा (इन्द्रदेवा०) इस का अर्थ राजधर्म विषय में लिख
दिया है । १ । २ ॥ (अग्निः) यह जो अग्नि संज्ञक परमेश्वर वा भौतिक
है वह (दिवः) प्रकाश वाले और (पृथिव्याः) प्रकाशरहित लोकों का
पालन करने वाला तथा (मूर्द्धा) सब पर विराजमान और (ककुत्पतिः)
दिशाओं के मध्य में अपनी व्यापकता से सब पदार्थों का राजा है (व्यत्ययो
बहुलम्) इस सूत्र से (ककुभ्) शब्द के दकार को भकारादेश हो गया
है (अप्राप्तासि जिन्वति) वही जगदीश्वर प्राण और जलों के वीर्यों
को पुष्ट करता है इस प्रकार भूताग्नि भी विद्युत् और सूर्य रूप से पूर्वाक्त
पदार्थों का पालन और पुष्टि करने वाला है ॥ ३ ॥ (उद्बुध्यस्वाग्ने) हे
परमेश्वर हमारे हृदय में प्रकाशित हूजिये (प्रति जागृहि) अविद्या की अंध-
धार रूप निद्रा से हम सब जीवों को अलग करके विद्यारूप सूर्य के प्रकाश
से प्रकाशमान कीजिये कि जिस से (त्वमिष्टापूर्ते) हे भगवान् मनुष्य देह
धारण करने वाला जो जीव है जैसे वह धर्म अर्थ काम और मोक्ष की साम-
ग्री की पूर्ति कर सके वैसे आप इष्ट सिद्ध कीजिये (अस्मिन्सधस्ये) इस लोक और
इस शरीर तथा (अध्युत्तरास्मिन्) परलोक और दूसरे जन्म में (विश्वेदेवा यज-
मानश्च सीदत) आप की कृपा से सब विद्वान् और यजमान अर्थात् विद्या के
उपदेश का ग्रहण और सेवा करने वाले मनुष्य लोग सुख से वर्तमान सदा बने

रहें कि जिस से हम लोग विद्यायुक्त होते रहें (व्यत्यये, बहुलम्) इस सूत्र से (संयुज्याम्) (सीदत) इन प्रयोगों में मुख्य व्यत्यय अर्थात् प्रथम पुरुष की जगह मध्यम पुरुष हुआ है ॥ ४ ॥ -

बृहस्पते अति यदर्थ्यो अर्ह्याद्युमद्भिभाति क्रतुमज्जनेषु । यद्दी-
दयच्छवस ऋतुप्रजाततदस्मासु द्रविणं धेहि चिच्चम् ॥ ५ ॥ य० अ०
२६ मं० ३ ॥ अन्नात्परिस्त्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिवत्त्रचम्पयः सोमं
प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्थसुः । इन्द्रस्येन्द्रि-
यमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ६ ॥ यजुः० अ० १८ मं० ७५ ॥ भाष्यम् ॥

(बृहस्पते) हेबृहतां वेदानां पते पालक (ऋत प्रजात) वेदवि-
द्याप्रतिपादित जगदीश्वरत्वं (जनेषु) यज्ञकारकेषु विद्वत्सु लोकलोकान्त-
रेषु वा (क्रतुमत्) भूयांसः क्रतवो भवन्ति यस्मिंस्तत् (द्युमत्) सत्यव्य-
वहारप्रकाशे विद्यते यस्मिंस्तत् (दीदयच्छवसः) दानयोग्यं शवसो बलस्य
प्रापकं (यदर्थ्यो अर्ह्यात्) येन विद्यादिधनेन युक्तः सन् अर्थ्यः स्वामी
राजा बहिर्गजो वा धार्मिकेषु जनेषु (भिभाति) प्रकाशते (चिच्चं) यदु-
नमद्युतं (अस्मासु द्रविणं धेहि) तदस्मदधीनं द्रविणं धनं कृषया धेहीत्य-
नेन मन्त्रेश्वरः प्रार्थ्यते ॥ ५ ॥ (चचं) यच्च यद्राजकर्मक्षत्रियो वा (ब्रह्मणा)
वेदविद्विश्च सह (पयः) अमृतात्मकं (सोमं) सोमाद्योषधिसंपादितं
(रसं) बुद्ध्यानन्दशोभ्यं धैर्यं बलपराक्रमादिमद्गुणप्रदं (व्यपिवत्) पानं
करोति तच्च स सभाध्यक्षो राजन्यः (ऋतेन) यथार्थवेदविज्ञानेन (सत्यं)
धर्मं राजव्यवहारं च (इन्द्रियं) शुद्धविद्यायुक्तं शान्तं मनः (विपानं)
विविधराजधर्मरक्षणं (शुक्रं) आशु सुखकरं (अन्धसः) शुद्धाज्ञस्येच्छाहेतुं
(पयः) सर्वपदार्थसारविज्ञानयुक्तं (अमृतं) मोक्षसाधकं (मधु) मधुरं
सत्त्वशीलस्वभावयुक्तं (इन्द्रस्य) परमेश्वर्ययुक्तस्य सर्वव्यापकान्तर्यामि-
नईश्वरस्य कृपया (इन्द्रियं) विज्ञानयुक्तं मनः प्राप्य (इदं) सर्वं व्याव-
हारिकपारमार्थिकं सुखं प्राप्नोति (प्रजापतिः) परमेश्वर एवमाज्ञापयति
यः क्षत्रियः प्रजापालनाधिकृतो भवेत् । स एवं प्रजापालनं कुर्यात् (अन्नात्प-
रिस्त्रुतः) स चामृतात्मको रसोऽन्नाद्वैज्यात्पदार्थात्परितः सर्वतः स्तुतश्च्यु-
तो युक्तो वा कार्यः । यथा प्रजायामत्यन्तं सुखं सिध्येतथैव क्षत्रियेण
कर्तव्यम् ॥

(बृहस्पते) हे वेदविद्यारत्नक (अतप्रजात) वेदविद्या से प्रसिद्ध जग-
दीश्वर आप (तदस्मासु द्वविणं धीहि) जो मन्त्रविद्या रूप अनेक प्रकार का
(चित्रं) बहुत धन है सो हमारे बीच में कृपा करके स्थापन कीजिये कैसा
बहुत धन है कि (जनेषु) विद्वानों और लोकलोकान्तरों में (कृतुमत्) जिस से
बहुत से यज्ञ किये जायें (द्रुमत्) जिस से सन्ध्या व्यवहार के प्रकाश का वि-
धान हो (श्रवसः) बल की रक्षा करनेवाला और (दीदयत्) धर्म और सब
के सुख का प्रकाश करने वाला तथा (यदर्थ्यो) जिस को धर्मयुक्त योग्य
व्यवहार के द्वारा राजा और वैश्य प्राप्त हो कर (विभर्ति) धर्मव्यवहार
अथवा धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों में प्रकाशमान होता है उस संपूर्ण विद्यायुक्त धन
को हमारे बीच में निरंतर धारण कीजिये ऐसे इस मंत्र से परमेश्वर की प्रार्थना
की जाती है ॥ ५ ॥ (तत्र) जो राजकर्म अथवा तत्रिय है वह मद्रा न्याय से
(ब्रह्मणा) वेदवित् पुरुषों के साथ मिलकर ही राज्यपालन करे वही प्रकार
(पयः) जो अमृतरूप (सोमं) सोमलता आदि आशुधियों का मार तथा (रसं)
जो बुद्धि आनन्द शूरता धीरज बल और पराक्रम आदि उत्तम गुणों का बढाने
वाला है उन को (व्यपिवत्) जो राजपुरुष अथवा प्रजास्य लोग वैद्यकशास्त्र
की रीति से पीते हैं वे सभासद और प्रजास्य मनुष्य लोग (अतेन) वेदविद्या
को यथावत् ज्ञान के (सत्यं) धर्म अर्थ काम मोक्ष (इन्द्रियं) शुद्ध विद्यायुक्त
शांत स्वरूप मन (विषानं) यथावत् प्रजा का रक्षण (शुक्रं) शीघ्र सुख करने-
हारा (अन्धसः) शुद्ध अन्ध की दृष्ट्यायुक्त (पयः) सब पदार्थों का मार विज्ञान
सहित (अमृतं) मोक्ष के ज्ञानादि साधन (मधु) मधुरवाणी और शीलता
आदि जो श्रेष्ठ गुण हैं (इदं) उन सब से परिपूर्ण होकर (इन्द्रस्य) परमे-
श्वर्युक्त व्यापक ईश्वर की कृपा से (इन्द्रियं) विज्ञान को प्राप्त होते हैं
(प्रजापतिः) इसलिये परमेश्वर सब मनुष्यों और राजपुरुषों को आज्ञा देता
है कि तुम लोग पूर्वाक्त व्यवहार और विज्ञान विद्या को प्राप्त होके धर्म से
प्रजा का पालन किया करो और (अचात्परिस्तुतः) उक्त अमृत स्वरूप रस को
उत्तम भोजन के पदार्थों के साथ मिला कर सेवन किया करो कि जिस से
प्रजा में पूर्ण सुख की सिद्धि हो ॥ ६ ॥

अर्न्नादेवो रभीष्टय आपो भवन्तु पीतये शंथोरभि स्वन्तु
नः ॥ ७ ॥ य० अ० ३६ मं १२ । कथा नश्चिच आभुवद्वती सदा वृध
सखा । कथा सचिष्ठया वृता ॥ ८ ॥ य० अ० २७ मं ३८ ॥ केतुं
हृण्वन् केतुं पेभोमर्या अपेशसे । समुपहिरजायथाः ॥ ९ ॥ य०
अ० २८ मं ३७ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(आपृष्यापो) अस्माद्धातो रप्कब्धः सिध्यति स नियतस्त्रीलिंगो बहुवचनान्तश्च । दिवुक्तीडादर्थः (देवीः) देव्य आपः सर्वप्रकाशकः सर्वानन्दप्रदः सर्वव्यपक ईश्वरः (अभीष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये (नः) अस्मभ्यं (शं) कल्याणकारिका भवन्तु स ईश्वरो नः कल्याणं भावयतु प्रयच्छतु । ता आपोदेव्यः स एवेश्वरो नो ऽस्माकमुपरि (शंयोः) सर्वतः सुखस्य वृष्टिं करोतु ॥ अत्र प्रमाणम् ॥

यच्च लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जनां विदुः । असञ्च यच्च सञ्चान्तः स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः ॥ अथर्व० कां० १० अ० ४ व० २२ मं० १० ॥ ॥ भाष्यम् ॥

अनेन वेदमंत्रप्रमाणेनापकब्धेन परमात्मनो ग्रहणं क्रियते । तद्वथा । (आपो ब्रह्मजना विदुः) विद्वांस आपो ब्रह्मणो नामास्तीति जानन्ति । (यच्च लोकांश्च कोशांश्च) यस्मिन्यरमेश्वरे सर्वान् भूगोलान्निर्धोश्च (असञ्च यच्च सञ्च) यस्मिँश्चानित्यं कार्यं जगदेतस्य कारणं च स्थितं जानन्ति । (स्कंभं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः) स जगद्धाता सर्वेषां पदार्थानां मध्ये कतमोस्ति विद्वँस्त्वं ब्रूहीति पृच्छ्यते । (अन्तः) स जगदीश्वरः सर्वेषां जीवादिपदार्थानामभ्यन्तरे ऽन्तर्यामिरूपेणावस्थितोस्तीति भवन्तो जानन्तु ॥ ७ ॥ (कया) उपासनारीत्या (सचिष्टया) अतिशयेन सत्कर्मनुष्ठानप्रकारया (वृता) शुभगुणेषु वर्तमानया (कया) सर्वोत्तमगुणालंकृतया सभया प्रकाशितः । (चिवः) अद्भुतानन्तशक्तिमान् (सदावृधः) सदानन्देन वधमानइन्द्रः परमेश्वरः (नः) अस्माकं सखा मित्रः (आभुवत्) यथाभिमुखो भूत्वा (जती) स जगदीश्वरः कृपया सर्वदा सहायकरणे नास्माकं रक्षको भवेत् । तथैवा स्माभिः स सत्यप्रेमभक्त्या सेवनीयइति ॥ ८ ॥ हे मर्यामनुष्या उषद्विः परमेश्वरं कामयमानैस्तदाज्ञायां वर्तमानैर्विद्वद्विर्युष्माभिः सह समागमे कृते सत्येव (अक्नेतवे) अज्ञानविनाशाय केतुं प्रज्ञानं । अपेशसे दारिद्र्याविनाशाय पेशः चक्रवर्तिराज्यादि सुखसंपादकं धनं च कृण्वन् कुर्वन् सन् जगदीश्वरः (अजाथाः) प्रसिद्धो भवतीति वेदितव्यम् ॥ ९ ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(शब्देदेवी०) आपृष्याप्तौ, इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है सो वह सदा स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त है तथा जिस दिवुधातु के क्रीडा

आदि अर्थ हैं उम से देवी शब्द सिद्ध होता है (देवीः) अर्थात् जो ईश्वर सब का प्रकाश और सब को आनन्द देने वाला (आपः) सर्व व्यापक है (अभीष्टये) वह इष्ट आनन्द और (पीतये) पूर्णानन्द को प्राप्ति के लिये (नः) हम को सुखी होने के लिये (शं) कल्याणकारी (भवन्तु) हो। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) वृष्टि करे। इस मंत्र में आप शब्द से परमात्मा के ग्रहण होने में प्रमाण यह है कि (आपो ब्रह्म जना विदुः) अर्थात् विद्वान् लोग ऐसा जानते हैं कि आप परमात्मा का नाम है (प्रश्न) (यत्र लोकांश्च कोशाश्च) सुनो जो जिस में पृथिव्यादि सब लोक, सब पदार्थ स्थित (असच्च यत्र सच्च) तथा जिन में अनित्य कार्य जगत् और सब वस्तुओं के कारण ये सब स्थित हो रहे हैं (स्कन्धं तं ब्रह्म कतमः स्वदेवसः) वह सब लोकों का धारण करने वाला कौन पदार्थ है (उत्तर) (अन्तः) जो सब पृथिवी आदि लोक और जीवों के बीच में अंतर्धामि रूप से परिपूर्ण भर रहा है ऐसा जानकर आप लोग उस परमेश्वर को अपने ही अन्तःकरण में खोजो ॥ ७ ॥ (कथा) जो किस उपासनातीति (महिष्ठया) और सत्यधर्म के आचरण से सभासद सहित (वृता) सत्यविद्यादि गुणों में प्रवर्तमान (कथा) सुखरूप वृत्ति सहित सभा से प्रकाशित (चित्रः) अद्भुत स्वरूप (सदा वृधः) आनन्द स्वरूप और आनन्द बढ़ानेवाला परमेश्वर है वह (नः) हमारे आत्माओं में (आभुवत्) प्रकाशित हो (ऊती) तथा किम प्रकार वह जगदीश्वर हमारा सदा सहायक होकर कृपा से नित्य रक्षा करें कि (उषद्विः समजायथाः) हे अने जगदीश्वर आप की आज्ञा में जो रमण करनेवाले हैं उन्हीं पुरुषों से आप जाने जाते हैं और जिन धार्मिक पुरुषों के अन्तःकरण में आप अच्छे प्रकार प्रकाशित होते रहो ॥ १८ ॥ हे विज्ञान स्वरूप अज्ञान के दूर करने वाले ब्रह्मन् आप (केतुं कृण्वन्) हम सब मनुष्यों के आत्माओं में ज्ञान का प्रकाश करते रहिये तथा (अकृतवे) अज्ञान और (अपेशसे) दरिद्रता के दूर करने के अर्थ विज्ञान धन और चक्रवर्त्तराज्य धर्मात्माओं को देते रहिये कि जिस से (मय्याः) जो आप के उपासक लोग हैं वे कभी दुःख को न प्राप्त हों ॥ ९ ॥

॥ अथाधिकारानधिकारविषयः संक्षेपतः ॥

वेदादिशास्त्रपठने सर्वेषामधिकारो स्थाहोस्विन्नेति । सर्वेषामस्ति वेदानामेश्वरोक्तत्वात्सर्वमनुष्योपकारार्थत्वात्सत्यावद्याप्रकाशकत्वाच्च । यद्यद्वि खलु परमेश्वररचितं वस्तुस्ति तत्तत्सर्वं सर्वार्थमस्तीति विजानीमः । अथ प्रमाणम् ॥

यथेमां वाचं कल्याणी मा वदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्या-
भ्याः शूद्राय चार्य्यं यच्च स्वायचारणाय । प्रियो देवानां दक्षिणायै
दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यत्सुपमादो नमत् ॥ १ ॥
य० अ० २६ मंत्र २ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

अस्याभिप्रायः । परमेश्वरः सर्वमनुष्येर्वेदाः पठनीयाः पाठ्या
इत्याज्ञां ददाति । तद्यथा । (यथा) येन प्रकारेण (इमाम्) प्रत्यक्षभूता-
मृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं (कल्याणीं) कल्याणसाधिकां (वाचं) वाणीं (जने-
भ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यो ऽर्थात् सकलर्जोवोपकाराय (आवदानि) आस-
मन्तादुपदिशानि । तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वमनुष्येभ्यो वेदचतुष्टयीं वागु-
पदेष्टुव्येति । अथ कश्चिदेवं ब्रूयात् । जनेभ्यो द्विजेभ्य इत्यध्याहार्यं वेदा-
ध्ययनाध्यापने तेषामेवाधिकारत्वात् नैवं शक्यम् । उत्तरमंभभागार्थ-
विरोधात् । तद्यथा । कस्यकस्य वेदाध्ययनश्रवणे ऽधिकारोऽस्तीत्या-
कांक्षायां मिदमुच्यते (ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां (अर्य्याय)
वेश्याय (शूद्राय) (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय स्वाय स्वात्मीयाय
पुत्राय भृत्याय च सर्वैः सैषा वेदचतुष्टयीं श्राव्येति । (प्रियो देवानां दक्षिणा-
यै दातुरिह०) । यथाहमीश्वरः पक्षपातं विहाय सर्वोपकारकरणेन सह
वर्तमानः सन् देवानां विदुषां प्रियः दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च
(भूयासम्) स्याम् । तथैव भवद्भिः सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वोपकारं सर्व-
प्रियाचरणं मत्वा सर्वेभ्यो वेदवाणीं श्राव्येति । यथायं मे मम कामः
समृध्यते । तथैवेवं कुर्वतां भवतां (अयं कामः समृध्यताम्) इयमिष्ट
सुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम् यथादः सर्वमिष्टसुखं मामुपनमति ।
(उपमादो नमत्) तथैव भवतो ऽपि सर्वमिष्टसुखमुपनमत् सम्यक् प्राप्नो-
त्विति । मया युष्मभ्यमयमाशीर्वादो दीयत इति निश्चेतव्यम् । यथा
मया वेदविद्या सर्वार्था प्रकाशिता तथैव युष्माभिरपि सर्वार्थोपकर्तव्या
नाच वेद्यमयं किञ्चित्कर्तव्यमिति । कुतः । यथा मम सर्वप्रियार्था पक्षपात-
रहिता च प्रवृत्तिरस्ति । तथैव युष्माभिराचरणे कृते मम प्रसन्नता भवति
नान्यथेति अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थोऽस्ति । कुतः । बृहस्पते आतयदर्यं
इत्युत्तरस्मिन्मन्त्रे हीश्वरार्थस्यैव प्रतिपादनात् ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(प्रश्न) वेदादिशस्त्रां के पठने पठाने सुनने शीर सुनाने में सब

मनुष्यों का अधिकार है वा नहीं (उत्तर) सबका है । क्योंकि जो ईश्वर की सृष्टि है उस में किसी का अन अधिकार नहीं हो सकता । देखिये कि जो २ पदार्थ ईश्वर से प्रकाशित हुए हैं सो २ सबके उपकारार्थ हैं (प्रश्न वेदों के पढ़ने का अधिकार केवल तीन वर्णों को ही है क्योंकि शूद्रादि के वेदादि शास्त्र पढ़ने का निषेध किया है और द्विजों के पढ़ाने में भी केवल ब्राह्मण ही का अधिकार है (उत्तर) यह बात सब मिथ्या है । इस क विवेक और उत्तर वर्णविभाग विषय में कह आये हैं वहां यही निर्णय हुआ है कि मूर्ख का नाम शूद्र और अति मूर्ख का नाम अति शूद्र है उन के पढ़ पढ़ाने का निषेध इसलिये किया है कि उन को विद्या ग्रहण करने की बुद्धि नहीं होती है प्र० परंतु क्या सब स्त्री पुरुषों का वेदादि शास्त्र पढ़ने सुनने का अधिकार है उ० सब को है । देखा इस में यजुर्वेद ही का यह प्रमाण लिखते हैं (यथेमां वाचं कल्याणी०) इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि वेदों के पढ़ने पढ़ाने का सब मनुष्यों को अधिकार है और विद्वानों को उन के पढ़ाने का । इसलिये ईश्वर आज्ञा देता है कि हे मनुष्य लोगो जिन प्रकार मैं तमको चारों वेदों का उपदेश करता हूं उसी प्रकार से तुम भी उन को पढ़ के सब मनुष्यों को पढ़ाया और सुनाया करो क्योंकि यह चारों वेदरूप वाणी सब की कल्याण करने वाला है तथा (आवदानि जनेभ्यः) जैसे सब मनुष्यों के लिये मैं वेदों का उपदेश करता हूं वैसे ही सदा तुम भी किया करो (प्रश्न) (जनेभ्यः) इस पद से द्विजों ही का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि जहां कहां सूत्र और स्मृतियों में पढ़ने का अधिकार लिखा है वहां केवल द्विजों ही का ग्रहण किया है (उत्तर) यह बात ठीक नहीं है क्योंकि जो ईश्वर का अभिप्राय द्विजों ही के ग्रहण करने का होता तो मनुष्य मात्र को उन के पढ़ने का अधिकार कभी न देता । जैसा कि इस मंत्र में प्रत्यक्ष विधान है (ब्रह्मराजन्याभ्याः शूद्रायचार्याय च स्वायचारणाय) अर्थात् वेदाधिकार जैसा ब्राह्मण वर्ण के लिये है वैसाही क्षत्रिय, अर्य, वैश्य, शूद्र, पुत्र, भृत्य, और अति शूद्र के लिये भी बराबर है क्योंकि वेद ईश्वर प्रकाशित है । जो विद्या का पुस्तक होता है वह सब का हितकारक है और ईश्वर रचित पदार्थों के दायभागी सब मनुष्य अवश्य होते हैं इसलिये उस का जानना सब मनुष्यों को उचित है क्योंकि वह माल सबके पिता का सब पुत्रों के लिये है किसी वर्णविशेष के लिये नहीं (प्रियो देवानाम्) जैसे मैं इस वेदरूप सत्य विद्या का उपदेश करके विद्वानों के आत्माओं में प्रिय हो रहा तथा (दक्षिणायै दातुरिह भूयासं) जैसे दानी वा शीलमान पुरुष को प्रिय होता हूं वैसेही तुम लोग भी पतनानरहित हो कर वेद विद्या को सुना कर सब को प्रिय हो (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदों का प्रचार रूप मेरा काम संसार के बीच में यथावत् प्रचरित होता है इसी प्रकार की इच्छा तुम लोग भी करो

किं जिससे उक्त विद्या आगे को भी सब मनुष्यों में प्रकाशित होती रहे (उपमादो नमत्) जैसे मूक में अनन्त विद्या से सब मुख हैं वैसे जो कोई विद्या का ग्रहण और प्रचार करेगा उसको भी मोक्ष तथा संसार का सुख प्राप्त होगा यही इस मंत्र का अर्थ ठीक है क्योंकि इससे आगे मंत्र में भी (बृहस्पते अतिथदर्यं०) परमेश्वर ही का ग्रहण किया है । इससे सब के लिये वेदाधिकार है ॥ १ ॥

वर्णाश्रमाअग्निगुणकर्माचारतो हि भवन्ति । अवाह मनुः ॥

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातरेवन्तु विद्यादश्यात्तथैव च ॥ १ ॥ मनु० अ० १० श्लो० ६५ ।

॥ भाष्यम् ॥

शूद्रः पूर्णविद्यामुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद्ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणभावं प्राप्नोति योस्ति ब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव । एवमेव कुचर्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमुखत्वपराधीनतापरसेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति । शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम् । अर्थादस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव । एवमेवापस्तम्बसूत्रेष्वस्ति ॥

धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥ अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥ प्रपाठक २ । पटल० ५ । सू० १० । ११ ॥

॥ भाष्यम् ॥

सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णं आपद्यते । समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः । जातिपरिवृत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति ॥ १ ॥ एवमेव स लक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत् । अर्थाद् धर्माचरणमेवात्मवर्णाधिकारे कारणमस्ति । एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तेरिति । यच्च यच्च शूद्रो नाध्यापनीयो न आचरणीयश्चेत्युक्तं तत्रायमभिप्रायः । शूद्रस्य प्रज्ञाविरहत्वात् विद्यापठनधारणविचारसमर्थत्वात्स्याध्यापनं आचरणं व्यर्थमेवास्ति निष्फलत्वाच्चेति ॥

॥ भाषार्थ ॥

वर्णाश्रमव्यवस्था भी गुणकर्मों के आचार विभाग से होती है इसमें मनु-
स्मृति का भी प्रमाण है कि (शूद्रो ब्राह्मणता०) शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण
शूद्र हो जाता है अर्थात् गुण कर्मों के अनुकूल ब्राह्मण हो तो ब्राह्मण रहता
है तथा जो ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र के गुण वाला हो तो वह क्षत्रिय,
वैश्य और शूद्र हो जाता है वैसे शूद्र भी मूर्ख हो तो वह शूद्र रहता और
जो उत्तम गुणयुक्त हो तो यथायोग्य ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हो जाता है वैसेही
क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जान लेना जो शूद्र को वेदादि पढ़ने का
अधिकार न होता तो वह ब्राह्मण क्षत्रिय वा वैश्य के अधिकार का कैसे
प्राप्त हो सकता इससे यह निश्चित जाना जाता है कि पच्चीसवें वर्ष वर्णों
का अधिकार ठीक २ होता है क्योंकि पच्चीस वर्ष तक बुढ़ी बढ़ती है इस
लिये उसी समय गुण कर्मों की ठीक २ परीक्षा करके वर्णाधिकार होना
उचित है ॥ १ ॥ तथा आपस्तम्बमूत्र में भी ऐसा लिखा है (धर्मचर्य्या०)
अर्थात् धर्माचरण करने से नीचे के वर्ण पूर्व २ वर्ण के अधिकार का प्राप्ति
हो जाते हैं सो केवल कहने ही मात्र को नहीं किंतु जिस २ वर्ण को जिन २
कर्मों का अधिकार है उन्हीं के अनुसार (आपत्यते जातिपरिवृत्तौ) वे यथावत्
प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥ (अधर्मचर्य्या०) तथा अधर्माचरण करके पूर्व २ वर्ण नीचे २
के वर्णों के अधिकारों का प्राप्त होते हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदों के
पढ़ने सुनने का अधिकार सब मनुष्यों को बराबर है ॥ इति संक्षेपतो ऽधि-
कारानधिकारविषयः ॥

॥ अथ पठनपाठनविषयः संक्षेपतः ॥

तच्चादौ पठनस्यारम्भे शिवासीत्या स्थानप्रयत्नस्वरज्ञानायाचरो-
च्चारणोपदेशः कर्तव्यः । येन नैव स्वरवर्णोच्चारणज्ञानविरोधः स्यात् ।
तद्यथा । पठत्यस्योच्चारणमोष्ठौ संयोज्यैव कार्य्यम् । अस्योष्ठौ स्थानं स्पृष्टः
प्रयत्न इति वेद्यम् । एवमेव सर्वत्र । अत्र महाभाष्यकारः पतञ्जलिमहा-
मुनिराह ॥

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो नतमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो ऽपराधात् ॥ १ ॥
माहाभा० अ० १ पा० १ आ० १ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

नैव स्थानप्रयत्नयोगेन विनोच्चारणे कृते ऽक्षराणां यथावत्प्रकाशः
पदानां लालित्यं च भवति । यथा गानकर्ता षड्जादिस्वरालापने

ऽन्यथोच्चारणं कुर्याच्चेत्सतस्यैवापराधो भवेत् । तद्वद्वेदेष्वपि प्रयत्नेन सह स्वस्वस्थाने खलु स्वरवर्णोच्चारणं कर्तव्यम् । अन्यथा दुष्टः शब्दो दुःखदो ऽनर्थकश्च भवति । यथाचदुच्चारणमुल्लङ्घ्योच्चारितेशब्दे वक्तुमपराधश्च विज्ञायते । त्वं मिथ्याप्रयोः कृतवानिति । नैव स मिथ्याप्रयुक्तः शब्दस्त-
मभिप्रेतमर्थमाह । तद्यथा । सकलं । शकलं । सकृत् शकृदिति । सकल
शब्दः संपूर्णार्थवाची । शकल इति खण्डवाची च । एवं सकृदित्ये-
कवारार्थवाची । शकृदिति मलार्थवाची चाव । सकारोच्चारणे कर्तव्ये
शकारोच्चारणं क्रियते चेदेवं शकारोच्चारणे कर्तव्ये सकारोच्चारणं च । तदा
स शब्दः स्वविषयं नाभिधत्ते । स वगवच्चे भवति । यमर्थं मत्वेऽच्चारणं
क्रियते स शब्दस्तदभिप्रायनाशको भवति । तद्वत्कारं यजमानं तदधिष्ठा-
तारं च हिनस्ति । तेनार्थेन ह्रीं करोति । यथेन्द्रगवायं शब्दः स्वरस्या-
पराधाद्विपरीतफलो जातः । तद्यथा । इन्द्रः सूर्य्यलोकस्तस्य शचरिच
मेघः । अत्र इन्द्रशब्दो बहुव्रीहिः समासः कृते भवति । अस्मिन् विषये तुल्ययोगितात्वं-
कारेण मेघसूर्य्ययोर्वर्णनं कृतमिति ततो ऽर्थवैपरीत्यं जायते । उतरपदार्थ-
प्रधानस्तत्पुरुषो ऽन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः समासो भवति । तत्र यस्ये-
च्छा सूर्य्यस्य गृह्ये ऽस्ति तेनेन्द्रशब्दः कर्मधारयसमासेनान्तोदात्त
उच्चारणीयः । यस्य च मेघस्य तेन बहुव्रीहिसमासमाश्रित्याद्युदात्तस्व-
रश्चेति नियमोऽस्ति । अत्रान्यथात्वे कृते मनुष्यस्य दोष एव गण्यते ।
अतः कारणात्स्वरोच्चारणं वर्णोच्चारणं च यथावदेव कर्तव्यमिति ॥ १ ॥

॥ भाषार्थ ॥

पठन पठन की आदि में लड़कों और लड़कियों को ऐसी शिक्षा करनी चाहिये कि वे स्थानप्रयत्न के योग से वर्णों का ऐसा उच्चारण कर सकें कि जिससे सब को प्रिय लगे जैसे (प) इस के उच्चारण में दो प्रकार का ज्ञान होना चाहिये एक स्थान और दूसरा प्रयत्न का प्रकार का उच्चारण ओंठों से होता है परंतु दो ओंठों का टाँक २ मिला ही के प्रकार बोला जाता है इस का ओष्ठ स्थान और स्पृष्ट प्रयत्न है और जो किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यंजन मिला हो तो उस को भी उसी २ के स्थान में प्रयत्न से उच्चारण करना उचित है इस का सब विधान व्याकरण और शिक्षा ग्रंथ में लिखा है फिर इस विषय में पतंजलि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि स्वर और वर्णों के उच्चारण में विपरीत होने से शब्द दुष्ट कहा जाता है अर्थात् वह मूल अर्थ को नहीं जानाता तथा (स वाग्वज्जो) जैसे स्थान और प्रयत्न के योग के बिना

शब्द का उच्चारण प्रसन्नता करानेहारा नहीं होता वैसे ही स्वर से विपरीत उच्चारण और गानविद्या भी सुन्दर नहीं होती किंतु गान का करने वाला षड्जादि स्वरों के उच्चारण को उलटा कर देवे तो वह अपराध उसी का समझा जाता है इसी प्रकार वेदादि ग्रंथों में भी स्वर और वर्णों का उच्चारण यत्न से होना चाहिये और जो उलटा उच्चारण किया जाता है वह (दुष्टः शब्दः) दुःख देने वाला और झूठ समझा जाता है जिस शब्द का यथावत् उच्चारण न हो किंतु उस से विपरीत किया जाय तो वह दोष बोलने वाले का गिना जाता है और विद्वान् लोग बोलने वाले से कहते हैं कि तू ने इस शब्द का अच्छा उच्चारण नहीं किया इस से यह तरे अभिप्राय को यथार्थ नहीं कह सकता जैसे (सकल) और (शकल) में देख ले अर्थत् (सकल) शब्द संपूर्ण का बोधक और जो उस में तालव्य शकार का उच्चारण किया जाय तो वही फिर खंड का वाचक हो जाता है ॥ ऐम ही सकृत् और शकृत् में दंत्य सकार के उच्चारण से प्रथम क्रिया और उसी को तालव्य उच्चारण करने से विष्टा का बोध होता है इस लिये शब्दों का उच्चारण यथावत् करने से ही ठीकर अर्थ का बोध होता है क्योंकि विपरीत उच्चारण से वह वज्र के समान वक्ता के अभिप्राय का नाश करने वाला होता है सो यह दोष बोलने वाले का ही गिना जाता है जैसे (इन्द्रशत्रुः) यहां इकार में उदात्त स्वर बोलने से बहुव्रीहि समास और अन्यपदार्थ का बोध होता है तथा अन्तोदात्त बोलने से तत्पुरुष समास और उत्तरपदार्थ का बोध हो जाता है सूर्य का इन्द्र और मेघ का वृत्रासुर नाम है । इस के संबंध में वृत्रासुर अर्थात् मेघ का वर्णन तुल्य योगिता उलंकार से किया है जो इन्द्र अर्थात् सूर्य की उत्तमता चाहे वह समस्त पद के स्थान में अन्तोदात्त उच्चारण करे और जो मेघ की वृद्धि चाहे वह अद्युदात्त उच्चारण करे इसलिये स्वर का उच्चारण भी यथावत् करना चाहिये ॥

तथा भाषणश्रवणासनगमनोत्थानभोजनाध्ययनविचारार्थयोजना-
दीनामपि शिक्षा कर्तव्यैव । अर्थज्ञानेन सहैव पठने कृते परमोत्तमं फलं
प्राप्नोति । परंतु यो न पठति तस्मान्त्वयं पाठमाचकार्यप्युत्तमो भवति ।
यस्तु खलु शब्दार्थसंबन्धविज्ञानपुरस्सरमधीते स उत्तमतरः । यश्चैवं
वेदान् पठित्वा विज्ञाय च शुभगुणकर्माचरणेन सर्वोपकारी भवति स उत्त-
मतमः । अब प्रमाणानि

कृचो अक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद् किम् वा कारिष्यति य इत्तद्दिदुस्त इमे समासते ॥ २ ॥
ॐ वंडल० १ सू० १६४ मं० ३८ ॥ स्थाणुरयं भारद्वाजः किञ्चाभू-

दधीत्य वेदं न विजानाति योर्थम् । योर्थञ्च इत्सुकलं भद्रमंश्रुते नाक-
मेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥ ३ ॥ यद्वृद्धीतमविज्ञातं निगदे नैव शब्द-
ते । अन्नगनाविधं शुष्कैधेन तज्ज्वलति कर्हि चित् ॥ ४ ॥ निरु०
अ० १ ख० १८ ॥

उतत्त्वः पश्यन्न ददंश् वाचंमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वन्विस्से जायेव पत्यं उशती सुवासाः ॥ ५ ॥
उतत्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्यन्त्यपि वाजिनेषु । अधेन्वाच-
रति माययैष वाचं शुश्रुवां अफ्लामपुष्याम् ॥ ६ ॥ ऋ० मंड०
१० सू० ७१ मं ४ । ५ ॥ ॥ भाष्यम् ॥

अभि० अचार्थज्ञानेन विनाऽध्ययनस्य निषेधः क्रियत इति (ऋ-
चो अक्षरे०) यस्मिन् विनाशरहिते परमेत्कृष्टे व्योमवद्व्यापके ब्रह्मणि ।
चत्वारो वेदाः पर्यवसितार्थाः सन्ति ऋगुपनक्षत्रं चतुर्णां वेदानां ग्रहणा-
र्थम् । तत् किं ब्रह्मेत्यत्राह । यस्मिन् विश्वेदेवाः सर्वे विद्वांसो मनुष्या
इन्द्रियाणि च । सूर्यादयश्च सर्वे लोका अधिनिषेदुर्यदा धारेण निषण्णाः
स्थितास्तद्ब्रह्म विज्ञेयम् । (यस्तं न वेद०) यः खलु तं न जानाति सर्वोपका-
रकरणार्थायामीश्वराच्चायां यथावन्न वर्तते स पठितया ऽपि ऋचा वेदेन किं
करिष्यति नैवायं कदाचिद्वेदार्थविज्ञानजातं किमपि फलं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
(यज्ञतद्विदुस्त इमे समासते) ये चेवं तद्ब्रह्म विदुस्त एव धर्मार्थकाममो-
क्षाख्यं फलं सम्यक् प्राप्नुवन्ति । तस्मात्सार्थकमेव वेदादीनामध्ययनं कर्त-
व्यम् ॥ २ ॥ (स्यागुरयं०) यः पुरुषो वेदमधीत्य पाठमात्रं पठित्वाऽर्थं
न जानाति तं विज्ञायापि धर्मं नाचरति । स मनुष्यः स्यागुः काष्ठस्तंभवद्भ-
वति । अर्थाज्जडवद्विज्ञेयो भारवाहश्च । यथा कश्चिन्मनुष्यः पशुश्च भार-
मात्रं वहं स्तन्न भुङ्के । किं तु तेनोठं घृतमिष्टकस्तूरीकेशरादिकं कश्चि-
द्भाग्यवानन्यो मनुष्यो भुङ्के । योऽर्थविज्ञानशून्यमध्ययनं करोति स
भारवाहवत् । (किलाभूत्) भवतीति मन्तव्यम् । (योर्थञ्च०)
योऽर्थस्य ज्ञाता वेदानां शब्दार्थसम्बन्धविद्वत्त्वा धर्माचरणो भवति । स वेदार्थ-
ज्ञानेन (विधूतपाप्मा) पापरहितः सन्मरणात्प्रागेव (सकलं) संपूर्णं (भद्रं)
भजनीयं सुखं (अश्नुते) प्राप्नोति पुनश्च शरीरं त्यक्त्वा (नाकमेति) सर्व-

दुःखरहितं मोक्षार्थं ब्रह्मपदं प्राप्नोति । तस्माद्वेदानामर्थज्ञानधर्मानुष्ठान-
पूर्वकमेवाध्ययनं कर्तव्यम् ॥ ३ ॥ (यद्वृत्तमविज्ञातं) येन मनुष्येण यद-
र्थज्ञानशून्यं वेदाद्यध्ययनं क्रियते । किं तु (निगदेन) पाठमात्रेणैव
(शब्दात्) कथ्यते तत् (कहिंचित्) कदाचिदपि (न ज्वलति) न प्रकाश-
ते । कस्मिन् क्रिमिव (अनग्नाविषशुष्केधः) अविद्यामानाग्निकेस्थले शुष्कं
सांप्रतं प्रज्वलनमिन्धनमिव । यथा अनग्नौ शुष्काणां काष्ठानां स्थापनेना-
पिदाहप्रकाशा न जायन्ते तादृशमेव तदध्ययनमिति ॥ ४ ॥ (उतत्वः
पश्यन्न ददर्श०) अपि खल्वे को वाचं शब्दं पश्यन्नर्थं न पश्यति (उतत्वः
शृण्वन्न शृणोत्येनाम्) उ इति वितर्कं कश्चिन्मनुष्यो वाचं शब्दमुच्चारयन्नपि
न शृणोति तदर्थं न जानाति । यथा तेनोच्चारिता श्रुतापि वाक् अविदिता
भवति तथैवार्थज्ञानविरहमध्ययनमिति मन्त्रार्थेनाविद्वल्लक्षणमुक्तम् । (उतो
त्वस्मै) यो मनुष्यो ऽर्थज्ञानपूर्वकं वेदानामध्ययनं करोति तस्मै (वाक्)
विद्या (तन्वं) शरीरं स्वस्वरूपं (विसृजे) विविधतया प्रकाशयति कस्मै
का किं कुर्वतीव (जायेव पत्य उशतीसु वासाः) यथा शोभनानि वासांसि
वस्त्राणि धारयन्ती पतिं कामयमाना स्त्री स्वस्वामिने स्वमात्मानं शरीरं
प्रकाशयति । तथैवार्थज्ञानपूर्वकाध्ययनकर्त्रे मनुष्याय विद्या स्वमात्मानं
स्वस्वरूपमीश्वरमारभ्य पृथिवीपर्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानमयं प्रकाशयती-
त्यर्थः ॥ ५ ॥ (सख्ये) यथा सर्वेषां प्राणिनां मित्रभावकर्मणि (उतत्वं) अन्य-
मनुजानं पूर्णविद्यायुक्तं (स्थिरपीतं) धर्मानुष्ठानेश्वरप्राप्तिरूपं मोक्षफलं पीतं
प्राप्तं येन तं विद्वांसं परमसुखप्रदं मित्रं (आहुः) वदन्ति । (नेनं हिन्वन्त्यपि
वाजिनेषु) ईदृशं विद्वांसं कस्मिंश्चिद्वाहारे केपि नहिंसन्ति तस्य सर्वप्रियका-
रकत्वात् । तथैव नैव केचित्प्रश्नेतरादयोव्यवहारा वाजिनेषु विरुद्धवादिषु
शुचभूतेष्वपि मनुष्येष्वेनमर्थविज्ञानसहितस्याध्येतारमनुष्यं हिन्वन्ति तस्य
सत्यविद्यान्वितया कामदुहा वाचा सह वर्तमानत्वेन । सत्यविद्याशुभलक्ष-
णान्वितत्वात् । इत्यनेन मन्त्रपूर्वार्थेन विद्वत्प्रशंसाच्यते । अथैतन्मन्त्रेतरार्द्धे-
नाविद्वल्लक्षणमाह (अधेन्वा चरति) यतो योह्यविद्वान् (अपुण्याम्) कर्मापा-
सनानुष्ठानाचारविद्यारहितां (अफलां) धर्मेश्वरविज्ञानाचारविरहां वाचं शु-
श्रुवान् श्रुतवान् तथाऽर्थे शिद्यारहितया भ्रमसहितया (मायया) कपटयुक्तया
वाचास्मिंल्लोके चरति । नैव स मनुष्यजन्मनि स्वार्थपरोपकारार्थं च फलं किं
चिदपि प्राप्नोति । तस्मादर्थज्ञानपूर्वकमेवाध्ययनमुत्तमं भवतीति ॥ ६ ॥

॥ भाषार्थ ॥

ऐसे लड़कों और लड़कियों को बोलने सुनने चलने बैठने उठने खाने पीने पढ़ने विचारने तथा पदार्थों के जानने और जोड़ने आदि की शिक्षा भी करनी चाहिये क्योंकि अर्थज्ञान के बिना पढ़े कोई भी उत्तम फल को प्राप्त नहीं हो सकता परंतु कुछ भी नहीं पढ़ने वाले से तो पाठमात्र जानने वाला ही श्रेष्ठ है जो वेदों को अर्थ सहित यथावत् पढ़ के शुभ गुणों का ग्रहण और उत्तम कर्मों को करता है वही सब से उत्तम होता है इस विषय में वेदमंत्रों के बहुत प्रमाण हैं जैसे (ऋग्वेद अक्षरे परमे व्योमन्) यहां इन मंत्रों से अर्थज्ञान के बिना पढ़ने का निषेध किया जाता है (प्र०) जिस का विनाश कभी नहीं होता और जो सब से श्रेष्ठ आकाशवत् व्यापक सब में रहने वाला परमेश्वर है जिसने अर्थ सहित चारों वेद विद्यमान तथा जिस का उत्पन्न किया हुआ सब जगत् है वह ब्रह्म क्या वस्तु है (उ०) (यस्मिन्देवा०) जिस में संपूर्ण विद्वान् लोग सब इन्द्रियां सब मनुष्य और सब सूर्यादिलोकस्थित हैं वह परमेश्वर कहाता है जो मनुष्य वेदों को पढ़ के ईश्वर को न जाने तो क्या वेदार्थ जानने का फल उस को प्राप्त हो सकता है । कभी नहीं इस लिये जैसा वेदविषय में लिख आये हैं वैसा व्यवहार करने वाले मनुष्य अत्यंत आनन्द को प्राप्त होते हैं परंतु जो कोई पाठ मात्र ही पढ़ता है वह उत्तम सुख को प्राप्त कभी नहीं हो सकता इस कारण से जो कुछ पढ़े सो अर्थ ज्ञानपूर्वक ही पढ़े ॥ २ ॥ (स्यागु०) जो मनुष्य वेदों को पढ़ के उन के अर्थ को नहीं जानता वह उन के सुख को न पाकर भार उठाने वाले पशु अथवा वृत्त के समान है जो कि अपने फल फूल वाली आदि को बिना गुण बोध के उठा रहे हैं किन्तु जैसे उन के सुख को भोगने वाला कोई दूसरा भाग्यवान् मनुष्य होता है वैसे ही पाठ के पढ़ने वाले भी परिश्रमरूप भार को तो उठाते हैं परन्तु उन के अर्थज्ञान से आनन्द-स्वरूप फल को नहीं भोग सकते (योऽर्थज्ञः) और जो अर्थ का जानने वाला है वह अधर्म से बच कर धर्मात्मा होके जन्म मरण रूप दुःख का त्याग करके संपूर्ण सुख को प्राप्त होता है क्योंकि जो ज्ञान से पवित्रात्मा होता है वह (नाकमेति) सर्व दुःख रहित होके मोक्षसुख को प्राप्त होता है इसी कारण वेदादिशास्त्रों को अर्थज्ञानसहित पढ़ना चाहिये ॥ ३ ॥ (यदुद्गीत०) जो मनुष्य केवल पाठ मात्र ही पठन किया करता है उसका वह पढ़ना अन्धकाररूप होता है (अनभनाविव शुष्कैधो०) जैसे अग्नि के बिना सूखे इंधन में दाह और प्रकाश नहीं होता वैसे ही अर्थज्ञान के बिना अध्ययन भी ज्ञानप्रकाश रहित रहता है वह पढ़ना अविद्यारूप अन्धकार का नाश कभी नहीं कर सकता ॥ ४ ॥ (उतत्वः पश्यन्नददर्श वाचमुत०) विद्वान् और अविद्वान् का यही लक्षण है कि जिस किसी को पढ़ सुन के भी शब्द अर्थ और संबंध का यथार्थ ज्ञान न हो

वह मूल्य अर्थात् अविद्वान् है (उतोत्वस्मे०) और जो मनुष्य शब्द अर्थ संबंध तथा विद्या के प्रयोजन के यथावत् जान ले वह पूर्ण विद्वान् कहाता है ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष को विद्या के स्वरूप के ज्ञान से परमानन्दरूप फल भी होता है (जायेव पत्य उशतां सुवासाः) अर्थात् जैसे पतिव्रता स्त्री अपने ही पति को अपना शरीर दिखलाती है वैसे ही अर्थ ज्ञाननेवाले विद्वान् ही को विद्या भी अपने रूप का प्रकाश करती है ॥ ५ ॥ (उतत्वं सख्य०) सब मनुष्यों को उचित है कि विद्वानों के साथ प्रीति करें अर्थात् जैसे संपूर्ण मनुष्यों के मैत्री करने योग्य मनुष्य को सब लोग सुख देते हैं वैसे ही तू भी जो वेदादि विद्या और विज्ञानयुक्त पुरुष है उस को अच्छी प्रकार सुख दे कि जिस से तुझे विद्यारूप लाभ सदा होता रहे विद्वान् नाम उस का है जो कि अर्थ सहित विद्या को पढ़ के वैसा ही आचरण करे कि जिस से धर्म अर्थ काम मोक्ष और परमेश्वर की प्राप्ति यथावत् हो सके इसी को स्थिरप्रीत कहते हैं ऐसा जो विद्वान् है वह संसार को सुख देनेवाला होता है (नैनं हि०) उस को कोई भी मनुष्य दुःख नहीं दे सकता क्योंकि जिस के हृदय में विद्यारूप सूर्य प्रकाशित हो रहा है उस को दुःखरूप चार दुःख कभी नहीं दे सकते (अधेन्वच०) और जो कोई अविद्यारूप अर्थात् अर्थ और अभिप्राय रहित वाणी को सुनता और कहता है उस को कभी कुछ भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता किंतु शोकरूप शत्रु उस को सब दिन दुःख ही देते रहते हैं क्योंकि विद्याहीन होने से वह उन शत्रुओं को जीतने में समर्थ नहीं हो सकता इसलिये अर्थ ज्ञानसहित ही पढ़ने से मनचाहा सुखलाभ होता है ॥ ६ ॥

मनुष्यैर्वेदार्थविज्ञानाय व्याकरणाष्टाध्यायीमहाभाष्याध्ययनम् । ततो निघण्टुनिरुक्तछन्दोज्योतिषां वेदांगानाम् । ततो मीमांसावैशेषिकन्याययोगसांख्यवेदान्तानां वेदोपगानां षण्णां शास्त्राणाम् । तत एतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मणानामध्ययनं च कृत्वा वेदार्थपठनं कर्तव्यम् । यद्वा एतत्सर्वमधीतवद्भिः कृतं वेदव्याख्यानं दृष्ट्वा च वेदार्थज्ञानं सबः कर्तव्यमिति । कुतः । नावेदविन्मनुते तं बृहन्तमिति । यो मनुष्यो वेदार्थाज्ञ वेति सनेव तं बृहन्तं परमेश्वरं धर्मं विद्यासमूहं वा वेत्तुमर्हति । कुतः सर्वासां विद्यानां वेद एवाधिकरणमस्त्यतः । नहि तमविज्ञायकस्य चित्सत्यविद्याप्राप्तिर्भवितुमर्हति । यदात् किंचिदूगोलमध्ये पुस्तकान्तरेषु हृदयान्तरेषु वा सत्यविद्याविज्ञानमभूत् भवति भविष्यति च तत् सर्वं वेदादेष प्रसृतमिति विज्ञेयम् । कुतः । यदाद्यथार्थं विज्ञानं तत्तदीश्वरेण वेदेष्वधिकृतमस्ति । तद्वारेषान्यत्र कुचचित्सत्यप्रकाशो भवितुं योग्यः । अतो वेदार्थविज्ञानाय सर्वैर्मनुष्यैः प्रयत्नोऽनुष्ठेय इति ॥

॥ भाषार्थ ॥

मनुष्य लोग वेदार्थ ज्ञानने के लिये अर्थ योजनासहित व्याकरण अष्टाध्यायी धातु पाठ उणादिवर्ण गणपाठ और महाभाष्य । शिखा कल्प निघंटु निरुक्त छन्द और ज्योतिष । ये छः वेदों के अंग, मीमांसा वैशेषिक, न्याय, योगसांख्य और वेदान्त । ये छः शास्त्र, जो वेदों के उपांग । अर्थात् जिन से वेदार्थ ठीक २ जानाजाता है । तथा ऐतरेय शतपथ साम और गोपथ । ये चार ब्राह्मण, इन सब ग्रंथों का क्रम से पठ के अथवा जिन्होंने उन संपूर्ण ग्रंथों का पठ के जो सत्य २ वेद व्याख्यान किये हों उन को देख के वेद का अर्थ यथावत् ज्ञान लेवें क्योंकि (नावेदवित्) वेदों का नहीं जाननेवाला मनुष्य परमेश्वरादि सब पदार्थ विद्याओं को अच्छी प्रकार से नहीं जान सकता और जो २ जहाँ २ भूगोलों वा पुस्तकों अथवा मन में सत्यज्ञान प्रकाशित हुआ है और होगा वह सब वेदों में से ही हुआ है क्योंकि जो २ सत्यविज्ञान है सो २ ईश्वर ने वेदों में धर रक्खा है इसी के द्वारा अन्य स्थानों में भी प्रकाश होता है और विद्या के बिना पुरुष अंधे के समान होता है इस से संपूर्ण विद्याओं के मूल वेदों का बिना पढ़े किसी मनुष्य को यथावत् ज्ञान नहीं हो सकता इसलिये सब मनुष्यों को वेदादि शास्त्र अर्थ ज्ञान सहित अवश्य पढ़ने चाहिये ॥

इति पठनपाठनविषय संक्षेपतः ॥

अथ संक्षेपतो भाष्यकरणशङ्कासमाधानादिविषयः ॥

(प्रश्नः) किंच भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियत आहोस्वित्पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते । यदि पूर्वैः कृतमेव प्रकाश्यते तर्हि तत् पिपृषेणदोषेण दूषितत्वान्न केनापि ग्राह्यं भवतीति । (उत्तरं) पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते । तद्यथा । यानि पूर्वैर्देवैर्वेदद्विब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तेर्ऋषिभिश्चेतरेयशतपथदीनि भाष्याणि रचितान्यासन् । तथा । यानि पाणिनिपतंजलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि । एवमेव जैमिन्यदिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट् शास्त्राणि । एवमुपवेदाख्यानि । तथैव वेदशाखाख्यानि चरचितानि सन्ति । एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते । न चात्र किंचिदप्रमाणं नवीनं स्येच्छया रच्यत इति । (प्रश्नः) किमनेन फलं भविष्यतीति (३०) यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैतदनुसारेणैङ्गलण्डशारमण्यदेशे शाल्यैर्दूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि । तथैवाय्यवर्तदेशस्थैः केशितदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणिसन्तीति । सज्ज-

नानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति टीकानामधिकृदोपप्रसिद्धा त्याग-
श्च । परं त्वत्रकाशाभावात्तेषां दोषाणामत्र स्थालीपुलाकन्यायवत् प्रकाशः
क्रियते । तद्यथा । यत् सायणाचार्य्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्ववेदाः
क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तम् । तदन्यथास्ति । कुतः । तेषां सर्ववि-
द्यान्वितत्वात् । तच्च पूर्वं संक्षेपतो लिखितमस्ति । यथावतैवास्य कथनं
व्यर्थमस्तीत्यवगन्तव्यम् । (इन्द्रं मित्रं०) अस्य मंत्रस्यार्थोप्यन्यथैव व-
र्णितः । तद्यथा । तेना चेन्द्रशब्दे विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेष-
णतया । अत्र खलु विशेष्येऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विगेषणानां संगेऽन्वितो
भूत्वा पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवत्येवमेव विशेष्यं प्रतिविशेषणं
पुनः पुनरन्वितं भवतीति । नचैवं विशेषणम् ॥ एवमेव यत्र शतं सहस्रं
वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः । तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं
भवति विशेषणस्यैकवारमेवेति तथैवात्र मंत्रे परमेश्वरेणाग्निशब्दो द्विरुच्चा-
रितो विशेष्यविशेषणाभिप्रायत्वात् । इदं सायणाचार्य्येण नैव बुद्धमतस्तस्य
भ्रान्तिरेव जातेति वेदम् । निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव
वर्णितः । तद्यथा । इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा
मेधाविनो वदन्तीन्द्रं मित्रं वरुणमित्यादि० निरु० अ० ७ खं० १८ ॥ स
चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति । तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि
सन्तीति बोध्यम् । तथाच । तस्मात्सर्वैरपि परमेश्वर एव हूयते । यथा
राज्ञः पुरोहितः सदभीष्टं संपादयति । यद्वा यज्ञस्य संबन्धिनि पूर्वभागे
आहवनीयरूपेणावस्थितमित्युक्तमिदमपि पूर्वापरविरुद्धमस्ति । तद्यथा ।
सर्वैर्नामभिः परमेश्वर एव हूयते चेत्पुनस्तेन होमसाधक आहवनीयरूपे-
णावस्थितो भौतिकोऽग्निः किमर्थो गृहीतः । तस्येदमपि वचनं भ्रममूलमेव ।
कोऽपि ब्रूयात्सायणाचार्य्येण यद्यशीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि
परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः ॥ इत्युक्तत्वाददोषइति एवं
प्राप्ते ब्रूमः । यदीन्द्रादिभिर्नामभिः परमेश्वर एवोच्यते तर्हि परमेश्वरस्ये-
न्द्रादिरूपावस्थितिरनुचिता । तद्यथा अजएकपात् । सपर्य्यगाच्छुक्रम-
कायमित्यादिमंत्रार्थेन परमेश्वरस्य जन्मरूपवत्त्वशरीरधारणादिनिषेधात्-
त्कथनमसदस्ति । एवमेव सायणाचार्य्यकृतभाष्यदोषाबहवः सन्ति । अग्रे
यत्र यत्र यस्य यस्य मंत्रस्य व्याख्यानं करिष्यामस्तत्र तत्र तद्भाष्यदोषा-
न्प्रकाशयिष्यामइति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(प्रश्न) क्यों जो जो तुम यह वेदों का भाष्य बनाते हो सो पूर्व आचार्यों के भाष्य के समान बनाते हो वा नहीं, जो पूर्व रचित भाष्यों के समान है तब तो बनाना व्यर्थ है क्योंकि ये तो पहिले ही से बने बनाये हैं और जो नया बनाते हो तो उस को कोई भी न मानेगा क्योंकि जो बिना प्रमाण के केवल अपनी ही कल्पना से बनाना है यह बात कब ठीक हो सकती है (उत्तर) यह भाष्य प्राचीन आर्यों के भाष्यों के अनुकूल बनाया जाता है परन्तु जो रावण उवट सायण और महीधर आदि ने भाष्य बनाये हैं वे सब मूलमंत्र और ऋषिकृत व्याख्यानों से विरुद्ध हैं मैं वैसा भाष्य नहीं बनाता क्योंकि उन्होंने वेदों की सत्यार्थता और अपूर्वता कुछ भी नहीं जानी । और जो यह मेरा भाष्य बनता है सो तो वेद वेदांग ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ग्रंथों के अनुसार होता है ॥ क्योंकि जो २ वेदों के सनातन व्याख्यान हैं उन के प्रमाणों से युक्त बनाया जाता है यही इस में अपूर्वता है क्योंकि जो २ प्रामाण्याप्रामाण्यविषय में वेदों से भिन्न शास्त्र गिन आये हैं वे सब वेदों के ही व्याख्यान हैं वैसेही ग्यारहसौ सत्ताईस ११२७ वेदों की शाखा भी उन के व्याख्यान ही हैं उन सब ग्रंथों के प्रमाणयुक्त यह भाष्य बनाया जाता है और दूसरा इस के अपूर्व होने का कारण यह भी है कि इस में कोई बात अप्रमाण वा अपनी राति से नहीं लिखी जाती और जो २ भाष्य उवट सायण महीधरादि ने बनाये हैं वे सब मूलार्थ और सनातन वेदव्याख्यानों से विरुद्ध हैं तथा जो २ इन नवीन भाष्यों के अनुसार अंग्रेजी जर्मनी दक्षिणी और बंगाली आदि भाषाओं में वेदव्याख्यान बने हैं वे भी अशुद्ध हैं जैसे देखो सायणाचार्य ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थों को नहीं जान कर कहा है कि सब वेद क्रियाकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं यह उन की बात मिथ्या है इस के उत्तर में जैसा कुछ इसी भूमिका के पूर्व प्रकरणों में संक्षेप से लिख चुके हैं सो देख लेना ऐसे ही (इन्द्र मित्रं) सायणाचार्य ने इस मंत्र का अर्थ भी भ्रान्ति से बिगाड़ा है क्योंकि उन ने इस मंत्र में विशेष्य विशेषण को अच्छी रीति से नहीं समझ कर इन्द्र शब्द को तो विशेष्य करके वर्णन किया और मित्रादि शब्द उस के विशेषण ठहराये हैं यह उन को बड़ा भ्रम हो गया क्योंकि इस मंत्र में अग्नि शब्द विशेष्य और इन्द्रादि शब्द उस के ही विशेषण हैं इसलिये विशेषणों का विशेष्य के साथ अन्वय हो कर पुनः दूसरे २ विशेषण के साथ विशेष्य का अन्वय कराना होता और विशेषण का एक बार विशेष्य के साथ अन्वय होता है इसी प्रकार जहां २ एक के सैकड़ों वा हजारों विशेषण होते हैं वहां २ भी विशेष्य का सैकड़ों वा हजारों बार उच्चारण होता है वैसे ही इस मंत्र में विशेष्य की दृष्टि से ईश्वर ने अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण किया और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम कहे

हैं यह बात सायणाचार्य ने नहीं जानी इस से उन की यह भांति सिद्ध है इसी प्रकार निरुक्तकार ने भी अग्नि शब्द को विशेष्य ही वर्णन किया है (इममेवाग्निं०) यहां अग्नि और इन्द्रादि नाम एक सद वस्तु ब्रह्म ही के हैं क्योंकि इन्द्रादि शब्द अग्नि के विशेषण और अग्नि आदि ब्रह्म के नाम हैं ऐसे ही सायणाचार्य ने और भी बहुत मंत्रों की व्याख्याओं में शब्दों के अर्थ उलटे किये हैं तथा उनने सब मंत्रों से परमेश्वर का ग्रहण कर रक्खा है जैसे राजा का पुरोहित राजाही के हित का काम मिट्ट करता है अथवा जो अग्नि यज्ञ के संबंधि प्रथम भाग में हवन करने के लिये है उमी रूप में ईश्वरस्थित है यह सायणाचार्य का कथन अयोग्य और पूर्वापर विरोधी होकर आगे पीछे के संबंध को तोड़ता है क्योंकि जब सब नामों में परमेश्वर ही का ग्रहण करते हैं तो फिर जिस अग्नि में हवन करते हैं उस को किस लिये ग्रहण किया है और कदाचित् कोई कहे कि जो सायणाचार्य ने वहां इन्द्रादि देवताओं का ही ग्रहण किया हो तो उस में कुछ भी विरोध नहीं आ सकता इस का उत्तर यह है कि जब इन्द्रादि नामों में परमेश्वर ही का ग्रहण है तो वह निराकार सर्वशक्तिमान् व्यापक और अखंड होने से जन्म लेकर भिन्न २ व्यक्ति वाला कभी नहीं हो सकता क्योंकि वेदों में परमेश्वर का एक अज और अकाय अर्थात् शरीरसंबंध रहित आदि गुणों के साथ वर्णन किया है इस से सायणाचार्य का कथन सत्य नहीं हो सकता इसी प्रकार सायणाचार्य ने जिस २ मंत्र का अन्यथा व्याख्यान किया है सो सब क्रमपूर्वक आगे उन मंत्रों के व्याख्यान में लिख दिया जायगा ॥

॥ भाष्यम् ॥

एवमेव महीधरेण महानर्थरूपं वेदार्थदूषकं वेददीपाख्यं विवर्णे कृतं तस्यापीह दोषादिर्दर्शनवत्प्रदर्शन्ते ॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार महीधर ने भी यजुर्वेद पर मूल से अत्यंत विकृत व्याख्यान किया है उस में से सत्यासत्य की परीक्षा के लिये उन के कुछ दोष यहां भी दिखलाते हैं ॥

गणनां त्वा गणपतिः हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिः
हवामहे निधीनां त्वा निधीपतिः हवामहे वसोमम ॥ आ हमजानि
गर्भधमात्वमजासि गर्भधम् ॥ १ ॥ यजुः० अ० २३ मं० १८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

अस्य मंत्रस्य व्याख्याने तेनोक्तमस्मिन्मंत्रे गणपतिशब्दादश्वे वा-
जी गृहीतव्य इति । तद्यथा । माहिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां

सर्वेषामृत्विजामश्वसमीपे शेते शयाना सत्याह हे अश्व गर्भधं गर्भं दधाति
गर्भधं गर्भधारकं रेतः अहं आ अजानि आकृष्य क्षिपामि त्वं च गर्भधं
रेतः आ अजासि आकृष्य क्षिपसि ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(गणानां०) इस मंत्र में महीधर ने कहा है कि गणपति शब्द से
घोड़े का ग्रहण है सो देखो महीधर का उलटा अर्थ कि सब ऋत्विजों के
सामने यज्ञमान की स्त्री घोड़े के पास सोवे और सोती हुई घोड़े से कहे
कि हे अश्व जिस से गर्भधारण होता है ऐसा जो तेरा वीर्य्य है उस को
मैं खेंच के अपनी योनि में डालूँ तथा तू उस वीर्य्य को मुझ में स्थापन करने
वाला है ॥
अथ सत्यार्थः—

गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति । ब्राह्मणस्पत्यं ब्रह्म वै वृह-
स्पतिर्ब्रह्मणैवैनं तद्विषज्यति प्रथश्च यस्य स प्रथश्च नामेति । ऐत०
पं० १ कं० २१ ॥ प्रजापतिर्वै जमदग्निः सोऽश्वमेधः । क्षत्रं वाश्वो
विडितरे पशवः । क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्विरण्यं ज्योतिर्वै हिरण्यम् । श०
कां० १३ अ० २ ब्रा० ११ कं० १४ । १५ । १६ । १७ ॥
नवै मनुष्यः स्वर्गं लोकमंजसा वेदाश्चो वै स्वर्गं लोकमंजसा वेद । श०
कां० १३ अ० २ ब्रा० १२ कं० १ । राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव
तद्राष्ट्रे दधाति क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकरामनुवर्तमानं करोति ।
अथोक्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्विरण्यं क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण सम-
र्धयति विशमेव तद्विशं समर्धयति । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ११
कं० १५ । १६ । १७ ॥ गणानां त्वा गणपतिं हवामह इति ।
पत्न्यः परियन्त्यप ह्रुवत एवास्मा एतदतो ऽन्येवास्मै ह्रुवते ऽथो ध्रुवत
एवैनं चिः परियन्ति चयो वा इमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्ध्रुवते चिः
पुनः परियन्ति षट् संपद्यन्ते षड्वा ऋतव ऋतुभिरेवैनं ध्रुवते अप
वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति ये यज्ञे ध्रुवनं तन्वते नवकृत्वः परियन्ति
नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मं धत्ते । नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि

गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति । प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशू-
नात्मं धत्ते ॥ श० कां० १३ अ० २ ब्रा० २ कं० ४ । ५ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(गणानां त्वा०) वयं गणानां गणनीयानां पदार्थसमूहानां गण-
पतिं पालकं स्वामिनं (त्वा) त्वां परमेश्वरं हवामहे गृह्णीमः । तथैव
सर्वेषां प्रियाणामिष्टमित्रादीनां मोक्षादीनां च प्रियपतित्वेति पूर्ववत् ।
एवमेव निधीनां विद्यारत्नादिकोगानां निधिपतित्वेति पूर्ववत् । वस-
त्यस्मिन्सर्वं जगद्वा यत्र वसति स वसुः परमेश्वरः । तत्संबुद्धौ हे वसो पर-
मेश्वरपरत्वं । सर्वान् कार्यान् भूगोलान्स्वसामर्थ्यं गर्भवद्वधातीति स
गर्भधस्तं त्वामहं भवत्कृपया आजानि सर्वथा जानीयाम् (आत्वमजासि)
हे भगवन् त्वं तु आसमन्ताज्जातासि । पुनर्गर्भधमित्युक्त्या वयं प्रकृति
परमाण्वादीनां गर्भधानामपि गर्भधं त्वां मन्यामहे । नैवातोभिन्नः कश्चि-
द्गर्भधारकोऽस्तीति । एवमेवैतरेयशतपथब्राह्मणे गणपतिशब्दार्थं वर्णितः ।
ब्राह्मणस्पत्यमस्मिन्मन्त्रे ब्रह्मणो वेदस्य पतेर्भावो वर्णितः । ब्रह्म वै बृह-
स्पतिरित्युक्तत्वात् । तेन ब्रह्मोपदेशेनैवैनं जीवं यजमानं वा सत्योपदेष्टुं
विद्वान् भिषज्यति रोगरहितं करोति । आत्मनो भिषजं वैद्यमिच्छतीति ।
यस्य परमेश्वरस्य प्रथः सर्वत्र व्याप्तो विस्तृतः स प्रथश्च प्रकृत्याकाशादिना
प्रथेन स्वसामर्थ्येन वा सह वर्तते स सप्रथस्तदिदं नाम द्वयं तस्यैवास्तीति ।
प्रजापतिः परमेश्वरो वै इति निश्चयेन जमदग्निर्ज्ञोऽस्ति । अत्र प्रमाणम् ॥

जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयोवातैरभिहुतो
भवति । निरु० अ० ७ खं० २४ ॥

इमे सूर्यादयः प्रकाशकाः पदार्थास्तस्य सामर्थ्यादेव प्रज्वलिता
भवन्ति । तैः सूर्यादिभिः कार्यैस्तन्निवमैश्च कारणाख्य ईश्वरोभिहुत-
श्चाभिमुख्येन पूजितो भवतीति यः स जमदग्निः परमेश्वरः (सोऽश्वमेधः)
स एव परमेश्वरोऽश्वमेधाख्य इति प्रथमोर्थः । अथापरः । तत्र वा-
श्वो विडितरं पशव इत्यादि । यथाऽश्वस्यापक्षयेतरेमोऽजादयः पशवो
न्यूनबलवेगा भवन्ति । तथा राज्ञः सभासमीपे विट्प्रजानिर्बलैव भवति ।
तस्य राज्यस्य यादुराख्यं सुवर्णादिवस्तुज्योतिःप्रकाशो वा न्यायकरणमे-
तत्स्वरूपं भवति । यथा राज्ञप्रजालंकारेण राजप्रजाधमौ वर्णितः । तथैव

जीवेश्वरयोः स्वस्वामिसंबन्धो वर्ण्यते । नैव मनुष्यः केवलेन स्वसामर्थ्येन सरलतया स्वर्गं परमेश्वराख्यं लोकं वेदं किंत्वीश्वरानुग्रहेणैव जानाति ॥

अश्वायत ईश्वरो वा अश्वः । श० कां० १३ अ० ३ ब्रा० ८ कं० ८ । अश्रुते व्याप्नोति सर्वं जगत्सोऽश्व ईश्वरः ॥

इत्युक्तं त्वादीश्वरस्यैवावाश्वसंज्ञास्तीति । अन्यच्च (राष्ट्रं वा०) राज्यमश्वमेधसंज्ञं भवति तद्वाष्ट्रे राज्यकर्मणि ज्योतिर्दधाति तत्कर्मफलं क्षत्राय राजपुरुषाय भवति । तच्च स्वसुखायैव विशं प्रजां कृतानुकरां स्ववर्तमानामनुकूलां करोति । अथो इत्यनन्तरं क्षत्रमेवाश्वमेधसंज्ञकं भवति । तस्य यद्विरण्यमेतदेवरूपं भवति । तेन हिरण्यादन्वितेन क्षत्रेण राज्यमेव सम्यग् वर्धते नच प्रजाः । सा तु स्वतंत्रस्वभाव न्वितया विशा समर्धयति । अतो यच्चैको राजा भवति तच्च प्रजापीडिता जायते । तस्मात्प्रजा सन्तयैव राज्यप्रबन्धः कार्य्य इति । (गणानां०) स्त्रियोप्येनं राज्यपालनाय विद्यामयं सन्तानशिक्षाकरणख्यं यज्ञं परितः सर्वतः प्राप्नुयुः प्राप्ताः सत्योऽस्य सिद्धये यदपहूत्राख्यं कर्माचरन्ति । अतः कारणादेतदेतासामन्ये विद्वांसो दूरीकुर्वन्ति । अथो इत्यनन्तरं य एनं विवालयन्ति तानप्यन्ये च दूरीकुर्युः । एवमस्य चिवारं रक्षणं सर्वथा कुर्युः । एवं प्रतिदिनमेतस्य शिक्षया रक्षणेन चात्मशरीरबलानि संपादयेयुः । ये नरः पूर्वोक्तं गर्भधं परमेश्वरं जानन्ति नैव तेभ्यः प्राणा बलपराक्रमादयोऽपक्रामन्ति । तस्मान्मनुष्यस्तं गर्भधं परमेश्वरमहमाजानि समन्ताज्जानीयामितीच्छेत् । (प्रजा वै पशवः०) ईश्वरसामर्थ्यगर्भात्सर्वे पदार्था जाता इति योजनीयम् । यश्च पशूनां प्रजानां मध्ये विज्ञानवान् भवति स इमां सर्वां प्रजामात्मनि अतपि सर्वैव व्याप्नोति तस्मिन् जगदीश्वरे वर्तते इति धारयति । इति संक्षेपतो गणानां त्वेति मंत्रस्यार्थो वर्णितः । अस्मान्महोदधरस्यार्थोऽत्यन्तविरुद्ध एवास्तीति मन्तव्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(गणानां त्वा०) ऐतरेय ब्राह्मण में गणपति शब्द की ऐसी व्याख्या की है कि यह मंत्र ईश्वरार्थ का प्रतिपादन करना है जैसे ब्रह्म का नाम ब्रह्मस्यति ईश्वर तथा वेद का नाम भी ब्रह्म है जैसे अक्का वैद्य रोगी को ओषधि देके दुःखों से अलग कर देता है वैसे ही परमेश्वर भी वेदोपदेश करके मनुष्य को विज्ञानरूप ओषधि देके अविद्यारूप दुःखों से छुड़ा देता है जो कि प्रथम अर्थात् विस्तृत सब में व्याप्त और सप्रथम अर्थात् आकाशादि

विस्तृत पदार्थों के साथ भी व्यापक हो रहा है इसी प्रकार से यह मंत्र ईश्वर के नामों के यथावत् प्रतिपादन कर रहा है ऐसे ही शतपथ ब्राह्मण में भी राज्यपालन का नाम अश्वमेध राजा का नाम अश्व और प्रजा का नाम घोड़े से भिन्न पशु रक्वा है राज्य की शोभा धन है और ज्योति का नाम हिरण्य है तथा अश्व नाम परमेश्वर का भी है क्योंकि कोई मनुष्य स्वर्गलोक को अपने सहज सामर्थ्य से नहीं जान सकता किंतु अश्व अर्थात् जो ईश्वर है वही उन के लिये स्वर्गसुख को जनाना और जो मनुष्य प्रेमी धर्मात्मा हैं उन को सब स्वर्गसुख देता है तथा (राष्ट्रमश्वमेधः) राज्य के प्रकाश का धारण करना सभाही का काम और उसी सभा का नाम राजा है वही अपनी और मे प्रजा पर कर लगाती है क्योंकि राजाही से राज्य और प्रजाही से प्रजा की वृद्धि होती है (गणानां त्वा०) स्त्री लोग भी राज्यपालन के लिये विद्या की शिखा संतानों को करती रहें जो इस यज्ञ को प्राप्त होके भी संतानोत्पत्ति आदि कर्म में मिथ्याचरण करती हैं उन के इस कर्म को विद्वान् लोग प्रमत्त नहीं करते और जो पुरुष संतानादि की शिखा में आलस्य करते हैं अन्य लोग उन को बांध कर ताड़ना देते हैं इस प्रकार तीन छः वा नव बार इस की रत्ता में आत्मा शरीर और बन् को सिद्ध करें, जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना करते हैं उन के बलादि गुण कभी नष्ट नहीं होते (आ हम जानि०) प्रजा के कारण का नाम गर्भ है उस के समतुल्य वह सभा प्रजा और प्रजा के पशुओं को अपने आत्मा में धारण करे अर्थात् जिस प्रकार अपना सुख चाहे वैसेही प्रजा और उस के पशुओं का भी सुख चाहे (गणानां त्वा०) जो परमात्मा गणनीय पदार्थों का पति अर्थात् पालन करने वाला है (त्वा) उस को (हवामहे) हम लोग पूज्य बुद्धि से यहण करते हैं (प्रियाणां०) जो कि हमारे इष्ट मित्र और मोक्ष सुखादि का प्रियपति तथा हम को आनन्द में रख कर सदा पालन करने वाला है उसी को हम लोग अपना उपास्य देव जान के यहण करते हैं (निधीनां त्वा) जो कि विद्या और सुखादि का निधि अर्थात् हमारे कोशों का पति है उसी सर्व शक्तिमान् परमेश्वर को हम अपना राजा और स्वामी मानते हैं तथा जो कि व्यापक होके सब जगत् में और सब जगत् उस में बस रहा है इस कारण से उस को वसु कहते हैं हे वसु परमेश्वर जो आप अपने सामर्थ्य से जगत् के अनादि कारण में गर्भधारण करते हैं अर्थात् सब मूर्तिमान् द्रव्यों को आपही रचते हैं इसी हेतु से आप का नाम गर्भध है (आहमजानि) मैं ऐसे गुण सहित आप को जानूं (आत्व०) जैसे आप सब प्रकार से सब को जानते हैं वैसेही मुझ को भी सब प्रकार से ज्ञानयुक्त कीजिये (गर्भध०) दूसरी बार गर्भध शब्द का पाठ इस लिये है कि जो २ प्रकृति और परमाणु आदि कार्य द्रव्यों के गर्भ रूप हैं उन में भी सब जगत् के गर्भ रूप बीज को धारण करने

वाले ईश्वर से भिन्न दूसरा कार्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति और लय करने वाला कोई भी नहीं है यही अर्थ ऐतरेय शत पथ ब्राह्मण में कहा है विचारना चाहिये कि इस सत्य अर्थ के गुप्त होने और मिथ्या नवीन अर्थों के प्रचार होने से मनुष्यों को भ्रान्त कर के वेदों का कितना अपमान कराया है जैसे यह दोष खंडित हुआ वैसे इस भाष्य की प्रवृत्ति से इन सब मिथ्या दोषों की निवृत्ति हो जायगी ॥

ता उभौ चतुरः पदः संप्रसारयाव स्वर्गलोके प्रोर्णुवाथां
वृषावाजीरेतो धारेतो दधातु ॥ २ ॥ य० अ० २३ मं० २० ।

॥ महीधरस्यार्थः ॥ अश्व शिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजीति । महिषी स्वयमे-
वाश्वशिश्नमाकृष्य स्वयोनौ स्थापयति ॥ ॥ भाषार्थ ॥ महीधर का अर्थ ।

यजमान की स्त्री घोड़े के लिंग को पकड़ कर आप ही अपनी योनि
में हाल देवे ॥ सत्यार्थः ॥

ता उभौ चतुरः पदः संप्रसारयावेति मिथुनस्यावरुध्यै स्वर्गे
लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गलोको यच्च पशुसंज्ञपयन्ति तस्मा-
देवमाह वृषा वाजी रेतो धारेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुध्यै ।

श० कां० १३ अ० २ ब्रा० २ । कं० पू । ॥ भाष्यम् ॥

आवां राजप्रजे धर्मार्थकाममोक्षान् चतुरः पदानि सदैव मिलिते
भूत्वा सम्यक् विस्तारयेवहि ॥ कस्मै प्रयोजनायेत्पचाह । स्वर्गे सुखवि-
शेषे लोके द्रष्टव्ये भोक्तव्ये प्रियानन्दस्य स्थिरत्वाद्येन सर्वान्प्राणिनः सुखे-
राच्छादयेवहि ॥ यस्मिन् राज्ये पशुं पशुस्वभावमन्यायेन परपदार्थानां
द्रष्टारं जीवं विद्यापदेशदण्डदानेन सम्यगवबोधयन्ति सैष एव सुखयुक्ते
देशोहि स्वर्गो भवति । तस्मात्कारणादुभयस्य सुखायोभये विद्यादिसद्गु-
णानामभिवर्षकं वाजिनं विज्ञानवन्तं जनं प्रतिविद्यावले सततमेव दधा-
त्वित्याहायं मंत्रः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(ता उभौ०) राजा और प्रजा हम दोनों मिलके धर्म अर्थ काम और
मोक्ष की सिद्धि के प्रचार करने में सदा प्रवृत्त रहें किस प्रयोजन के लिये
कि दोनों का अत्यंत सुखरूप स्वर्ग लोक में प्रिय आनन्द की स्थिति के
लिये जिस से हम दोनों परस्पर तथा सब प्राणियों को सुख से परिपूर्ण करदेवें जिस
राज्य में मनुष्य लोग अच्छी प्रकार ईश्वर को जानते हैं वही देश सुख युक्त होता
है इस से राजा और प्रजा परस्पर सुख के लिये सद्गुणों के उपदेशक पुरुष की

सदा मेधा करें और विद्या तथा बल को सदा बढ़ावे इस अर्थ का कहने वाला (ता ३भौ०) यह मंत्र है इस अर्थ से महीधर का अर्थ अत्यंत विद्वद् है ॥

यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वंचति । आहन्तिगभे पसेनिगलालीति धारका ॥ य० अ० २३ मं० २२ ।

महीधरो वदति ।

अध्यर्थादयः कुमारीपत्नीभिः सह सोपहासं संवदन्ते । अंगुल्या योनिं प्रदेशयन्नाह स्त्रीणां शीघ्रगमने योने। हलहलाशब्दे भवतीत्यर्थः । भगे योने शकुनिसदृश्यां यदापसेलिङ्गमाहन्ति आगच्छति । पुंसजननस्य नामहन्तिर्गत्यर्थः । यदा भगे शिश्नमागच्छति तदा धारका धरति लिङ्गमिति धारका योनिर्निगल्लगलीति नितरां गलति वार्य्यधरति यद्वाशब्दानुकरणं गल्लगेलि शब्दं करोति (यकोसको०) कुमारी अध्यर्य्यु प्रत्याह । अंगुल्या लिङ्गं प्रदेशयन्त्याह । अयमभागे सच्छिद्रं लिङ्गं तव मुखमिव भासते ॥

॥ भाषार्थ ॥

महीधर का अर्थ ।

यज्ञशाला में अध्यर्गुआदि च्छत्विज लोग कुमारी और स्त्रियों के साथ उपहास पूर्वक संवाद करते हैं इस प्रकार से कि अंगुली से योनि को दिखला के हंसते हैं (आहलगिति०) जब स्त्री लोग जलदो २ चनती हैं तब उन की योनि में हलहला शब्द और जब भग लिङ्ग का संयोग होता है तब भी हलाहला शब्द होता और योनि और लिङ्ग से वार्य्य भरता है (यकोसको०) कुमारी अध्यर्गु का उपहास करती है कि जो यह छिद्र सहित तेरे लिङ्ग का अयभाग है सो तेरे मुख के समान दीख पड़ता है ॥

अथ सत्योर्थः

यकासकौ शकुन्तिकेति विद्वै शकुन्तिका हलगिति वंचतीति विशेष वै राष्ट्राय वंचत्याहन्ति गभे पसे निगलालीति धारकेति विद्वैगभेराष्ट्रं पसे राष्ट्रमेव विश्या हन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ३ । कं० ६ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(चिद्वे०) यथा श्येनस्य समीपे ऽल्पपक्षिणी निर्बलाभवति तथैव राष्ट्रः समीपे (चिट्) प्रजा निर्बला भवति (आहलगिति वंचतीति) राजानो विशः प्रजाः (वे) इति निश्चयेन राष्ट्राय राजसुखप्रयोजनाय सदैव वंचन्तीति

(आहन्ति०) विशेषगभसंज्ञा भवति पसाख्यं राष्ट्रं राज्यं प्रजया स्पर्शनीयं भवति यस्मद्द्रष्टुं तां प्रजां प्रविश्याहन्ति समन्ताद्गुननं पीडां करोति । यस्माद्गृही एको राजा मतश्चेत्तर्हि विशं प्रजां घातुको भवति तस्मात्कारणादेको मनुष्यो राजा कदाचित्त्रैव मन्तव्यः । किंतु सभाच्छब्दः सभाधीनो यः सदाचारं शुभलक्षणान्वितो विद्वान्स प्रजाभी राजा मन्तव्यः । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्यातीव दुष्टो ऽर्थोस्तीति विचारणीयम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(यकासकौ०) प्रजा का नाम शकुन्तिका है कि जैसे बाज के सामने छेटी २ चिड़ियों की दुर्दशा होती है वैसे ही राजा के सामने प्रजा की (आहन्तिगति०) जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां प्रजा ठगी जाती है (आहन्ति गभे पयो०) तथा प्रजा का नाम गभ और राज्य का नाम पय है जहां एक मनुष्य राजा होता है वहां वह अपने लाभ से प्रजा के पदार्थों को हानि ही करता चला जाता है इसलिये राजा को प्रजा का घातुक अर्थात् हनन करने वाला भी कहते हैं इस कारण से एक को राजा कभी नहीं मानना चाहिये किंतु धार्मिक विद्वानों की सभा के आधीन ही राज्य प्रबंध होना चाहिये (यकासकौ०) इत्यादि मंत्रों के शनपथ प्रतिपादित अर्थों से महीधर आदि अल्पज्ञ लोगों के बनाये हुए अर्थों का अत्यंत विरोध है ॥

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः । प्रतिलार्मति ते पिता गृभे मुष्टिमंतस्यत् ॥ य० अ० २३ मं० २४ ॥

॥ महीधरस्यार्थः ॥

ब्रह्मा महिषीमाह महिषि हयेहये महिषि ते तव माता च पुनस्ते तव पिता यदा वृक्षस्य वृक्षजस्य काष्ठमयस्य मंचकस्याग्रमुपरिभागं रोहतः आरोहतः तदा ते पिता गभे भगे मुष्टिं मुष्टितुल्यं लिंगमतंसयत्तं सयति प्रक्षिपति एवं तवोत्पत्तिरित्यश्लीलम् । लिंगमुत्थानेनालं करोति वा तव भोगेन स्निह्यामीति वदन् एवं तवोत्पत्तिः ॥ ॥ भाषार्थ ॥

महीधर का अर्थ

अब ब्रह्मा हास करता हुआ यजमान की स्त्री से कहता है कि जब तेरी माता और पिता पलंग के ऊपर चढ़ के तेरे पिता ने मुष्टितुल्य लिंग को तेरी माता के भग में डाला तब तेरी उत्पत्ति हुई उसने ब्रह्मा से कहा कि तेरी भी उत्पत्ति ऐसेही हुई है इससे दोनों की उत्पत्ति तुल्य है ॥

॥ अथसत्यार्थः ॥

माता च ते पिता चत इति । इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति । श्रीर्वैराष्ट्रस्याग्रं श्रियमेवैनं राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतः सत्यदिति । विद्वेगभो राष्ट्रं मुष्टीराष्ट्रमेवाविश्या दन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ३ कं० ७ ॥ भाष्यम् ॥

(माता च ते०) हे मनुष्य इयं पृथिवी विद्या च ते तव मातृवदस्ति । ओषध्यादानेकपदार्थदानेन विज्ञानेत्पत्या च मान्यहेतुत्वात् । असौ दोः प्रकाशो विद्वानीश्वरश्च तव पितृवदस्ति । सर्वपुरुषार्थानुष्ठानस्य सर्वसुखप्रदानस्य च हेतुत्वेन पालकत्वात् विद्वान् ताभ्यामेवैनं जीवं स्वर्गं सुखरूपं लोकं गमयति (अग्रं वृक्षस्य०) या श्रीर्विद्याशुभगुणरत्नादिशोभान्विता च लक्ष्मीः साराष्ट्रस्याग्रमुत्तमां भवति सैवेन जीवं श्रियं शोभां गमयति । यद्राष्ट्रस्याग्रमयं मुख्यं सुखं च (प्रतिलामीति०) विट् प्रजागमाख्याऽर्थो देशव्यग्रं प्रदा (राष्ट्रमुष्टीः०) राजकर्म मुष्टिर्यथा मुष्टिना मनुष्यो धनं गृह्णाति तथैवेको राजा चेत्तर्हि पक्षपातेन प्रजाभ्यः स्वसुखाय सर्वां श्रेष्ठां श्रियं हरत्येव । यस्माद्राष्ट्रं विशि प्रजायां प्रविश्य आहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुको भवति । अस्मादर्थान्महोदरस्यार्थोऽत्यन्तविहृदोस्ति तस्मात्सनेव केनापि मन्तव्यः ।

॥ भाषार्थः ॥

॥ सत्यार्थः ॥

(माता च ते०) सब प्राणियों की पृथिवी और विद्यामाता के समान सब प्रकार के मान्य कराने वाली और सूर्य लोक विद्वान् तथा परमेश्वर पिता के समान हैं क्योंकि सूर्य लोक पृथिवी के पदार्थों का प्रकाशक और विज्ञान दान से पंडित तथा परमात्मा सब के पालन करने वाला है ॥ इन्हीं दोनों कारणों से विद्वान् लोग जीवों को नाना प्रकार का सुख प्र. प्र. करा देते हैं (अग्रं वृक्षस्य०) श्री जो लक्ष्मी है सोही राज्य का अग्रभाग अर्थात् शिर के समान है क्यों कि विद्या और धन ये दोनों मिल के ही जीव को शोभा और राज्य के सुख को प्राप्त कर देते हैं (प्रतिलामीति०) फिर प्रजा का नाम गभ अर्थात् पेशव्य की देनेवाली और राज्य का नाम मुष्टि है क्योंकि राजा अपनी प्रजा के पदार्थों को मुष्टि से ऐसे हर लेता है कि जैसे कोई बल करके किसी दूसरे के पदार्थ को अपना बना लेवे वैसेही जहां अकेला मनुष्य राजा होता है वहां

वह पक्षपात से अपने सुख के लिये जो २ प्रजा की अष्ट सुख देनेवाली लक्ष्मी को ले लेता है अर्थात् वह राजा अपने राजकर्म में प्रवृत्त होके प्रजा को पीड़ा देनेवाला होता है इसलिये एक को राजा कभी मानना न चाहिये किंतु सब लोगों को उचित है कि अथर्व संहिता सभा की आज्ञा ही में रहना चाहिये इस अर्थ से भी महाधर का अर्थ अत्यंत विरुद्ध है ।

ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापय गिरौ भारः चरन्निव । अथास्यै मध्य-
मेधतां शीति वार्ते पुनन्निव ॥ य० अ० २३ मं० २६ ॥

॥ महाधरस्यार्थः ॥

यथा अस्ये अस्या वा वाताया मध्यमेधतां योनिप्रदेशो वृद्धिं या-
यात् यथा योनिर्विशाला भवति तथा मध्ये गृहीत्वोच्छ्रापयेत्यर्थः । दृष्टा-
न्तान्तरमाह । यथा शीतले वायो वातिपुनन्धान्यपवनं कुर्वणः कृषीष
लोधान्यपाचं ऊर्ध्वं करोति तथेत्यर्थः ।

यदस्या अद्भु मेधाः कृधुस्थूलमुपातंसत् । मुष्काविदस्या
एजतो गोशफे शंकुलाविंव ॥ २८ ॥ य० अ० २३ मं० २८ ॥

यत् यदा अस्याः परिवृक्तायाः कृधु ह्रस्वं स्थूलं च शिश्नमुपात
सत् उपगच्छत् योनिं प्रतिगच्छेत् तंस उपतये तदा मुष्को वृषणो इत् एव
अस्याः योनेरुपरि एजतः कम्पेते लिंगस्य स्थूलत्वाद्योनेरल्पत्वाद्वृषणो
बहिस्तिष्ठत इत्यर्थः । तच्च दृष्टान्तः गोः शफे जलपूर्णं गोः खुरे शकुलो
मत्स्याविव यथा उदकपूर्णं गोः पदे मत्स्यो कम्पेते । ॥ भाषार्थ ॥

॥ महाधर का अर्थ ॥

पुरुष लोग स्त्री की योनि को दोनों हाथ में खेंच के बड़ा लेवें (यद-
स्या अद्भु०) परिवृक्ता अर्थात् जिस स्त्री का वीर्य निकल जाता है जब छोटा
वा बड़ा लिंग उस की योनि में डाला जाता है तब योनि के ऊपर दोनों अङ्ग-
कोश नाचा करते हैं क्योंकि योनि छोटी और लिंग बड़ा होता है इस में
महाधर दृष्टान्त देता है कि जैसे गाय के खुर के बने हुए गठे के जल में दो
मच्छी नाचें तथा जैसे खेती करने वाला मनुष्य खुर और भुस चालग २ करने
के लिये चलते वायु में एक पात्र में भर के ऊपर को उठा के कंपाया करता
है वैसे ही योनि के ऊपर अङ्गकोश नाचा करते हैं ।

॥ अथ सत्योर्थः ॥

ऊर्ध्वमेनामुच्छ्रापयेति । श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवासौ
राष्ट्रमूर्ध्वमुच्छ्रयति । गिरौ भारः हरन्निवेति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः
श्रियमेवासौ राष्ट्रसंनद्धत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति
अथास्यै मध्यमेधतामिति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यः श्रियमेव राष्ट्रे
मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति शीते वाते पुनन्निवेति क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं
क्षेममेवासौ करोति । श० का० १३ अ० २ ब्रा० ३ कं० १ । २ ।

३ । ४ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(ऊर्ध्वमेना०) हे नरत्वं श्रीर्वैराष्ट्रमश्वमेधो यज्ञश्चास्मे राष्ट्राय
श्रियमुच्छ्रापय सेव्यामुत्कृष्टां कुरु । एवं सभया राज्यपालने कृते राष्ट्रं राज्य-
मूर्ध्वं सर्वोत्कृष्टगुणमुच्छ्रयितुं शक्यम् । (गिरौ भारः हर०) कस्मिन्कि-
मिष गिरिशिखरे प्राप्यर्थे भारवद्वस्तूपस्थापयन्निव । कोस्ति राष्ट्रस्य भार
इत्यत्राह श्रीर्वै राष्ट्रस्य भार इति । सभाव्यवस्थयास्मे राष्ट्राय श्रियं संनद्ध
संबध्य राष्ट्रमनुत्तमं कुर्यात् । अथो इत्यनन्तरमेवं कुर्वन् जनोस्मिन्स-
सारे राष्ट्रं श्रीयुक्तमधिनिदधाति सर्वोपरि नित्यं धारयतीत्यर्थः (अथास्यै०)
किमस्य राष्ट्रस्य मध्यमिन्याकांक्षायामुच्यते । श्रीर्वैराष्ट्रस्य मध्यं तस्मादिमां
पूर्वोक्तां श्रियमन्नाद्यं भोक्तव्यं वस्तु च राष्ट्रे राज्ये महतो राज्यस्याभ्यन्तरे
दधाति सुसभया सर्वां प्रजां सुभोगयुक्तां करोति । कस्मिन् किं कुर्वन्निव
शीतेवाते पुनन्निवेति राष्ट्रस्य क्षेमोरक्षणं शीतं भवत्यस्मे राष्ट्राय क्षेमं सुस-
भया रक्षणं कुर्यात् । अस्मादपि सत्यादर्थान्महीधरस्य व्याख्यानमत्यन्तं
विरुद्धमस्तीति ॥

॥ भाषार्थः ॥

श्री नाम विद्या और धन का तथा राष्ट्रपालन का नाम अश्वमेध है
येही श्री और राज्य की उन्नति कराते हैं (गिरौ भारः हरन्निव०) राज्य का
भार श्री है क्योंकि इसी से राज्य की वृद्धि होती है इसलिये राज्य में विद्या
और धन की अच्छी प्रकार वृद्धि होने के अर्थ उसका भार अर्थात् प्रबंध अथ
पुरुषों की सभा के ऊपर धरना चाहिये कि (अथास्यै०) श्रीराज्य का आधार
और वही राज्य में शोभा की धारण करके उत्तम पदार्थों को प्राप्त कर देता
है इस में वृष्टान्त यह है कि (शीतेवाते०) अर्थात् राज्य की रक्षा करने का
नाम शीत है क्योंकि जब सभा से राज्य की रक्षा होती है तभी उस की

उत्पत्ति होती है (प्र०) राज्य का भार कौन है (उ०) (श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः) श्री क्योंकि वही धन के भार से उक्त करके राज्य को उत्तमता को पहुंचाती है (अथो) इस के अनन्तर उक्त प्रकार से राज्य करते हुए पुरुष देश अथवा संसार में श्रेष्ठ राज्य के प्रबंध को मंत्र में स्थापन कर देते हैं (अथस्ये०) प्र० उस राज्य का मध्य क्या है (उ०) प्रजा की ठीक = रत्ता अर्थ त् उस का नियमपूर्वक पालन करना यही उसकी रत्ता में मध्यस्थ है (गिरौ भारः हारिषि) जैसे कोई मनुष्य बोझ उठाके पर्वत पर ले जाता है वैसे ही सभा भी राज्य को उत्तम सुख को प्राप्त कर देती है ॥

यद्वेवासो ललामगुं प्रविष्टीमिन्नाविषुः । सक्थ्यादे दिश्यते
नारी सत्यस्त्रिभुवो यथा ॥ य० अ० २३ मं० २९ ॥

॥ महीधरस्यार्थः ॥

यत् यदा देवासः देवाः दीव्यन्ति क्रीडन्ति देवाः होषादयः
ऋत्विजो ललामगुं लिंगं प्रआविषुः योनौ प्रवेशयन्ति ललामेति सुखनाम
ललामसुखं गच्छति प्रप्नोति ललामगुः शिश्नः । यदा ललाम पुंड्रं गच्छति
ललामगुः लिंगं योनिं प्रविशदुत्थितं पुण्ड्राकारं भवतीत्यर्थः । कौटूशं
ललामगुं विष्टीमिन् शिश्नस्य योनिप्रदेशे क्लेदनं भवतीत्यर्थः । यदा देवाः
शिश्नक्रीडिनो भवन्ति ललामगुं योनौ प्रवेशयन्ति । तदा नारीसक्थ्या ऊष्णा
ऊर्ध्वा देदिश्यते निर्दिश्यते अत्यन्तं लक्ष्यते । भोगसंपये सर्वस्य नार्यः-
गस्य नरेण व्याप्तत्वादूर्ध्वा लक्ष्यते । इयं नारीतीत्यर्थः ॥ भाषार्थः ॥

॥ महीधर का अर्थ ॥

(यद्वेवासो०) जब तक यज्ञशाला में ऋत्विज लोग ऐसा हंसते और
आह्वय नाचा करते हैं तब तक्र घोड़े का लिंग महिषी की योनि में काम करता
है और उन ऋत्विजों के भी लिंग स्त्रियों की योनियों में प्रवेश करते हैं
और जब लिंग खड़ा होता है तब कमल के समान हो जाता है जब स्त्री
पुरुष का समागम होता है तब पुरुष ऊपर और स्त्री पुरुष के नीचे होने से
थक जाती है ॥

॥ अथ सत्यार्थः ॥

(यद्वेवासो०) यथा देवा विद्वांसः प्रत्यक्षोद्भवस्य सत्यज्ञानस्य प्राप्तिं
कृत्वेमं (विष्टीमिन्) विविधतया आर्द्धीभावगुणवन्तं (ललामगुं) सुखप्रा-
पकं विद्यामन्दं प्राविषुः प्रकृष्टतया समन्ताद्ग्राप्नुवन्ति । तथैव तेस्तेन सह

वर्तमानेयं प्रजा देदिश्यते । यथा नारी वस्त्रेणच्छाद्यमानेन सक्त्वा वर्तते
तथैव विद्वद्भिः सुखैरियं प्रजा सम्यगाच्छादनीयेति ॥ ॥ भाषार्थः ॥

जैसे विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त होके जिस शुभगुणयुक्त सुख-
दायक विद्या के आनन्द में प्रवेश करते हैं वैसे ही उसी आनन्द से प्रजा को
भी युक्त करते हैं विद्वान् लोगों को चाहिये कि जैसे स्त्री अपने जंघा आदि
अंगों को वस्त्रों में सदा ढाप रखती है इसी प्रकार अपने सत्योपदेश विद्या
धर्म और सुखों से प्रजा को सदा आच्छादित करें ॥

यद्भरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशु मन्यते । शूद्राय दर्थ्यजारा न
पोषाय धनयति ॥ य० अ० २३ । मं० ३० । ॥ भाष्यम् ॥

॥ महीधरस्यार्थः ॥

क्षत्ता पालागलीमाह । शूद्राशूद्रजातिः स्त्री यदा अर्थ्यजारा भवति
वैश्यो यदा शूद्रा गच्छति तदा शूद्रः पोषाय न धनयति पुष्टिं न इच्छति
मद्भ्यः वैश्येन भुक्तासती पुष्टा जातेति न मन्यते किंतु व्यभिचरिणी जातेति
दुःखितो भवतीत्यर्थः । (यद्भरिणो०) पालागलीक्षतरमाह । यत् यदा
शूद्रः अर्थ्याये अर्थ्याया वैश्याया जारो भवति तदा वैश्यः पोषं पुष्टिं नानु-
मन्यते मम स्त्री पुष्टा जातेति नानुमन्यते किंतु शूद्रेण नचैनं भुक्तेति
क्लिश्यतीत्यर्थः ॥ ॥ भाषार्थः ॥

॥ महीधर का अर्थः ॥

(यद्भरिणो०) क्षत्ता मेवम् पुरुष शूद्र दासी से कहता है कि जब शूद्र
की स्त्री के साथ वैश्य व्यभिचार कर लेता है तब वह इस बात को तो नहीं
विचारता कि मेरी स्त्रीवैश्य के साथ व्यभिचार कराने से पुष्ट हो गई किंतु वह
इस बात को विचार के दुःख मानता है कि मेरी स्त्री व्यभिचरिणी हो गई
(यद्भरिणो०) अब वह दासी क्षत्ता को उत्तर देती है कि जब शूद्र वैश्य का
स्त्री के साथ व्यभिचार कर लेता है तब वैश्य भी इस बात का अनुमान
नहीं करता कि मेरी स्त्री पुष्ट होगई किंतु नीच ने समागम कर लिया इस
बात को विचार के क्लेश मानता है ॥

॥ अथ सत्योर्थः ॥

यद्भरिणो यवमत्ति । विद्धै यत्र राष्ट्रं हरिणो विशमेव
राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति । न पुष्टं पशुमन्यत इति ।

तस्माद्राजा पशून् पुष्यति । शूद्राय दय्यं जारा न पोषाय धनायतीति ।
तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति । श० कां० १३ अ० २ ब्रा० ३ कं० ८ ॥

॥ भाष्यम् ॥

(यद्वुरियो०) षिट् प्रजेव यवोस्ति । राज्यसंबन्धे को राजा हरिण इव उत्तमपदार्थहर्ता भवति । यथा मृगः क्षेपस्थं सस्यं भुक्त्वा प्रसन्नो भवति तथैवैको राजापि नित्यं स्वकीयमेव सुखमिच्छति । अतः स राष्ट्राय स्वसुख-प्रयोजनाय विश्वं प्रजामाद्यां भक्ष्यामिष करोति । यथा मांसाहारी पुष्टं पशुं दृष्ट्वा तन्मांसमक्षयेच्छां करोति नैव स पुष्टं पशुं वर्धयितुं जीवितुं वा मन्यते । तथैव स्वसुखसंपादनाय प्रजायां कश्चिन् मत्तो ऽधिको न भवेदित्येच्छां सदैव रक्षति तस्मादेको राजा प्रजां न पुष्यति नैव रक्षयितुं समर्थो भवतीति । यथा च यदा शूद्रा अय्यं जारा भवति तदा न स शूद्रः पोषाय धनायति पुष्टो न भवति तथैको राजापि प्रजां यदा न पुष्यति तदा सा नैव पोषाय धनायति पुष्टा न भवति । तस्मात्कारणाद्वैशीपुत्रं भीरुशूद्रीपुत्रं मूर्खं च नाभिषिञ्चति नैवेतं राज्याधिकारे स्थापयतीत्यर्थः । अस्माच्छतपयन्नाह्नयोक्तादर्थान्महीधरकृतोर्थोऽतीव विरुद्धोस्ति ॥

॥ भाषार्थ ॥

(यद्वुरियो०) यहां प्रजा का यव और राष्ट्र का नाम हरिण है क्योंकि जैसे मृग पशु पराये खेत में जवों को खाकर आनन्दित होते हैं वैसे ही स्वतंत्र एक पुरुष राजा होने से प्रजा के उत्तम पदार्थों को ग्रहण कर लेता है अथवा (न पुष्टं पशुमन्यत०) जैसे मांसाहारी मनुष्य पुष्ट पशु को मार के उस का मांस खा जाता है वैसे ही एक मनुष्य राजा होके प्रजा का नाश करनेहारा होता है क्योंकि वह सदा अपनी ही उन्नति चाहता रहता है और शूद्र तथा वैश्य का आभरण करने से व्यवहार और प्रजा का धन हरण अधिक होता है इसलिये किसी एक मूर्ख वा लोभी को भी सभाध्यक्षादि उत्तम अधिकार न देना चाहिये इस सत्य अर्थ से महीधर उलटा ही बला है ॥

उत्संकथ्या अवगुदं धेहि समंजि चारया वृषन् । यस्त्रीणां
जीव भोजनः ॥ य० अ० २३ मं० २१ ॥

महीधरस्यार्थः ।

यजमानोऽश्वमभिमन्त्रयते । हे वृषन् सेक्तः अश्व उत् ऊर्ध्वं स-
क्थिनी ऊरू यस्यास्तस्या महिष्या गुदमव गुदोपरि रेतो धेहि वीर्यं
धारय । कथं तदाह अंजि लिंगं संचारय योनौ प्रवेशय । योऽजिः
स्त्रीणां जीवभोजनः । यस्मिन् लिंगे योनौ प्रविष्टे स्त्रियो जीवन्ति
भोगांश्च लभन्ते तं प्रवेशय ॥

॥ भाषार्थ ॥

(उत्सवध्या०) इस मंत्रपर महीधरने टीका की है कि यजमान घोड़ेसे
कहता है हे वीर्यके सेचन करनेवाले अश्व तू मेरी स्त्रीके जंघा ऊपरकी
करके उसकी गुदाके ऊपर वीर्य डालदे अर्थात् उसकी योनिमें लिंग चलादे वह
लिंग किस प्रकारका है कि जिस समय योनिमें जाता है उस समय उसी लिंगसे
स्त्रियोंका जीवन होता है और उसीसे वे भोगको प्राप्त होती हैं इससे तू उस लिंग-
को मेरी स्त्रीकी योनिमें डालदे ।

अथ सत्योर्थः ।

(उत्सवध्या०) हे वृषन् सर्वकामानां वर्षयितः प्रापक ससभा-
ध्यक्ष विद्वन् त्वमस्यां प्रजायामाञ्जि ज्ञानसुखन्यायप्रकाशं संचारय
सम्यक् प्रकाशय (यः स्त्रीणां जीवभोजनः) कामुकः सन् नाशमाचर-
ति तं त्वमवगुदमधःशिरसं कृत्वा ताडयित्वा कालाग्रहे धेहि यथा
स्त्रीणां मध्ये या काचित् उत्सक्थी व्यभिचारिणी स्त्री भवति तस्यै
सम्यग्दण्डं ददाति तथैव त्वं तं जीवभोजनं परप्राणनाशकं दुष्टं द-
स्युं दण्डेन समुच्चारय ॥

॥ भाषार्थ ॥

(उत्सवध्या०) परमेश्वर कहता है कि हे कामनाकी वृष्टि करनेवाले और
उसकी प्राप्त करानेवाले सभाध्यक्षसहित विद्वान् लोगो तुम सब एकसंमति
होकर इस प्रजामें ज्ञानको बढाके न्यायपूर्वक सबको सुख दिया करो तथा जो कोई
दुष्ट (जीवभोजनः) स्त्रियोंमें व्यभिचार करनेवाला चोरोमें चोर ठगोंमें ठग
डाकुओंमें डाकू प्रसिद्ध दूसरोंकी बुरे काम सिखानेवाला इत्यादि दोषयुक्त पुरु-

ष तथा व्यभिचार आदि दोषयुक्त स्त्रीको ऊपर पग और नीचे शिर करके उसको टांग देना इत्यादि अत्यंत दुर्दशा करके मारडालना चाहिये क्योंकि इससे अत्यंत सुखका लाभ प्रजामें होगा ॥

एतावतैव खण्डनेन महीधरकृतस्य वेददीपाख्यस्य खण्डनं सर्वै-
र्जनैर्बोद्धव्यमिति । यदा मंत्रभाष्यं मया विधास्यते तत्रास्य महीधर-
कृतस्य भाष्यस्यान्येपि दोषाः प्रकाशयिष्यन्ते । यदि ह्यार्यदेशनिवा-
सिनां सायणमहीधरप्रभृतीनां व्याख्यास्वेतादृशी मिथ्यागतिरस्ति तर्हि
यूरोपखंडनिवासिनामेतदनुसारेण स्वदेशभाषया वेदार्थव्याख्यानानाम-
नर्थगतेस्तु का कथा । एवं जाते सति ये ह्येतदाश्रयेण देशभाषया
यूरोपदेशभाषया कृतस्य व्याख्यानस्याशुद्धेस्तु खलु का गणनास्ति ।
इति सज्जनैर्विचारणीयम् । नैवैतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्तुमा-
र्याणां लेशमात्रापि योग्यता दृश्यते । तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य
हानिरनर्थप्रकाशश्च । तस्मात्तद्व्याख्यानेषु सत्या बुद्धिः केनापि नैव
कर्तव्या । किंतु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति नैव किंचित्तेषु मि-
थ्यात्वमस्ति । तदेतच्च सर्वे मनुष्यास्तदा ज्ञास्यन्ति । यदा चतुर्णां
वेदानां निर्मितं भाष्यं यंत्रितं च भूत्वा सर्वबुद्धिमतां ज्ञानगोचरं भ-
विष्यति एवं जाते खलु नैव परमेश्वरकृतया वेदविद्यया तुल्या द्वितीया
विद्याऽस्तीति सर्वे विज्ञास्यन्तीति बोध्यम् ॥

आगे कहांतक लिखें इतनेहीसे सज्जन पुरुष अर्थ औ अनर्थकी परीक्षा करले-
वें परंतु मंत्रभाष्यमें महीधर आदिके और भी दोष प्रकाश किये जायंगे और जब
इन्हीं लोगोंके व्याख्यान अशुद्ध हैं तब यूरोपखंडवासी लोगोंने जो उन्हींकी सहा-
यता लेकर अपनी देशभाषामें वेदोंके व्याख्यान किये हैं उनके अनर्थका तो क्या-
ही कहना है तथा जिन्होंने उन्हींके अनुसारी व्याख्यान किये हैं इनविषय व्या-
ख्यानोंसे कुछ लाभ तो नहीं देख पड़ता किंतु वेदोंके सत्य अर्थकी हानि प्रत्यक्षही
होती है परंतु जिस समय चागें वेदका भाष्य बन और छपकर सब बुद्धिमानोंके
ज्ञानगोचर होगा तब सब किसीकी उत्तमविद्यापुस्तक वेदका परमेश्वररचित

होना भूगोलभरमें विदित हो जावेगा और यह भी प्रगट हो जावेगा कि ईश्वरकृत सत्यपुस्तक वेदही है वा कोई दूसरा भी हो सकता है ऐसा निश्चय जानके सब मनुष्योंकी वेदोंमें परमप्रीति होगी इत्यादि अनेक उत्तम प्रयोजन इस वेदभाष्यके बनानेमें जानलेना ॥ ॥ इति भाष्यकरणशंकासमाधानविषयः समाप्तः ॥

अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते । अथ प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः ।

परन्त्वेतैर्वेदमंत्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः । कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् । पुनस्तत्कथनेनानृपिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेपणदोषापत्तेश्चेति । तस्माद्युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मंत्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योस्ति । तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते । कुतोऽस्यैकत्र विशेषस्तु पातंजलयोगशास्त्रादिभिर्विज्ञेयोस्तीत्यतः । एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि । कुतः । अस्य विशेषस्तु सांख्यवेदान्तोपनिषदादिशास्त्रानुगतो द्रष्टव्यः । एवं काण्डत्रयेण बोधान्निष्पत्त्युपकारो गृह्येते तच्च विज्ञानकाण्डम् । परं त्वेतत्काण्डचतुष्टयस्य वेदानुसारेण विस्तरस्तद्द्व्याख्यानेषु ग्रन्थेष्वस्ति । स एव सम्यक् परीक्ष्याविरुद्धोर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः । मूलाभावे शाखादीनामप्रवृत्तेः । एवमेव व्याकरणादिभिर्वेदाङ्गैर्वैदिकशब्दानामुदात्तादिस्वरविज्ञानं यथार्थं कर्त्तव्यमुच्चारणं च । तत्र यथार्थमुक्तत्वादत्र न वर्ण्यते । एवं पिङ्गलसूत्रछन्दोग्रन्थे यथालिखितं छन्दोलक्षणं विज्ञातव्यम् । स्वराः षड्जऋषभाधारमध्यमपंचमधैवतनिषादाः ॥१॥ पिङ्गलशास्त्रे अ० ३ सू० १४ ॥ इति पिङ्गलाचार्यकृतसूत्रानुसारेण प्रतिच्छन्दःस्वरा लेखिष्यन्ते । कुतः । इदानीं यच्छन्दोन्वितो यो मंत्रस्तस्य स्वस्वरेणैव वादित्रवादनपूर्वकगानव्यवहाराप्रसिद्धेः । एवमेव वेदानामुपवेदैरायुर्वेदादिभिर्वैद्यकविद्यादयो विशेषा

विज्ञेयाः । तथैते सर्वे विशेषार्था अपि वेदमंत्रार्थभाष्ये बहुधा प्रकाशयिष्यन्ते । एवं वेदार्थप्रकाशेन विज्ञानेन सयुक्तिदृढेन जातेनैव सर्वमनुष्याणां सकलसंदेहनिवृत्तिर्भविष्यति । अत्र वेदमंत्राणां संस्कृतप्राकृतभाषाभ्यां सप्रमाणः पदशोऽर्थो लेखिष्यते यत्र यत्र व्याकरणादिप्रमाणावश्यकत्वमस्ति तत्तदपि तत्र तत्र लेखिष्यते येनेदानीं-तनानां वेदार्थविरुद्धानां सनातनव्याख्यानग्रन्थप्रतिकूलानामनर्थकानां वेदव्याख्यानानां निवृत्त्या सर्वेषां मनुष्याणां वेदानां सत्यार्थदर्शनेन तेष्वत्यन्ता प्रीतिर्भविष्यतीति बोध्यम् । संहितामंत्राणां यथाशास्त्रं यथाबुद्धिं च सत्यार्थप्रकाशेन यत्सायणाचार्यादिभिः स्वेच्छानुचारतो लोकप्रवृत्त्यनुकूलतश्च लोके प्रतिष्ठार्थं भाष्यं लिखित्वा प्रसिद्धीकृतमनेनात्रानर्थो महान् जातः । तद्वारा यूरोपखण्डवासिनामपि वेदेषु भ्रमो जात इति । यदास्मिन्नीश्वरानुग्रहेणार्षिमुनिमहर्षिमहामुनिभिरार्यैर्वेदार्थगर्भितेष्वैतरेयब्राह्मणादिषूक्तप्रमाणान्विते मया कृते भाष्ये प्रसिद्धे जाते सति सर्वमनुष्याणां महान् सुखलाभो भविष्यतीति विज्ञायते । अथात्र यस्य यस्य मंत्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयो-र्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः संभवोस्ति तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते । परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मंत्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति । कुतः । निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्यास्मिन् कार्ये जगति सर्वांगव्याप्तिमत्त्वात् । कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च । यत्र खलु व्यावहारिकोर्थो भवति तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च । एवमेव पारमार्थिकेर्थे कृते तस्मिन्कार्यार्थसंबन्धत्वेनोप्यर्थ आगच्छतीति ॥

॥ भाषार्थ ॥

इस वेदभाष्यमें शब्द और उनके अर्थद्वारा कर्मकांडका वर्णन करेंगे परंतु

लोगोंके कर्मकांडमें लगाये हुए वेदमंत्रोंमेंसे जहां जहां जो जो कर्म अभिहोत्र-
से लेके अश्वमेधके अंतर्पर्यन्त करने चाहिये उनका वर्णन यहां नहीं किया जायगा
क्योंकि उनके अनुष्ठानका यथार्थ विनियोग ऐतरेय शतपथ्यादि ब्राह्मण पूर्वमीमांसा
श्रौत और गृह्यसूत्रादिकोंमें कहा हुआ है उसीको फिर कहनेसे पैसेको पीसनेके
समतुल्य अल्पज्ञ पुरुषोंके लेखके समान दोष इस भाष्यमें भी आ जा सकता है
इस लिये जो जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल युक्तिप्रमाणसिद्ध है उसीको मानना यो-
ग्य है अयुक्तको नहीं ऐसेही उपासनाकाण्डविषयक मंत्रोंके विषयमें भी पातंजल
सांख्य वेदान्तशास्त्र और उपनिषदोंकी रीतिसे ईश्वरकी उपासना जान लेना परंतु
केवल मूलमंत्रोंहीके अर्थानुकूलका अनुष्ठान और प्रतिकूलका परित्याग करना
चाहिये क्योंकि जो जो मंत्रार्थ वेदोक्त हैं सो सब स्वतःप्रमाणरूप और ईश्वरके कहे
हुए हैं और जो जो ग्रंथ वेदोंसे भिन्न हैं वे केवल वेदार्थके अनुकूल होनेसेही
प्रामाणिक हैं ऐसे न हों तो नहीं ॥ ऐसेही व्याकरणादि शास्त्रोंके बोधसे उदात्त
अनुदात्त स्वरित एकश्रुति आदि स्वरोंका ज्ञान और उच्चारण तथा पिंगलसूत्रसे
उन्नों और षड्ज्ञादि स्वरोंका ज्ञान अवश्य करना चाहिये जैसे अभिमीमे० यहां
अकारके नीचे अनुदात्तका चिन्ह (मि) उदात्त है इस लिये उसपर चिन्ह नहीं
लगाया गया है । मीके ऊपर स्वरितका चिन्ह है । (डे) में प्रचय और एकश्रुति
स्वर है यह बात ध्यानमें रखना ॥ इसी प्रकार जो जो व्याकरणादिके विषय लि-
खनेके योग्य होंगे वे सब संक्षेपसे आगे लिखे जायेंगे क्योंकि मनुष्योंको उनके
समझनेमें कठिनता होती है इस लिये उनके साथमें अन्य प्रामाणिक ग्रंथोंके भी
विषय लिखे जायेंगे कि जिनके सहायसे वेदोंका अर्थ अच्छी प्रकार विदित हो सके
इस भाष्यमें पदपदका अर्थ पृथक् पृथक् क्रमसे लिखा जायगा कि जिससे नवीन टी-
काकारोंके लेखसे जो वेदोंमें अनेक दोषोंकी कल्पना की गई है उन सबकी निवृत्ति हो-
कर उनके सत्य अर्थोंका प्रकाश हो जायगा तथा जो जो सायण माधव महीधर और
अंग्रेजी वा अन्य भाषामें उलथे वा भाष्य किये जाते वा गये हैं तथा जो जो देशान्तर-
भाषाओंमें टीका हैं उन अनर्थव्याख्यानोंका निवारण होकर मनुष्योंको वेदोंके
सत्य अर्थोंके देखनेसे अत्यंत सुखलाभ पहुंचेगा क्योंकि विना सत्यार्थ प्रकाशके
देखे मनुष्योंकी भ्रमनिवृत्ति कभी नहीं हो सकती जैसे प्रामाण्याप्रामाण्य विषयमें
सत्य और असत्य कथाओंके देखनेसे भ्रमकी निवृत्ति हो सकती है ऐसेही यहां
भी समझ लेना चाहिये इत्यादि प्रयोजनोंके लिये इस वेदभाष्यके बनानेका आरंभ
किया है ॥ । इति प्रतिज्ञाविषयः संक्षेपतः ।

अथ प्रश्नोत्तरविषयः संक्षेपतः ।

(प्रश्नः) अथ किमर्था वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति । (उत्तरम्) भिन्नभिन्नविद्याज्ञापनाय । (प्र०) कास्ताः । (उ०) त्रिधा गान-विद्या भवति गानोच्चारणविद्याया द्रुतमध्यमविलंबितभेदयुक्तत्वात् । यावता कालेन ऋस्वस्वरोच्चारणं क्रियते ततो दीर्घोच्चारणे द्विगुणः प्लुतोच्चारणे त्रिगुणश्च कालो गच्छतीति । अत एवैकस्यापि मंत्रस्य चतसृषु संहितासु पाठः कृतोस्ति । तद्यथा । ऋग्भिस्तुवन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिर्गायन्ति । ऋग्वेदे सर्वेषां पदार्थानां गुणप्रकाशः कृतोस्ति । तथा यजुर्वेदे विदितगुणानां पदार्थानां सकाशात् क्रिययाऽनेकविद्योपकारग्रहणाय विधानं कृतमस्ति । तथा सामवेदे ज्ञानक्रियाविद्ययोर्दीर्घविचारेण फलावधिपर्यन्तं विद्याविचारः । एवमथर्ववेदेऽपि त्रयाणां वेदानां मध्ये यो विद्याफलविचारो विहितोस्ति तस्य पूर्त्तिकरणेन रक्षणोन्नती विहिते स्तः । एतदाद्यर्थं वेदानां चत्वारो विभागाः सन्ति । (प्रश्नः) वेदानां चतुःसंहिताकरणे किं प्रयोजनमस्तीति । (उत्तरम्) यतो विद्याविधायकानां मंत्राणां प्रकरणशः पूर्वापरसंधानेन सुगमतया तत्रस्था विद्या विदिता भवेयुरेतदर्थं संहिताकरणम् ॥ (प्र०) वेदेष्वष्टकमण्डलाध्यायसूक्तषट्ककाण्डवर्गदशतित्रिकप्रपाठकानुवाकविधानं किमर्थं कृतमस्तीत्यत्र ब्रूमः । (उ०) अत्राष्टकादीनां विधानमेतदर्थमस्ति यथा सुगमतया पठनपाठनमंत्रपरिगणनं प्रतिविद्यं विद्याप्रकरणबोधश्च भवेदेतदर्थमेतद्विधानं कृतमस्तीति । (प्र०) किमर्था ऋग्यजुःसामाथर्वाणः प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थसंख्यया क्रमेण परिगणिताः सन्तीत्यत्रोच्यते । (उ०) न यावद्गुणगुणिनोः साक्षाज्ज्ञानं भवति नैव तावत्संस्कारः प्रीतिश्च । नचाभ्यां विना प्रवृत्तिर्भवति तथा विना सुखाभावश्चेति । एतद्विद्याविधायकत्वाद्-

ग्वेदः प्रथमं परिगणितुं योग्योस्ति । एवं च यथा पदार्थगुणज्ञानानन्तरं क्रिययोपकारेण सर्वजगद्धितसंपादनं कार्यं भवति । यजुर्वेद एतद्विद्याप्रतिपादकत्वाद्वितीयः परिगणितोस्तीति बोध्यम् । तथा ज्ञानकर्मकाण्डयोरुपासनायाश्च कियत्युन्नतिर्भवितुमर्हति किंचैतेषां फलं भवति सामवेद एतद्विधायकत्वात्तृतीयो गण्यत इति । एवमेवाथर्ववेदस्त्रय्यन्तर्गतविद्यानां परिशेषरक्षणविधायकत्वाच्चतुर्थः परिगण्यत इति । अतो गुणज्ञानक्रियाविज्ञानानन्तिशेषविधारक्षणाणां पूर्वापरसहभावे संयुक्तत्वात्क्रमेणार्ग्यजुस्सामाथर्वाण इति चतस्रः संहिताः परिगणिताः संज्ञाश्च कृताः सन्ति । ऋच स्तुतौ । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । साम सान्त्वने । षो अन्तकर्मणि । थर्वतिश्चरति कर्मात्प्रतिषेधः । निरु० अ० ११ ख० १८ चर संशये । अनेनाथर्वशब्दः संशयनिवारणार्थो गृह्यते । एवं धात्वर्थोक्तप्रमाणेभ्यः क्रमेण वेदाः परिगण्यन्ते चेति वेदितव्यम् ।

॥ भाषार्थ ॥

(प्र०)। वेदोंके चार विभाग क्यों किये हैं । (उ०) भिन्न भिन्न विद्या जनानेके लिये अर्थात् जो तीन प्रकारकी गानविद्या है एक तो यहकी उदात्त और षड्जादि स्वरोंका उच्चारण ऐसी शीघ्रतासे करना जैसा कि ऋग्वेदके स्वरोंका उच्चारण द्रुत अर्थात् शीघ्रवृत्तिमें होता है, दूसरी मध्यमवृत्ति जैसे कि यजुर्वेदके स्वरोंका उच्चारण ऋग्वेदके मंत्रोंसे दूने कालमें होता है, तीसरी विलंबित वृत्ति है जिसमें प्रथम वृत्तिसे निगुना काल लगता है जैसा कि सामवेदके स्वरोंके उच्चारण वा गानमें फिर उन्हीं तीनों वृत्तियोंके मिलानेसे अथर्ववेदका भी उच्चारण होता है परंतु इसका द्रुतवृत्तिमें उच्चारण अधिक होता है इस लिये वेदोंके चार विभाग हुए हैं तथा कहीं कहीं एक मंत्रका चार वेदोंमें पाठ करनेका यही प्रयोजन है कि वह पूर्वोक्त चारों प्रकारकी गानविद्यामें गाया जावे तथा प्रकरणभेदसे कुछ कुछ अर्थभेद भी होता है इस लिये कितनेही मंत्रोंका पाठ चार वेदोंमें किया जाता है ऐसेही (ऋग्भिस्तु०) ऋग्वेदमें सब पदार्थोंके गुणोंका प्रकाश किया है जिससे उनमें

प्रीति बढ़कर उपकार लेनेका ज्ञान प्राप्त हो सके क्योंकि विना प्रत्यक्ष ज्ञानके संस्कार और प्रवृत्तिका आरंभ नहीं हो सकता और आरम्भके विना यह मनुष्यजन्म व्यर्थही चला जाता है इस लिये ऋग्वेदकी गणना प्रथमही की है तथा यजुर्वेदमें क्रियाकाण्डका विधान लिखा है सो ज्ञानके पश्चात्ही कर्त्ताकी प्रवृत्ति यथावत् हो सकती है क्योंकि जैसा ऋग्वेदमें गुणोंका कथन किया है वैसाही यजुर्वेदमें अनेक विद्याओंके ठीक ठीक विचार करनेसे संसारमें व्यवहारी पदार्थोंसे उपयोग सिद्ध करना होता है जिनसे लोगोंको नानाप्रकारका सुख मिले क्योंकि जबतक कोई क्रिया विधिपूर्वक न की जाय तबतक उसका अच्छी प्रकार भेद नहीं खुल सकता इस लिये जैसा कुछ जानना वा कहना वैसाही करना भी चाहिये तभी ज्ञानका फल और ज्ञानीकी शोभा होती है तथा यह भी जानना अवश्य है कि जगत्का उपकार मुख्य करके दोही प्रकारका होता है एक आत्मा और दूसरा शरीरका अर्थात् विद्यादानसे आत्मा और श्रेष्ठ नियमोंसे उत्तम पदार्थोंकी प्राप्ति करके शरीरका उपकार होता है इस लिये ईश्वरने ऋग्वेदादिका उपदेश किया है कि जिनसे मनुष्य लोग ज्ञान और क्रियाकाण्डको पूर्ण रीतिसे जान लेवें तथा सामवेदसे ज्ञान और आनन्दकी उन्नति और अथर्व वेदसे सर्व संशयोंकी निवृत्ति होती है इस लिये इनके चार विभाग किये हैं । (प्र०) प्रथम ऋग्, दूसरा यजुः, तीसरा साम और चौथा अथर्ववेद इस क्रमसे चार वेद क्यों गिने हैं । (उ०) जबतक गुण और गुणोंका ज्ञान मनुष्योंमें नहीं होता तबपर्यन्त उनमें प्रीतिसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती और इसके विना शुद्ध क्रियादिके अभावसे मनुष्योंको सुख भी नहीं हो सकता था इस लिये वेदोंके चार विभाग किये हैं कि जिससे प्रवृत्ति हो सके क्योंकि जैसे इस गुणज्ञान विद्याको जनानेसे पहिले ऋग्वेदकी गणना योग्य है वैसेही पदार्थोंके गुण ज्ञानके अनन्तर क्रियारूप उपकार करके सब जगत्का अच्छी प्रकारसे हित भी सिद्ध हो सके इस विद्याके जनानेके लिये यजुर्वेदकी गिनती दूसरीवारकी है ऐसेही ज्ञान कर्म और उपासनाकाण्डकी वृद्धि वा फल कितना और कहांतक होना चाहिये इसका विधान सामवेदमें लिखा है इस लिये उसको तीसरा गिना है ऐसेही तीन वेदोंमें जो जो विद्या हैं उन सबके शेष भागकी पूर्ति विधान सब विद्याओंकी रक्षा और संशयनिवृत्तिके लिये अथर्ववेदको चौथा गिना है सो गुणज्ञान क्रियाविज्ञान इनकी उन्नति तथा रक्षाको पूर्वापर क्रमसे ज्ञान लेना अर्थात् ज्ञानकाण्डके लिये ऋग्वेद क्रियाकाण्डके लिये यजुर्वेद इनकी उन्नतिके लिये सामवेद और शेष अन्य रक्षाओंके प्रकाश करनेके लिये अथर्व वेदकी प्रथम दू-

सरी तीसरी और चौथी करके संख्या बांधी है क्योंकि (ऋच स्तुतौ) (यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु) (घोन्तकर्मणि) और (साम सान्त्वप्रयोगे) (थर्वतिश्वरति कर्मा) इन अर्थोंके विद्यमान होनेसे चार वेदों अर्थात् ऋग् यजुः साम और अथर्वकी ये चार संज्ञा रक्खी हैं तथा अथर्ववेदका प्रकाश ईश्वरने इस लिये किया है कि जिससे तीनों वेदोंकी अनेक विद्याओंके सब विघ्नोंका निवारण और उनकी गणना अच्छी प्रकारसे हो सके । (प्र०) वेदोंकी चार संहिता करनेका क्या प्रयोजन हैं । (उ०) विद्याके जनानेवाले मंत्रोंके प्रकरणसे जो पूर्वापरका ज्ञान होना है उससे वेदोंमें कही हुई सब विद्या सुगमतासे जानली जाय । इत्यादि प्रयोजन संहिताओंके करनेमें हैं । (प्र०) अच्छा अब आप यह तो कहिये कि वेदोंमें जो अष्टक अध्याय मंडल सूक्त षट्क कांड वर्ग दशति त्रिक और अनुवाक रखे हैं ये किस लिये हैं । (उ०) इनका विधान इस लिये है कि जिससे पठन पाठन और मंत्रोंकी गिनती विना कठिनताके जानली जाय तथा सब विद्याओंके पृथक् पृथक् प्रकरण निर्भ्रमताके साथ विदित होकर सब विद्याव्यवहारोंमें गुण और गुणीके ज्ञानद्वारा मनन और पूर्वापर स्मरण होनेसे अनुवृत्तिपूर्वक आकांक्षा योग्यता आसन्ति और तात्पर्य सबको विदित हो सके इत्यादि प्रयोजनके लिये अष्टकादि किये हैं ॥

॥ भाष्यम् ॥

(प्रश्नः) प्रत्येकमंत्रस्योपरि । ऋषिदेवताछन्दःस्वराः किमर्था लिख्यन्ते । (उत्तरं) यतो वेदानामीश्वरोक्त्यनन्तरं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मंत्रस्यार्थो यथावद्विदितस्तस्मात्तस्य तस्योपरि तत्तद्वेषेर्नामोल्लेखनं कृतमस्ति । कुतः । यैरीश्वरध्यानानुग्रहाभ्यां महता प्रयत्नेन मंत्रार्थस्य प्रकाशितत्वात् । तत्कृतमहोपकारस्मरणार्थं तन्नामलेखनं प्रतिमन्तस्योपरि कर्तुं योग्यमस्त्यतः ॥ अत्र प्रमाणम् । यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफला स्मा अपुष्पा वाग्भवतीति वा किंचित्पुष्पफलेति वार्थं वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मेवासाक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्ते वरेभ्यो साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन गन्धाब्जं गन्धं ग्लायन्तो वरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समान्नासिषुर्वेदं च वेदांगानि च बिल्मं भिल्मं भासनमिति वैतावन्तः

समानकर्माणो धातवो धातुर्दधतेरेतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयान्येता-
वतामर्थानामिदमभिधानं नैघण्टुकमिदं देवतानामप्राधान्येनेदमिति त-
द्यदन्यदैन्द्रे मंत्रे निपतति नैघण्टुकं तत् ॥ निरु० अ० १ खं० २० ॥
(यो वाचं) यो मनुष्योर्थविज्ञानेन विना श्रवणाध्ययने करोति तद-
फलं भवति । (प्रश्नः) वाचो वाण्याः किं फलं भवतीत्यत्राह । (उत्त-
रम्) विज्ञानं तथा तज्ज्ञानानुसारेण कर्मानुष्ठानम् । य एवं ज्ञात्वा कुर्व-
न्ति त ऋषयो भवन्ति कीदृशास्ते साक्षात्कृतधर्माणः ॥ यैः सर्वा विद्या
यथावहिदितास्त ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतवदेभ्यो मनु-
ष्येभ्य उपदेशेन वेदमंत्रान्संप्रादुः मंत्रार्थाश्च प्रकाशितवन्तः । कस्मै
प्रयोजनाय । उत्तरोत्तरं वेदार्थप्रचाराय । ये चावरेऽध्ययनायोपदेशाय
च ग्लायन्ति तान् वेदार्थविज्ञापनायेमं नैघण्टुकं निरुक्ताख्यं ग्रन्थं त
ऋषयः समाम्नासिषुः सम्यग्भ्यासं कारितवन्तः । येन वेदं वेदांगानि
यथार्थविज्ञानतया सर्वे मनुष्या जानीयुः । ये समानार्थाः समानकर्मा-
णो धातवो भवन्ति तदर्थप्रकाशो यत्र क्रियते । अस्यार्थस्यैतावन्ति
नामधेयान्येतावतामर्थानामिदमभिधानार्थमेकं नाम । अर्थादेकस्यार्थ-
स्यानेकानि नामान्यनेकेषामेकं नामेति तन्नैघण्टुकं व्याख्यानं विज्ञेयम् ।
यत्रार्थानां द्योत्यानां पदार्थानां प्राधान्येन स्तुतिः क्रियते तत्र सैवेयं
मंत्रमयी देवता विज्ञेया । यच्च मंत्राद्विन्नार्थस्यैव संकेतः प्रकाश्यते त-
दपि नैघण्टुकं व्याख्यानमिति । अतो नैव कश्चिन्मनुष्यो मंत्रनिर्मातेति
विज्ञेयम् । एवं येन येनर्षिणा यस्य यस्य मंत्रस्यार्थः प्रकाशितोस्ति
तस्य तस्य ऋषेरेकैकमंत्रस्य संबन्धे नामोल्लेखः कृतोस्ति । तथा यस्य
यस्य मंत्रस्य यो योऽर्थोस्ति स सोर्थस्तस्य तस्य देवताशब्देनाभिप्रा-
यार्थविज्ञापनार्थं प्रकाश्यते । एतदर्थं देवताशब्दलेखनं कृतम् । एवं
च यस्य यस्य मंत्रस्य गायत्र्यादिछन्दोस्ति तत्तद्विज्ञानार्थं छन्दोले-

खनम् तथा यस्य यस्य मंत्रस्य येन येन स्वरेण वादित्रवादनपूर्वकं गानं कर्तुं योग्यमस्ति तत्तदर्थं षड्जादिस्वरोल्लेखनं कृतमस्तीति सर्व-
मेतद्दिज्ञेयम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(प्र०) प्रतिमंत्रके साथ ऋषि देवता छंद और स्वर किस लिये लिखते हैं । (उ०) ईश्वर जिस समय आदि सृष्टिमें वेदोंका प्रकाश कर चुका तभीसे प्राचीन ऋषि लोग वेदमंत्रोंके अर्थोंका विचार करने लगे फिर उनमेंसे जिस जिस मंत्रका अर्थ जिस जिस ऋषिने प्रकाशित किया उसउसका नाम उसी उसी मंत्रके साथ स्मरणके लिये लिखा गया है इसी कारणसे उनका ऋषि नाम भी हुआ है और जो उन्होंने ईश्वरके ध्यान और अनुग्रहसे बड़े बड़े प्रयत्नके साथ वेदमंत्रोंके अर्थोंको यथावत् जानकर सब मनुष्योंके लिये पूर्ण उपकार किया है इसलिये विद्वान् लोग वेदमंत्रोंके साथ उनका स्मरण रखते हैं इस विषयमें अर्थसहित प्रमाण लिखते हैं (यो वाचं०) जो मनुष्य अर्थको समझेविना अध्ययन वा श्रवण करते हैं उनका सब परिश्रम निष्फल होता है । (प्र०) वाणीका फल क्या है । (उ०) अर्थको ठीक ठीक जानके उसीके अनुसार व्यवहारोंमें प्रवृत्त होना वाणीका फल है । और जो लोग इस नियमपर चलते हैं वे साक्षात् धर्मात्मा अर्थात् ऋषि कहलाते हैं इस लिये जिन्होंने सब विद्याओंको यथावत् जानाथा वेही ऋषि हुएथे जिन्होंने अपने उपदेशसे अवर अर्थात् अल्पबुद्धि मनुष्योंको वेदमंत्रोंके अर्थोंका प्रकाश कर दिया है । (प्र०) किस प्रयोजनके लिये । (उ०) वेदार्थप्रचारकी परंपरा स्थिर रहनेके लिये तथा जो लोग वेदशास्त्रादि पढ़नेको कम समर्थ हैं वे जिससे सुगमतासे वेदार्थ जान लेवें इस लिये निघंटु और निरुक्त आदि ग्रंथ भी बना दिये हैं कि जिनके सहायसे सब मनुष्य वेद और वेदांगोंको ज्ञानपूर्वक पढ़कर उनके सत्य अर्थोंका प्रकाश करें । निघंटु उसको कहते हैं कि जिसमें तुल्य अर्थ और तुल्य कर्म वाले धातुओंकी व्याख्या एक पदार्थको अनेकार्थ तथा अनेक अर्थोंका एक नामसे प्रकाश और मंत्रोंसे भिन्न अर्थोंका संकेत है और निरुक्त उसका नाम है कि जिसमें वेदमंत्रोंकी व्याख्या है और जिन जिन मंत्रोंमें जिन जिन पदार्थोंकी प्रधानतासे स्तुति की है उनके मंत्रमय देवता जानने चाहिये अर्थात् जिस जिस मंत्रका जो जो अर्थ होता है वही उसका देवता कहाता है सो यह इस लिये है कि जिससे मंत्रोंको देखके उनके अभिप्रायार्थका यथार्थ ज्ञान हो जाय इत्यादि प्रयो-

जनके लिये देवता शब्द मंत्रके साथमें लिखा जाता है ऐसेही जिस जिस मंत्रका जो जो छन्द है सो भी उसके साथ इस लिये लिख दिया गया है कि उनसे मनुष्यों-को छन्दोंका ज्ञान भी यथावत् होता रहे तथा कौनकौनसा छन्द किस किस स्वरमें गाना चाहिये इस बातको जनानेके लिये उनके साथमें षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं जैसे गायत्री छन्दवाले मंत्रोंको षड्ज स्वरमें गाना चाहिये ऐसेही और और भी बता दिये हैं कि जिससे मनुष्य लोग गानविद्यामें भी प्रवीण हों इसी लिये वेदमें प्रत्येक मंत्रोंके साथ उनके षड्ज आदि स्वर लिखे जाते हैं ॥

॥ भाष्यम् ॥

(प्र०) वेदेष्वग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां क्रमेण पाठः कि-
मर्थः कृतोस्ति । (उ०) पूर्वापरविद्याविज्ञापनार्थं विद्यासंग्यनुषंगिप्रति
विद्यानुषंगिबोधार्थं चेति । तद्यथा । अग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्ग्रहणं
भवति । यथाऽनेनेश्वरस्य ज्ञानव्यापकत्वादयो गुणा विज्ञातव्या भव-
न्ति । यथेश्वररचितस्य भौतिकस्याग्नेः शिल्पविद्याया मुख्यहेतुत्वात्प्रथमं
गृह्यते । तथेश्वरस्य सर्वाधारकत्वानंतबलवत्त्वादिगुणा वायुशब्देन प्र-
काश्यन्ते । यथा शिल्पविद्यायां भौतिकाग्नेः सहायकारित्वान्मूर्त्तद्रव्या-
धारकत्वात्तदनुषंगित्वाच्च भौतिकस्य वायोर्ग्रहणं कृतमस्ति तथैव वा-
य्वादीनामाधारकत्वादीश्वरस्यापीति । यथेश्वरस्येन्द्रशब्देन परमैश्वर्यव-
त्त्वादिगुणा विदिता भवन्ति । तथा भौतिकेन वायुनाप्युत्तमैश्वर्यप्रा-
प्तिर्मनुष्यैः क्रियते । एतदर्थमिन्द्रशब्दस्य ग्रहणं कृतमस्ति । अश्विश-
ब्देन शिल्पविद्यायां यानचालनादिविद्याव्यवहारे जलाग्निपृथिवीप्रका-
शादयो हेतवः प्रतिहेतवश्च सन्त्येतदर्थमग्निवायुग्रहणानन्तरमश्विशब्द-
प्रयोगो वेदेषु कृतोस्ति । एवं च सरस्वतीशब्देनेश्वरस्यानन्तविद्यावत्-
शब्दार्थसंबंधरूपवेदोपदेष्टृत्वादिगुणा वेदेषु प्रकाशिता भवन्ति वा-
ग्यवहाराश्च । इत्यादिप्रयोजनायाग्निवाय्विन्द्राश्विसरस्वत्यादिशब्दानां
ग्रहणं कृतमस्ति । एवमेव सर्वत्रैव वैदिकशब्दार्थव्यवहारज्ञानं सर्वैर्मनु-
ष्यैर्बोध्यमस्तीति विज्ञाप्यते ॥

॥ भाषार्थ ॥

(प्र०) वेदोंमें अनेकवार अग्नि वायु इन्द्र सरस्वती आदि शब्दोंका प्रयोग किस लिये किया है । (उ०) पूर्वापर विद्याओंके जनानेके लिये अर्थात् जिस जिस विद्यामें जो जो मुख्य और गौण हेतु हैं उनके प्रकाशके लिये ईश्वरने अग्नि आदि शब्दोंका प्रयोग पूर्वापर संबन्धसे किया है क्योंकि अग्नि शब्दसे ईश्वर और भौतिक आदि कितनेही अर्थोंका ग्रहण होता है इस प्रयोजनसे कि उसका अनंत ज्ञान अर्थात् उसकी व्यापकता आदि गुणोंका बोध मनुष्योंको यथावत् हो सके फिर इसी अग्निशब्दसे पृथिव्यादि भूतोंके बीचमें जो प्रत्यक्ष अग्नि तत्त्व है वह शिल्पविद्याका मुख्य हेतु होनेके कारण उसका ग्रहण प्रथमही किया है तथा ईश्वरके सबको धारण करने और उसके अनंत बल आदि गुणोंका प्रकाश जनानेके लिये वायुशब्दका ग्रहण किया गया है तथा शिल्पविद्यामें अग्निका सहायकारी और मूर्तद्रव्यका धारण करनेवाला मुख्य वायुही है इस लिये प्रथम सूक्तमें अग्निका और दूसरेमें वायुका ग्रहण किया है तथा ईश्वरके अनन्त गुण विदित होने और भौतिक वायुसे योगाभ्यास करके विज्ञान तथा शिल्पविद्यासे उत्तम ऐश्वर्यकी प्राप्ति करनेके लिये इन्द्रशब्दका ग्रहण तीसरे स्थानमें किया है क्योंकि अग्नि और वायुकी विद्यासे मनुष्योंको अद्भुत अद्भुत कलाकौशलयादि बनानेकी युक्ति ठीक ठीक जान पड़ती है तथा अश्विशब्दका ग्रहण तीसरे सूक्त और चौथे स्थानमें इस लिये किया है कि उससे ईश्वरकी अनन्त क्रियाशक्ति विदित हो क्योंकि शिल्पविद्यामें विमान आदि यान चलानेके लिये जल अग्नि पृथिवी और प्रकाश आदि पदार्थही मुख्य होते हैं अर्थात् जितने कलायंत्र विमान नौका और रथ आदि यान होते हैं वे सब पूर्वोक्त प्रकारसे पृथिव्यादि पदार्थोंसेही बनते हैं इस लिये अश्विशब्दका पाठ तीसरे सूक्त और चौथे स्थानमें किया है तथा सरस्वती नाम परमेश्वरकी अनन्त बाणीका है कि जिससे उसकी अनन्त विद्या जानी जाती है तथा जिस करके उसने सब मनुष्योंके हितके लिये अपनी अनन्त विद्यायुक्त वेदोंका उपदेश भी किया है इस लिये तिसरे सूक्त और पांचवे स्थानमें सरस्वतीशब्दका पाठ वेदोंमें किया है इसी प्रकार सर्वत्र ज्ञान लेना ॥

॥ भाष्यम् ॥

(प्र०) वेदानामारम्भेऽग्निवाय्वादिशब्दप्रयोगैः पृथिव्यादि तेषु वेदेषु भौतिकपदार्थानामेव तत्तच्छब्दैर्ग्रहणं भवति । यत आरम्भे खल्वी-

श्वरशब्दप्रयोगो नैव कृतोस्ति । (उ०) व्याख्यानतो विशेषप्रवृत्तिर्नहि संदेहादलक्षणमिति महाभाष्यकारेण पतंजलिमहामुनिना (लण्) इति सूत्रव्याख्यानोक्तन्यायेन सर्वसंदेहनिवृत्तिर्भवतीति । कुतः । वेद-वेदांगोपांगब्राह्मणग्रंथेष्वग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थयोर्व्याख्यानस्य विद्यमानत्वात् । तथेश्वरशब्दप्रयोगेणापि व्याख्यानेन विना सर्वथा संदेहनिवृत्तिर्न भवति । ईश्वरशब्देन परमात्मा गृह्यते तथा सामर्थ्यवतो राज्ञः कस्यचिन्मनुष्यस्यापीश्वर इति नामास्ति तयोर्मध्यात्कस्य ग्रहणं कर्तव्यमिति शंकायां व्याख्यानत एव संदेहनिवृत्तिर्भवत्यत्रेश्वरनाम्ना परमात्मनो ग्रहणमत्र राजादिमनुष्यस्येति । एवमत्राप्यग्निनाम्नोभयार्थग्रहणे नैव कश्चिद्दोषो भवतीति । अन्यथा कोटिशः श्लोकैस्सहस्रैर्यन्यैरपि विद्यालेखपूर्तिरत्यन्तासंभवास्ति । अतः कारणादग्न्यादिशब्दैर्व्यावहारिकपारमार्थिकयोर्विद्ययोर्ग्रहणं स्वल्पाक्षरैः स्वल्पग्रन्थैश्च भवतीति मत्वेश्वरेणाग्न्यादिशब्दप्रयोगाः कृताः । यतोल्पकालेन पठनपाठनव्यवहारेणाल्पपरिश्रमेणैव मनुष्याणां सर्वा विद्या विदिता भवेयुरिति । परमकारुणिकः परमेश्वरः सुगमशब्दैस्सर्वविद्योद्देशानुपदिष्टवानिति विज्ञेयम् । तथा च येऽग्न्यादयः शब्दार्थाः संसारे प्रसिद्धाः सन्त्येतैः सर्वैरीश्वरप्रकाशः क्रियते । कुतः । ईश्वरोस्तीति सर्वे दृष्टान्ता ज्ञापयन्तीति बोध्यम् । एवं चतुर्वेदस्थविद्यानां मध्यात्काश्चिद्विद्या अत्र भूमिकायां संचेपतो लिखिता इतोऽग्रे मन्त्रभाष्यं विधास्यते । तत्र यस्मिन् यस्मिन् मंत्रे या या विद्योपादिष्टाऽस्ति सा सा तस्य तस्य मंत्रस्य व्याख्यानावसरे यथावत् प्रकाशयिष्यते ॥

॥ भाषार्थ ॥

(प्र०) वेदके आरम्भमें अग्नि वायु आदि शब्दोंके प्रयोगसे यह सिद्ध होता है कि जगत्में जिन पदार्थोंका नाम अग्नि आदि प्रसिद्ध है उन्हींका ग्रहण करना चाहि-

ये और इसी लिये लोगोंने उन शब्दोंसे संसारके अग्नि आदि पदार्थोंको मान भी लिया है नहीं तो उचित था कि जो जो शब्द जहां जहां होना चाहिये था वहां वहां उसीका ग्रहण करते कि जिससे कभी किसीको भ्रम न होता अथवा आरम्भमें उन शब्दोंकी जगह ईश्वर परमेश्वर आदि शब्दोंहीका ग्रहण करना था (उ०) यूँ तो ऐसा करनेसे भी भ्रम हो सकता है परन्तु जब कि व्याख्यानोके द्वारा मंत्रोंके पदपदका अर्थ खोल दिया गया है तब उनके देखनेसे सब संदेह आपसेआपही निवृत्त हो जाने हैं क्योंकि शिक्षा आदि अंग वेदमंत्रोंके पदपदका अर्थ ऐसी रीतिसे खोलते हैं कि जिससे वैदिक शब्दार्थोंमें किसी प्रकारका संदेह शेष नहीं रह सकता और जो कदाचित् ईश्वरशब्दका प्रयोग करते तो भी बिना व्याख्यानके संदेहकी निवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ईश्वर नाम उत्तम सामर्थ्यवाले राजादि मनुष्योंका भी हो सकता है और किसीकिसीकी ईश्वरसंज्ञाही होती है तथा जो सब ठिकाने एकार्थवाची शब्दोंकाही प्रयोग करते तो भी अनेक कोटि श्लोक और हजारह ग्रंथ वेदोंके बन जानेका संभव था परन्तु विद्याका पागवार फिर भी नहीं आता और न उनको मनुष्य लोग कभी पढ़पढ़ा सकते इस प्रयोजन अर्थात् सुगमताके लिये ईश्वरने अग्न्यादिशब्दोंका प्रयोग करके व्यवहार और परमार्थ इन दोनों बातें सिद्ध करनेवाली विद्याओंका प्रकाश किया है कि जिससे मनुष्य लोग थोड़ेही कालमें मूल विद्याओंको जान लें इसी मुख्य हेतुसे सबके सुखार्थ परम करुणामय परमेश्वरने अग्न्यादि सुगम शब्दोंके द्वारा वेदोंका उपदेश किया है इस लिये अग्न्यादि शब्दोंके अर्थ जो संसारमें प्रसिद्ध हैं उनसे भी ईश्वरका ग्रहण होता है क्योंकि ये सब दृष्टान्त परमेश्वरहीके जानने और जनानेके लिये हैं इस प्रकार चार वेदोंमें जो जो विद्या हैं उनमेंसे कोई कोई विद्या तो इस वेदभाष्यकी भूमिकामें संक्षेपसे लिख दी है शेष सब इसके आगे जब मंत्रभाष्यमें जिस जिस मंत्रमें जिस जिस विद्याका उपदेश है सो सो उसी उसी मंत्रके व्याख्यानमें यथावत् प्रकाशित कर देंगे ॥

॥ भाष्यम् ॥

अथ निरुक्तकारः संक्षेपतो वैदिकशब्दानां विशेषनियमानाह ॥

तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य । अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वामिति चैतेन सर्वनाम्ना । अथा-

पि प्रत्यक्षकृताः स्तोतारो भवन्ति परोक्षकृतानि स्तोतव्यानि । अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना ॥ निरु० अ० ७ खं० १ । २ ॥ अयं नियमः वेदेषु सर्वत्र संगच्छते । तद्यथा । सर्वे मन्त्रास्त्रिविधानामर्थानां वाचका भवन्ति । केचित्परोक्षाणां केचित्प्रत्यक्षाणां केचिदध्यात्मं वक्तुमर्हाः । तत्राद्येषु प्रथमपुरुषस्य प्रयोगा भवन्ति । अपरेषु मध्यमस्य तृतीयेषूत्तमपुरुषस्य च । तत्र मध्यमपुरुषप्रयोगार्थौ द्वौ भेदौ स्तः । यत्रार्थाः प्रत्यक्षाः सन्ति तत्र मध्यमपुरुषयोगा भवन्ति । यत्र च स्तोतव्या अर्थापरोक्षाः स्तोतारश्च खलु प्रत्यक्षास्तत्रापि मध्यमपुरुषप्रयोगो भवतीति । अस्यायमभिप्रायः । व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव । चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च । अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः । परं तु वैदिकव्यवहारे जडेपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति । तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थानामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति । इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषयाऽनुवादकारकैर्यूरोपाख्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजास्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब इसके आगे वेदस्थ प्रयोगोंके विशेष नियम संक्षेपसे कहते हैं । जो जो नियम निरुक्तकारादिने कहे हैं वे बराबर वेदोंके सब प्रयोगोंमें लगते हैं (तास्त्रिविधा ऋचः) वेदोंके सब मंत्र तीन प्रकारके अर्थोंको कहते हैं कोई परोक्ष अर्थात् अदृश्य अर्थोंको कोई प्रत्यक्ष अर्थात् दृश्य अर्थोंको और कोई अध्यात्म अर्थात् ज्ञानगोचर आत्मा और परमात्माको उनमेंसे परोक्ष अर्थके कहनेवाले मंत्रोंमें प्रथम पुरुष अर्थात् अपने और दूसरेके कहनेवाले जो सो और वह आदि शब्द हैं तथा उनकी क्रियाओंके अस्ति । भवति । करोति । पचतीत्यादि प्रयोग हैं । एवं प्रत्यक्ष अर्थके कहनेवालोंमें मध्यम पुरुष अर्थात् तू तुम आदि शब्द और उनकी क्रियाके अस्ति । भवति । करोति ।

पचसीत्यादि प्रयोग हैं । तथा अध्यात्म अर्थके कहनेवाले मंत्रोंमें उत्तम पुरुष अर्थात् मैं हम आदि शब्द और उनकी अस्मि । भवामि । कर्गेमि । पचामीत्यादि क्रिया आती हैं तथा जहां स्तुति करनेके योग्य परोक्ष और स्तुति करनेवाले प्रत्यक्ष हों वहां भी मध्यम पुरुषका प्रयोग होता है यहां यह अभिप्राय समझना चाहिये कि व्याकरणकी गीतिसे प्रथम मध्यम और उत्तम अपनी अपनी जगह होते हैं अर्थात् जड़ पदार्थोंमें प्रथम चेतनमें मध्यम वा उत्तम होते हैं सो यह तो लोक और वेदके शब्दोंमें साधारण नियम है परंतु वेदके प्रयोगोंमें इतनी विशेषता होती है कि जड़ पदार्थ भी प्रत्यक्ष हों तो वहां निरुक्तकारके उक्त नियमसे मध्यम पुरुषका प्रयोग होता है । और इससे यह भी जानना अवश्य है कि ईश्वरने संसारी जड़ पदार्थोंको प्रत्यक्ष कराके केवल उनसे अनेक उपकार लेना जनाया है । दूसरा प्रयोजन नहीं है परंतु इस नियमकी नहीं जानकर सायणाचार्य आदि वेदोंके भाष्यकारों तथा उन्हींके बनाये हुए भाष्योंके अवलंबसे यूरोपदेशवासी विद्वानोंने भी जो वेदोंके अर्थोंको अन्यथा कर दिया है सो यह उनकी भूल है और इसीसे वे ऐसा लिखने हैं कि वेदोंमें जड़ पदार्थोंकी पूजा पाई जाती है जिसका कि कहीं चिन्ह भी नहीं है ॥

॥ भाष्यम् ॥

अथ वेदार्थोपयोगितया संचेपतः स्वराणां व्यवस्था लिख्यते । ते स्वरा द्विधा । उदात्तषड्जादिभेदात्सप्त सप्तैव सन्ति । तत्रोदात्तादीनां लक्षणानि व्याकरणमहाभाष्यकारपतंजलिप्रदर्शितानि लिख्यन्ते । स्वयं राजन्त इति स्वराः । आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य । आयामो गात्राणां निग्रहः । दारुण्यं स्वरस्य दारुणता रूक्षता । अणुता कण्ठस्य । कण्ठस्य संवृतता । उच्चैःकराणि शब्दस्य । अन्ववसर्गो मार्दवमुक्ता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । अन्ववसर्गो गात्राणां शिथिलता । मार्दवं स्वरस्य मृदुता स्निग्धता । उरुता खस्य । महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ॥ त्रैस्वर्ग्येणाधीमहे त्रिप्रकारैरजिभरधीमहे कैश्चिदुदात्तगुणैः कैश्चिदनुदात्तगुणैः कैश्चिदुभयगुणैः । तद्यथा । शुक्लगुणः शुक्लः कृष्णगुणः कृष्णः । य इदानी-

मुभयगुणः स तृतीयामाख्यां लभते कल्माष इति वा सारंग इति वा ।
 एवमिहापि उदात्त उदात्तगुणः । अनुदात्तोनुदात्तगुणः । य इदानीमुभ-
 यगुणः स तृतीयामाख्यां लभते स्वरित इति ॥ त एते तंत्रेतरनिर्देशे
 सप्त स्वरा भवन्ति । उदात्तः । उदात्ततरः । अनुदात्तः । अनुदात्ततरः ।
 स्वरितः । स्वरितेय उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः । एकश्रुतिः सप्तमः ।
 अ० १ । पा० २ । उच्चैरुदात्त इत्याद्युपरि ॥ तथा षड्जादयः सप्त ।
 षड्जऋषभगान्धारमध्यमपंचमधैवतनिषादाः ॥ १ ॥ पिंगलसूत्रे ।
 अ० ३ सू० ६४ । एषां लक्षणव्यवस्था गांधर्ववेदप्रसिद्धा ग्राह्या ।
 अत्र तु ग्रंथभूयस्त्वभिधया लेखितुमशक्या ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब वेदार्थके उपयोगहेतुसे कुछ स्वरोंकी व्यवस्था कहते हैं जो कि उदात्त और षड्ज आदि भेदसे चौदह १४ प्रकारके हैं अर्थात् सात उदात्तादि और सात षड्जादि उनमेंसे उदात्तादिकोंके लक्षण जो कि महाभाष्यकार पतंजलि महा-मुनिजीने दिखलाये हैं उनको कहते हैं (स्वयं गजन्त०) आपही अर्थात् जो कि बिना सहाय दूसरेके प्रकाशमान हैं वे स्वर कहते हैं (आयामः०) अंगोंका रोकना (दारुण्यं) वाणीको रूखा करना अर्थात् ऊंचे स्वरसे बोलना और (अणुता०) कंठको भी कुछ रोक देना ये सब यत्न शब्दके उदात्तविधान करनेवाले होते हैं अर्थात् उदात्त स्वर इन्हीं नियमोंके अनुकूल बोला जाता है तथा (अन्व०) गात्रोंका ढीलापन (मर्दव०) स्वरकी कोमलता (उरुता०) कंठको फैला देना ये सब यत्न शब्दके अनुदात्त करनेवाले हैं (त्रैस्वर्य्येणा०) हम सब लोग तीन प्रकारके स्वरोसे बोलते हैं अर्थात् कहीं उदात्त कहीं अनुदात्त और कहीं उदात्तानुदात्त अर्थात् स्वरित गुणवाले स्वरोसे यथायोग्य नियमानुसार अक्षरोंका उच्चारण करते हैं ॥ जैसे श्वेत और काला रंग अलग अलग हैं परंतु इन दोनोंको मिलाकर जो रंग उत्पन्न हो उसका नाम तीसरा होता है अर्थात् खाखी वा आसमानी इसी प्रकार यहां भी उदात्त और अनुदात्त गुण अलग अलग हैं परन्तु इन दोनोंके मिलानेसे जो उत्पन्न हो उसको स्वरित कहते हैं विशेष अर्थके दिखानेवाले (तरप्) प्रत्ययके

१ अतिशयार्थदोतके तरप्प्रत्ययस्य निर्देशे ।

संयोगसे वे उदात्त आदि सात स्वर होते हैं अर्थात् उदात्त उदात्ततर अनुदात्त अनुदात्ततर स्वरित स्वरितोदात्त और एकश्रुति । उक्त रीतिसे इन सातों स्वरोंको ठीक ठीक समझ लेना चाहिये अब षड्जादि स्वरोंको लिखते हैं जो कि गान विद्याके भेद हैं । (स्वराः षड्जऋषभ०) अर्थात् षड्ज । ऋषभ । गान्धार । मध्यम । पंचम । धैवत । और निषाद । इनके लक्षण व्यवस्थासहित जो कि गान्धर्ववेद अर्थात् गानविद्याके ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं उनको देख लेना चाहिये यहां ग्रंथ न बढ़ जानेके कारण नहीं लिखते ॥

अथात्र चतुर्षु वेदेषु व्याकरणस्य ये सामान्यतो नियमाः सन्ति त इदानीं प्रदर्श्यन्ते । तद्यथा । दृष्टिरादैच् । १ । अ० १ । १ । १ । उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा । ससुष्टुभासऋक्तागणेन । पदत्वात्कुत्वं भत्वाज्जस्त्वं न भवति । इति भाष्यवचनम् । अनेनैकस्मिन् शब्दे भपदसंज्ञाकार्य्यद्वयं वेदेष्वेव भवति नान्यत्र स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ २ ॥ अ० १ । १ । ५६ । प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतंत्रा भवन्ति । न कांचित्प्राधान्येन विभक्तिमाश्रयन्ति । यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते सा सा आश्रयितव्या । इति भाष्यम् । अनेनार्थप्राधान्यं भवति न विभक्तेरिति बोध्यम् । नवेति विभाषा ॥ ३ ॥ अ० १ । १ । ४४ । अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः । इति भाष्यसूत्रम् । लौकिकवैदिकेषु शब्देषु सार्वत्रिकः समानोऽयं नियमः । अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥ ४ ॥ अ० १ । २ । ४५ । बहवो हि शब्दा एकार्था भवन्ति । तद्यथा । इन्द्रः । शक्रः । पुरुहूतः । पुरन्दरः । कन्दुः । कोष्ठः । कुसूल इति । एकश्च शब्दो बह्वर्थः । तद्यथा । अक्षाः । पादाः । माषाः । सार्वत्रिकोऽयमपि नियमः । यथाश्यादयः शब्दा वेदेषु बह्वर्थवाचकास्त एव बहव एकार्थाश्च ॥ ते प्राग्धातोः ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ८० । छन्दसि परव्यवहितवचनं च । आयातमुपनिष्कृतम् । उपप्रयोभिरागतम् । अनेन वार्तिकेन गत्युपसर्गसंज्ञकाः शब्दाः क्रियायाः परे पूर्वे दूरे व्यवहिताश्च भवन्ति ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब चारों वेदमें व्याकरणके जो जो सामान्य नियम हैं उनको यहां लिखते हैं (उभ०) वेदोंमें एक शब्दके बीचमें (भ) तथा (पद) ये दोनों संज्ञा होती हैं जैसे (ऋकता) इस शब्दमें पदसंज्ञाके होनेसे चकारके स्थानमें ककार हुआ है और भ संज्ञाके होनेसे ककारके स्थानमें गकार नहीं हुआ (प्रातिपदिक०) वेदादि शास्त्रोंमें जो जो शब्द पढ़े जाते हैं उन सबके बीचमें यह नियम है कि जिस विभक्तिके साथ वे शब्द पढ़े हों उसी विभक्तिसे अर्थ कर लेना यह बात नहीं है किंतु जिस विभक्तिसे शास्त्र मूल युक्ति और प्रमाणके अनुकूल अर्थ बनता हो उस विभक्तिका आश्रय करके अर्थ करना चाहिये क्योंकि (अर्थग०) वेदादि शास्त्रोंमें शब्दोंके प्रयोग इस लिये होते हैं कि उनके अर्थोंको ठीक ठीक जानके उनसे लाभ उठावें जब उनसे भी अनर्थ प्रसिद्ध हो तो वे शास्त्र किस लिये मानें जावें इस लिये यह नियम लोकवेदमें सर्वत्र घटता है (बहवो हि०) तीसरा नियम यह है कि वेद तथा लोकमें बहुत शब्द एक अर्थके वाची होते और एक शब्द भी बहुत अर्थोंका वाची होता है जैसे अग्नि वायु इन्द्र आदि बहुत शब्द एक परमेश्वर अर्थके वाची और इसी प्रकार वेही शब्द संसारी पदार्थोंके नाम होनेसे अनेकार्थ हैं अर्थात् इस प्रकारके एक एक शब्द कई कई अर्थोंके वाची हैं (छन्दसी०) व्याकरणमें जो जो गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द हैं वे वेदमें क्रियाके आगे पीछे दूर अर्थात् व्यवधानमें भी होते हैं जैसे (उपप्रयोभिरागतं) यहां आगतं क्रियाके साथ उप लगता तथा (आयातमुप०) यहां उप आयातं क्रियाके पूर्व लगता है इत्यादि । इसमें विशेष यह है कि लोकमें पूर्वोक्त शब्द क्रियाके पूर्व ही सर्वत्र लगाये जाते हैं ॥

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ ६ ॥ अ० २ । ३ । ६२ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । या खर्वेण पिबति तस्यै खर्वो जायते तिस्रो रात्रीरिति । तस्या इति प्राप्ते । एवमन्यत्रापि । अनेन चतुर्थ्यर्थे षष्ठी षष्ठ्यर्थे चतुर्थी द्वे एव भवतः । महाभाष्यकारेण छन्दोवन्मत्वा ब्राह्मणानामुदाहरणानि प्रयुक्तानि । अन्यथा ब्राह्मणग्रन्थस्य प्रकृतत्वाच्छन्दोग्रहणमनर्थकं स्यात् । बहुलं छन्दसि ॥७॥ अ० २ । ४ । ३९ अनेन अदधातोः स्थाने घस्ल आदेशो बहुलं भवति । घस्तान्यूनम् ।

सग्धिश्च मे । अत्तामद्यमध्यतो मेदउद्धृतम् । इत्याद्युदाहरणं ज्ञेयम् ॥
बहुलं छन्दसि ॥ ८ ॥ अ० २ । ४ । ७३ ॥ वेदविषये शपो बहुलं
लुग्भवति । वृत्रं हनति । अहिः शयते । अन्येभ्यश्च भवति । त्राध्वं
नो देवाः । बहुलं छन्दसि ॥ ९ ॥ अ० २ । ४ । ७६ । वेदेषु श-
पः स्थाने श्लुर्बहुलं भवति । दाति प्रियाणि धाति प्रियाणि । अन्येभ्य-
श्च भवति । पूर्णा विवष्टि । जनिमाविवक्ति । इत्यादीन्युदाहरणानि
सन्तीति बोध्यम् ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(या खर्वेण०) इत्यादि पाठसे यही प्रयोजन है कि वेदोंमें षष्ठीविभक्तिके स्था-
नमें चतुर्थी हो जाती है लौकिक ग्रंथोंमें नहीं इसमें ब्राह्मणोंके उदाहरण इस लिये
दिये हैं कि महाभाष्यकारने ब्राह्मणोंको वेदोंके तुल्य मानके अर्थात् इनमें जो व्या-
करणके कार्य्य होते हैं वे ब्राह्मणोंमें भी हो जाते हैं और जो ऐसा न मानें तो
(द्वितीया ब्राह्मणे) इस सूत्रमेंसे ब्राह्मणशब्दकी अनुवृत्ति हो जाती फिर (च-
तुर्थ्यर्थे०) इस सूत्रमें (छन्दः) शब्दका ग्रहण व्यर्थ हो जाय (बहुलं०) इस सूत्रसे
(अद) धातुके स्थानमें घस्ल आदेश बहुल अर्थात् बहुधा होता है (बहुलं०) वेदोंमें
शप्प्रत्ययका लुक् बहुल करके होता है और कहीं नहीं भी होता जैसे (वृत्रं हनति)
यहां शप्का लुक् प्राप्त था सो भी न हुआ तथा (त्राध्वं०) यहां त्रैङ् धातुसे प्राप्त
नहीं था परंतु हो गया महाभाष्यकारके नियमसे शप्के लुक् करनेमें श्यनादिका लुक् होता
है क्योंकि शप्के स्थानमें श्यनादिका आदेश किया जाता है । शप् सामान्य होनेसे
सब धातुओंसे होता है जब शप्का लुक् होगया तो श्यनादि प्राप्तही नहीं होते ॥ ऐसे-
ही श्लुके विषयमेंभी समुझ लेना । (बहुलं०) वेदोंमें शप्प्रत्ययके स्थानमें श्लु आदेश
बहुल करके होता है अर्थात् उक्तसे भी नहीं होता और अनुक्तसे भी हो जाता है जैसे
(दाति०) यहां शप्के स्थानमें श्लु प्राप्त था परंतु न हुआ और (विवष्टि) यहां
प्राप्त नहीं फिर हो गया ॥ ॥ भाष्यम् ॥

सिब् बहुलं लेटि ॥ १० ॥ अ० ३ । १ । ३४ । सिब्वहुलं छ-
न्दसि णिह्क्तव्यः । सविता धर्मसाविषत् । प्राण आयूंषि तारिषत् ।
अयं लेटिविशिष्टो नियमः । छन्दसि शायजपि ॥ ११ । अ० ३ ।
१ । ८४ ॥ शायच्छन्दसि सर्वत्रेति वक्तव्यम् । क सर्वत्र । हौ चाहौ

च । किं प्रयोजनम् । महीः अस्कभायत् । यो अस्कभायत् । उद्गभायत् ।
 उन्मथायतेत्येवमर्थम् । अयं लोटि मध्यमपुरुषस्यैकवचने परस्मैपदे वि-
 शिष्टो नियमः ॥ व्यत्ययो बहुलम् ॥ १२ ॥ अ० ३ । १ । ८५ ॥ सुप्तिङुपय-
 हलिङ्गनराणां कालहलचस्वरकर्तृयडां च ॥ व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृद्देशां
 सोपि च सिध्यति बाहुलकेन ॥ १ ॥ व्यत्ययो भवति स्यादीनामिति । अनेन
 विकरणव्यत्ययः । सुपां व्यत्ययः । तिङां व्यत्ययः । वर्णव्यत्ययः । लिङ्गव्य-
 त्ययः । पुरुषव्यत्ययः । कालव्यत्ययः । आत्मनेपदव्यत्ययः । परस्मैपदव्यत्य-
 यः ॥ स्वरव्यत्ययः । कर्तृव्यत्ययः । यङ्गव्यत्ययश्च । एषां क्रमेणोदाहरणानि ।
 युक्ता मातासीद्दुरि दक्षिणायाः । दक्षिणायामिति प्राप्ते । चपालं ये
 अश्वयूपाय तक्षति । तक्षन्तीति प्राप्ते । त्रिष्टुभौजः शुभितमुग्रवीरम् ।
 शुधितमिति प्राप्ते । मधोस्तृप्ता इवासते । मधुन इति प्राप्ते । अधासवी-
 रैर्दशभिर्वियूयाः । वियूयादिति प्राप्ते । श्वोग्रीनाधास्यमानेन श्वः सोमेन
 यक्ष्यमाणेन । आधाता यष्टेति प्राप्ते । ब्रह्मचारिणमिच्छते । इच्छतीति
 प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यति । युध्यत इति । आधाता यष्टेति लुट्
 प्रथमपुरुषस्यैकवचने प्रयोगौ व्यत्ययो भवति स्यादीनामित्यस्योदाह-
 रणं तासि प्राप्ते स्यो विहितः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ १३ ॥ अ० ३ ।
 २ । ८८ । अनेन क्तिप्रत्ययो वेदेषु बहुलं विधीयते । मातृहा । मातृ-
 घातः । इत्यादीनि ॥ छन्दसि लिट् ॥ १४ ॥ अ० ३ । २ । १०५ ।
 वेदेषु सामान्यभूते लिङ्गिधीयते । अहं द्यावापृथिवी आततान ॥ लिटः
 कानज् वा ॥ १५ । अ० ३ । २ । १०६ । वेदविषये लिटः स्थाने
 कानजादेशो वा भवति । अग्निं चिक्यानः । अहं सूर्य्यमुभयतो दद-
 र्श । प्रकृतेपि लिटि पुनर्ग्रहणात्परोक्षार्थस्यापि ग्रहणं भवति । कसु-
 श्व ॥ १६ ॥ अ० ३ । २ । १०७ । वेदे लिटः स्थाने कसुरादेशो
 वा भवति । पपिवान् । जग्मिवान् । नच भवति । अहं सूर्य्यमुभय-

तो ददर्श ॥ क्याच्छन्दसि ॥ १७ ॥ अ० ३ । २ । १७० । क्यप्र-
त्ययान्ताद्वातोश्छन्दसि विषये तच्छीलादिषु कर्तृषु उकारप्रत्ययो भव-
ति । मित्रयुः । संस्वेदयुः । सुम्रयुः । निरनुबन्धकग्रहणे सानुबन्धक-
स्यापि ग्रहणं भवतीत्यनया परिभाषया क्यच्क्यङ्क्यषां सामान्येन
ग्रहणं भवति ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(सिब्वहुलं०) लिट्प्रकारमें जो सिप्प्रत्यय होता है वह वेदोंमें बहुल करके णि-
न्संज्ञक होता है कि जिससे वृद्धि आदि कार्य हो सकें जैसे (साविपन्) यहां सिप्-
को णिन् मानके वृद्धि हुई है यह लिट्में वेदविषयक विशेष नियम है (शायच्छन्द-
सि०) वेदमें (हि) प्रत्ययके परे आ प्रत्ययके स्थानमें जो शायच् आदेश विधान
किया है वह (हि) से अन्यत्र भी होता है (व्यत्ययो०) वेदोंमें जो व्यत्यय अर्थात्
विपरीतभाव बहुधा होता है वह भाष्यकार पतंजलिजीने नव प्रकारसे माना है वे
सुप् आदिषु हैं सुप्, निङ्, वर्ण, (लिंग) पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग (पु-
रुष) प्रथम, मध्यम और उत्तम (काल) भूत भविष्यन् और वर्तमान, आत्मनेपद
और परस्मैपद (वर्ण) वेदोंमें अर्चोके स्थानमें हल् और हलोके स्थान अच् के आ-
देश हो जाते हैं स्वर । उदान्तादिका व्यत्यय । कर्ताका व्यत्यय । और यङ्का व्यत्यय
होते हैं इन सबके उदाहरण संस्कृतमें लिखे हैं वहां देखलेना (बहुलं०) इससे
किप् प्रत्यय वेदोंमें बहुल करके होता है (छन्दसि०) इस सूत्रसे लिट्प्रका-
र वेदोंमें सामान्य भूतकालमें भी होता है (लिटः का०) इस सूत्रसे वेदोंमें लिट्
प्रकारके स्थानमें कानच् आदेश विकल्प करके होता है इसके (आतनान) इत्यादि
उदाहरण बनते हैं (छन्दसि०) इस सूत्रमेंसे लिट्की अनुवृत्ति हो जाती फिर लि-
ट्ग्रहण इस लिये है कि (परोक्षे लिट्) इस लिट्के स्थानमें भी कानच् आदेश
हो जावे (कसुश्च) इस सूत्रसे वेदोंमें लिट्के स्थानमें कसु आदेश हो जाता है
(क्या०) इस सूत्रसे वेदोंमें क्यप्रत्ययान्त धातुसे (उ) प्रत्यय हो जाता है ॥

॥ भाष्यम् ॥

कृत्यल्युटो बहुलम् ॥ १८ ॥ अ० ३ । ३ । ११३ ॥ कृत्युट
इति वक्तव्यम् । कृतो बहुलमिति वा । पादहारकाद्यर्थम् । पादाभ्यां
ह्रियते पादहारकः । अनेन धातोर्विहिताः कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः का-
रकमात्रे वेदादिषु द्रष्टव्याः । अयं लौकिकवैदिकशब्दानां सार्वत्रिको

नियमोस्तीति वेद्यम् ॥ छन्दसि गत्यर्थेभ्यः ॥ १९ ॥ अ० ३ । ३ ।
 १२९ । ईषदादिषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषूपपदेषु सत्सु गत्यर्थेभ्यो धातुभ्य-
 ः छन्दसि विषये युच्प्रत्ययो भवति । उ० सूपसदनोभिः ॥ अन्ये-
 भ्योपि दृश्यते ॥ २० ॥ अ० ३ । ३ । १३० । अन्येभ्यश्च धातुभ्यो
 युच्प्रत्ययो दृश्यते । उ० सुदोहनमाकृणोद्वहणे गाम् ॥ छन्दसि
 लुङ्लङ्लिटः ॥ २१ ॥ अ० ३ । ४ । ६ ॥ वेदविषये धातुसंबन्धे स-
 र्वेषु कालेषु लुङ्लङ्लिटः प्रत्यया विकल्पेन भवन्ति । उ० लुङ् ।
 अहं तेभ्योऽकरं नमः । लङ् । अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः ।
 लिट् । अथ ममार ॥ लिङर्थे लेट् ॥ २२ ॥ अ० ३ । ४ । ७ ।
 यत्र विध्यादिषु हेतुहेतुमतोः शकीच्छार्थेषूर्ध्वमौहूर्त्तिकेष्वर्थेषु लिङ् वि-
 धीयते । तत्र वेदेष्वेव लेट्लकारो वा भवति । उ० जीवाति शरदः
 शतमित्यादीनि । उपसंवादाशंकयोश्च ॥ २३ ॥ अ० ३ । ४ । ८ ।
 उपसंवादे आशंकायां च गम्यमानायां वेदेषु लेट्प्रत्ययो भवति । उ०
 (उपसंवादे) अहमेव पशूनामीशौ । आशंकायां । नेज्जिह्वायन्तो
 नरकं पताम । मिथ्याचरणेन नरकपात आशंक्यते ॥ लेटो डाटौ ॥
 २४ ॥ अ० ३ । ४ । ९४ । लेटः पर्यायेण अट्प्राट्प्रागमौ भवतः ।
 आत ऐ ॥ २५ ॥ अ० ३ । ४ । ९५ । छन्दस्यनेनात्मनेपदे विहित-
 स्य लेडादेशस्य द्विवचनस्थस्याकारस्य स्थाने ऐकारादेशो भवति ।
 उ० मंत्रयैते मंत्रयैथे । वैतोऽन्यत्र ॥ २६ ॥ अ० ३ । ४ । ९६ ॥ आत
 ऐ इत्येतस्य विषयं वर्जयित्वा लेट एकारस्य स्थाने ऐकारादेशो वा
 भवति । उ० अहमेव पशूनामीशौ ईशो वा ॥ इतश्च लोपः परस्मैप-
 देषु ॥ २७ ॥ अ० ३ । ४ । ९७ । लेटः स्थान आदिष्टस्य तिवादि-
 स्थस्य परस्मैपदविषयस्येकारस्य विकल्पेन लोपो भवति । उ० तर-
 ति । तराति । तरत् । तरात् । तरिषति । तरिषाति । तरिषत् । तरि-

षात् । तारिषति । तारिषाति । तारिषत् । तारिषात् । तरसि । तरासि ।
तरः । तराः । तरिषसि । तरिषासि । तरिषः । तरिषाः । तारिषसि ।
तारिषासि । तारिषः । तारिषाः । तरामि । तराम् । तरिषामि । तरिषा-
म् । तारिषामि । तारिषाम् । एवमेव सर्वेषां धातूनां प्रयोगेषु लेट्दिष्ये
बोध्यम् । स उत्तमस्य ॥ २८ ॥ अ० ३ । ४ । १८ । लेट् उत्तम-
पुरुषस्य सकारस्य लोपो वा भवति । करवाव । करवावः । करवाम ।
करवामः ॥

॥ भाषार्थ ॥

(छन्दसि०) इस सूत्रसे ईषत् दुर् सु ये पूर्वपद लगे हों तो गत्यर्थक धातुओंसे वे-
दोंमें युच् प्रत्यय होता है (अन्येभ्यो०) और धातुओंसे भी वेदोंमें युच् प्रत्यय देख-
नेमें आता है जैसे (सुदोहनं) यहां सुपूर्वक दुह धातुसे युच् प्रत्यय हुआ है (छ-
न्दसि०) जो तीन लकार लोकमें भिन्न भिन्न कालोंमें होते हैं वे वेदोंमें लुङ् लङ्
और लिट् लकार ये सब कालोंमें विकल्प करके होते हैं (लिङ्गर्थे०) अब लेट्
लकारके विषयके जो सामान्य सूत्र हैं उनको यहां लिखने हैं यह लेट् लकार वे-
दोंमेंही होता है सो वह लिङ् लकारके जिनने अर्थ हैं उनमें तथा उपसंवाद और
आशंका इन अर्थोंमें लेट् लकार होता है (लेटो०) लेट्को क्रमसे अट् और आट्
आगम होते हैं अर्थात् जहां अट् होता है वहां आट् नहीं होता जहां आट् होता
है वहां अट् नहीं होता (आत ए) लेट् लकारमें प्रथम और मध्यम पुरुषके (आ-
तां) के आकारको ऐकार आदेश हो जाता है जैसे (मंत्रयैने) यहां आके स्थानमें
ऐ हो गया है (वैतोन्यत्र) यहां लेट् लकारके स्थानमें जो एकार होता है उसके
स्थानमें ऐकार आदेश हो जाता है (इतश्च०) यहां लेट्के तिप् सिप् और मिप्के
इकारका लोप विकल्पसे हो जाता है (स उत्त०) इस सूत्रसे लेट् लकारके उत्तम
पुरुषके वस्मस्के सकारका विकल्प करके लोप हो जाता है यह लेट्का विषय
थोड़ासा लिखा आगे किसीको सब जानना हो तो वह अष्टाध्यायी पढ़के जान स-
कता है अन्यथा नहीं ॥

॥ भाष्यम् ॥

तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्त-

वैतवेङ्तवेनः ॥ २९ ॥ अ० ३ । ४ । ९ । धातुमात्रात्तुमुन्प्रत्ययस्यार्थः ।
 से । सेन् । असे । असेन् । कसे । कसेन् । अध्ये । अध्येन् । कध्ये ।
 कध्येन् । शध्ये । शध्येन् । तवै । तवेङ् । तवेन् । इत्येते पंचदश प्र-
 त्यया वेदेष्वेव भवन्ति । कृन्मेजन्त इति सर्वेषामव्ययत्वम् । सर्वेषु
 नकारोनुबन्धः स्वरार्थः । ककारो गुणवृद्धिनिषेधार्थः । ङकारोपि ।
 शकारः शिदर्थः (से) वक्षेण्यः । (सेन्) तावामेषे स्थानाम् (असे अ-
 सेन्) कृत्वे दक्षाय जीवसे (कसे) (कसेन्) श्रियसे (अध्ये अ-
 ध्येन्) कर्मण्युपचारध्वै (कध्ये) इन्द्राग्नी आहुवध्वै (कध्येन्)
 श्रियध्वै (शध्ये शध्येन्) पिवध्वै । सह मादयध्वै अत्र शित्वात् पि-
 वादेशः । (तवै) सोममिन्द्राय पातवै (तवेङ्) दशमे मासि सूतवे
 (तवेन्) स्वर्देवेषु गन्तवे । शकि एमुल्कमुलौ ॥ ३० ॥ अ० ३ ।
 ४ । १२ । शक्रोतौ धातावुपपदे धातुमात्रात्तुमर्थे वेदेषु एमुल्कमुलौ
 प्रत्ययौ भवतः । एकारो वृद्ध्यर्थः । ककारो गुणवृद्धिप्रतिषेधार्थः ।
 लकारः स्वरार्थः । अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन् । विभक्तुमित्य-
 र्थः । ईश्वरे तोसुन्कसुनौ ॥ ३१ ॥ अ० ३ । ४ । १३ । ईश्वरशब्द
 उपपदे वेदे तुमर्थे वर्तमानाद्धातोस्तोसुन्कसुनौ प्रत्ययौ भवतः । ईश्व-
 रोभिचरितोः । कसुन् । ईश्वरो विलिखः ॥ कृत्यार्थे तवैकेन्केन्पत्वनः
 ॥ ३२ ॥ अ० ३ । ४ । १४ । कृत्यानां मुख्यतय भावकर्मणी
 द्वावर्थौ स्तोऽर्हादयश्च । तत्र वेदविषये तवै । केन् । केन्य । त्वन् । इ-
 त्येते प्रत्यया भवन्ति । तवै । परिधातवै (केन्) नावगाहे । केन्य ।
 दिदृक्षेण्यः । शुश्रूषेण्यः (त्वन्) कर्त्वं हविः ॥

॥ भाषार्थ ॥

(तुमर्थे०) इस सूत्रसे वेदोंमें (से)इत्यादि १५ पंद्रह प्रत्यय सब धातुओंसे हो
 जाते हैं (शकि०) शक धातुका प्रयोग उपपद हो तो धातुमात्रसे (एमुल्) (क-

मुल्) ये दोनों प्रत्यय वेदोंमें हो जाते हैं इसके होनेसे (विभाजं) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं (ईश्वरे०) वेदोंमें ईश्वरशब्दपूर्वक धातुसे (तोसुन्) (कसुन्) ये प्रत्यय होते हैं (कृत्यार्थे०) इस सूत्रसे वेदोंमें भावकर्मवाचक (तवै) (केन्) (केन्य) (त्वन्) ये प्रत्यय होने हैं इससे (परिधानवै) इत्यादि उदाहरण सिद्ध होते हैं ॥

॥ भाष्यम् ॥

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥ ३३ ॥ अ० ४ । १ । २९ ॥ अनन्ताद्दुव्रीहेरुपधालोपिनः प्रातिपदिकात्संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप्प्रत्ययो भवति । गौः पंचदाम्नी । एकदाम्नी ॥ नित्यं छन्दसि ॥ ३४ ॥ अ० ४ । १ । ४६ ॥ बह्वादिभ्यो वेदेषु स्त्रियां ङीष्प्रत्ययो भवति । बह्वीषु हित्वा प्रपिवन् ॥ भवे छन्दसि ॥ ३५ ॥ अ० ४ । ४ । ११० । सप्तमीसमर्थात्प्रातिपदिकाद्भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत्प्रत्ययो भवति । अयमणादीनां घादीनां चापवादः । सति दर्शने तेपि भवन्ति । मेध्याय च विद्युत्याय च नमः । इतः सूत्रादारभ्य यानि प्रकृतिप्रत्ययार्थविशेषविधायकानि पादपर्यन्तानि वेदविषयकाणि सूत्राणि सन्ति । तान्यत्र न लिख्यन्ते कुतस्तेषामुदाहरणानि यत्र यत्र मंत्रेष्वगमिष्यन्ति तत्र तत्र तानि लेखिष्यामः ॥ बहुलं छन्दसि ॥ ३६ ॥ अ० ५ । २ । १२२ । वेदेषु समर्थानां प्रथमात्प्रातिपदिकमात्राद्भूमादिष्वर्थेषु विनिः प्रत्ययो बहुलं विधीयते । तद्यथा । भूमादयः । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥ ३७ ॥ अ० ५ । २ । १४ । भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेतिशायने । संबन्धेस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ अस्य सूत्रस्योपरि महाभाष्यवचनादेतेषु सप्तस्वर्थेषु ते प्रत्यया वेदे लोके चैते मतुबादयो भवन्तीति बोध्यम् । (बहुलं०) अस्मिन्सूत्रे प्रकृतिप्रत्ययरूपविशेषविधायकानि बहूनि वार्तिकानि सन्ति । तानि तत्तद्दिष्येषु प्रकाशयिष्यामः । अनसन्तानपुं-

सकाच्छन्दसि ॥ ३८ ॥ अ० ५ । ४ । १०३ ॥ अनसन्तानपुंस-
 काच्छन्दसि वेति वक्तव्यम् । ब्रह्म सामं ब्रह्म साम । देवच्छन्दसं
 देवच्छन्दः । सन्यङोः । अ० ६ । १ । ९ । बह्वर्था अपि धातवो
 भवन्ति । तद्यथा वपिः प्रकरणे दृष्टश्छेदने चापि वर्तते । केशान् व-
 पति । ईडिः स्तुतिचोदनायां चासुदृष्ट ईरणे चापि वर्तते । आग्निर्वा
 इतो दृष्टिमीदृ मरुतो मुतश्च्यावयन्ति । करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः ।
 निर्मूलीकरणे चापि वर्तते । पृष्ठं कुरु पादौ कुरु उन्मृदानेति गम्यते ।
 निक्षेपणेपि वर्तते । कटे कुरु घटे कुरु । अश्मानमितः कुरु । स्थाप-
 येति गम्यते । एतन्महाभाष्यवचननैतद्विज्ञातव्यम् । धातुपाठे येऽर्था
 निर्दिष्टास्तेभ्योऽन्येपि बहवोऽर्था भवन्ति । त्रयाणामुपलक्षणमात्रस्य
 दर्शितत्वात् ॥ शैश्छन्दसि बहुलम् ॥ ३९ ॥ अ० ६ । १ । ७० ।
 वेदेषु नपुंसके वर्तमानस्य शैर्लोपो बहुलं भवति । यथा विश्वानि भु-
 वनानीति प्राप्ते विश्वा भुवनानीति भवति । बहुलं छन्दसि ॥ ४० ॥
 अ० ६ । १ । ३४ । अस्मिन्सूत्रे वेदेषु एषां धातूनामप्राप्तमपि सं-
 प्रसारणं बहुलं विधीयते । यथा हूमहे इत्यादिषु ॥ इकोसवर्णे साक-
 ल्यस्य ह्रस्वश्च ॥ ४१ ॥ अ० ६ । १ । १२७ । ईषा अक्षादिषु
 च छन्दसि प्रकृतिभावमात्रं द्रष्टव्यम् ॥ ईषा अक्षा ईमिरे । इत्याद्य-
 प्राप्तः प्रकृतिभावो विहितः । देवताहन्हे च ॥ अ० ६ । ३ । २६ ।
 देवतयोर्हन्हसमासे पूर्वपदस्य आनङ् इत्यादेशो विधीयते ङित्त्वादन्त्य-
 स्य स्थाने भवति । उ० सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
 इन्द्रावृहस्पती इत्यादीनि । अस्य सूत्रस्योपरि हे वार्तिके स्तः । तद्यथा
 देवताहन्हे उभयत्र वायोः प्रतिषेधः । आग्निवायू । वाय्वग्नी ॥ ब्रह्म-
 प्रजापत्यादीनां च । ब्रह्मप्रजापती शिववैश्रवणौ स्कन्दविशारवौ ।
 सूत्रेण विहित आनङादेशो वार्तिकद्वयेन प्रतिषिध्यते । सार्वत्रिको नि-

यमः । बहुलं छन्दसि० ॥ अ० ७ । १ । ८ । अनेनात्मनेपदसं-
ज्ञस्य भूकारप्रत्ययस्य रुडागमो विधीयते । उ० । देवा अदुह् ।
बहुलं छन्दसि ॥ ४२ ॥ अ० ७ । १ । १० । अनेन वेदेषु
भिसः स्थाने ऐस् बहुलं विधीयते । यथा देवेभिर्मानुषे जने । सुपां
सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥ ४३ ॥ अ० ७ । १ । ३९ ।
सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । तिङां च तिङो भवन्तीति वक्त-
व्यम् । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । इया । दार्विया परिज्मन्
डियाच् । सुमित्रियानत्राप० । सुक्षेत्रिया । सुगातुया । ईकार । दतिं
न शुष्कं सरसीशयानम् । आड्याजयारां चोपसंख्यानम् । आङ् । प्र-
वाहवा । अयाच् । स्वभयावावसेचनम् । अयार् । स नः सिन्धुमिव
नावया । सुप् । लुक् । पूर्वसवर्ण । आत् । शे । या । डा । ड्या ।
याच् । आल् । इया । डियाच् । ई । आङ् । अयाच् । अयार् । वै-
दिकेषु शब्देषु ह्येव सुपां स्थाने सुवाद्ययारान्ताः षोडशादेशा विधी-
यन्ते । तिङां च तिङिति पृथङ् नियमः । (सुप्) ऋजवः सन्तु प-
न्था । पन्थान इति प्राप्ते । (लुक्) परमे व्योमन् । व्योम्नीति प्राप्ते
(पूर्वसवर्ण) धीतीमतीधीत्या मत्या इति प्राप्ते । (आत्) उभा य-
न्तारा । उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते (शे) न युष्मे वाजवन्धवः । यूय-
मिति प्राप्ते (या) उरुया । उरुणा इति प्राप्ते । (डा) नाभा पृथि-
व्याः । नाभौ इति प्राप्ते । (ड्या) अनुष्ठया । अनुष्ठुभा इति प्राप्ते
(याच्) साधुया । साधु । इति प्राप्ते (आल्) वसन्ता यजेत ।
वसन्ते इति प्राप्ते ॥ आज्ञसेरसुक् ॥ अ० ७ । १ । ५० । अनेन
प्रथमाया बहुवचने जसः पूर्वं असुक् इत्ययमागमो विहितः । उ० ।
विश्वेदेवा स आगत । विश्वेदेवा इति प्राप्ते । एवं दैव्यासः । तथैवा-
न्यान्यपि ज्ञातव्यानि ॥ ॥ भाषार्थ ॥

(नित्यं संज्ञा०) इस सूत्रसे वेदोंमें अनंत प्रातिपदिकसे डीप् प्रत्यय होता है

(नित्य०) इस सूत्रमें बह्वादि प्रातिपदिकोंसे वेदोंमें डीष् प्रत्यय नित्य होता है । (भवे०) इस सूत्रसे भव अर्थमें प्रातिपदिकमात्रसे वेदोंमें यत् प्रत्यय होता है इस सूत्रसे आगे पादपर्यन्त सब सूत्र वेदोंहीमें लगते हैं सो यहां इस लिये नहीं लिखे कि वे एक एक बातके विशेष हैं सो जिस जिस मंत्रमें विषय आवेंगे वहां वहां लिखे जायेंगे (बहुलं०) इस सूत्रसे प्रातिपदिक मात्रसे विन् प्रत्यय वेदोंमें मतुप्के अर्थमें बहुल करके होता है इस सूत्रके ऊपर वैदिक शब्दोंके लिये वार्तिक बहुत हैं परंतु विशेष हैं इस लिये नहीं लिखे (अन्नसन्ता०) इस सूत्रसे वेदोंमें समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प करके होता है (बह्वर्था अपि०) इस महाभाष्यकारके वचनसे यह बात समझना चाहिये कि धातुपाठमें धातुओंके जितने अर्थ लिखे हैं उनसे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं जैसे (ईड) धातुका स्तुति करना तो धातुपाठमें अर्थ पढ़ा है और चोदना आदि भी समझे जाते हैं इसी प्रकार सर्वत्र जानना चाहिये (बहुलं०) इससे धातुओंको अप्राप्त संप्रसारण होता है (शेष्ठ०) इससे प्रथमा विभक्ति जो जसूके स्थानमें नपुंसक लिंगमें (शि) आदेश होता है इसका लोप वेदोंमें बहुलसे हो जाता है (ईषा०) इस नियमसे अप्राप्त भी प्रकृतिभाव वेदोंमें होता है (देवताद्व०) इस सूत्रसे दो देवताओंके द्वन्द्वसमासमें पूर्वपदको दीर्घ हो जाता है जैसे (सूर्याचन्द्रमसौ०) यहां सूर्या शब्द दीर्घ हो गया है और इस सूत्रसे जिस कार्यका विधान है उसका प्रतिषेध महाभाष्यकार दो वार्तिकोंसे विशेष शब्दोंमें दिखाते हैं जैसे (इन्द्रवापू) यहां इन्द्र शब्दको दीर्घ नहीं हुआ यह नियम लोक और वेदमें सर्वत्र घटता है (बहुलं०) इस सूत्रसे प्रथम पुरुषके बहुवचन आत्मनेपदमें ऊ प्रत्ययको रुट्का आगम होता है (बहुलं०) इससे भिस्के स्थानमें ऐसभाव बहुल करके होता है (सुपां सु०) इससे सब विभक्तियोंके सब वचनोंके स्थानमें (सुप्) आदि १६ आदेश होते हैं (आज्जसे०) इस सूत्रसे वेदोंमें प्रथमाविभक्तिका बहुवचन जो जम् है उसको असुक्का आगम होता है जैसे (दैव्याः) ऐसा होना चाहिये वहां (दैव्यासः) ऐसा हो जाता है इत्यादि जान लेना चाहिये ॥ भाष्यम् ॥

बहुलं छन्दसि ॥ ४४ ॥ अ० ७ । ३ । ९७ । वेदेषु यत्र क्वचिद्विभक्त्यभावे दृश्यते तत्रानेनैव भवतीति वेद्यम् । बहुलं छन्दसि ॥ ४५ ॥ अ० ७ । ४ । ७८ । अनेनाभ्यासस्य इत् इत्ययमादेशः श्लौ वेदेषु बहुलं विधीयते । छन्दसीरः ॥ ४६ ॥ अ० ८ । २ । १५ । अनेन मतुपो मकारस्याप्राप्तं वत्त्वं विधीयते । उ० रेवान् इत्यादि ।

कृपोरोलः ॥ ४७ ॥ अ० ८ । २ । १८ । संज्ञाछन्दसोर्वा कपिल-
कादीनामिति वक्तव्यम् । कपिलका । कपिरका । इत्यादीनि । धि-
च ॥ ४८ ॥ अ० ८ । २ । २५ । घसिभसोर्न सिध्येत्तु तस्मात् सि-
ज्ग्रहणं न तत् ॥ छान्दसो वर्णलोपो वा यथेष्कर्तारमध्वरे ॥ १ ॥
उ० निष्कर्तारमध्वरस्येति प्राप्ते । अनेन वेदेषु वर्णलोपो विकल्प्यते
ऽप्राप्तविभाषेयम् । दादेर्धातोर्धः ॥ ४९ ॥ अ० ८ । २ । ३२ । हग्र-
होश्छन्दसि हस्य भत्वम् वक्तव्यम् । उ० गर्दभेन संभरति । मरुदस्य
गृष्णाति ॥ मतुवसो रुः संबुद्धौ छन्दसि ॥ ५० ॥ अ० ८ । ३ । १ ।
वेदविषये मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च संबुद्धौ गम्यमानायां रुर्भवति ।
गोमः । हरिवः । मीढ्वः ॥ वा शरि ॥ ५१ ॥ अ० ८ । ३ । ३६ । वा
शर्प्रकरणे खर्परे लोपो वक्तव्यः । वृक्षा स्थातारः । वृक्षाः स्थातारः ।
अनेन वायवस्थ इत्यादीनि वेदेष्वपि दृश्यन्ते । अतः सामान्येनायं
सार्वत्रिको नियमः ॥

॥ भाषार्थ ॥

(बहुलं०) इस सूत्रसे वेदोंमें ईट्का आगम होता है (बहुलं०) इस सूत्रसे
वेदोंमें धातुके अभ्यासको इकारादेश हो जाता है (छन्दसीरः) इससे वेदोंमें म-
तुप् प्रत्ययके मकारको वकारादेश हो जाता है (संज्ञा०) इससे वेदोंमें रेफको ल-
कार विकल्प करके होता है (घसि०) इससे वेदोंमें किसी किसी अक्षरका कहीं
कहीं लोप हो जाता है (हग्रहो०) इससे वेदोंमें ह और ग्रह धातुके हकारको
भकार हो जाता है (मतु०) इससे वेदोंमें मतुप् और वसुके नकारको रु होता है ॥

॥ भाष्यम् ॥

उणादयो बहुलम् । अ० ३ । ३ । १ । बहुलवचनं किमर्थम् ।
बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः । तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न
सर्वाभ्यो दृश्यन्ते । प्रायसमुच्चयनादपि तेषाम् । प्रायेण खल्वपि ते स-
मुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । कार्य्यसशेषविधेश्च तदुक्तम् । कार्य्याणि

खल्वपि सशेषाणि कृतानि न सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । किं पुनः कारणं तन्वीभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयो दृश्यन्ते न सर्वाभ्यः । किंच कारणं प्रायेण समुच्चिता न सर्वे समुच्चिताः । किंच कारणं कार्ग्याणि सशेषाणि कृतानि न पुनः सर्वाणि लक्षणेन परिसमाप्तानि । नैगमरूढिभवं हि सुसाधु । नैगमाश्च रूढिशब्दाश्चावैदिकास्ते सुष्ठु साधवः कथं स्युः । नाम च धातुजमाह निरुक्ते । नाम खल्वपि धातुजमाहुर्नैरुक्ताः । व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । वैयाकरणानां च शाकटायन आह धातुजं नामेति । अथ यस्य विशेषपदार्थो न समुत्थितः कथं तत्र भवितव्यम् । यन्न विशेषपदार्थसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् । प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः प्रत्ययं दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्या । संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ॥ कार्ग्याद्विद्यादनुबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ ३ ॥ (बाहुलकै०) उणादिपाठे अल्पाभ्यः प्रकृतिभ्य उणादयः प्रत्यया विहितास्तत्र बहुलवचनादविहिताभ्योपि भवन्ति । एवं प्रत्यया अपि न सर्वे एकीकृताः किं तु प्रायेण सूक्ष्मतया प्रत्ययविधानं कृतं तत्रापि बहुलवचनादेवाविहिता अपि प्रत्यया भवन्ति यथा फिडफिडौ भवतः । तथा सूत्रैर्विहितानि कार्ग्याणि न भवन्त्यविहितानि च भवन्ति । यथा दण्ड इत्यत्र डप्रत्ययस्य डकारस्य इत्संज्ञा न भवति । एतदपि बाहुलकादेव । (किं पुनः०) अनेनैतच्छङ्क्यते उणादौ यावत्यः प्रकृतयो यावन्तः प्रत्यया यावन्ति च सूत्रैः कार्ग्याणि विहितानि तावन्त्येव कथं न स्युः । अत्रोच्यते (नैगम०) नैगमा वैदिकाः शब्दा रूढयो लौकिकाश्च सुष्ठु साधवो यथा स्युः । एवं कृतेन विना नैव ते सुष्ठु सेत्स्यन्ति (नाम०) संज्ञाशब्दान् निरुक्तकारा धातुजानाहुः (व्याकरणे०) शकटस्य तोकमपलं शाकटायनः । तोकमित्यस्यापत्यनामसु पठितत्वात् । (यन्न०)

यत् विशेषात्पदार्थान्न सम्यगुत्थितमर्थात्प्रकृतिप्रत्ययविधानेन न ध्युत्प-
न्नं तत्र प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय उक्तः प्रत्ययं च दृष्ट्वा प्रकृतिः । एतदूहनं
क्व कथं च कर्तव्यमित्यत्राह । संज्ञा शब्देषु । धातुरूपाणि पूर्वमूह्या-
नि परे च प्रत्ययाः (कार्य्यादि०) कार्य्यमाश्रित्य धातुप्रत्ययानुब-
न्धान् जानीयात् एतत्सर्वं कार्य्यमुणादिषु बोध्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(उणादयो०) इस सूत्रके उपर महाभाष्यकार पतंजलि मुनि उणादि पाठकी
व्यवस्था बांधते हैं कि (बाहुलकं०) उणादि पाठमें थोड़ेसे धातुओंसे प्रत्ययवि-
धान किया है सो बहुलके होनेसे वे प्रत्यय अन्य धातुओंसे भी होते हैं इसी प्र-
कार प्रत्यय भी उस ग्रंथमें थोड़ेसे नमूनाके लिये पढ़े हैं इनसे अन्य भी नवीन
प्रत्यय शब्दोंमें देखकर समझ लेना चाहिये जैसे (ऋफिडः) इस शब्दमें ऋ
धातुसे फिड प्रत्यय समझा जाता है इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये तथा
जितने शब्द उणादि गणसे सिद्ध होते हैं उनमें जितने कार्य्य सूत्रों करके होने
चाहिये वे सब नहीं होते हैं सो भी बहुलहीका प्रताप है (किंपुनः) इसमें जो
कोई ऐसी शंका करे कि उणादि पाठमें जितने धातुओंसे जितने प्रत्यय विधान
किये और जितने कार्य्य शब्दोंकी सिद्धिमें सूत्रोंसे हो सकते हैं उनसे अधिक क्यों
होते हैं तो इसका उत्तर यह है कि (नैगम०) वेदोंमें जितने शब्द हैं तथा संसा-
रमें असंख्य संज्ञा शब्द हैं ये सब अच्छी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकते इस लिये
पूर्वोक्त तीन प्रकारके कार्य्य बहुलवचनसे उणादिमें होते हैं जिसके होनेसे अनेक
प्रकारके हजारह शब्द सिद्ध होते हैं (नाम०) अब इस विषयमें निरुक्तकारों-
का ऐसा मत है कि संज्ञा शब्द जितने हैं वे सब धातु और प्रत्ययोंसे ब-
राबर सिद्ध होने चाहिये तथा वैयाकरण जितने ऋषि हैं उनमेंसे शाकटायन ऋ-
षिका मत निरुक्तकारोंके समान है और इनसे भिन्न ऋषियोंका मत यह है कि
संज्ञा शब्द जितने हैं वे रूढ़ी हैं । अब इस बातका विचार करते हैं कि जिन श-
ब्दोंमें धातु प्रत्यय मालूम कुछ भी नहीं होता वहां क्या करना चाहिये उन शब्दों-
में इस प्रकार विचार करना चाहिये कि व्याकरण शास्त्रमें जितने धातु और प्रत्य-
य हैं इनमेंसे जो धातु मालूम पड़ जाय तो नवीन प्रत्ययकी कल्पना कर लेनी
और जो प्रत्यय जाना जाय तो नवीन धातुकी कल्पना कर लेनी इस प्रकार उन शब्दों-

का अर्थ विचार लेना चाहिये और दूसरी कल्पना यह भी है कि उन शब्दोंमें जिस अनुबंधका कार्य्य दीखे वैसाही धातु वा प्रत्यय अनुबंधके सहित कल्पना करनी जैसे कोई आद्युदात्त शब्द हो उसमें (ज) अथवा (न्) अनुबंधके सहित प्रत्यय समझना यह कल्पना सर्वत्र नहीं करने लगना किंतु जो संज्ञा शब्द लोकवेदसे प्रसिद्ध हों उनके अर्थ जाननेके लिये शब्दके आदिके अक्षरोंमें धात्वर्थकी और अंतमें प्रत्ययार्थकी कल्पना करनी चाहिये ये सब ऋषियोंका प्रबन्ध इस लिये है कि शब्दसागर अथाह है इसकी थाह व्याकरणसे नहीं मिल सकती जो कहें कि ऐसा व्याकरण क्यों नहीं बनाया कि जिससे शब्दसागरके पार पहुंच जाते तो यह समझना कि कितनेही पोथा बनाने और जन्मजन्मांतर्गोभर पढ़ते तो भी पार होना दुर्लभ हो जाता इस लिये यह सब पूर्वोक्त प्रबंध ऋषियोंने किया है जिससे शब्दोंकी व्यवस्था मालूम हो जाय ॥

॥ भाष्यम् ॥

अथालंकारभेदाः संक्षेपतो लिख्यन्ते । तत्र तावदुपमालंकारो व्याख्यायते । पूर्णोपमा चतुर्भिरुपमेयोपमानवाचकसाधारणधर्मैर्भवति ॥ अस्योदाहरणम् । स नः पितेव सूनवेऽग्रे सूपायनो भवै ॥ १ ॥ उक्तानामेकैकशोऽनुपादानेऽष्टधा लुप्तोपमा । तत्र वाचकलुप्तोदाहरणम् । भीम इव वली भीमवली । धर्मलुप्तोदाहरणम् । कमलनेत्रः । २ । धर्मवाचकलुप्तोदाहरणम् व्याघ्र इव पुरुषः पुरुषव्याघ्रः । ३ । वाचकोपमेयलुप्तोदाहरणम् । विद्यया पण्डितायन्ते । ४ । उपमानलुप्ता । ५ । वाचकोपमानलुप्ता । ६ । धर्मोपमानलुप्ता । ७ । धर्मोपमानवाचकलुप्ता । ८ । आसामुदाहरणम् । काकतालीयो गुरुशिष्यसमागमः । एवमष्टविधा । १ । अतोऽग्रे रूपकालंकारः । स चोपमानस्याभेदताद्रूप्याभ्यामधिकन्यूनोभयगुणैरुपमेयस्य प्रकाशनं रूपकालंकारः । सच षड्धा तत्राधिकाभेदरूपकोदाहरणम् । अयं हि सविता साक्षाद्येन ध्वान्तं विनाश्यते । पूर्णविद्य इति शेषः । १ । न्यूनाभेदरूपकोदाहरणम् । अयं पतंजलिः साक्षाद्भाष्यस्य कृतिना विना । २ । अनुभयाभेदरूप-

पकोदाहरणम् । ईशः प्रजामवत्यय स्वीकृत्य समनीतिताम् । ३ । अधि-
कताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । विद्यानन्दे हि संप्राप्ते राज्यानन्देन किं त-
दा । ४ । न्यूनताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । साध्वीयं सुखदा नीतिरसू-
र्यप्रभवा मता । ५ । अनुभयताद्रूप्यरूपकोदाहरणम् । अयं घनाव-
तात्सूर्याद्विद्यासूर्यो विभज्यते ॥ ६ ॥ अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः
सच त्रिविधः । प्रकृतानेकविषयः । अप्रकृतानेकविषयः । प्रकृताप्रकृताने-
कविषयश्च । तत्र प्रकृतविषयस्योदाहरणम् ॥ यथा नवकम्बलोयं म-
नुष्यः । अत्र नव कम्बला यस्य नवो नूतनो वा कम्बलो यस्येति
द्वावर्थौ भवतः । यथा च श्वेतो धावति । अलंबुसानां यातेति । तथैव
अग्निमीडे इत्यादि । अप्रकृतविषयस्योदाहरणम् । हरिणा त्वद्वलं तु
ल्यं कृतिना हितशक्तिना । अथ प्रकृताप्रकृतविषयोदाहरणम् । उच्च-
रन्भूरियानाढ्यः शुशुभे वाहिनीपतिः । एवंविधा अन्येपि बहवोलं-
काराः सन्ति ते सर्वे नात्र लिख्यन्ते । यत्र यत्र त आगमिष्यन्ति तत्र
तत्र व्याख्यायिष्यन्ते ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब कुछ अलंकारोंका विषय संक्षेपसे लिखते हैं उनमेंसे पहिले उपमालंकार
के ८ आठ भेद हैं । वाचकलुप्ता १ धर्मलुप्ता २ धर्मवाचकलुप्ता ३ वाचकोपमेय
लुप्ता ४ उपमानलुप्ता ५ वाचकोपमानलुप्ता ६ धर्मोपमानलुप्ता ७ और धर्मोपमान-
वाचकलुप्ता ८ ॥ इन आठोंसे पूर्णोपमालंकार पृथक् है जिसमें ये सब बने
रहते हैं उसका लक्षण यह है कि वह चार पदार्थोंसे बनता है एक तो उपमान दू-
सरा उपमेय तीसरा उपमावाचक और चौथा साधारण धर्म इनमेंसे उपमान उस-
को कहते हैं कि जिस पदार्थकी उपमा दी जाती है उपमेय वह कहाता है कि जि-
सको उपमानके तुल्य वर्णन करते हैं । उपमावाचक उसको कहते हैं कि जो तुल्य,
समान, सदृश, इव, वत्, इत्यादि शब्दोंके बीचमें आनेसे किसी दूसरे पदार्थके
समान बोध करावे । साधारण धर्म वह होता है कि जो कर्म उपमान और उपमेय
इन दोनोंमें बराबर वर्तमान रहता है इन चारोंके वर्तमान होनेसे पूर्णोपमा और

इनमेंसे एक एकके लोप हो जानेसे पूर्वोक्त आठ भेद हो जाते हैं ॥ पूर्णोपमाका उदाहरण यह है कि (स नः पितेव०) जैसे पिता अपने पुत्रकी सब प्रकारसे रक्षा करता है वैसेही परमेश्वर भी सबका पिता अर्थात् पालन करनेवाला है इसके आगे दूसरे रूपकालंकारके छः भेद हैं । अधिकाभेदरूपक १ न्यूनाभेदरूपक २ अनुभयाभेदरूपक ३ अधिकताद्रूप्यरूपक ४ न्यूनताद्रूप्यरूपक ५ और अनुभयताद्रूप्यरूपक ६ ॥ इसका लक्षण यह है कि उपमेयको उपमान बना देना और उसमें भेद नहीं रखना जैसे यह मनुष्य साक्षात् सूर्य है क्योंकि अपने विद्यारूप प्रकाशसे अविद्यारूप अंधकारका नाश नित्य करता है इत्यादि ॥ तीसरा श्लेषालंकार कहाता है उसके तीन भेद हैं प्रकृत १ अप्रकृत २ और प्रकृताप्रकृत विषय जिसका लक्षण यह है कि किसीएक वाक्य वा शब्दसे अनेक अर्थ निकलें वह श्लेष कहाता है जैसे नवकंबल इस शब्दसे दो अर्थ निकलते हैं एक नव है कंबल जिसके दूसरा नवीन है कंबल जिसका इसी प्रकार वेदोंमें अग्नि आदि शब्दोंके कई कई अर्थ होते हैं सो श्लेषालंकारकाही विषय है इस प्रकारके और भी बहुत अलंकार हैं सो जहां जहां वेदभाष्यमें आवेंगे वहां वहां लिखे जायेंगे ॥

॥ भाष्यम् ॥

अदितिर्देवैरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ॥ विश्वेदेवा अदितिः पंचजन अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १ ॥ ऋ० मं० १ सू० ८९ मं० १० । अस्मिन्मंत्रे अदितिशब्दार्था द्यौरित्यादयः सन्ति तेपि वेदभाष्येऽदितिशब्देन ग्राहिष्यन्ते । नैवास्य मंत्रस्य लेखनं सर्वत्र भविष्यतीति मत्वाऽत्र लिखितम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

(अदिति०) इस मंत्रमें अदिति शब्दके बहुत अर्थ और बहुतेरे अर्थ इस शब्दके हैं परंतु इस मंत्रमें जितने हैं वे सब वेदभाष्यमें अवश्य लिखे जायेंगे इस मंत्रको बारंबार न लिखेंगे किन्तु वे सब अर्थ तो लिख दिये जायेंगे । वे अर्थ ये हैं—द्यौः । अंतरिक्ष । माता । पिता । पुत्र । विश्वेदेवा । पंचजना । जात और जनित्व ॥

॥ भाष्यम् ॥

अथ वेदभाष्ये ये संकेताः करिष्यन्ते त इदानीं प्रदर्शयन्ते । ऋ-

ग्वेदादीनां वेदचतुष्टयानां षट्शास्त्राणां षडंगानां चतुर्णां ब्राह्मणानां तैत्तिरीयारण्यकस्य च यत्र यत्र प्रमाणानि लेखिष्यन्ते तत्र तत्रैते संकेता विज्ञेयाः । ऋग्वेदस्य ऋ० मंडलस्य प्रथमाङ्को द्वितीयः सूक्तस्य तृतीयो मंत्रस्य विज्ञेयः । तद्यथा । ऋ० १।१।१। यजुर्वेदस्य य० प्रथमाङ्कोऽध्यायस्य द्वितीयो मंत्रस्य । तद्यथा । य० १।१। सामवेदस्य साम० पूर्वार्चिकस्य पू० प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयो दशतेस्तृतीयो मंत्रस्य । तद्यथा । साम० पू० १।१।१। पूर्वार्चिकस्यायं नियमः । उत्तरार्चिकस्य खलु साम० उ० । प्रथमाङ्कः प्रपाठकस्य द्वितीयो मंत्रस्य । अत्रायं विशेषोस्ति उत्तरार्चिके दशतयो न सन्ति परं त्वर्द्धप्रपाठके मंत्रसंख्या पूर्णा भवति तेन प्रथमः पूर्वार्द्धप्रपाठको द्वितीय उत्तरार्द्धप्रपाठकश्चेत्ययमपि संकेत उत्तरार्चिके ज्ञेयः । तद्यथा । साम० उ० १ पू० । १ । साम० उ० १ उ० । १ । अत्र द्वौ संकेतौ भविष्यतः । उकारेणोत्तरार्चिकं ज्ञेयं प्रथमाङ्केन प्रथमः प्रपाठकः पू० इत्यनेन पूर्वार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः । द्वितीयाङ्केन मंत्रसंख्या ज्ञेया । पुनर्द्वितीये संकेते द्वितीय उकारेण उत्तरार्द्धः प्रथमः प्रपाठकः । द्वितीयाङ्केन तदेव । अथर्ववेदे । अथर्व० प्रथमाङ्कः काण्डस्य द्वितीयो वर्गस्य तृतीयो मंत्रस्य । तद्यथा । अथर्व० १।१।१ ॥

॥ भाषार्थ ॥

अब वेदभाष्यमें चारों वेदके जहां जहां प्रमाण लिखे जावेंगे उनके संकेत दिखलाते हैं देखो ऋग्वेदका जहां प्रमाण लिखेंगे वहां ऋग्वेदका ऋ० और मंडल १ सूक्त १ मंत्र १ इनका पहिला दूसरा तीसरा क्रमसे संकेत जानना चाहिये जैसे ऋ० १।१।१। इसी प्रकार यजुर्वेदका य० पहिला अंक अध्यायका दूसरा मंत्रका जान लेना जैसे य० १।१। सामवेदका नियम यह है कि साम० पूर्वार्चिकका पू० पहिला प्रपाठकका दूसरा दशतिका और तीसरा मंत्रका जानना चाहिये जैसे साम० पू० १।१।१। यह नियम पूर्वार्चिकमें है उत्तरार्चिकमें प्रपाठकोंके भी पूर्वार्द्ध

उत्तरार्द्ध होते हैं अर्द्धप्रपाठकपर्यन्त मंत्रसंख्या चलती है इसलिये प्रपाठकके अंकके आगे पू० वा उ० धरा जायगा उस पू०से पूर्वार्द्ध प्रपाठक और उ०से उत्तरार्द्ध प्रपाठक जान लेना होगा इस प्रकार उत्तरार्चिकमें दो संकेत होंगे साम० उ० । १ पू० । १ । साम० उ० । १ उ० । १ ॥ इसी प्रकार अथर्ववेदमें अथर्व० पहिला अंक काण्डका दूसरा वर्गका तीसरा मंत्रका जान लेना जैसे अथर्व० । १ । १ । १॥

॥ भाष्यम् ॥

एवं ब्राह्मणस्याद्यस्यैतरेयस्य ऐ० प्रथमांकः पंचिकाया द्वितीयः कंडिकायाः । तद्यथा । ऐ० १।१। शतपथब्राह्मणे श० प्रथमांकः काण्डस्य द्वितीयः प्रपाठकस्य तृतीयो ब्राह्मणस्य चतुर्थः कण्डिकायाः । तद्यथा । श० १।१।१।१। एवमेव सामब्राह्मणानि बहूनि सन्ति तेषां मध्याद्यस्य यस्य प्रमाणमत्र लेखिष्यते तस्य तस्य संकेतस्तत्रैव करिष्यते तेष्वेवैकं छान्दोग्याख्यं तस्य छां० प्रथमांकः प्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डस्य तृतीयो मंत्रस्य । तद्यथा । छां० १ । १।१ । एवं गोपथब्राह्मणस्य गो० प्रथमांकः प्रपाठकस्य द्वितीयो ब्राह्मणस्य यथा गो० १।१। एवं षट्शास्त्रेषु प्रथमं मीमांसाशास्त्रम् । तस्य मी० प्रथमांकोध्यायस्य द्वितीयः पादस्य तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा मी० १।१।१॥ द्वितीयं वैशेषिकशास्त्रं तस्य वै० प्रथमांकोऽध्यायस्य द्वितीय आन्हिकस्य तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा वै० १।१।१। तृतीयं न्यायशास्त्रं तस्य न्या० अन्यद्वैशेषिकवत् । चतुर्थं योगशास्त्रं तस्य यो० प्रथमांकः पादस्य द्वितीयः सूत्रस्य । यो० १।१। पंचमं सांख्यशास्त्रं तस्य सां० प्रथमांकोऽध्यायस्य द्वितीयः सूत्रस्य । सां० १।१। षष्ठं वेदान्तशास्त्रमुत्तरमीमांसाख्यं तस्य वे० प्रथमांकोध्यायस्य द्वितीयः पादस्य तृतीयः सूत्रस्य । वे० १।१।१ ॥ तथाङ्गेषु प्रथमं व्याकरणं तत्राष्टाध्यायी तस्या अ० प्रथमांकोध्यायस्य द्वितीयः पादस्य तृतीयः सूत्रस्य । तद्यथा । अ० १।१।१। एतेनैव कृतेन सूत्रसंकेतेन व्याकरणमहाभाष्यस्य संकेतो विज्ञेयः । यस्य

सूत्रस्योपरि तद्भाष्यमस्ति तद्व्याख्यानं लिखित्वा तत्सूत्रसंकेतो धरिष्यते । तथा निघण्टुनिरुक्तयोः प्रथमांकोऽध्यायस्य द्वितीयः खण्डस्य निघंटौ १।१। निरुक्ते १।१। खण्डाध्यायौ द्वयोः समानौ । तथा तैत्तिरीयारण्यके तै० प्रथमांकः प्रपाठकस्य द्वितीयोऽनुवाकस्य । तै० १।१। इत्थं सर्वेषां प्रमाणानां तेषु तेषु ग्रंथेषु दर्शनार्थं संकेताः कृतास्तेन येषां मनुष्याणां द्रष्टुमिच्छा भवेदेतैरंकैस्तेषु ग्रंथेषु लिखितसंकेतेन द्रष्टव्यम् । यत्रोक्तेभ्यो ग्रंथेभ्यो भिन्नानां ग्रंथानां प्रमाणं लेखिष्यते तत्रैकवारं समग्रं दर्शयित्वा पुनरेवमेव संकेतेन लेखिष्यत इति ज्ञातव्यम् ॥

॥ भाषार्थ ॥

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रंथोंमें प्रथम ऐतरेय ब्राह्मणका ऐ० पहिला अंक पंचिकाका दूसरा कंडिकाका ऐ० १ । १ । शतपथ ब्राह्मणका श० पहिला अंक कांडका दूसरा प्रपाठकका तीसरा ब्राह्मणका चौथा कंडिकाका श० १ । १ । १ । १ ॥ सामब्राह्मण बहुत हैं उनमेंसे जिसजिसका प्रमाण जहां लिखेंगे उसउसका ठिकाना वहां धरेंगे जैसे एक छान्दोग्य कहाता है उसका छां० पहिला अंक प्रपाठकका दूसरा खंडका तीसरा मंत्रका जैसे छां० १ । १ । १ ॥ चौथा गोपथ ब्राह्मण कहाता है उसका गो० पहिला अंक प्रपाठकका दूसरा ब्राह्मणका जैसे गो० १ । १ । इस प्रकारका संकेत चागें ब्राह्मणमें जानना होगा । ऐसेही छः शास्त्रोंमें प्रथम मीमांसा शास्त्र उसका मी० अध्याय पाद और सूत्रके तीन अंक क्रमसे जानो जैसे मी० १ । १ । १ ॥ दूसरा वैशेषिकका वै० पहिला अंक अध्यायका दूसरा आग्निहिकका तीसरा सूत्रका जैसे वै० १ । १ । १ । तीसरे न्यायशास्त्रका न्या० और तीन अंक वैशेषिकके समान जानों । चौथे योगशास्त्रका यो० प्रथम अंक पादका दूसरा सूत्रका यो० १ । १ । पांचवें सांख्यशास्त्रका सां० अध्याय और सूत्रके दो अंक क्रमसे जानो जैसे सां० १ । १ ॥ छठे वेदांतका वे० अध्याय पाद और सूत्रके तीन अंक क्रमसे वे० १ । १ । १ । तथा अंगोंमें अष्टाध्यायी व्याकरणका अंक अध्याय पाद सूत्रके तीन अंक क्रमसे जानो जैसे अ० १ । १ । १ । इसी प्रकार जिस सूत्रके उपर महाभाष्यहु आ करेगा उस सूत्रका पता लिखके महाभाष्यका वचन लिखा करेंगे उसीसे उसका पता जान लेना चाहिये तथा निघंटु और निरुक्तमें दो दो अंक अध्याय और खंडके लिखेंगे तथा तैत्तिरीय आरण्यकमें तै०

लिखके प्रपाठक और अनुवाकके दो अंक लिखेंगे ये संकेत इसलिये लिखे हैं कि बारंबार ठिकाना न लिखने पड़े थोड़ेसेहीसे काम चला जाय जिस किसीको देखना पड़े वह उन ग्रंथोंमें देख ले और जिन ग्रंथोंके संकेत यहां नहीं लिखे उनके प्रमाणोंका जहां कहीं काम पड़ेगा तो लिख दिया जायगा परंतु इन सब ग्रंथोंके संकेतोंको याद रखना सबको योग्य है कि जिससे देखनेमें परिश्रम न पड़े ॥

वेदार्थाभिप्रकाशप्रणयसुगमिका कामदा मान्यहेतुः
संक्षेपाद्भूमिकेयं विमलविधिनिधिः सत्यशास्त्रार्थयुक्ता ।
संपूर्णाकार्य्यथेदं भवति सुरुचि यन्मंत्रभाष्यं मयातः
पश्चादीशानभक्त्या सुमतिसहितया तन्यते सुप्रमाणम् ॥ १ ॥
मंत्रार्थभूमिका ह्यत्र मंत्रस्तस्य पदानि च ॥
पदार्थान्वयभावार्थाः क्रमाद्बोध्या विचक्षणैः ॥ २ ॥

यह भूमिका जो वेदोंके प्रयोजन अर्थात् वेद किस लिये और किसने बनाये उनमें क्या क्या विषय हैं इत्यादि बातोंकी अच्छी प्रकार प्राप्ति कग्नेवाली है इसको जो लोक ठीक ठीक परिश्रमसे पढ़ें और विचारेंगे उनका व्यवहार और परमार्थका प्रकाश संसारमें मान्य और कामनासिद्धि अवश्य होगी इस प्रकार जो निर्मल विषयोंके विधानका कोश अर्थात् खजाना और सत्यशास्त्रोंके प्रमाणोंसे युक्त जो भूमिका है इसको मैंने संक्षेपसे पूर्ण किया अब इसके आगे जो उत्तम बुद्धि देनेवाली परमात्माकी भक्तिमें अपनी बुद्धिको दृढ़ करके प्रीतिके बढ़ाने-वाले मंत्रभाष्यका प्रमाणपूर्वक विस्तार करता हूं ॥ १ ॥

इस मंत्रभाष्यमें इस प्रकारका क्रम रहेगा कि प्रथम तो मंत्रमें परमेश्वरने जिस बातका प्रकाश किया है फिर मूलमंत्र । उसका पदच्छेद । क्रमसे प्रमाणसहित मंत्रके पदोंका अर्थ । अन्वय अर्थात् पदोंकी संबन्धपूर्वक योजना और उठा भावार्थ अर्थात् मंत्रका जो मुख्य प्रयोजन है इस क्रमसे मंत्रभाष्य बनाया जाता है ॥ २ ॥

विश्वानि देवसवितुर्दुरितानि परा सुव ।

यद्भद्रं तन्न त्रासुव ॥ १ ॥ य० ३० । ३ ।

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतदयानन्दसरस्वतीस्वामिना
विरचिता संस्कृतभाषार्थभाषाभ्यां सुभूषिता सुप्रमाणयुक्तर्वेदादि-
चतुर्वेदभाष्यभूमिका समाप्तिमगमत् ॥

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाः शुद्धिपत्रम् ॥

पृष्ठ०	पं०	अशुद्धम्.	शुद्धम्.	पृष्ठ०	पं०	अशुद्धम्.	शुद्धम्.
१	३	सहना	सहना	१२	१	उस्से	उससे । सर्वत्र ऐ-
१२२		हे ईश्वर	ईश्वर				साही जानना
१२७		हे सत्र	सत्र	१२१९		वत्सामर्थ्य स्या-	वत्स्यादिति
२	२	होय	हो । सर्वत्र ऐसा-			दिति	
			ही जानना	१२३२		सक्ता	सकता । ऐसाही
२	३	जिस्से	जिससे । सर्वत्र				सर्वत्र जानलेना
			ऐसाही जानना	१४१३		शास्त्रोंका	शास्त्रोंके
२२४		यह वेदभाष्य	०	१४१९		इसीलिये	इसीसे
२२३		जे	जो । सर्वत्र ऐ-	१४३१		किनर्था	किमर्था
			साही जानना	१६	४	हजारमें	हजारहमें
३२३		हो	हैं	१७१२		ब्राह्मणोंका	ब्राह्मणका
४१४		प्रमा	प्रमा	१७२४		खल्वेतेषा	खल्वेतेषां
५२९		कल्पकल्प	कल्प २	२०२६		६ जू	घजू
६११		षधयः	षधयः	२११८		चातुर्थ्यानि	चतुर्थ्यानि
८	३	कवी	कभी । सर्वत्र ऐ-	२२१६		सर्व वै सहस्रं ।	सर्व वै सहस्रं ।
			साही जानलेना			श० कां० ७	श० कां० ७
८१९		होंय	हों । सर्वत्र ऐसा-			अ० ४	अ० ५
			ही समझना	२३२२		जाला	जानना
९	९	अपतञ्जन्	अपातञ्जन्	२४१२		रचना	रचता
९२२		अ० १	अ० १ ब्रा० १ ।	२५२४		मुसल्मान	मुसल्मान
			कं० १३ ।	२७	५	नित्यत्व	नित्य होने
९२२		यजुर्वेदे	य० अ० ५ ।	२९	२	माह	महा
			मं० १५	२९१७		नहों	नहीं
९२३		विवेष्टि	वेवेष्टि	३०१५		जैये	जैसे
१०	८	स इत्यादि । श०	सः । श० कां०	३२१२		अ० १ सू० ३	अ० १ आ० १
		कां० १४ अ० ५	१४ । अ० ५			सू० ३	
			ब्रा० ४ कं० १०	३२१९		उप	उस
११२९		मास्ति	नास्ति	३२२१		पादे० १ सू० ६७	आ० १ सू० ६७
११२२		इस्से	इससे । ऐसाही	३३१८		पना	पन
			सर्वत्र समझना	३७	१	मे	में

पृष्ठ० पं० अशु०	शु०	पृष्ठ० पं० अशु०	शु०
३८१३ कैमे	कैसे	८५ २ प्रतनवामह	प्रतनवामहा
३८१५ किमी	किसी	८६३२ पा० ३	पा०३ सू०६०
३९१३ अ० ४ सू० १	अ० ४ पा० ४	८६३२ पा० ३	पा०३ सू०६२
	सू० १	८७ १ पा० ३	पा०३सू०१०५
३८२८ सुनके पदके	सुन पद	८७ २ प्रतिपादितम्	प्रतिपादनंकृतम्
३८३१ मनुष्याणां	मनुष्याणां	८७ ५ छन्दसीति	छन्दसीत्यत्र
३८३३ दोत्पत्तिप्रकरणे	दोत्पत्तिप्रकरणे	८७ ६ ब्राह्मणग्रंथस्य	ब्राह्मणशब्दस्य
३९२० अयोनिवत्	अयोनिवत्	८७ ९ वृषशब्दो वृषन्	०
४२११ यद्वत्	यद्वत्		शब्दश्च
४३३२ क्षुराततम्	क्षुराततम्	८९ ५ स्थुषस्पति	स्थुषस्पति)
४४११ रराणास्त्री	रराणस्त्री	८९११ रक्षिता	(रक्षिता)
४६१७ भोजनच्छा	भोजनाच्छा	८९१९ अग्नेयादि	आग्नेयादि
५४२० विभक्तमन्त	०	८९२८ नीरन्तर	निरन्तर
५९२३ पावे	पावें	९० २ तस्मिच्छ्र	तस्मिच्छ्र
५९३३ दियाटे	दियादे	९०२३ नाप्युच्यते	नाप्युच्यते
६२२२ मनुष्यो अर्थका	मनुष्योका	९०२४ एव	एव
६३ ७ नि० अ० ७ निरु० अ० ७		९०२६ एतेर्मत्रै	एतेर्मत्रै
	खं० ११	९१ ३ तस्मात्स । एवैष	तस्मात्स एवैष
६६२१ प्रपा० १६	अ० ६	९१२८ लक्षणयुक्त	लक्षणयुक्त
७७ ७ मंत्रार्थाभ्यु हो	मंत्रार्थचिन्ताभ्यु- हो	९२ ६ संगच्छध्वं	संगच्छध्वं
		९३ १ चक्षुपा	चक्षुपा
७८२१ सायनाचार्य	सायणाचार्य	९३१३ नोमंत्रः	नोमंत्रः
८०१४ व्याकरणे प	व्याकरणेपि	९३१९ यद्यथा	तद्यथा
८०१४ द्वचक्र	द्वचक्र	९३२९ विकल्पेऽप्रीति	विकल्पोऽप्रीति
८०१५ पा० ४	पा०४ सू०८०	९४ ७ नृर्वे	नृर्वे
८०१६ पा० ४	पा० ४ सू० ६	१०१२३ सेवमानाया	सेवमानया
८०१६ पा० ४	पा० ४ सू० ९	१०२ ६ हों	हो
८२११ कारण मे	कारणसे	१०४ ४ धर्मोपदेशो	धर्मो
८३ १ अनु० १	अनु० १ मं० ४	१०६२५ स्वाध्यय	स्वाध्याय
८३१६ शाकपूरणि	शाकपूणि	१०७ ३ आयुक्ता	आयुक्ता
८३१६ नृणां	नृणां	१०७ ५ आयुक्ता	आयुक्ता
८४२० न्यनुवचनानि	न्यनुवादवचना- नि	१०८२५ ग्रहण	ग्रहण
		१०९ ३ मूर्धुवः	मूर्धुवः

पृष्ठ० पं०	अशु०	शु०	पृष्ठ० पं०	अशु०	शु०
१०९ १९	प्रजापत्यो	प्राजापत्यो	१३२ २०	तस्ययोनि	तस्ययोनि
१०९ १९	रनुपातु	रपातु	१३३ ९	यो देवेभ्य	यो देवेभ्य
११० २७	तेभ्यो	तेभ्यो	१३४ १०	इष्णन्निषा	इष्णन्निषा
१११ १९	तृथकृत्य	तृथकृत्य	१३५ २१	प्रजापतिः	प्रजापतिः
११२ ३५	पहुंचना	पहुंचाना	१३५ २५	अनु० २	अनु० ४
११३ १२	प्रतिष्ठा	प्रतिष्ठा	१३६ २८	अ० ३ मं० ९	अ० ९ मं० ६
११३ २१	स्वर्गइन	स्वर्गये	१३७ १७	पृथिवी	पृथिवी
११४ १	ससम्य	सम्य	१३८ २	दाशुपे	दाशुपे
११४ २	शुद्धोयं	शुभोयं	१३८ २५	तइन्द्रो	तइन्द्रो
११५ १	वेदद्वा एया	वेदद्वाएया	१४१ १	दकृणो	दकृणो
११५ २९	च्छयेना	च्छयेना	१४१ १	उज्योतिषा	उज्योतिषा
११८ १५	ङ्गलम्	ङ्गलम्	१४१ ३१	गुणेनासह	गुणेनसह
११८ २७	न्तर्गामिणं	न्तर्गामिन	१४२ ८	त्सवी हलोका	त्सर्वलोका
११९ २	दरणीयः	दणीयः	१४३ ८	सूर्येणो	सूर्येणो
११९ १४	(भूमिःससर्वे	(सभूमिःसर्वे	१४३ १३	सूर्य	सूर्य
१२० १३	भाव्यम्	भाव्यम्	१४३ १३	हिंस्य	हिंस्य
१२१ २३	त्रिपादोप	त्रिपादुप	१४५ ३	ओषध	ओषध
१२१ २४	एकपादोप	एकपादुप	१४५ ८	ओषध	ओषध
१२२ २४	मथोपुरः	मथोपुरः	१४५ २१	ऽष्टा	ऽष्टौ
१२४ १६	भयादतः (उ	भयादतः) उ	१४५ २४	शस्त्रमे	शस्त्रमे
१२५ १७	यद्यत्मादेतं	यद्यस्मादेतं	१४६ ३	चकाराणाम्	चकाराणाम्
१२६ ११	पा० ४ः	पा० ४ सू० ६	१४६ ७	विधन	विधान
१२७ २६	जगदुत्पत्ता	जगदुत्पत्तो	१४७ ७	किमुक्थं	किमुक्थं
१२८ १०	अवध	अवध	१४७ ८	व० १८०	व० १८
१२८ १६	कैकस्योपरि	कैकस्योपरि	१४७ १७	वीर्यमो	वीर्यमो
१२९ ११	इक्कीससमिधाक-	इक्कीस समिधा	१४७ २२	प्रतिमायया	प्रतिमा यया
	हाते हैं	कहांती हैं	१४८ १३	तिर्य्यक्	तिर्य्यक्
१३१ २३	॥ भाष्यम् ॥	॥ भाष्यम् ॥	१४८ २७	धेहिबल	धेहिबल
१३१ २४	पृच्छयते	पृच्छयते	१४८ २८	धेहि	धेहि
१३२ २	मार्गो	मार्गो	१४९ ७	धारय	निधेहि

* एकसौ दशके पृष्ठकी छठी पंक्तिके आरंभसे लेके एकसौ ग्यारहमे पृष्ठकी तेरहमी पंक्तिमें नान्यथेतिपर्यन्त संस्कृत एकसौ सातके पृष्ठकी आठमी पंक्तिके अन्तमें का है सो जानना.

पृष्ठ० पं०	अशु०	शु०	पृष्ठ० पं०	अशु०	शु०
१४९	८ क्रोध कृदसि	क्रोधकृदसि	१७०	२३ भूमिकत्व	भूमिकत्व
१४९	२३ धियाबुद्ध्या	बुद्ध्या	१७०	२८ अत्यत	अत्यंत
१४९	२४ श्वोपास	श्वयामुपास	१७१	१६ अष्ट	अष्टा
१५०	९ रहो	रहें	१७२	३ सर्वो	सर्वो
१५०	२८ जगतके	जगत्के	१७२	९ करै	करे
१५१	१२ स्थिरवः	स्थिरवः	१७३	२८ अंग है	अंग हैं
१५१	२३ स्थिराणि मदनु- ग्रहेण	मदनुग्रहेण स्थि- राणि	१७४	८ शास्त्रो	शास्त्रों
१५२	१४ वर्ण	वर्ण	१७४	१३ विषयासत्ती	विषयासक्ति
१५२	२४ ततमे	तन्मे	१७४	२७ पूर्वोक्त	पूर्वोक्त
१५३	९ है उसके	हैं उनके	१७५	२८ श्वासयो	श्वासप्रश्वासयो
१५३	२० जगतका	जगत्का	१७६	१ प्रक्षेपव्यः	प्रक्षेपव्याः
१५४	१२ यज्ञो वै विष्णुः।	यज्ञो वै विष्णुः।	१७६	२९ प्रकाश	प्रकाशे
		श० १।२।१३।	१७७	३ स्मरणलंबना	स्मरणालंबना
१५५	२३ कान्याय	केन्याय	१७७	१२ पु चित्तस्य	पु बाह्ये वा विपये चित्तस्य
१५७	१९ (विप्रा)	(विप्राः)	१७७	२४ टाकनेवाला आ- वर्ण	आवर्ण अर्थात् टापनेवाला
१५८	२३ मनुष्यो	मनुष्यो	१७८	४ धारण भी	धारणा भी
१५८	२४ अर्थात्	अर्थात्	१७९	४ अकाश	आकाश
१६१	२३ अर्थात्	०	१८०	३१ अर्थीत्	अर्थात्
१६१	२४ सिद्ध	प्रसिद्ध	१८१	९ निर्गुण	निर्गुण
१६२	२३ कापरम	केपरम	१८१	२९ चरणा	चरण
१६२	२९ जगत	जगत्	१८२	३ रूढो	रूढो
१६३	१४ द्यातना	द्यातना	१८२	१९ (अविद्या)	(अविद्या०)
१६४	३ युञ्जति	युञ्जन्ति	१८३	३१ चिटी आदिको	चिटीआदि जी- वोंको
१६५	१९ आगे	आगे			
१६६	५ अर्थात्	०	१८५	३ अ० २	०
१६६	६ तो	०	१८५	१० प्रपा० ७	प्रपा० ८
१६६	३६ समाधीयोग	समाधियोग	१८५	१७ महध्रुवः	महाध्रुवः
१६७	१५ वातिशायि	वातिशायि	१८५	२१ लिखे हैं	लिखा है
१६७	३० सएव	सएष	१८६	३२ आत्मा	आत्मारूप
१६९	११ आलस्य	आलस्यम्	१८६	३३ अश्रय	आश्रय
१६९	१६ इत्याभि	इत्यभि	१८८	३ ब्रह्मण	ब्राह्मण
१७०	३ नान्विताः	नानन्विताः			

पृष्ठ०	पं०	अशु०	शु०	पृष्ठ०	पं०	अशु०	शु०
१८८	१३	मगिरसो	मगिरसो	२०८	१९	मायुर्व्य	मायुर्व्य
१८९	४	(सनेवन्धु०)	(सनोवन्धु०)	२०९	२३	पुरंधि	पुरंधिः
१८९	१५	पोदकाभिः	पोदकाभिः	२१०	१०	करो	रहो
१८९	२१	(रयिं) सधनं ।	स (रयिं) धनं	२१०	१६	विधवेव	विधवेव
१९०	८	परमैश्वर्य्य	परमैश्वर्य्य	२१३	२	दिधिपोः	दिधिपोः
१९०	११	अर्यात्रिविधं	त्रिविधं	२१४	३०	नो विवाहित	जो विवाहित
१९०	१८	नेन न त्रिविधं	नेनत्रिविधं	२१५	२०	विदथेपु	विदथेपु
१९१	१०	वर्त्तमान है	वर्त्तमान हैं	२१५	२१	के शान्	केशान्
१९१	१२	सर्वो	सर्भो	२१६	१९	कन्तु	कन्तु
१९२	८	आग्नि	आग्नि	२१७	१९	सत्क्रियाओं	सत्क्रियाओं
१९३	१४	यानं	०	२१९	२६	भूपित पुरुषार्थि-	भूपणं पुरुषार्थि-
१९४	३१	जलका	जलकी			करणं	करणं च
१९३	५	समुद्रे	समुद्रे	२२०	१७	सुहव	सुहव
१९५	३२	तिस्त्रा	तिस्त्रो	२२१	१८	मनुष्योंको	मनुष्योंका
१९६	१	धियो	धिया	२२३	४	राष्ट्रं	राष्ट्रं
१९७	४	जो मनुष्य उन	उन रथोंमें जो	२२४	१७	मोदध्वमेवं	मोदयध्वमेवं
		रथोंमें	मनुष्य	२२५	३०	जं भारद्वाजं	जंभवति भार-
१९७	२०	आनो	आनां				द्वाजं
१९७	१३	प्रकार भोगों	प्रकारके भोगों	२२५	३१	तानाह	तानह
१९७	२२	हरयः	हरयः	२२६	५	कं० ६।७।	कं० ६।९।
१९७	२४	शंकवो	शंकवो	२२८	१३	भौराज्यं	भौराज्यं
१९९	२	दूसरे	दूसरे	२३०	३१	प्रवन्धे	प्रवन्धेन
१९९	१९	स्पृधां	स्पृधां	२३४	२२	हो	ही
१९९	२३	मनुष्या	मनुष्याः	२३६	२	सन्यास	सन्यास
२०१	२४	न्तरिक्षम्	न्तरिक्षम् ।	२३७	१	चार्य्येति	चार्य्येति
२०२	३२	स्तनूपा	स्तनू पा	२३७	५	ब्रह्मचर्य्येण	ब्रह्मचर्य्येण
२०३	२०	करणेन	कारणेन	२३७	६	ब्रह्मचर्य्येण	ब्रह्मचर्य्येण
२०४	३४	पशु आदिको	पशु आदिके श-	२३७	६	ब्रह्मचर्य्येण	ब्रह्मचर्य्येण
			रीरको	२३९	१०	स्वाहा	स्वाहा
२०५	२	पितरं	पितरं	२३९	१३	पह्या	पह्या
२०५	२३	प्रत्यभावः	प्रत्यभावः	२४१	३३	ब्रह्मचर्य्या	ब्रह्मचार्या
२०७	१५	विद्यारहितस्यापि	विद्यारहितोपि	२४१	३४	सादयन्स	सादन्स
२०८	१८	धिर्मह्यं	धिर्मह्यं	२४३	५	चर्य्यं चरन्ति	चर्य्यं चरन्ति

पृष्ठ०	पं०	अशु०	शु०	पृष्ठ०	पं०	अशु०	शु०
२४५	७	तदभिलान्	तदभिलान्	२७९	३	दौर्मै	दौर्मै
२४६	१४	देशांतरं प्रापय- तीति	देशान्तरं वहति प्रापयतीति	२८०	३०	जलके	जलका
२४७	३२	और	०	२८१	६	असीत्स	आसीत्स
२४८	२०	सूर्यो	सूर्यो	२८२	२७	का मूलसे	को मूलसे
२४८	२२	दया	देया	२८३	१७	पुनर्भूमे	पुनर्भूमौ
२५०	११	सर्वे	सर्वेमं	२८४	२६	घनजलं	घनजालं
२५३	१९	जितना	जितनाकि	२८४	२७	(विवृकणा विवि- धसाधनछेदने न वज्रेण	वज्रेण (विवृक- णा) छिन्ना- निस्कन्धांसीव
२५३	१९	होता है	हो				
२५५	२०	प्रकार	पकार	२८५	१४	शत्रू	शत्रु
२५५	२९	सः आर्धत्त ४	सः ॥ ४ ॥	२८५	२१	द्वादृनि	द्वादृनि
२५५	२९	द्वैष्मै	द्वैष्मै	२८६	४	दीघ	दीर्घ
२५७	२०	समानाः	समानाः	२८६	१३	पूर्तिदुर्गन्धो	पूर्तिदुर्गन्धो
२५९	१३	जो पितर हैं	पितर हैं	२८६	१४	भिस्त्राव	भिस्त्राव
२५९	२७	शद्धिः	शद्धिः	२८७	२५	प्रजापति	प्रजाति
२५९	३०	मंतु	मंतु	२८८	८	जिघ्राति-	वदति
२५९	३०	ब्रुवन्तु	ब्रुवन्तु	२८८	२८	मत्वानुरोधेन	मत्वानुरोधेन
२६०	२०	भाशनं	प्राशनं	२८९	८	देतदपि	देपोऽपि
२६१	१८	और उपदेश	और अपने उ- पदेशसे	२९१	७	ऽन्यासा	ऽन्यासां
२६२	२९	देखने	सुनने	२९१	१३	सकनं	सकलं
२६३	६	करनेके	करने	२९१	१९	द्विसेः	द्विसेः
२६३	७	योग्य	हारे	२९१	३०	कथा	०
२६३	२२	वैत्थ	वैत्थ	२९२	४	गयातीर्थो	गयादितीर्थो
२६४	१९	मनुष्य	मनुष्य	२९४	३	इत्यनन	इत्यनेन
२६४	२७	पदार्था	पदार्थो	२९४	११	एवाख्य	एवाख्यं
२६५	१४	पिताम	पिताम	२९४	१०	पूर्वाक्तेषु	पूर्वोक्तेषु
२६६	८	शुधध्वम्	शुन्धध्वम्	२९४	१४	खड्गे येषां	खड्गो येषां
२६७	३	उपनिषद्	उपनिषद्का	२९४	३०	चात्राचर्य	चात्राचार्य
२६७	१४	इच्छित	वाञ्छित	२९६	१०	लोकवाने	लोकवो
२६९	७	संसारका	संसारके	२९६	२८	श्रद्धा	श्रद्धा
२६९	९	प्रतिपदित	प्रतिपादित	२९८	३	नेत्रांसे	नेत्रोसे
२७३	८	कूलतया	कूलतया	२९८	१२	जीवांके	जिवोके
				२९८	१६	जलकां	जलकी

पृष्ठ० पं०	अशु०	शु०	पृष्ठ० पं०	अशु०	शु०
२९९	९ संशयका	संशयकी	३०२	२२ न महलो	न महलो
२९९	२९ नाम	०	३०५	२८ भगवान्	भगवन्
३००	५ वरीवर्त्तते	वरीवृत्त्यते	३०५	३० सक्	सके
३०१	५ रायस्पोषेण	रायस्पोषेण	३०८	२८ (अजाथाः)	(अ जायथाः)
३०२	५ सवरे	सर्वरे	३१०	२ शूद्राय	शूद्राय
३०२	१२ पूजन	पूजा			

अथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाविषयसूचीपत्रम् ।

पृष्ठसे—पृष्ठतक विषयाः

१—	९ ईश्वरप्रार्थनाविषयः ।	१
९—	२६ वेदोत्पत्तिवि० ।	२
२७—	४१ वेदानां नित्यत्वविचार- वि० ।	३
४१—	८० वेदविषयविचारवि० अस्यावयवभूतविषयाः	४
४१—	४६ निज्ञानकाण्डवि० ।	५
४६—	८० कर्मकाण्डे मुख्यतया यज्ञवि० ।	६
५६—	७१ देवताविषयः ।	७
७५—	८० मोक्षमूलरविषयकखण्डन- विषयः ।	८
८१—	८८ वेदसंज्ञाविचारवि० ।	९
८८—	९२ ब्रह्मविद्यावि० ।	१०
९२—	११५ वेदोक्तधर्मवि० ।	११
११५—	१३६ सृष्टिविद्यावि० ।	१२
११८—	१३४ सहस्रशीर्षेयारभ्य पु- रुषसूक्तव्याख्यावि० ।	१३

पृष्ठसे—पृष्ठतक विषयाः

१३६—	१३९ पृथिव्यादिलोकभ्रमण- वि० ।	१४
१३९—	१४२ धारणाकर्षणविषयः ।	१५
१४३—	१४४ प्रकाश्यप्रकाशकवि० ।	१६
१४५—	१४८ गणितविद्यावि० ।	१७
१४८—	१५५ प्रार्थनायाचनासमर्पण- वि० ।	१८
१५५—	१८१ उपासनाविधानवि० ।	१९
१८१—	१८८ मुक्तिविषयः ।	२०
१८९—	१९८ नौविमानादिविद्या- वि० ।	२१
१९९—	२०० तारविद्यावि० ।	२२
२००—	२०१ वैद्यकशास्त्रमूलवि० ।	२३
२०१—	२०७ पुनर्जन्मविषयः ।	२४
२०८—	२१० विवाहवि० ।	२५
२१०—	२१४ नियोगवि० ।	२६
२१५—	२३२ राजप्रजाधर्मवि० ।	२७
२३३—	२४५ वर्णाश्रमवि० ।	२८

पृष्ठसे—पृष्ठतक विषयाः

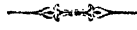
२३८—२३८	ब्रह्मचर्याश्रमवि० ।	२९
२३९—२४०	गृहाश्रमविषयः ।	३०
२४१—२४२	वानप्रस्थाश्रमवि० ।	३१
२४३—२४४	संन्यासाश्रमवि० ।	३२
२४५—२७२	पंचमहायज्ञविषयः ।	३३
२४५—२५०	अग्निहोत्रविषयः ।	३४
२५१—२६६	पितृयज्ञवि० ।	३५
२६७—२७१	बलिवैश्वदेववि० ।	३६
२७१—२७२	अतिथियज्ञविषयः ।	३७
२७२—३०८	ग्रंथप्रामाण्याप्रामाण्य- वि० ।	३८
२७२—२७७	उत्तमनिकृष्टग्रंथगण- नावि० ।	३९
२७८—२८०	प्रजापतिदुहितोः कथा- वि० ।	४०
२८१—२८२	गोतमाऽहल्ययोः कथा- वि० ।	४१
२८२—२८६	इन्द्रवृत्रासुरकथावि० ।	४२
२८७—२९०	देवासुरसंग्रामकथा- वि० ।	४३

पृष्ठसे—पृष्ठतक विषयाः

२९१—२९९	कश्यपगयादितीर्थकथा- वि० ।	४४
३००—३०३	सूक्तिपूजानिषेधवि० ।	४५
३०४—३०८	नवग्रहमंत्रार्थवि० ।	४६
३०९—३१२	अधिकारानधिकारवि० ।	४७
३१३—३१९	पठनपाठनवि० ।	४८
३२०—३३५	भाष्यकरणशंकासमाधा- नवि० ।	४९
३३३—३३७	महीधरकृतभाष्यखण्डन- सत्यकथयोर्वैर्णनवि० ।	५०
३३९—३४१	प्रतिज्ञाविषयः ।	५१
३४२—३५१	प्रश्नोत्तरविषयः ।	५२
३५२—	वैदिकप्रयोगनियम- वि० ।	५३
३५३—३५४	स्वरव्यवस्थाविषयः ।	५४
३५५—३६९	व्याकरणनियमविषयः ।	५५
३७०—३७२	अलंकारभेदवि० ।	५६
३७३—३७६	ग्रंथसंकेतवि० ।	५७

संख्या ग्राहक.	नामग्राहक.	पनाग्राहक.	मूल्य नगद.
३७९	लाला रामचंद्र	नायब शेरिफ मन्सिफ कोर्ट गुरुदासपुर ॥	७
३८३	लाला बालमुकुंद	एकौटेंट जनरेल्स आफिस लाहौर	७
३८६	लाला शिवराम सराफ	रंगमहल लाहौर	७
३८८	लाला कद्वैयालाल	कार्क आडिटर्स आफिस लाहौर	७
३९०	भाई निहालसिंह	कार्क एकौटेंट जनरेल्स आ० लाहौर	७
४०४	बाबू माधोलाल	हिंदूस्तान दानापुर	७
४२१	लाला विष्णुदास कम्पौंडर	शफा खाने गुरुदासपुर	७
४२२	लाला रामशरणदास	मिडर गुरुदासपुर	७
४२४	लाला हरचरणदास	रीडर एकसत्रा एसिस्टेंट कमिशनर गुरु- दासपुर ॥	७
४२५	आर्यसमाज	गुरुदासपुर ॥	७
४२६	रायभागसिंह साहब	आनरेरी मजिस्ट्रेट बटाला गुरुदासपुर ॥	७
४२८	लाल मथुरादास दूसरे	एकौटेंट जनरेल्स आफिस लाहौर	७
४२९	बाबू मुरलीधर	ड्राइंग मास्टर ग० स्कूल अमृतसर	११
४२२	बाबू गोविन्दसहाय	सब ओअरसियर मियामार बी. डी. केनेल पंजाब ॥	७
४२६	लाला छेल विहारीलाल	एक्सक्यूटिव इंजिनियर्स आफिस लाहौर ॥	७
५१५	दयाकृष्ण वोहरा रईस	वाजीदपुरथाना गंधीराजिला अलीगढ़ ॥	११
५१२	रा० पण्डित गोपाळराव हरि रईस भांसी	वाजीदर सीरंशे तालीम जिले फर्रुखाबाद ॥	११
३६८	पण्डित हरिकृष्ण	लोहगढ़ दरवाजा अमृतसर ॥	७
३७६	डा० हरिप्रसाद	सिविलसरजियन जगाधरी	७
१७२	शंभू नाथ	चौधरी गोलाबाग लाहौर	७
६७	बाबू कपूरसिंह	हास्पिटल पंथेर १५ किन्सहजार्स मेरठ	७
१५३	मुनशी मक़्दुनलाल	गोलागंज लकनो	७
७१	बाबू शिवप्रसाद	सदर दालमंडी मेरठ	७
१९४	बाबू गोकुलचंद्र	मुनसिरिम अवध ॥	७
५०९	कृष्णराव गोपाल देशमुख	नीसरी बम्बई	७
४९९	दयाभाई दलपतराम	अहमदाबाद	७
१४९	लाला भवानीदास	सेकण्ड इयर क्लास ग० कालिज लाहौर	७
१८०	लाला बालमुकुंद	एसिस्टेंट इन्जिनयर सियालकोट	७
४७०	लाला मतवाला सिंह	फारेस्ट डिपार्टमेंट लाहौर	७
४३३	पं० शालिग्राम	वकील अमृतसर	७
३५५	भाई हरनाम सिंह	महासिंह काकटरा अमृतसर	७
४२३	ला० रामसिंह मोहीरि	कचहरी ज्यूडीशियल असिस्टेंट गुरुदासपुर	७
३५२	बाबू उमेशचंद्र वंयोपाध्याय	डिप्टीकमिशनर्स आफिस अमृतसर	७
१८७	डायरेक्टर साहब मार्फत प्यारेलाल	क्यूरेटर ग० सेंट्रल डिपो लाहौर	७
८५	बाबू बनवारीलाल रोडे	हेडक्वार्टेज आफिस शाहजहाँपुर ॥	७

विज्ञापनपत्र.



आगे यह विचार किया जाता है कि, संस्कृत विद्याकी उन्नति करनी चाहिये; सो बिना व्याकरणके नहीं हो सकती. जो आज कल कौमुदी, चंद्रिका, सारस्वत, सुग्धबोध और आशुबोध आदि ग्रंथ प्रचलित हैं, इनसे न तो ठीक ठीक बोध और न वैदिक विषयका ज्ञान यथावत होता है, वेद और प्राचीन आर्ष ग्रंथोंके ज्ञानसे बिना किसीको संस्कृत विद्याका यथार्थ फल नहीं हो सकता; और इसके बिना मनुष्यजन्मका साफल्य होना दुर्घट है ॥ इसलिये जो सनातन प्रतिष्ठित पाणिनीय अष्टाध्यायी महाभाष्यनामक व्याकरण है, उसमें अष्टाध्यायी सुगम संस्कृत और आर्य भाषामें वृत्ति बनानेकी इच्छा है; जैसे वेदभाष्य प्रतिमास २४ पृष्ठोंमें १ अंक छपावता है, इसी प्रकार ४९ पृष्ठका अंक मुंबईमें छपवाया जाय तो बहुत सुगमतासे सब लोगोंको महालाम हो सकता है, इसमें हजारों रुपयेका खर्च और बड़ा भारी परिश्रम है ॥ इसका मासिक मूल्य जो प्रथम दें उनसे ॥= आनेके हिसाबसे ७॥ रुपये लिये जायें. उधार लेनेवालोंसे ॥= के हिसाबसे ११॥ लिये जायें. विद्योत्साही सब सज्जनोंकी सम्मति प्रथम में जाना चाहताहूं, सो सब लोग अपना अपना अभिप्राय जनावें इति ॥

विज्ञापनपत्र.



सबको विदित हो कि, चार वेदोंकी भूमिका पूरी हो गई है. इसकी अंक १५ और १६ में समाप्ति हुई. इसकी जिल्द जिसको इच्छा हो, बंधवाले, जो एक वेद लेते हैं, उनके पास आषाढ़में ऋग्वेदका अंक नहीं आवेगा; क्योंकि ये दो अंक आये हैं, इसके आगे श्रावणसे लेकर एक लेनेवालोंके पास एक एक और दो लेनेवालोंके पास दो दो ऋग्वेदके और यजुर्वेदके अंक आया करेंगे. धीरज करो कि, मुंबईमें बहुत अच्छा काम चलेगा. यह पहिला महिना था, इस लिये थोड़ी देर हो गयी है. आगे बराबर मितिवार पहुंचा करेंगे इति ॥

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
L.B.S. National Academy of Administration, Library

मुससूरी

MUSSOORIE

यह पुस्तक निम्नांकित तारीख तक वापिस करनी है ।

This book is to be returned on the date last stamped

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GL 9ANS 294.59212
DAY C.1



125083
LBSNAA

Sam

394.5921

उत्तर प्रदेश

अवधि सं०

ACC. No. 2742

वर्ग सं.

पुस्तक सं.

Class No. Book No.

लेखक लाल बहादुर शास्त्री

Author

लीपिक राष्ट्रीय प्रशासनिक अकादमी

Sara

2045921 LIBRARY

देवा-1

LAL BHADUR SHASTRI

National Academy of Administration

देवा-1

MUSSOORIE

Accession No. 125083

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving